...श्चसंग्रहः

मुद्रक—
पंडित भगवानदास हरखचन्द दोशी
शारदा मुद्रणालय
१५, जैन सोसाइटी, अमदावाद

प्राक् कथन

श्रीपंचसंग्रहनो कर्मप्रकृति विभागात्मक बीजो भाग प्रसिद्ध कर्या पछी बन्ने टीकाओ साथे तेनो प्रथम भाग पण प्रसिद्ध करवा माटे घणा सज्जनोनी अमोने खास प्रेरणा थवाथी आ पुस्तक तैयार करावीने अमो वांचकोना करकमलमां सादर समर्पण करीए छीए

आ ग्रन्थ ते श्रीपंचसंग्रहनो प्रथम विभाग छे. एमां पांच द्वारोनुं वर्णन करेलुं छे. तेनी मूल गाथाओ सर्वे मली ३९२ छे. एना उपर बे टीकाओ छे. बन्नेनी भाषा संस्कृत छे एक टीका मूलकार महाराजनी छे. तेनुं नाम स्वोपज्ञ छे. ते समजवा माटे दरेक गाथानो टीकानी शरुआत थतां कौंसमां 'स्वो' शब्दनो संकेत आपेलो छे.

आ टीका मूलकार महाराजनी होवा विषे त्यारे आपणे पंचसंग्रहना द्वितीय विभागने अन्ते आवेली प्रशस्ति उपर नजर फेरवीए छीए, तथा प्रथम अने द्वितीय विभागमां पू० आचार्य प्रवर श्रीमलयगिरिमहाराजे पोतानी टीकामां स्पष्ट अक्षरोमां मूल टीकानां लीधेलां प्रमाणो उपर अवलोकन करीए छीए त्यारे शंकाने स्थान रहेतुं नथी.

पंचसंग्रहना मूल कर्ता चंद्रर्षि छे अने तेओ पार्श्वर्षिना शिष्य छे, आ बन्ने वस्तु जाणवा माटे पंचसंग्रहनी छेल्ली मूळ गाथा अने तेनी स्वोपज्ञ टीका नीचे कर्ताए लखेली प्रशस्तिनी एक गाथा अत्रे अमो रजु करीए छीए–

"सुयदेवि पसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं । समयाओ चंदरिसिणा समई विभवानुसारेण" ॥१५६॥ (द्वि-भा-पृ ३४२।२

"माधुर्यस्थैर्ययुक्तस्य दारिद्र्यादिमहास्त्ररोः । पार्श्वर्षेः पादसेवातः कृतं शास्त्रमिदं मया" ॥५॥ (प्रशस्तिः, द्वि. भा. पृ. ३४३।१)

पू. श्रीमलयगिरि महाराजे पोतानी टीकामां मूलकारनी टीकानो उल्लेख करतां जे प्रमाणो नोंध्यां छे ते साक्षि ग्रन्थोनुं परिशिष्ट नंबर १ जोवाथी वांचकोने स्वयं मालुम पडी जशे.

बीजी टीका पू. आचार्यदेव मलयगिरि महाराजनी छे. ते समजवा माटे प्रत्येक गाथानी टीकाना प्रारंभमां कौंसमां 'मलय०'संकेत राखेलो छे. आ टीका ग्रन्थनी समाप्ति पछी आ टीकाकार महाराजे पण आपेली प्रशस्तिनो एक श्लोक जोई लेवो अत्रे सुघटित ज छे—

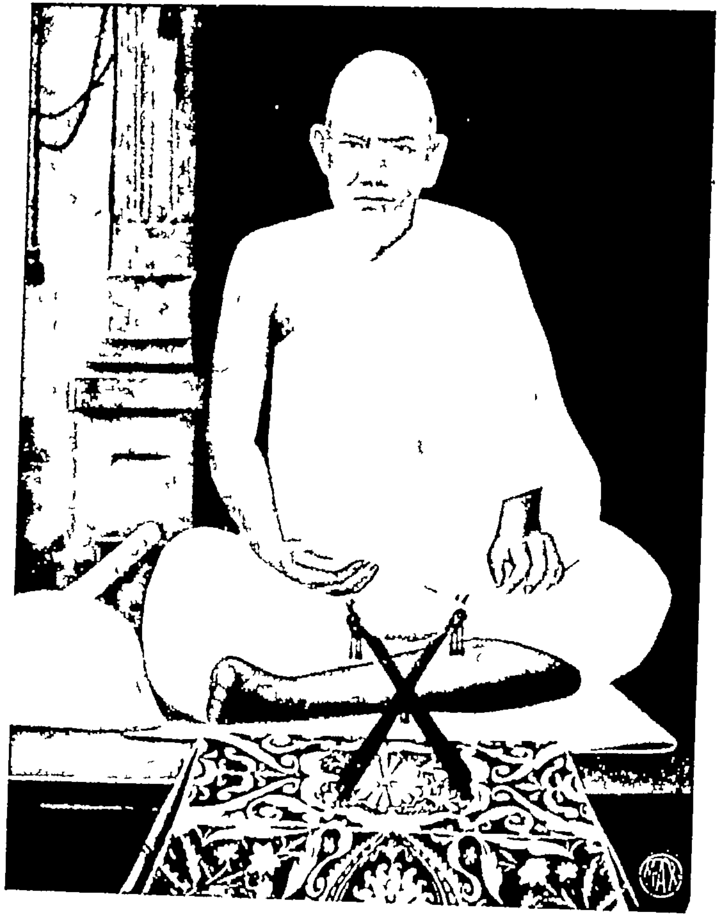
"बह्वर्थमल्पशब्दं प्रकरणमेतद्विवृण्वता मखिलम् । यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः"

॥३॥ (प्रशस्तिः, द्वि भा. पृ. ३४३।२)

स्वोपज्ञ टीकानुं संपूर्ण श्लोक प्रमाण ९००० नुं छे, श्रीमलयगिरि टीकानुं श्लोक प्रमाण १८८५० छे श्री सप्ततिका गाथा ७५ तेमज तेनी वृत्ति श्लोक २३०० प्रमाण आज ग्रन्थकार महर्षिनां बनावेलां मोजुद छे.

श्री मूलकार महाराजनी रचेली टीका संक्षेपमां छतां तेनी केटलीक विशेषताओ लाक्षणिक रीते जे जुदी तरी आवे छे ते चित्ताकर्षक अवश्य छे. टीका गद्यमां छतां ते केटलेक ठेकाणे पद्यमां निरुपण करे छे. क्यांक प्रश्न तो क्यांक प्रश्न अने उत्तर उभय पद्यमां आपे छे. आने माटे बीजा द्वारनी गाथा ८३, त्रीजा द्वारनी गाथा ९, ३६ विगेरेनी टीका जोवाथी मालुम पडशे. भाषा संस्कृत छतां उपसंहार अने अवतरणिका क्यांक क्यांक प्राकृत भाषामां पण मुकी दीधेलां छे. आ माटे पण पांचमा द्वारमां द्रष्टि नाखवाथी तुरत देखाइ आवशे.

वस्तुने विशद करवामां श्रीमलयगिरि महाराजनी टीकानो नंबर पक्को छे, एम तो सौ कोइने कहेवुं पडे तेम छे. आ टीकानो अने स्वोपज्ञ टीकानो एक शैलीभेद आपणे ए ध्यानमां राखवानो छे के श्री स्वोपज्ञ टीकाकार एक वस्तुनुं स्वरुप ज्यारे गाथानुसारे आपे छे त्यारे श्रीमलयगिरि महाराज ते स्वरुप प्रसंगे करीने आगळथी पण कही दे छे. जेमके स्वोपज्ञकारे त्रीजाद्वारनी गाथा ९ मां गत्यादिनुं स्वरुप आलेख्युं छे, श्रीमलयगिरि महाराजे ते स्वरुप गाथा ६ नी टीकामां वर्णव्युं छे.



आ० श्रीविजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज



आ० श्रीविजयदानसूरीश्वरजी महाराज



उ० श्रीजंबूविजयजी महाराज

आ ग्रन्थ आखो कर्म विषयनो छे. वीजा जेने ईश्वर कहे छे, दैव कहे छे, भाग्य कहे छे, कुदरत कहे छे प्रकृति कहे छे, अदृष्ट कहे छे, परन्तु वास्तवमां जे पोते जड कर्म सत्ता छे ते अनादि जीवनी साथे संयोगमां रही शुं शुं करे छे अगर एनुं शुं शु थाय छे, कया कारणोथी ते जीवने वळगे छे अने कया कारणोथी ते अलग थाय छे इत्यादि वस्तुनो उंडो अभ्यास करवा माटे अने तेनुं तलस्पर्शी ज्ञान मेळववा माटे आ ग्रन्थ एक अत्युत्तम साधन छे. एमां एवी घणी घणी बाबतो कहेली छे के जे जाणवानी, वीचारवानी, ख्याल राखवानी अने जीवनमां खास उतारवानी अत्यंत आवश्यकता होय एम अमारु मानवुं छे. वांचकोने ते ज द्रष्टिए एनो सुंदर उपयोग करवानी अमो आग्रह भरी भलामण करीए छीए. 'सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर परमात्माओ शिवाय एवी सूक्ष्म अतीन्द्रिय नक्कर हकीकतो वीजा कोईथी कथी शकाय तेवी नथी, अने तेथी आवुं साहित्य जे दर्शनमां प्रचलित छे ते ज खरुं 'श्री सर्वज्ञदेवनुं शासन छे', एटलुं आवा ग्रन्थोना परिशीलनथी विचारकोने निःसंदेह सिद्ध थाय तेवुं छे.

सिद्धान्त महोदधि शासनप्रभावक पू. आचार्यदेव श्रीविजयप्रेमसूरीश्वरजीनी सूचनानुसार आ ग्रन्थ छपाववानुं काम शरु थयेलुं. तेनां प्रुफो विगेरे तपासवानुं काम श्रावक हीरालाले कर्युं छे. पू. गुरुदेव उपाध्यायजी श्रीजंबूविजयजीगणिवरे आखो ग्रन्थ साद्यन्त तपासी आपवानी कृपा करी छे. वधुमां तेओश्रीए आ ग्रन्थनी महत्ताने देखाडनारां अने अभ्यासीओने तेमज साहित्य रसिकोने घणां उपयोगी थइ पडे तेवां बन्ने विभागनां परिशिष्टो पण परिपूर्ण तैयार करी आपवानो महान् उपकार कर्यो छे.

भर्या समुद्रमां डुबकी मारतां एकदम मोती भाग्येज हाथमां आवी शके. परंतु आ परिशिष्टो आपणने तेवी परिस्थितिमांथी उगारी लइ डुबकी मारतानी साथे मोती हाथमां लइ शकाय तेवी सद्धर स्थितिमां मूके छे, ए कहेवानी भाग्येज जरूर होय. आमां सामेल करेलां परिशिष्टो ए आ ग्रन्थना कींमति अलंकारो छे. प्रथम विभागने अंगे १० परिशिष्टो आप्यां छे. द्वितीय विभागने अंगे पण १० आप्यां छे. आ जोवाथी ग्रन्थ अने ग्रन्थकारोनी खुबी, विशाल ज्ञान, गंभीरता, पूर्वाचार्यो तरफनुं मान, श्रद्धा, सयुक्तिकपणु, विपक्ष खंडन, स्वपक्ष मंडन, प्रवचन प्रकाश, आदि अनेक विगतो मनन करवा योग्य मालुम पडशे.

आ ग्रन्थना संशोधन कार्य माटे साहित्यरसिक विद्वान् मुनिवर्य श्री पुण्यविजयजी महाराज तरफथी हस्तलिखित प्रतो अमोने जे मळी छे ते बदल तेओश्रीनो अमो आ स्थळे खास आभार मानीए छीए.

आ ग्रन्थमां यन्त्रो पण ठामठाम आपवामां आव्यां छे आथी वांचकोने वांचेलो विषय समजवो अने याद राखवो घणो सहेलो थाय छे. समयना अभावे बीजुं केटलुंक उपयोगी कार्य थइ शक्युं नथी ते वांचको दरगुजर करशे. आवा सूक्ष्म विषयना ग्रन्थमां गमे तेटलुं ध्यान राखवा छतां भूलो विगेरे न ज रहे ते बनवुं अशक्य छे. जो के आ साथे शुद्धिपत्रक आपेलुं छे, तथापि तेवी छापवा विगेरेनी जे कांइ भूलो रही गयेली दृष्टि गोचर थाय ते वांचकोने सुधारी लेवा विनंति छे.

अमे आशा राखीए छीए के आवा अमूल्य प्रकाशननो लाभ उठाववामां जनता पाछीपानी करशे नहि. आवां प्रकाशनो वारंवार करातां नथी, ज्यारे थयुं छे त्यारे तक जती करवी नहि. बस, सुज्ञोने आटलुं जणावी ग्रन्थमां उतरवानी विनंति करवा पूर्वक अमारु आ नम्र प्राक् कथन अमो अहीं पुरुं करीए छीए. शुभं भवतु ।

प्रकाशक

अथ परिशिष्टानि

—(०)—

(१) साक्षितयोक्ता ग्रन्थाः

पन्नवणासूत्रम्, (मलय०) पृ० ८।२, ३०।२, ५५।१, ५६।२, ६३।२, ६५।२, ७९।२, ८०।१, ८०।२, ८१।१, ८३।१, ८३।२, ८७।१, ९०।२, ११६।२, ११७।१, २५८।२, २५९।१,

„ (स्वो०) पृ० ४८।१

पन्नवणाचूर्णिः, (मलय०) „ १०।१

धर्मसारप्रकरणम्, (हरि०) (मलय०) पृ० १३।२

शतकबृहच्चूर्णिः, „ „ १९।२, ३८।१, ७८-२

शतकचूर्णिः, (मलय०) पृ० २००।२, २२५।१, २२८।१, २३६।२, २४३।२, २४७।२, २५६।१, २५७।१

आवश्यकटीका, (मलय०) पृ० २०।१

विशेषावश्यकभाष्यम् (मलय०) पृ० २३।२, २४।२, २८।२, २९-२

आवश्यकचूर्णिः, „ „ ३०।२, ३३।१

कर्मप्रकृतिप्राभृतः, „ „ ३१।१

श्रीभगवतीसूत्रम्, „ „ ३४।२, ३६।२, ३७।१, २२८।२ २७५।१ (स्वो० म०)

पञ्चसंग्रहस्वोपज्ञटीका, (मलय०) पृ० ३७।१, २०६।१

सप्ततिचूर्णिः, „ „ ३८।१, ४१।२, १७२।१

अनुयोगद्वारचूर्णिः, „ „ ६०।२, ६१।१

अनुयोगद्वारसूत्रम् „ „ ६०।२, १०२।२

जीवाभिगमसूत्रम्, „ „ ७६।१, ९२।२, ९८।२, २२४।१, २२७।२

पञ्चवस्तुकम्, (मलय०) पृ० ७७।२

विशेषणवती, „ „ ८२।२, ८५।१

जीवाभिगमसूत्रम्	,, ,, ७६।१ ९२।२, ९८।२ २२४।१, २२७।२	कर्मस्तवः,	,, ,, १२०।२, १९५।१
पन्नवणामूलटीका,	,, ,, ११४।१	कर्मप्रकृतिचूर्णिः,	,, ,, २२५।१
		कर्मप्रकृतिः,	,, ,, २२७।१, २५४।१, २५६।२

(२) तथाविधसंप्रदायाद्यभावेनानवगतान्यपि संमानितानि वस्तूनि ।

(१) ननु मा भूदपर्याप्तावस्थालभ्यं देवनारकसंभवि वैक्रियमिश्रं, यत्पुनः पर्याप्तानां मनुष्यतिरश्चां वैक्रियलब्धिमतां सम्यग्मिथ्यादृशां सतां वैक्रियकरणं संभवेत् तदारम्भकाले वैक्रियमिश्रं भवति तत्कस्मादिह नोक्तम्? उच्यते—तेषां वैक्रियाकरणभावतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणादाचार्येणान्यैश्च तन्नाभ्युपगम्यते, तन्न सम्यगवगच्छामस्तथाविधसंप्रदायाभावात् । (मलय०) पृ० ३३।२

(२) यत्तु (मिथ्यादृष्ट्यादौ) अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः, अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते । (मलय०) पृ० ३४।२

(३) एतच्च (निरन्तरभावमाश्रित्य क्षपकश्रेणेरेकजीवाश्रितादन्तर्मुहूर्त्तान्नानाजीवापेक्षयान्तर्मुहूर्त्तस्य सप्तभिः समयैरभ्यधिकत्वं) सूत्रकारवचनप्रामाण्यात्प्रत्येयं, न ह्यत्र कामपि युक्तिमव्याहतां वयं पश्यामः, न च ग्रन्थान्तरसंवादमिति । (मलय०) पृ० ८६।१



आ० श्रीविजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज



आ० श्रीविजयदानसूरीश्वरजी महाराज



उ० श्रीजंबूविजयजी महाराज

(३) द्वयोष्टीकयोर्निरूपणभेदाः

स्वोपज्ञ	पृ०	मलय०	पृ०
(१) द्वितीयद्वारे ४६–४७–४८–४९–५०–५१ गाथासु कायस्थितिः प्रोक्ता।	७९।१ थी ८५।१	(१) "इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथान्यथागमविरोधिनी दृश्यते, ततस्तामुपेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारतः सूत्रगाथा विवृताः"।	८५।१
(२) द्वितीयद्वारे ६९ गाथायां भुवनपतिदेव्यादिभ्यः खेचरादयोऽसंख्येयगुणाः प्रतिपादिताः।	९९।१	(२) पुरुषापेक्षया ते खेचरादयः संख्येयगुणाः प्रतिपादिताः।	९९।२
(३) द्वितीयद्वारे ७० गाथायां ज्योतिष्कदेवीभ्यः खेचरनपुंसका असंख्येयगुणा उक्ताः	१००।१	(३) अत्र तु संख्येयगुणाः प्रतिपादिताः	१००।१
(४) चतुर्थद्वारे १८ गाथायां चतुरिन्द्रियादिजीवस्थानेषु बन्धहेतुप्रतिपादने त्रयो वेदा गृहीताः।	१८।–२	(४) चतुरिन्द्रियादीनां बाह्यस्त्रीपुंलिङ्गाकारमात्रस्याप्यभावेन बन्धहेतुभङ्गेष्वेक एव वेदो गृहीतः।	१८३।२
(५) पञ्चमद्वारे ९५ गाथायां समचतुरस्रादीनां "उत्कृष्टतः त्रिपल्योपमाधिका सागरोपमाणां षट्षष्टिर्द्विगुणिता सन्ततो बन्धः।"	२५९।२	(५) "समचतुरस्रसंस्थानोच्चैर्गोत्रशुभविहायोगतिपुरुषवेदसुस्वरसुभगादेयानाम्–उत्कर्षतो द्विगुणितानि षट्षष्टिसागरोपमाणि"।	२५९।२

(४) टीकान्त आलेखितानि स्वरूपाधिकानि।

(५) खण्डनानि

(६) सिद्धयः।

(१) जीवानामकृत्रिमतासिद्धिर्यथाधर्मसङ्ग्रहणीटीकायाम्।
(मलय०) पृ० ४४।१

(२) देशोनपूर्वकोटिरित्यत्र देशोनत्वेनाष्टवर्षाणां सिद्धिः।
(मलय०) पृ० ७७।२, ७८।२, ७९।१

(३) संसारे सुखाभावस्य सिद्धौ च परमार्थसुखस्य सिद्धिः।
(स्वो०) पृ० १११–२

(४) कपित्थादिवृक्षानां मूलादिषु प्रत्येकमसंख्येयानामपि जीवानां परस्परं विभिन्नशरीरवत्त्वस्य सिद्धिः।
(मलय०) पृ० ११६।२

(५) अनन्तजीवानामेकशरीरस्य सिद्धिः ,, ,, ११७।१

(६) असंज्ञिनामविरतत्वेन बन्धसिद्धिः (स्वो०) ,, १७८।१

(७) भावितीर्थकृतां"सदैव"परार्थव्यसनित्वादिनिदर्शनम्। (मलय०) ,, १८७।२

(८) अभविनामन्तःकोटाकाट्या अन्यूनबन्धनियमनम्।
गा० ४५ पृ० २२४।२

(७) दर्शितानि द्रष्टान्तानि।

(१) नीचैःकुलोत्पन्नत्वेन दानलाभान्तरायाद्युदये अन्त्यजाः।
(मलय०) पृ० १०८।२

(२) स्त्यानर्द्ध्युदये क्षुल्लकः। मलय० पृ० ११०।२

(३) उच्चैर्गोत्रोदये क्षत्रियपुत्रोऽयं श्रेष्ठिसुतोऽयं,नीचैर्गोत्रोदये वेश्यासुतोऽयं श्वपाकोऽयम्। (मलय०) पृ० १३१।१

(४) आभिग्रहिकमिथ्यात्वे बोटिकादि-
कुदर्शनग्रहः। (मलय०) पृ०१५६।१

(५) आभिनिवेशे गोष्ठामाहिलादयः। ,, ,, ,,

(६) अनाभोगे एकेन्द्रियादयः। ,, ,, १५६।२

(७) जीवस्य एकप्रदेशावगाढकर्मपुद्गलग्रहणे
हुतवहद्रष्टान्तः। (मलय०) पृ० २४६।२

(८) एकप्रदेशावगाढकर्मणः सर्वजीवप्रदेशै
र्ग्रहणे श्रृङ्खलावयवाः। ,, ,, २४७।१

(९) चित्रतागर्भैकाध्यवसायेनाष्टविधादि-
कर्मवैचित्र्यापादने मृत्पिण्डः। ,, ,, २४८।१

---

(८) समाहितानि चार्चिकादीनि।

(१) मङ्गलवादः। गा. १ (स्वो०) पृ० १।२

(२) "(पञ्चदशयोगे सति)तैजसं षोडशं
किमिति न भवति ?" ,, ५।१

(३) "ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति
तर्हि स गच्छन्नागच्छन्वा कस्मान्न दृष्टिपथमवतरति ?"
(मलय०) पृ० ६।१

(४) "अथाहारपर्याप्तिः प्रथमसमय एव
निष्पद्यते इति कथमवसीयते ?" (मलय०) पृ०८।२

(५) "ननु चेत्वरिकमपि सामायिकं 'करोमि भदन्त ! सामा-
यिकं यावज्जीवं' इत्येवं यावदायुरागृहीतं, तत उप-
स्थापनाकाले तत्परित्यजतः कथं न प्रतिज्ञालोपः ?"
(मलय०) पृ० ११।२

(६) "ननु स (सम्यक्त्वजीवपरिणाम-
विशेषः)किं सहेतुक उताहेतुकः ?" (मलय०) पृ०१२।२

(७) "ननु यदि मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुस्सन्ति तर्हि सकलस्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, तत्कथं केवलज्ञानदर्शनभावे मतिज्ञानाद्यभावः ?" (मलय०) पृ० १८।१

(८) "ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्तस्य कथं
गुणस्थानसंभवः ?" ,, ,, १९।१

(९) "ननु सकलप्रवचनार्थाभिरोचनात्तद्गतकतिपयार्थानां चारोचनादेष (मिथ्यादृष्टिः) न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति, कथं मिथ्यादृष्टिः ?"
(मलय०) पृ० १९।१

(१०) "ननु क्षयोपशमोप्युदिते कर्मांशे क्षीणे अनुदिते चोपशान्ते भवति,उपशमोऽपि चेत्थम्भूत एव,ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषः ?" (मलय०) पृ० २४।२

(११) "ननु यदि सत्यपि क्षयोपशमेऽनन्तानुबन्ध्यादिकषाय-मिथ्यात्वानां प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति तर्हि कथं न सम्यक्त्वादिगुणविघातो भवति ?"
(मलय०) पृ० २४।२

(१२) "ननु यदि दर्शनत्रिकमपि क्षयमुपगतं तर्हि किमसौ सम्यग्दृष्टिरुतासम्यग्दृष्टि ?" (मलय०) पृ० २५।२

(१३) "ननु प्रभूतस्थितिकस्य वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्घातारम्भ इति न युक्त्युपपन्नं, कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् ?" (मलय०) २९।१

(१४) "ननु कुतो नियमो यद्वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं भवति न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुरिति ?" (मलय०) २९।२

(१५) "यदि स्वावरणस्य देशक्षयोपशमेऽपि ज्ञानावरणदर्श

नावरणयोरुदयेऽपि जीवानां मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानोपयोगाश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनोपयोगाश्च सन्ति ततः स्वावरणसर्वक्षये केवलज्ञानदर्शनवत्कथं न भवेयुः ?" (स्वो०) पृ० ३५।१

(१६) "नन्वपर्याप्तः संज्ञी कथमौपशमिके सम्यक्त्वेऽवाप्यते? (मलय०) पृ० ३८।१

(१७) अथायोगित्वे सति संज्ञित्वं कथम् ? ,, ,, ३८।२

(१८) "ते (चारित्रिणः)हि किं द्रव्यवेदेषु उताहो भाववेदेषु? यदि द्रव्यवेदेषु तदानीं प्रत्यक्षविरोधः, तदुपरितनेष्वपि तद्दर्शनात्, अथ चेद्भाववेदेषु तत्कथं वेदोदये सत्यपि तेषां चरणमिति ?" (स्वो०) पृ०४०।१

(१९) (उपशमादिभावैः संयुक्ता जीवा इत्यत्र) "किमर्थमौदयिकपारिणामिकक्षायिकान्परित्यज्यौपशमिकभावोपन्यास इति ?" (स्वो०) पृ० ४३।२

(२०) "औदयिकादीन्भावान्परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम् ?" (मलय०) पृ० ४३।२

(२१) "पूर्वं योगानभिदधता सप्त शरीराणि तैजसप्राधान्येनोक्तानीह तु सतैजसान्यपि पञ्चेति कथं न विरोधः?" (स्वो०) पृ० ४७।१

(२२) "यद्येवं द्वित्रिचतुरसंज्ञ्यपर्याप्तकानामप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानं तदेवान्तर्मुहूर्त्तमन्तरं कस्मात्तेषां स्थानानि शून्यानि न भवन्ति ?" (स्वो०) पृ० ४७।२

(२३) "ननु द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि लब्ध्यपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्त्तायुषः, अन्तरमपि च तेषामन्तर्मुर्त्तमात्रमन्यत्रोद्घुष्यते, ततः कथं तेऽपि प्रागुत्पन्ना भाज्या न भवन्ति ?" (मलय०) पृ० ४८।२

(२४) "अथापर्याप्तसंज्ञिनः कथमसंख्याता गीयन्ते, न हि ते सदैव प्राप्यन्ते, किन्तु कदाचिदेव?" (मलय०) पृ०५१।२

(२५) "कात्र युक्तिर्वनस्पतिकायिकानां (पर्याप्तप्रत्येकबादराणां) स्तोकत्वे इतराणां (भूकायिकोदककायिकानां) त्वधिकत्वे ?" (स्वो०) पृ० ५२।१

(२६) "कुत एतत् (उपशमश्रेणिकालं प्रतीत्योत्पद्यमानाः शतसंख्याका न सहस्रा न वा लक्षाः) अवसीयते?" (स्वो०) पृ० ६२।१

(२७) "नन्वन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽप्युपशमश्रेणिकाले असंख्येया समयाः प्राप्यन्ते, तत्र यदि प्रतिसमयमेकैकः प्रविशति तथापि सकलं श्रेणिकालमधिकृत्याऽसंख्येया प्राप्नुवन्ति, किं पुनर्द्वित्रादेराभ्योत्कर्षतश्चतुः पञ्चाशतः प्रवेशने ?" (मलय०) पृ० ६२।१

(२८) "अथैतद् (सकलश्रेणि समयेषु प्रवेशो न भवतीति) अपि कथमवसीयते ?" (मलय०) पृ० ६२।२

(२९) "सूक्ष्माः सप्रभेदाः सर्वे प्रत्येकं सर्वलोकापन्नाः शेषा बादराः सप्रभेदाः प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयभागापन्नाः, एवमञ्जसैवाभीष्टेऽर्थे सिद्धे कस्मादेवं व्याख्यायते सूत्रे चानर्थकमपर्याप्तद्वयग्रहणं क्रियते ?" (स्वो०) पृ० ६३।२

(३०) "सूक्ष्माः सर्वेऽपि पृथिव्यादयः पर्याप्तादिभेदभिन्नाः प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिन इत्यञ्जसैवाभीष्टार्थः सिद्धः, ततः किमर्थमिह मुख्यया वृत्याऽपर्याप्तग्रहणं कृतमपिशब्दात्तु पर्याप्तग्रहणमिति ?" (मलय) ६३।२

(३१) "आह परः—परभवायुःप्रथमसमयोदये शरीरशातः—शरीरत्यागो जीवस्य भवति, अतो देवायुरुदये शरीरं परित्यजतां कथं स्पर्शना तद्गुणा (उपशामकादिगुणा) भवति ? (स्वो०) पृ० ६९–१

(३२) "ननु मनुष्यभवायुषः क्षये परभवायुष उदये परलोक गमनं, तदानीं चाविरतता, नोपशमकत्वादि, तत्कथ-

मपूर्वकरणादीनां सप्तरज्जुस्पर्शनेति? (मलय०) पृ० ६९।२

(३३) "अथ कथमवसीयते येयं वज्रस्वामिनः शैशवेऽपि चरणप्रतिपत्तिः सा कादाचित्कीति?" (मलय०) पृ० ७७।२

(३४) "अथैतदेव कथमवसितमन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं प्रमत्तस्याप्रमत्तादिभावोऽप्रमत्तस्य वा प्रमत्तादिभावो?" (मलय०) पृ० ७८।१

(३५) "अष्टानामन्तर्गतत्वादप्रधानत्वाच्चानर्थकं सप्तकग्रहणम्?" (स्वो०) पृ० ७९।१

(३६) "ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु, पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुत्पद्यते, ततोऽधिकापि स्त्रीवेदस्यावस्थितिरवाप्यते, ततः किमेतावत्येवोपदिष्टा (पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं दशोत्तरं पल्योपमशतम्)?" (मलय०) ८१।२

(३७) "किमसांव्यवहारिकराशेर्निर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति?" (मलय०) पृ० ८२।२

(३८) "कथमेतत् (सासादनस्य नियमात्पल्योपमासंख्येयभागमन्तरम्) अवसेयम्?" (मलय०) ९३।२

(३९) "सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धिनाऽन्तर्मुहूर्त्तेनाधिके द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां प्राप्येते तत्कथं ते परिपूर्णे उक्ते?" (मलय०) ९४।१

(४०) नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्?" (मलय०)पृ० १०७।२

(४१) "निद्राः पञ्चापि दर्शनावरणमभिहितं भवता, यच्च ताभिराव्रियते दर्शनं तच्च नास्ति, एवं ताः कथं दर्शनावरणमिति?" (स्वो०) पृ०११०।१

(४२) "आह–यद्येवं ततः सातासातयोरभावेन तत्परमाणुक्षये सिद्धानां सुखदुःखाभावः?" (स्वो०) पृ० १११।२

(४३) "यद्येवं (पूज्यत्वमुच्चैर्गोत्रमित्यादि) ततः सङ्गमकादिभिरप्रशंसाद्यपमानैः क्रियमाणैरपि वर्द्धमानतीर्थाधिपतेः कथं नीचैर्गोत्रोदयो न भवति ?" (स्वो०) ११२।१

(४४) "ननु यदि प्रत्येकनाम्न उदयः कपित्थादिवृक्षादीनामिष्यते तर्हि तेषां जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरं भवेत्, न च तद्भवति,....ततः कथं ते प्रत्येकशरीरिणः ?" (मलय०) ११६।२

(४५) "ननु कथमनन्तानां जीवानामेकं शरीरमुत्पद्यते ?" (मलय०) पृ० ११७।१

(४६) "विकलेन्द्रियाणां संहननोदयोऽस्थ्यभावेऽपि कथं भवति ?" (स्वो०) पृ० ११८।१

(४७) "पञ्चानां शरीराणां द्विकादिषड्विंशतिसंयोगा भवन्ति, तत्तुल्यबन्धनानि च कस्मान्न भवन्ति?" (स्वो०) १२१।१

(४८) "यदि पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति अतोऽनेनैव क्रमेण संघाता अपि कस्मान्नाभिधियन्ते ? (स्वो०)" १२१।१

(४९) "ननु ये पञ्चदश बन्धनानि मन्यन्ते तन्मतेन...संघातनामान्यपि पञ्चदश प्राप्नुवन्ति, तत्कथं न तेषां पूर्वापरव्याहतिः ?" (मलय०) १२२।२

(५०) "ननु भवविपाकादयोऽपि प्रकृतयः परमार्थतश्चिन्त्यमाना जीवविपाका एव,...ततः सर्वापि जीवविपाकाः ?" (मलय०) पृ० १२९।१

(५१) "क्षायोपशमिको भावः कर्मणामुदये सति भवत्यनुदये वा...?" (मलय०) पृ० १३२।१

(५२) "ननु प्रदेशोदयेऽपि कथं क्षायोपशमिकभावसम्भवः?" (मलय०) पृ० १३२।२

(५३) "सर्वघातिप्रदेशोदये मोहनीयस्य कथं क्षायोपशमिको भावः ?" (स्वो०) पृ० १३३।१

(५४) "कथमेतत् (सप्तदशव्यतिरिक्ताः शुभा अशुभा वा बन्धमधिकृत्य न कदाचनाप्येकस्थानरसाः) अवसेयम् ?" (मलय०) पृ० १३४।२

(५५) "अनन्तानुबन्धिनामपि कषायाणामुद्वलनासम्भवाद् ध्रुवसत्ताकतैव युज्यते, कथमुक्ता ध्रुवसत्ताकता ?" (मलय०) पृ० १३७।१

(५६) "यद्येवमविरतिप्रत्यये सत्यपि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानजीवाः स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिकषायप्रकृतीश्च कस्मान्न बध्नन्ति ?" (स्वो०) पृ० १३७।२

(५७) "यद्येवं ततोऽनन्तानुबन्ध्युदयं विनाऽपि पीठमहापीठयोस्तपस्विनोः निर्हेतुकः कथं स्त्रीवेदस्य बन्धः संवृत्तः ? (स्वो०) पृ० १३८।१

(५८) "यद्येवमपूर्वकरणगुणस्थानाद्यविभागे कतरहेत्वभावान्निद्राप्रचलयोर्बन्धाभावो नामध्रुवाध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तु तस्यैव मध्यविभागे...?" (स्वो०) पृ० १३८।२

(५९) "ननु यदि याः प्रकृतयः पुद्गलान्संप्राप्य विपाकोदयमधिश्रयन्ति ताः पुद्गलविपाकाः तर्हि रत्यरत्योरप्युदयः किं न पुद्गलान्संप्राप्य भवति ?" (मलय०) (स्वो०) पृ० १४३।२

(६०) "नन्वायुषां यथा स्वस्वभव एव विपाकोदयो भवति नान्यत्र तथा गतीनामपि...भवविपाकाः किं नाभिधियन्ते ?" (मलय०) (स्वो०) पृ० १४४।१

(६१) "आनुपूर्वीणामुदयः किं संक्रमणेन नास्ति येन ताः क्षेत्रविपाकित्वेनोपदिश्यन्ते न जीवविपाकित्वेन ?" (स्वो०) (मलय०) १४४।१

(६२) "ननु योगाः पञ्चदश भवन्ति...कथमुक्तं दशानां योगानामन्यतमः ?" (मलय०) १५९।२

(६३) "अनन्तानुबन्ध्युदयाभावोऽपि मिथ्यादृष्टेः कथं सम्भवेत् ?" (मलय०) १६०।१

(६४) "अविरतेर्द्वादशमभेदस्य मनोऽभिधानस्य मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्राग्बन्धहेतुतामुक्त्वा किमिति युगपत् बन्धहेतुषु न दर्शिता ?" (स्वो०) पृ० १७१।२

(६५) "स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भवाभावादाहारकद्विकासम्भवः, चतुर्दशपूर्वाधिगमोऽपि कस्मान्न भवति ?" (मलय०) पृ० १७५।२

(६६) "ननु सासादनभावेऽपि शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिककाययोगो लभ्यते इति...सासादनगुणस्थानके त्रयो योगाः किं न प्रोच्यन्ते ?" (मलय०) पृ० १७९।१

(६७) "यद्येवं (तीर्थकरनामगोत्रस्य) क्षायिकौपशमिके अपि हेतू स्तस्ततः सर्वसिद्धानां तीर्थकरत्वपूर्वकं सिद्धत्वं तद्बन्धश्च मुक्तानामपि प्रसज्यते?" (स्वो०) (मलय०) पृ० १८६।२

(६८) "संयमोऽपि यद्याहारकद्विकस्य बन्धहेतुरुद्घुष्यते तर्हि क्षीणमोहादावपि तद्बन्धः प्रसक्तः?" (मलय०) पृ० १८७।१

(६९) "अथ ब्रूयादाचेलक्यमुक्तप्रकारेण (श्रुतोपदेशेनान्यथा वस्त्रधारणं) तावदौपचारिकं, ततस्तथारूपाचेलक्यासेवनपरीषहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात्, तथा च सति कुतो मोक्षावाप्तिः?" (मलय०) पृ० १९०।१

(७०) "अथ प्रतिपातकाले एकस्याः प्रकृतेर्बन्धमाधायैकत्रिंशत्प्रकृतिबन्धमपि गच्छति...इति (नाम्नः) सप्त भूयस्काराः प्राप्नुवन्ति, (कथं षडेव)?" (मलय०) पृ० २००।२

(७१) "अथ मिथ्यादृष्टेः सप्तकोदये सत्यपान्तरालगतौ

नाम्न एकविंशत्युदये वर्त्तमानस्य पञ्चचत्वारिंशल्लक्षणमुदयस्थानं कस्मान्न भवति?" (मलय०)पृ०२०७।१

(७२) "आह–चतुस्त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्य तीर्थकृतः केवलिनो भवति ततो...भवति चतुस्त्रिंशदुदयोऽल्पतरः?" (मलय०) पृ० २०८।२

(७३) "आयुषो द्वयोस्त्रिभागयोरतीतयोर्योबन्धः स कथं घटते?" गा० ३८–३९–४० पृ० २२१।२

(७४) "अन्तः कोटाकोटिस्थितिके तीर्थकरनाम्नि कथं न तिर्यग्गतिगमनं? तथा च सति कथं नागमविरोधः?" गा० ४३–४४ पृ०२२३–२, २२४।१

(७५) "अथ कथं बध्यमानस्यायुषोऽबाधा पारभविकी व्यपदिश्यते?" (मलय०) २२९।१

(७६) "आयुर्मोहनीयोत्कृष्टस्थित्योर्बृहदन्तरं, कथमेतद् (पल्योपमस्य वर्गमूलासंख्येयभागप्रमाणा हानयः) भवति?" (स्वो०) (मलय०) २२९।२

(७७) "कथमेवं गम्यते सर्वत्राप्यसंख्येयगुणानि संक्लेशस्थानानि?" (मलय०) २३२।२

(७८) "अथैतत्कथमवसीयते यदुतासां (आतपोद्योततिर्यग्मनुष्यायुषां) चतसृणां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टानुभागबन्धविधाता न सम्यग्दृष्टिरपि?" (मलय०) पृ० २४२।१

(७९) "सासादनः कस्मात् (आयुषः) उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी न भवति?" (मलय०) २५३।२

(८०) "सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टी कस्मान्मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनौ न भवतः?" (मलय०) पृ० २५४।१

(८१) "द्वितीयसमयभावी (सूक्ष्मनिगोदः) कस्मान्न भवति (जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी)?" (मलय०) पृ० २५६।१

(८२) "असंज्ञिषु मध्ये (देवद्विकवैक्रियद्विकयोः) सर्वजघन्यः प्रदेशबन्धः कस्मान्न प्राप्यते ?" (मलय०) पृ०२५७।१

(८३) "अथ...कथं दलिकं (गुणश्रेणिषु) यथोत्तरमसंख्येयगुणं प्राप्यते ?" (मलय०) पृ० २६८।२

(८४) "अथोच्येत कथं स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सदस्ति, न शेषमिति ज्ञायते ?" (मलय०) पृ० ३०५।१

(९) अनाक्षेप्याणि प्रावचनिकसूरीणां मतान्तराणि

(१) केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपकेवलद्विकेन सह मतिज्ञानादिछाद्मस्थिकोपयोगा न भवन्ति।

अन्ये पुनराहुः—"सन्त्येव सयोगिकेवल्यादावपि मतिज्ञानादीनि केवलं न विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि"। (मलय०) पृ० १८।१।२

(२) उपमश्रेणिप्रस्थापकोऽप्रमत्तसंयत एव।

अन्ये पुनराहुः—"अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमोऽनन्तानुबन्धिनः कषायानुपशमयति, दर्शनत्रिकादिकं तु संयमे एव वर्त्तमानः।" (मलय०) पृ० २३।२

(३) कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः—"उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन्भवे क्षपकश्रेण्यभावः, यः पुनरेकवारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि।"

सैद्धान्तिकाभिप्रायेण "त्वेकस्मिन्भवे एकामेव श्रेणिं

प्रतिपद्यते।" (मलय०) पृ० २५।१

(४) "अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं...अपान्तराल एव पूर्वोक्तं प्रकृतिषोडशकं (स्त्यानर्द्धित्रिकादि) क्षपितं पश्चात्तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण क्षपयति, एष सूत्रादेशः।"

"अन्ये पुनराहुः-षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते केवलमपान्तराले अष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात्षोडशकर्माणीति।" (मलय०) पृ० २६।१

(५) योगनिरोधं कुर्वन्केवली "सूक्ष्मकाययोगबलाद्बादरकाययोगं निरुणद्धि।"

"केचिदाहुः-बादरकाययोगबलाद्बादरकाययोगं निरुणद्धि।" (मलय०) पृ० ३१।१

(६) अयोगितीर्थंकरकेवली चरमसमये मनुष्यानुपूर्व्या सह त्रयोदशप्रकृतीः क्षपयति।

"अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात्।" (मलय०) पृ० ३२।२

(७) "चक्षुर्दर्शने पर्याप्तापर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिलक्षणानि षड् जीवस्थानकानि, अपर्याप्तावस्थायामपीन्द्रियपर्याप्तौ कैश्चिच्चक्षुर्दर्शनोपयोगस्येष्टत्वात्।"

"अन्ये तु न मन्यन्ते,ततस्तन्मतापेक्षया जीवस्थानत्रिकम्।" (मलय०) पृ० ३९।१

(८) यावत् सम्यग्दृष्टिस्थानं षडपि लेश्याः।

"इतिशब्दाधिक्यात् शुभलेश्यात्रयमेव सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले भवति, तदुत्तरकाले सर्वा अपि परावर्त्तन्ते अपि, यतः प्रमत्तस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये कृष्णलेश्याभाव एवेति मतान्तरं सूचितमिति।" (स्वो०) पृ० ४०।१

(९) सम्यग्मिथ्यादृष्टिवदविरतसम्यग्दृष्टेरप्यष्टरज्जुस्पर्शना। मतान्तरेण द्वादशरज्जुस्पर्शना नवरज्जुस्पर्शना चापि प्रोक्ता। (स्वो०) (मलय०) पृ० ६७-२, ६८-१

(१०) उत्कर्षतः स्त्रीवेदावस्थानचिन्तायां पुनर्भगवताऽऽर्यश्यामेन पूर्वपूर्वतनसूरिमतभेदमुपदर्शयता पञ्चादेशाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—

[१] दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकम्,
[२] अष्टादश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च,
[३] चतुर्दश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि,
[४] पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकम्,
[५] पल्योपमपृथक्त्वं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकम्।

(मलय०) पृ० ८१-१

(११) अत्र ५९ गाथायामाईशानादन्तर्मुहूर्त्तमासहस्रारान्नव दिनान्याच्युतान्नव मासान्यापराजितान्नव वर्षाणि तत आगतस्य जीवस्य तत्र पुनरुपपातेऽन्तरं प्रोक्तम्। जीवाभिगमे तु भवनवासिन आरभ्यासहस्राराज्जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमानतकल्पादारभ्यासर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जशेषविजयादिविमानचतुष्टयाद्वर्षपृथक्त्वम्।

(मलय०) पृ० ९२-२

(१२) *वामनं चतुर्थं संस्थानं, कुब्जं पञ्चमम्। केचिद्वामनसंस्थानं पञ्चमस्थानेऽभिदधति।

(स्वो०) पृ० ११८-२

(१३) सर्वसंख्यया प्रकृतीनामष्टचत्वारिंशं शतं भवति। गर्गर्षिशिवशर्मप्रभृत्याचार्यान्तरमतेनाष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतिशतं सत्तायामधिक्रियते। (मलय०) पृ० १२०-२

(१४) स्वमतेन (पञ्चसङ्ग्रहमतेन) निद्राप्रचलयोरुदीरणोपशा-

---

* मूलकृट्टीकाकृद्भिर्नेष्टमिदम्, पृ० २२०-१-२ गा० ३५

पञ्चमद्वारम्।

न्तमोहगुणस्थानकं यावत्।

कर्मस्तवाभिप्रायेण तु क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपि।

(मलय०) पृ० १९५।२

(१५) असंख्येयवर्षायुषां तिर्यग्मनुष्याणां परभवायुषोऽबाधा षण्मासप्रमाणा।

अन्ये आचार्याः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणां वदन्ति।

गा० ४१ पृ० २२२।२

(१६) "इह सूत्रकृता कस्याप्याचार्यस्य मतान्तरेण तीर्थंकरनाम्नो दशवर्षसहस्रप्रमाणा जघन्या स्थितिरुक्ता।

कर्मप्रकृत्यादिषु जघन्या स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणैवोच्यते।" (मलय०) पृ० २२९।१

(१७) "अत्राप्याहारकद्विकस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणोक्ता मतान्तरेण।

कर्मप्रकृत्यादिषु सान्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा।"

(मलय०) पृ० २२५।२

(१८) निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमत्राचार्येण मतान्तरमधिकृत्योत्कृष्टस्थितिबन्धात् मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लब्धं तत्प्रोक्तम्।

कर्मप्रकृत्यादौ पल्योपमासंख्येयभागन्यूना मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिभागहृता स्वस्ववर्गोत्कृष्टस्थितिर्जघन्या प्रतिपादिता। (मलय०) पृ० २२७।१

(१९) पल्योपमासंख्येयसंख्येयभागाभ्यधिकानभ्यधिकैकेन्द्रियजघन्यस्थितिः पञ्चविंशत्यादिगुणिता द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिः सूत्रकारमतेन।

कर्मप्रकृतिकारादयः पुनरेकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिः पञ्चविंशत्यादिगुणिता सती द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टस्थितिः सा एव पल्योपमसंख्येयभागहीना जघन्येत्याहुः।

(मलय०) पृ० २३१।२

(१०) टीकान्तो दर्शिता न्यायाः।

(१) काकाक्षिगोलकन्यायः, (मलय०) पृ० २४७-२

(२) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणता, (मलय०) पृ० २५८।१

पञ्चसंग्रहद्वितीयविभागस्य परिशिष्टानि

(१) कर्मप्रकृतिविभागे समाहितानि चार्चिकानि।

(१) "किमित्यमून्यप्रस्तुतानि बन्धनादीनि करणान्युच्यन्ते" ? (मलय०) पृ० २।१

(२) "ननु जीवानामनन्तत्वात्प्रतिजीवं च योगस्थानस्य प्राप्यमाणत्वादनन्तानि योगस्थानानि प्राप्नुवन्ति, कथमुच्यते श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि" ? (मलय०) पृ० ५।२

(३) "यद्येवं ततः कार्मणशरीरस्य बन्धाभावे हास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदसञ्ज्वलनज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्कयशःकीर्त्तिसातोच्चैर्गोत्राणां प्रादुर्भावो न घटते, बीजविनाशेऽङ्कुरस्येव"। (स्वो०) पृ० १५।१

(४) "ननु कर्मप्रकृतावध्यवसानेषूक्तप्रकारेण जीवानामल्पबहुत्वमुक्तम्...अत्र त्वनुभागस्थानेषु बन्धकत्वेन वर्त्तमानानां जीवानां तत्कथं न विरोधः" ?

(मलय०) पृ० ५७।२

(५) "आह परः–भो ! भो ! अमूर्त्तस्य कालस्याकाशस्येवोद्वर्त्तनापवर्त्तनान्यत्रनयनानि न घटन्ते" ?

(स्वो०) संक्रमकरणे पृ० ४३।१

(६) "तृतीयद्वारे आयुष्काणि चतसृणामपि संज्ञानां बाह्यानि कृतान्यत्र तु बन्धोत्कृष्टान्युक्तान्येवं विरोधः"?

(स्वो०) संक्रमकरणे पृ० ४३।२

(७) "बन्धसंक्रमौ समकं भवतः, अतः साधारणा एकैवावलिका भवति, न भिन्ना, एवमसावपि (संक्रमोत्कृष्टा) द्व्यावलिकाहीना संक्रामति" ?

(स्वो०) पृ० ४४।२

(८) "ननु नामकर्मण उत्कृष्टस्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा ततः...कथमुच्यते तीर्थकराहारकसप्तकयोः संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणेति" ? (मलय०) पृ० ४६।२

(९) "ननु यदा तदा वा बन्धे सत्युद्वर्त्तना प्रवर्त्तते...तत उदयावलिकागताः स्थितयोऽबाधान्तर्गतत्वेन नोद्वर्तिष्यन्ते किमुदयावलिकाप्रतिषेधेन" ?

(मलय०) सं० पृ० ९७।१

(१०) "नन्वमूषामनुदयसंक्रमोत्कृष्टस्थितिनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तोनोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवतु, आतपनाम बन्धोत्कृष्टं, ततस्तस्य बन्धोदयावलिकाद्विकरहितैवोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणाप्रायोग्या प्राप्नोति, कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्तोनेति" (मलय०) उदी० पृ० १२५।२

(११) "अथ कस्माद्देशविरतिसर्वविरत्योर्लाभे तृतीयमनिवृत्ति-

करणं न भवति ?" (मलय०) उप० पृ० १६८।१

(१२) "ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः संभवति, तत्कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते" ? (मलय०) सप्त० पृ० २३६।२

(१३) "ननु कथं बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः संभवति, यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः, अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतश्चत्वारि वर्षसहस्राणि ?" (मलय०) सप्त. पृ० २३६।२

(१४) "आह–तेषां (अनन्तानुबन्धिनां) असद्भूतानामपि कथं भूयोऽपि सत्ताप्रादुर्भावो भवति"? (स्वो०, एवं मलय० अपि) सप्त० पृ० २४६।१

(१५) "अथ मनुष्यः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यते एव, तत्कथमुच्यते न संभवन्तीति ?(मलय०) सप्त० पृ० २४९।२

(१६) "आह–एवं उभयगुणस्थस्यैतत्कालप्राप्तिर्भवत्येवं हि सप्तविंशतिसत्स्थाने (सप्तदशबन्धस्थाने) जघन्यस्थितेरभावः"? (स्वो०) सप्त० पृ० २५३।१

(१७) "नन्वाहारकद्विकबन्धः संयमप्रत्ययः...संयमश्च प्रमत्तसंयतेऽपि विद्यते, ततः...त्रिंशदपि बन्धस्थानं कस्मान्न भवति" ? (मलय०) सप्त० पृ० २६०।२

(१८) "आह (उत्तरवैक्रिययतीनां) दुःस्वराप्रशस्तविहायोगतिभेदात् कथं चतुर्दश २ न भवन्ति (भङ्गाः)" (स्वो०) सप्त० पृ० २८४।१

(१९) "आह–ध्रुवोदयानां सतीनामपि नामप्रकृतीनामयोगिनः कस्मादुदयो न भवति ?" (स्वो०) सप्त० पृ० २९०।२

(१०) "आह–कायनिरोधेन तदिन्द्रियाणामपि निरोधान्न जात्युदयो घटते ?" (स्वो०) सप्त० पृ० २९१।१

(११) "ननु (नाम्नः) सर्वसंख्यया त्रयोदश सत्तास्थानानि प्राप्नुवन्ति तत्कथमुच्यते द्वादश सत्तास्थानानि"? (मलय०) सप्त० पृ० २९२।२

(१२) "अथ कथं तेजोवायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति?" सप्त० पृ० २९७।१

(१३) "असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वतां त्रिंशत्कस्मान्न भवति ?" (मलय०) सप्त० पृ० २९८।२

(१४) "आह–वैक्रियषट्कस्योदयोऽविरतादूर्ध्वं प्राक्प्रतिषिद्धः कस्मादस्योत्तरवैक्रियकरणे तदुदयो व्याख्यायते" ? (स्वो०) सप्त० पृ० ३१७।२

(१५) "षड्विंशत्युदये...एकोननवतिः (सत्स्थानं) कस्मान्न लभ्यते" ? (मलय०) सप्त० पृ० ३२०।२

(२) कर्मप्रकृतिविभागे अनाक्षेप्याणि प्रावचनिकसूरीणां मतान्तराणि ।

(१) "प्रथमं योगस्थानं प्रभूतैर्जीवप्रदेशैरल्पवीर्यैर्भवति, ततो द्वितीयं स्वल्पतरैर्जीवप्रदेशैर्वीर्यवद्भिश्च भवति"।

"अन्ये त्वेवं व्याचक्षते–तस्माज्जघन्यवीर्याज्जीवाद्योऽन्यो वीर्याधिकस्तस्यानेनैव प्रकारेण यद्योगस्थानं तद्द्वितीयम् ।" (स्वो०) पृ० ५।१

(२) पञ्चसंग्रहबन्धनकरणे १०१ गाथायामल्पबहुत्वाधिकारेऽबाधाकण्डकस्थानद्वारमुक्तम् ।

कर्मप्रकृतावेतस्य स्थाने "अर्थेन कण्डकमित्युक्तम्"। (मलय०) पृ० ८४।२

(३) "इह कर्मस्तवकारादयः क्षपकक्षीणमोहयोरपि निद्राद्विकस्योदयमिच्छन्ति, उदये च सत्यवश्यमुदीरणा, ततस्तन्मतेनोक्तं क्षीणरागमन्तावलिकामात्रकालभाविनं मुक्त्वेति"।

"सत्कर्माभिधग्रन्थकारादयः क्षपकक्षीणमोहान् व्यतिरिच्य शेषाणामेव निद्राद्विकस्योदयमिच्छन्ति...तन्मतेनोदीरणापि निद्राद्विकस्य क्षपकक्षीणमोहान्व्यतिरिच्य शेषाणामेव वेदितव्या।"

(मलय०) उदी० पृ० ११६।१

(४) "स्त्रीवेदादीनां नवानां नोकषायाणामतिजघन्यानुभागस्पर्द्धकादारभ्य क्रमेणानन्ततमो भागो देशविरतानां सर्वविरतानां च उदीरणायोग्यो गुणपरिणामकृतः"।

"कर्मप्रकृतौ त्वेतेषामसंख्येयो भागो उदीरणायोग्यो गुणपरिणामकृत उक्तः।" (मलय०) उदी० पृ० १३४।२

(५) पञ्चसंग्रहे चारित्रमोहनीयस्य सर्वोपशमनायामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना करणीयत्वेनोक्ता।

"केचनाचार्या अनन्तानुबन्धिनामुपशमनामपि मन्यन्ते।" (मलय०) उप० पृ० १७०।१

(६) कार्मग्रन्थिका एकस्मिन्भवे द्वे श्रेणी मन्यन्ते।

"आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन्भवे एकैव श्रेणिर्न तु द्वे अपि"। (मलय०) उप० पृ० २०५।१

(७) सप्ततिकारमतेन दर्शनावरणे भङ्गाः ११।

कर्मस्तवकारमतेन त्रयोदश। (स्वो० मलय०) सप्त० पृ० २२७–८–२।२

(८) मोहनीयस्य पञ्चविधबन्धकाले एकस्य क्रोधादेरेकस्य च वेदस्योदयः।

केचिदाचार्याश्चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे वेदो-

दयमिच्छन्ति। (स्वो० मलय०)

सप्त० पृ० २४१।२

(९) पर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य सुभगदुर्भगादेयाना देया उदयं पृथक् पृथगायान्ति, तेन यशोऽयशोभ्यामष्टौ भङ्गाः।

अपरे पुनराहुः-सुभगादेये युगपदुदयमायातो दुर्भगानादेये च, ततः-यशःकीर्त्त्ययशःकीर्तिभ्यां चत्वारो भङ्गाः"। (मलय०) सप्त० पृ० २८३।१

(१०) देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु वैक्रियवैक्रियाङ्गोपाङ्गोदयः स्वीकृतः।

कर्मस्तवाभिप्रायेण न भवति। "वैक्रियवैक्रियाङ्गोपाङ्गनिषेधस्त्वत्राचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेण कृतो वेदितव्यः" (मलय०) सप्त० पृ० २९०।१

(११) "नाम्नामशेषप्रकृतिसमुदायः पिण्डः, स च त्रिनवतिप्रमाणः"।

"तुशब्दोऽन्यमतसूचकः, 'पिण्ड' इति त्र्युत्तरं शतं प्रथमं सत्स्थानम्" (स्वो० मलय०)

सप्त० पृ० २९१-९२।२-२

(३) कर्मप्रकृतिविभागे द्वयोष्टीकयोर्निरूपणभेदाः।

स्वो०

(१) "अरतिशोकमध्यमाष्टकषायाशुभध्रुवबन्धिकुवर्णनवकोपघातास्थिराशुभायशःकीर्त्यसातानां देशोनपू-

मलय०

(१) "अष्टौ कषायान्प्रति देशोनां पूर्वकोटिं यावत्संयममनुपाल्य..." संक्र० पृ० ९०।२

वैकोटिकृततीव्रसंयमस्य..." (संक्र०) पृ० ९०।१

(२) "उपशान्तगुणस्थानादुपशान्ताद्धाक्षयेण विलोमतो यथारोहं प्रतिपतति...यावदप्रमत्तम्।" उप०पृ० २००।२

(२) "...स च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तगुणस्थानकम्।" उप० पृ० २०१।१

---

(४) कर्मप्रकृतिविभागान्तर्गतानि तथाविधसंप्रदायाद्यभावेनानवगतादीन्यपि संमानितानि वस्तूनि।

(१) "इह (उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वाधिकारे) एवमेव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमापूरणमुत्कृष्टश्च प्रदेशसंक्रमः केवलज्ञानेनोपलब्धो नान्यथेत्येषैव युक्तिरनुसर्त्तव्या, न युक्त्यन्तराणि।" (मलय०) सं० पृ० ८३।१

(२) "वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे उत्पद्यमानस्य यदुच्यते तद्बाहुल्यापेक्षया, अन्यथा तिर्यग्मनुष्याणामपि वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यते, परं तत्सप्ततिकाचूर्णिकारेण न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्ष्यते।" (मलय०) सप्त० पृ० ३११।१

---

(५) कर्मप्रकृतिविभागान्तर्गतानि सिद्धयादीनि ।

(१) "आ संसारं च परिभ्रमता जन्तुना मोहनीयस्य चतुर एव वारान्यावदुपशमः क्रियते" । (मलय०) संक्रमकरणे पृ० ८४।२

(२) "नारकाणां सातवेदनीयाद्युदयसम्भवस्तीर्थंकरजन्मादावसेयः, देवानां त्वसातवेदनीयाद्युदयसंभवो मात्सर्याद्युदयप्रियविप्रयोगस्वच्यवनादौ, केचिन्नारकाः पुनः सकलामपि भवस्थितिं यावदसातवेदनीयादीनामेवोदयसंभवात्तेषामेवोदीरकाः" ।

(मलय०) उदी० पृ० ११६।२

(३) "तिर्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया प्रायो मनुष्या अल्पबलाः"

(मलय०) उदी० पृ० १४५।१

(६) कर्मप्रकृतिविभागे प्रव्रज्यायाः क्षपणायाश्च जघन्यतोऽप्यष्टकातिक्रान्तवयसः प्रदर्शकानि वचनानि

(१) "मनुष्यो जघन्यतोऽपि वर्षाष्टकस्योपरि वर्त्तमानो.."

(मलय०) सं० पृ० ५०।२

(२) "ततो मासपृथक्त्वाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु..." (स्वो०) सं० पृ० ८३।१

(३) "ततो माससप्तकाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु..."

(मलय०) सं० पृ० ८३।२

(४) शीघ्रमेव माससप्तकानन्तरं योनेर्विनिर्गमनेन जातस्ततोऽष्टवार्षिकः सन् संयमं प्रतिपन्नः।" (मलय०)

सं० पृ० ८८।२

(५) "मासपृथक्त्वाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु क्षपणाय.." (मलय०) सं० पृ० ९०।१

(६) "ततो वर्षाष्टकानन्तरमुत्कृष्टं कालं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं संयमं परिपाल्य" (मलय०) उदी० पृ० १३०।१

(७) "मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वरूपं (दर्शनं) तस्य क्षपणा, तस्या अर्हो...व्यतीताष्टवर्षः"। (स्वो०–मलय० अपि) उप० पृ० १७०।१–२

(८) "कश्चिन्मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्त्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः सन्क्षपणायाभ्युद्यतः, " (मलय०) सप्त० पृ० २४८।१

(७) कर्मप्रकृतिविभागे साक्षितयोद्धृता ग्रन्थाः ।

शतकचूर्णिः, (मलय०) पृ० १७।२
शतकबृहच्चूर्णिः, ,, ,, १८।२, १६५।१ (उप०), २४९।२ (सप्त०)
कर्मप्रकृतिः, ,, ,, १९।१, ११६।१ (उप०), ३०३।२ (सप्त०)

अनुयोगद्वारचूर्णिः ,, ,, २३।२
कर्मप्रकृतिचूर्णिः, ,, ,, ३४।१, ४६।१ (सं०)
मूलटीका (पं० सं० स्वो०) ,, ८४।२, ९०।२ (सं०), ९२–२ (सं०), २४३।१ (सप्त०), २५३।२ (सप्त०)

सत्कर्मग्रन्थः, „ ११६।१ (उदी०), २२७।१ सप्त०
षडशीतिवृत्तिः, „ १७०।१ (उप०)
सप्ततिकावृत्तिः, „ „ „
प्रज्ञापनाचूर्णिः, „ „ २७०।२ (सप्त०)
सप्ततिकाचूर्णिः, „ „ २९९।२ (सप्त०), ३११।१ सप्त० ३२३।२ (सप्त०)

---

(८) कर्मप्रकृतिविभागे दर्शितानि द्रष्टान्तादीनि ।

(१) कार्मणशरीरस्य मूलोत्तरप्रकृतिबीजभूतत्वे...यथा पृथिवी, जाठराग्निः, सूपकारः । (स्वो०) पृ० १९।१

(२) "यथैकजीवोद्भवानामपि दुग्धदधिघृतमस्तुतक्राणां पृथक् पृथक् नामवर्णास्वादवीर्यता एवं कर्मदलस्य मूलप्रकृतिविभागस्तस्याप्युत्तरप्रकृतिविभागोऽनुभागभेदादवसेयः"। (स्वो०) पृ० ३३।२

(३) "यथा ग्रामपञ्चकुले गते दण्डिते वा ग्रामो गतो दण्डितो वा भवति, न च तत्क्षेत्रस्य गमनं दण्डो वा सम्भवति"। (स्वो०) उदी० पृ० ११९।१

(४) "करणरहिता...(उपशमना)...गिरिनदीपाषाणवृत्तादिभाववत्..." (स्वो०) उप० पृ० १५४।२

(५) „ (मलय०) उप० पृ० १५५।१

(६) "उपशान्तं जलार्द्रकुट्टीतभूमिरजस्तुल्यं कर्मदलं जातं" (स्वो०) (एवं मलय० अपि) उप० पृ० १९१।२

(७) "यथा भूजलाभ्यां विना बादरवनस्पतेरभावः, अत एवातपोद्यतयोरुदयो न वाताग्न्योरिति।" (स्वो०)

सप्त० पृ० २७०।१

(८) "यथा पञ्चेन्द्रियस्तदावरणतीव्रोदयादपश्यन्नपि अशृण्वन्नपि न विकलेन्द्रियः, पञ्चेन्द्रिय एव"
(स्वो०) सप्त० पृ० २९१।१

(९) "तेन मल्लीस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः।"
(मलय०) सप्त० पृ० ३११।२

(१०) "स्थूलभद्रविष्णुकुमारादीनामिव न सर्वेषां..." (स्वो०)
सप्त० पृ० ३१७।२

(९) कर्मप्रकृतिविभागे न्यायाः ।

(१) घुणाक्षरन्यायः, (स्वो०) उप० पृ० १६७।१
(२) ,, (मलय०) ,, ,, १६७।२
(३) कज्जमाणे कडे, (स्वो०) सप्त ,, २५३।१
(४) लाघवोपजीवनम्, (मलय०) ,, ,, २९३।२
(५) प्रसक्तानुप्रसक्तम्, ,, ,, ,, ३४२।२

(१०) कर्मप्रकृतिविभागे खण्डनादीनि ।

(१) मिथ्यात्वोदयबद्धानामनन्तानुबन्धिनामुदयोऽबाधा-वर्षशतैरतीतैरेव भवतीति कस्यचिदभिप्रायस्य व्युदासः।

(स्वो०) सप्त० पृ० २४६।२

(२) "न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भवः, सूत्रे प्रति-षेधात्, तदुक्तं "तुच्छा गारवबहुला०" (मलय०)

सप्त० पृ० ३११।२

विषयानुक्रमः

—(०)—

शुद्धिपत्रकम्

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४	२	१	(न)	०
६	२	२	केन	कर्त्तुं न
७	४	१	ना(चख्ये)	नाह
४	६	१	भणंमि	भणंति
१०	७	१	-चनासनुारी	-चनानुसारी
३	८	२	-र्मनोग्य-	-र्मनोयोग्य
७	९	२	वैक्रियो	वैक्रियो मिश्रको
१०	९	२	तेषां	एतत्प्रयोजनं, अपिशब्दादन्तरालगतौ सप्तानामप्यपर्याप्तकानां कार्मणकाययोगो भवति,
३	११	२	चेत्वरिमपि	चेत्वरिकमपि
१	१३	१	-शुद्ध-	-शुद्धे-
१	१५	१	तत्	तत्रैव तत्
२	,,	,,	-वक्षया	-वक्षया
७	१६	१	विसणओ	विसेसणओ
४	,,	२	निर-	निरय-
१०	१७	२	दश्चेह	वेदश्चेह
२	२२	१	रस्यापि	रसस्यापि
१	,,	२	-नोपब्ध-	-नोपलब्ध-
३	२५	२	भूतो	भूयो
७	३१	१	स्पर्द्ध-	स्पर्द्धक-
७	३४	१	-प्रमत्तानां	-प्रमत्ताप्रमत्तानां
३	३४	२	-विरतौ	-विरते
८	३७	२	--पर्याक-	-पर्याप्तक-
११	४०	१	'सुपां सुपोलुक्' 'पूर्वे सव-	'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः(७-१-३९

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
			र्णाच्छयोना-	सि० कौमुदी)
			न्यायाजाल(?)	
२	४०	२	नैताद्दतो	नैवाद्दतो
४	४१	१	भूमिषु	भूतेषु
८	४२	१	वेद-	वेदक-
२	४२	२	त्रयान्वा	त्रीम्वा
४	४३	१	कर्तृल-	कर्तृ-
८	,,	२	(क्षायोपशमि-	त्वौ-
			कस्य) चौ-	
७	४४	१	-चिर-	-चिरं
१०	,,	,,	पृष्ट	पृष्टे
१३	,,	,,	शुद्ध-	अत्र शुद्ध-
११	४७	१	(स)तै-	सतै-
१२	,,	२	(अपर्याप्तकाः)	अपर्याप्तकाः तेषामवस्थाना-
			तेषामेव स्था-	
			नानाम-	

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	४८	१	नाम्रानित्यत्वं	नाम्नित्यत्वं
६	४९	१	-गादीनां	-गादीन्
१४	५२	२	ते च	ते च ते
३	५१	१	अङ्गुलासंख्ये-	अलङ्गासख्येयभागप्रदेशैर्भक्तं
			यभाग-	अथवाऽङ्गुलासंख्येयभाग-
५	५२	१	करमात्	कस्मात्
३	५३	१	समय-	समयै-
१	५६	१	पर्प्सि	पप्सेहिं
११	५६	१	-श्रण्यागता	-श्रेणीगता
५	५८	१	पूर्व	पूर्वं
७	६०	२	छेदकानि	छेदनकानि
६	६३	,,	द्र०	द्रव्य
४	६४	२	(आहारकस-	आहारकशरीरकरण समुद्घातः
			मुद्घातः)	
२	६७	२	द्वादश	ततो द्वादश
५	६९	१	च	स्वशरीरात्यागेन च

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२	,,	,,	उभयत्रा—	ऊभयसूत्रा—
७	७३	१	द्यन्तः	द्यनन्तः
४	७६	२	(मिश्रः)	सम्यग्मिथ्यात्वगुणः
४	,,	,,	मुंहूर्त्तावधिकः	मुंहूर्त्तकालिकौ
९	७७	,,	शशवे	शैशवे
२	८०	३	जघन्यतः उत्कृष्टतश्च	जघन्यतः
९	८१	१	पगेणं	एगेणं
१२	८४	१	प	य
४	८५	२	सूक्ष्मकषाया	सूक्ष्मकषायोपशामका
६	८७	२	प्रथम(क्षपक)	प्रथमे
८	९०	२	-न्तोर्मुहूर्त्त-	-तोऽन्तर्मुहूर्त्त-
४	९२	२	-नैवानु-	-नैवोप-
५	९३	१	-पुञ्जी	-पुञ्जौ
२	१००	१	ताभ्यो	तेभ्यो
२	१०४	१	जीवाः	जीवा विशेषाधिका

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०	१०५	२	अनिवृत्तिवादरो [वा],	अनिवृत्तिबादरो वा
५	१०८	२	द्व्यष्टा-	द्वावष्टा-
५	,,	,,	द्वौ चत्वा-	द्वाचत्वा-
२	१०९	१	प्रथम-	ततश्चायमर्थः-प्रथम-
६	,,	,,	क्रियासु	क्रियासु, तद्विषयो यः क्षयोपशमस्तद्वीर्यं शक्तिः सामर्थ्यमिति यावत्,
११	१११	२	कर्तुमारभते, तस्य च तैर्मोदकादिभिःस्तोकै रसनोपकृतं दुःखं प्रभवति,	करोति तैश्च मोदकैः स्तोकैरसन्तोषकृतं दुःखं प्रभवति,
१	११७	२	तत्थिरनाम	तत्स्थिरनाम
८	११८	२	स्वशरीरो-	स्वावयनेन स्वशरीरो-
८	११९	१	(विसेसोर्सि)	विसेसोर्सि

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
			तह विसेसो	
१३	,,	,,	–पज्जणाप–	–पज्जाणाप–
४	१२१	१	–द्विशरीर–	–द्विशरीरयुक्तानां तेषां वैक्रियादीनां त्रीणि भवन्ति, एवं वैक्रियतैजसकार्मणशरीर·
५	,,	,,	सहितोनि	सहितानि पूर्वोक्तानि
६	,,	,,	त्रीणि,	त्रीणि, तैजसशरीरपुद्गलानां
१	१२३	,,	शुभाभि–	शुभत्वाभि–
६	,,	,,	पकृति–	प्रकृति–
११	१२४	,,	वन्ध–	शेषास्त्रिसप्ततिरध्रुवबन्धिन्य., वन्ध—
५	१२६	,,	तेषांसम्यक्त्वादीनां प्राप्तव्यापेक्षया शेषलक्षणस्य घातिन्यः भवन्ति,	तयोः–केवलज्ञानदर्शनयोः शेषहन्तव्यस्य तच्छेषहन्तव्यस्य देशघातित्वात् देशघातिन्यो तद्भावादेशघातिन्यो
			भवन्ति,	
६	१३२	१	–भावाद्या–	–भावाभावाद्या–
६	१३६	२	सप्त	षट्
१०	१४०	१	विघ्नन्ति	निघ्नन्ति
१२	१४१	१	ऽसर्वघातित्वं संजातमेवेति	सर्वघातित्वं संज्ञामात्रमेवेति
७	१४५	२	अणुयंपि	तणुयंपि
१३	१४६	१	यावस्त्वति	यास्त्वति–
१३	१५०	१	–करणे	–वैकरणे
१०	१५२	१	–भूता	–भूतासु
११	१५२	१	–दि(दयः तासु)–	दि–
१२	१६५	१	–विकल्पा–	–विकल्प–
९	१७०	२	सव–	सर्वं
८	१७४	१	–स्थाते	–स्थाने
११	१८०	२	षर्याप्त–	पर्याप्त

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०	१८९	१	चिञ्चि-	किञ्चि-
४	१९१	१	मगना-	गमना-
१२	१९६	२	-स्त्रिविधिः	स्त्रिविधः
४	२०३	२	षष्ठी	षष्टी (एवं सर्वत्र)
२	२०६	१	-त्वस्थायां	-त्वावस्थायां
१३	२०९	१	परभायु-	परभवायु-
१४	२११	२	सत्तान-	सत्ता-
१	२१४	२	-पिणो	-विणो
११	२३७	१	-रातरूपाणां	-रातपरूपाणां
२	२३८	१	स्थिर-	स्थितर-
३	२३८	१	संक्ले-	संक्लेश-

पंक्तिः	पत्रं	पृष्ठं	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	२४०	२	पक्षकः	क्षपकः
१०	२४४	१	सप्रतिक्षाणां	सप्रतिपक्षाणां
१४	२४४	१	-बन्धकारी	-भागबन्धकारी
७	२४२	१	बन्धगेव	बन्धमेव
११	२४८	१	'भीदशे-	-मीदशे-
१	२५५	१	मेत्रत्	मेतत्
३	२६७	१	स्थिा-	स्थिरा-
१३	२६९	१	-भ्युस्थित-	भ्युत्थित
६	२८१	१	वर्त्तनानः	वर्त्तमानः
७	२९५	२	स्वण्डं	खण्डं
१४	३०५	२	-नावलिया-	-नावलिका

ॐ ह्री णमो आयरियाणं।

सकलागमरहस्यवेदि-शासनधुरंधर-परमगीतार्थ ज्योतिर्विदाभरण-पूज्यपाद आचार्य महाराज श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजीनुं टुंकुं जीवनचरित्र

आ महापुरुषनो जन्म झींझुंवाडामां वि. सं. १९२४ ना कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी ए थयो हतो. तेमना पितानुं नाम शेठ जुठाभाइ हतुं अने मातानुं नाम नवलबाई हतुं. तेओश्रीनुं नाम दीपचंदभाई राखवामां आव्युं हतुं. दीपचंदनुं जीवन अनेक रीतीए यशस्वी नीवडयुं. नानी उम्मरमां सारी रीते भण्या युवावयमां आसीस्टंट मास्तर थया अने तेजस्वी शरीर प्रकृतिथी पोलीसपटेलने होद्दे पण चढथा छतां आश्चर्यनो वात ए हती के सत्ताना गुमानथी तेओ जराए लेपाया नहि. सत्य, नीति, अने प्रामाणिकता तेमना मुद्रालेख हता. तेमनो ब्रह्मचर्य उपरनो प्रेम पण अथाग हतो. आ गुणोथी तेओ विशेष धर्म प्रत्ये प्रेराया. तेमने मन धर्म विहोणुं जीवन पशु करतां पण अधम हतुं उत्तम भवितव्यताथी आ दीपचंदभाइना हृदयमां धर्म जाणवानी एटलुं ज नहि परंतु तेने यथास्थित जीवनमां आचरवानी ये प्रवल भावना जन्मी पुरुषार्थी आत्माओ जगतमां शुं सिद्ध करी शकता नथी ? क्रमश तेओ संसार त्यागी साधु पण थया.

ए काल एटले पूज्यपाद सद्धर्मोद्धारक न्यायाम्भोनिधि आचार्यदेव श्रीमद् विजयानंदसूरीश्वरजी महराजनु एक छत्री रामराज्य. न कोई शासनना स्थिति स्थापकता सामे आंगळी चींधी शके के चींधनार न कोई टकी शके. ए महापुरुषना शिष्यरत्न एक पूज्यपाद उपाध्यायजी श्रीमद् वीरविजयजी महाराज हता, जेओनो अजोड संगीतकळा अने मनोहर व्याख्यान शैलीने आजे पण लोको याद करी वखाणे छे. आपणा चरित्रनायके तेओश्रीनी पासे वि सं. १९४३मां वावीस वर्षनी तरुण वये दीक्षा अङ्गीकार करी. जे यौवन बीजाओने मोजविलासमां मस्त वनावी पायमाल करे ते यौवनने आ महापुरुषे असिधारा सम कठोर मुनिव्रतनुं पालन करवामां उन्नत बनाव्युं.

दीपचंदभाईनो उत्कर्ष प्रतिदिन वधतो गयो. तेमनुं नाम हवे मुनि श्री दानविजयजी राखवामां आव्युं. अल्पसमयमां तेओए अगस्त्य-

ऋषिनी माफक आगम समुद्रनुं पान करी लीधुं. 'विद्वान थनारा बुद्धिमानो तपमां अने गच्छ वैयावच्चना बीजा कामोमां काचा होय छे,' ए कहेवतने तेओए खोटी पाडी. जेवा तेओ प्रखर विद्वान थया, तेवा प्रखर तपस्वी थया, जेवा तेओ प्रखर तपस्वी थया तेवा ज तेओ प्रखर सेवाभावि वैयावच्च गुणवाळा पण थया. साधुजीवनने उपयोगी एवुं कोइ काम नहोतुं जे तेओने आवडतुं न होय के करतां शरमाता होय. मुनिराजोमां तेओनुं विशिष्ट स्थान बीनहरीफ बन्युं.

ज्योतिषना विषयमां तेमनो निर्णय जैनसमाज माटे निःशंकपणे स्वीकार्य मनावा लाग्यो. श्री जीनागमो अने बीजा दार्शनीकादि शास्त्रोना गहन अभ्यासथी तेओश्री शास्त्रोना परम रहस्य वेदी बन्या. अने तेओश्रीना वचनोनी पण एकसरखी रीतीए उंडी असर थवा लागी. विधि विधान जेवा सूक्ष्मविषयोमां पण तेओश्री एटला बधा निष्णात हता के तेमनी सलाह मल्या पछीथी शंकाने स्थान रहेतुं नहि.

त्रिस्तुति मतोत्पादक राजेन्द्रसूरि साथेनो छाणीगाममां थयेलो शास्त्रार्थ अने तेमां तेओश्रीनो विजय थवो, धनारीना श्रीपूज धरणेन्द्रसूरि साथे सिरोही स्टेटमां शास्त्रार्थ थवो अने तेमां पण विजय प्राप्त करवो, वडोदराना राजा सयाजीराव गायकवाडनुं तेओश्रीने ज उपदेश आपवा माटे आमंत्रण मलवुं अने राजमहेलमां पधारी राजसत्कारपूर्वक राजाने धर्मपरिचय कराववामां अनन्य सफलता प्राप्त करवी, तेमज संवत १९८८ मां सुरतमां अष्टमवादीने शास्त्रना विरोधो बतावी मौन पकडाववुं, आवा आवा तो अनेक सुवर्ण प्रसंगो तेमना उज्वल इतिहासनी साक्षी पूरे छे

आ महापुरुषनो गुरु सेवानो गुण कोइ अजब हतो. तेओ आवा महान् छतां गुरु आगळ लघु बाळक समा थईने उभा रहेता. गुरुना अन्त समये तेमणे बजावेली सेवा तो आखी साधु सृष्टिने दृष्टांत लेवा लायक हती. ए गुरुसेवानो रुडो प्रताप हतो के जेणे आ समर्थ पुरुषने उन्नतिना शिखरे आरुढ कर्या हता.

आ निस्पृह सेवाभावी विद्वान तपोजीवी शासनना प्रतापी पुरुषमां शासन रक्षानी तमन्ना ठांसी ठांसीने भरेली होय ए बे ढु चार जेवी तद्दन स्वाभावीक बीना हती. संवत १९६८ ना वडोदरा मुनिसंमेलनमां आवेला दीक्षा प्रतिबंधक ठराव सामे विरोध बतावनारा

ए तारक हता अने संवत १९९० मां भरायेला राजनगर मुनिसंमेलनमां देवद्रव्य संबंधी थनारा अयोग्य ठरावने सुधरावी शास्त्र सम्मत योग्य ठराव करावनारा पण एज शासन रक्षक शासनने दिपावनारा त्यागी वीर पुरुष हता.

शासनने समर्पित थयेलां परम चरित्र क्रियापात्र आ महात्मानी गणि तथा पन्यास पदवी परमचारित्रपात्र पू पंन्यासजी महात्मा श्री चारित्रविजयजीगणिना हस्ते श्री भगवती महासूत्रना योगोद्वहन पूर्वक संवत १९३२मां खंभात सङ्घना भारे महोत्सव सहित थई हती. अने आचार्य पदवी उपर तेओश्रीने खुद गच्छनायक पूज्यपाद सद्धर्म संरक्षक निःस्पृह शिरोमणी आचार्य प्रवर श्रीविजयकमलसूरीश्वरजी महाराजाए संबत १९८१ मां छायापुरीमां खुब आग्रहथी स्थापन कर्या हता. तेओ आचार्यपुंगव श्रीमद्‌विजयदानसूरीजी नामे प्रख्यात थया.

आपणा आ महान् सूरिपुरंदर श्रीसंघ शांतिना पण परम उपासक हता. शास्त्रविरोधी नवी नवी प्ररुपणा करीने संघशांतिने जोखमावनाराओने तेओ मुद्दल साथ आपता न हता. पछी चाहे तेओ पोताना सङ्घाडाना होय के परसङ्घाडाना होय, एक होय के अनेक होय. संवत १९५२-१९६१ अने १९८९ मां भादरवा शुद ५नो क्षय आवतां आ धर्म पुरुषे भादरवा सुद ४ उदयतिथिने दिवसे ज संवत्सरि महापर्वनुं आराधन कर्युं हतुं. शास्त्रना ए अटल सिद्धांतने अनुसरीने ए महापुरुषना काल धर्म पाम्या पछी पण श्री श्रमण सङ्घना मोटा भागे संवत १९९२ना तथा १९९३ मां भादरवा सुद ५नी वृद्धि होवाना कारणे भादरवासुद ४ उदयात् पर्वतिथिने विराधी न हती

पूज्यश्री पोते उग्रविहारी हता भारतवर्षना चारे खुणाने आ गीतार्थ गुरुवरे पोताना पादविहारोथी पवित्र कर्या हता. पंजाब, बंगाल राजपुताना, मारवाड मेवाड, मोलवा, गुजरात, काठीयावाड, अने कोंकण महाराष्ट्र आ सघळा प्रदेशोमां तेमणे विहार कर्यो हतो. क्यांक शासनना खास प्रयोजन सिवाय आ दिव्य पुरुषे पोतानी जींदगीमां एक स्थले एकथी वधारे चातुर्मास करवानुं पसंद कर्युं न हतुं

स्वर्गवास थवाने थोडा दिवसज बाकी हता. आ पुण्यपुरुषे छेल्लुं संवत १९९१नुं चातुर्मास राधनपुरमां कर्युं हतुं त्यां उद्यापन मालारोपण-आदि अनेक शासनोन्नतिनां कार्यों बजाव्यां. १९९२नी मौन एकादशी पछी पोते विहार करीने श्री शंखेश्वरजी पार्श्वनाथ भगवाननी तीर्थयात्राए पधार्या. वृद्धावस्थाथी शरीर तद्दन जीर्ण थई गयुं हतुं. तथापि तपश्चर्या अने विहारो तो सेवेज जता हता.

राधनपुरनी घणी विनंती छतां गुरुजी शंखेश्वरथी विहार करीने झींझुवाडे पधार्या, झींझुवाडा पोतानी जन्मभुमी हती, शरीरनी अशक्ति वधी गइ हती, चालतां छातीमां सतत दुखावो पण रहेतो हतो, हवे आगळ विहार नहि करवा माटे संघनी घणी ज दर्द भरी विनंति पण हती. पण निर्मल अने निरागी शासनना ए स्थंभ पुरुषे तो पाटडीमां प्रतिष्ठाना धर्म कार्य निमित्ते विहार कर्यो. बहोळा समुदायना पोते मालीक हता छतां थोडा मुनिराजो पोतानी साथे राखी मुख्य मुख्य महात्माओने अन्यत्र धर्मोन्नति अर्थे विहार करावी दीधा, तेमनी त्याग दशानी ए अति स्पृहणीय उच्च पराकाष्ठा हती.

श्री भरतेश्वर वृत्तिना द्वितीय विभागमां आ महापुरुषना जीवननो उल्लेख करतां शेठ देवचंद लालभाइ जैन पुस्तकोद्धार फंडना मानार्थ मेनेजिंग ट्रस्टी श्रीयुत जीवणचंद साकरचंद झव्हेरीए लख्युं छे के—

"पूज्यपाद आचार्यवर्य श्री विजयदानसूरीश्वरजी महाराजाए पोतानी आत्म साधनामां मन, वचन, कायाने समर्पि दींधां हतां. अति वृद्ध वये अने अति क्षीण देहे पण ते महापुरुष महान् तपस्वी हता. छातीनो सतत दुखावो होवा छतां य उग्र विहारी हता, शासनना परम आधारभूत हता."

श्री तपगच्छ श्रमण वंश वृक्षना संपादक श्रीयुत जयंतीलाल छोटालाल शाह पण आ पुण्य प्रभावक गुरु वर्य्यनुं जीवन आलेखतां सत्य ज कहे छे के—

"अपूर्व ज्ञान प्रियता, असाधारण विद्वत्ता, अने कठोर व्रत पालन, आ त्रिवेणी संगमना द्रष्टान्तभूत श्रीमद् विजयदानसूरिजी आधुनिक श्रमणताना इतिहासमां अग्रगण्यमांना एक छे."

आ अग्रगण्य विभूतिनुं मरण तो एवुं समाधिवाळुं थयुं के मुमुक्षु मात्रने तेनी इच्छा थाय. जीवनभरना संयम प्रभावे तेओश्रीने कोइ आश्चर्यजनक समाधि मरण प्राप्त थयुं. पाटडीमां प्रतिष्ठा महोत्सव चाले छे, श्रावकोए अमदावादथी वाजींत्र बोलाव्यां छे. बजाणाथी हाथी आव्यो छे. संवत १९९२ना महा सुद २ ने दिवसे प्रभुजीनो जलयात्रानो वरघोडो चढे छे. महाराज श्री वरघोडामां फरीने उपाश्रये आवे छे. श्रावकोए उपाश्रय आगळ भव्य मंडप बांध्यो छे. ए शासनसूर्य उपाश्रयना ओटले बीराजे छे. एमनी सन्मुख

मंडपमां हाथी गेल करे छे. भक्तमंडल पण चारे तरफ चीकार बेसी गयुं छे. बेन्ड मीठा सरोदोथी वाजिंत्रोनी दीलचश्प रमझट जमावे छे. सांझना पांच वागतोमां गुरुदेवनी भक्ति करीने आ सघळुं मंडल विखराइ जाय छे, केम जाणे ते कोइ उत्तम देव विमाननुं भव्य आमंत्रण न होय? सांझे गुरुदेव प्रतिक्रमण करे छे. पुरु थतां थतां जीभ अचकाय छे. देहनी अस्थिरताने ए तेजस्वी पुरुष पारखी जाय छे. आवश्यक क्रिया, संथारा पोरसी, सौने खमत खामणां आदि करीने शासननो ए परम आधार प्रतापी सूर्य नमस्कार मंत्रनुं चिन्तवन करतो करतो पूर्ण समाधिथी रातना नव वाग्याना सुमारे पोतानो जीर्ण देह तजी दइ स्वर्गे संचरे छे. ए तारकनी श्मशान यात्रा पण बीजे दिवसे कोइ अजोड नीकळी हती.

आ प्रभावशाली शासन संमान्य सूरिवरनी पुण्य प्रकृति पण कोई असाधारण हती. यादशक्ति तो अन्त सुधी सतेज हती. वर्षो पहेलांनी झीणी झीणी वावतो पण ए गुरुवर्यने याद होय. ४६ वर्षनुं दीर्घ संयम अणी शुद्ध पाळीने साधु जीवननी सघळी फरजो तेओए कृतार्थ करी. शासन सेवामां तल्लीन, संयमरसिक, शास्त्रानुसारी, आज्ञापरायण, बहोळो शिष्य परिवार उत्पन्न करीने तेओश्रीए शासनना अविनाशमां-कायमी परंपरामां सर्वोपरि फाळो आप्यो छे, पूज्यपाद सिद्धान्त महोदधि आचार्यदेवश्री विजयप्रेमसूरीश्वर, पू. पा. व्याख्यानवाचस्पति आचार्य प्रवरश्री विजयरामचन्द्रसूरीश्वर, पू. पा. महामहोपाध्याय श्रीमद् जंबूविजयजी गणिवर आदि महात्माओ ए पूज्यश्रीना शिष्य प्रशिष्य परिवारमां मुख्य छे.

प्रान्ते शेठ देवचंद लालभाई जै. पु. फंडना मेनेजींग ट्रस्टी साहेबना शब्दोमां एटलुं कहेवुं आवश्यक छे के—

"आ महापुरुषे पोताना जीवनमां शासन सेवानां अने भव्य जनो उपर उपकार करवानां अनेक कार्यो कर्यां छे. अने तेमनुं जीवन आत्महित इच्छनार माटे एक प्रेरणानुं उत्तम साधन छे."

आश्विन शुक्ल पूर्णिमा १९९४
डभोई

श्रमणोपासक
शाह खुबचंद पानाचंद, मानद मंत्री

॥ अर्हम् ॥

स्व. पू. गुरुदेवसकलागमरहस्यवेदि श्रीमदाचार्यविजयदानसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

स्वोपज्ञवृत्त्या–श्रीमदाचार्यमलयगिरिसंदृब्धवृत्त्या च समलंकृतः–

श्रीपञ्चसंग्रहः ।

(प्रथमो विभागः)

सिद्धं सिद्धार्थसुतं, त्रिकालविज्ञानभासितज्ञेयम् । गतकर्मांशश्लेषं, विव्यथसातास्पदं शान्तम् ॥१॥ निर्नासिताघजालं, विनाशिताशेषमरणभयपटलम् । पथ्योपदेशदाने, कुतर्कनाशे च चपलतरम् ॥२॥ आपन्मेघौघानां, विक्षेपे वायुवीर्यजेतारम् । अज्ञानध्वान्तार्कं, संसाराब्धौ महापोतम् ॥३॥ भव्यसितोत्पलिकाकर–बोधविधौ विमलकिरणशीतकरम् । पापत्रितापितसज्जन–भूधरनिर्वपनवारिधरम् ॥४॥

प्रकटीकृततत्त्वगणं, सुरदैत्यनमस्कृतं भुवननाथम्। सुरशैलमिवाचलितं, प्रबलैरुपसर्गपवनौघैः ॥५॥ भवजलधिपतितनतजन–शिवपद-सुखनगरगमनवरफलकम्। अतिगुपिलविपुलकलिकलुष–गहनदवदहनविजितबलम् ॥६॥ इति जिनवरं नत्वा, वक्ष्येऽहं गुरुमतानुसारेण इह पञ्चसंग्रहाख्यस्य, विवरणं प्रकरणस्य शुभम् ॥७॥ (सप्तभिः कुलकम्)

मङ्गलादिचतुष्टयपूर्वकः शिष्टानां शास्त्रारम्भप्रयासः, यतः शिष्टा हीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्ते, मङ्गलाभिधायिशब्देन वा, अतोऽयमपि न हि न शिष्टः, अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवृत्तवान्, अत उच्यते नमस्कारः–

नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं। वोच्छामि पंचसंगहमेय महत्थं जहत्थं च ॥१॥

(स्वो०)—मङ्गलं चादिमध्यावसानभेदात् त्रिधा भवति, तत्रादिमङ्गलमिदमेव गाथासूत्रम्, यतो भगवतो नमस्कारोऽशेषकर्म्मक्षयकर्तृत्वान्मङ्गलापादक एव, मध्यमङ्गलन्तु 'नाणंतराय' इत्यादि, यतो ज्ञानस्य सर्वशास्त्रेषु प्रधानभावमङ्गलत्वेन प्रसिद्धत्वात्, अवसानमङ्गलं तु 'सुयदेविपसायाओ' इत्यादि, यतो भगवत्याः श्रुतदेवताया नामोत्कीर्त्तनादेव वक्तृविवक्षितसर्वशास्त्रावबोधो भवति, अतो मङ्गलता स्फुटैव। सर्वमेवेदं शास्त्रं मङ्गलमित्येतावदेवास्तु मङ्गलत्रितयाभ्युपगमस्त्वयुक्तः प्रयोजनाभावात्, इति चेत्, न, प्रयोजनाभावस्यासिद्धत्वात्, तथा च–कथं नु नाम विनेया विवक्षितशास्त्रार्थस्याविघ्नेन पारं गच्छेयुरतोऽर्थमादिमङ्गलोपन्यासः, तथा स एव कथं नु नाम तेषां स्थितः स्यादित्यतो मध्यमङ्गलस्य, स एव कथं नु नाम शिष्यप्रशिष्यादिवंशस्याव्यवच्छित्त्योपकारकः स्यात्, इत्यतोऽर्थं चरममङ्गलस्य, इत्यतो हेतोरसिद्धतेति। तदस्य प्रारम्भ एवालोचितकारिप्रवृत्त्यङ्गत्वात् फलादिविभागः प्रदर्श्यते, उक्तं च–"प्रेक्षावतां

प्रवृत्यर्थं, फलादित्रितयं स्फुटम्। मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥१॥" तत्र मङ्गलं निरूपितमेव। प्रयोजनं तु परापरभेदभिन्नं द्विधा, पुनरेकैकं कर्तृश्रोत्रपेक्षया द्विधैव, तत्र द्रव्यास्तिकनयालोचनायामागमस्य नित्यत्वात् कर्त्रभाव एवेत्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भवति न कदाचिन्न भविष्यति, अपि त्वभूद्भवति भविष्यति च, पर्यायनयालोचनायां चानित्यत्वात् तत्सद्भाव इति, तत्त्वालोचनायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वादागमस्यार्थापेक्षया नित्यत्वात् सूत्ररचनापेक्षया चानित्यत्वात् कथञ्चित्कर्तृसिद्धिरिति, तत्र सूत्रकर्तुः परं प्रयोजनमपवर्गप्राप्तिः, अपरं सत्त्वानुग्रहः, तदर्थप्रतिपादयितुः किं प्रयोजनम्? इति चेत्, न किञ्चित्, कृतकृत्यत्वात्, प्रयोजनमन्तरेणार्थप्रतिपादनप्रयासोऽनर्थक इति चेत्, न, तस्य तीर्थकरनामगोत्रकर्मविपाकत्वात्, तथा चोक्तम्–"तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्म०" इत्यादि, श्रोतॄणां त्वपरं तदर्थाधिगमः, परं मुक्तिरेवेति, तथा च ते हि तत्परिज्ञानात् संसाराद्विरज्यन्ते ततो मुक्त्यर्थं घटन्ते ततस्तामवाप्नुवन्ति। अभिधेयं तु पञ्चसंग्रहाख्यं प्रकरणम्। सम्बन्धस्तु साध्यसाधनलक्षणस्तर्कानुसारिणः प्रति सामर्थ्यगम्य एव, तथाहि–साध्यः पञ्चसंग्रहार्थः, साधनं तदेव वचनरूपापन्नमिति, अर्थानुसारिणः पुनरङ्गीकृत्य गुरुपर्वक्रमलक्षणः, स च स्थविरावलिकानुसारतो विज्ञेयः, इत्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः–तत्र व्याख्याक्रमः सर्वशास्त्रेषु संहितादिरूपः, उक्तं च—"संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥" तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, साऽत्र शब्दो(स्पष्टो)च्चारणात् कृतैव। पदानि तु–"नत्वा जिनं वीरं, सम्यक् दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकं। वक्ष्ये पञ्चसंग्रहं, एतन्महार्थं यथार्थं च ॥१॥ पदार्थस्तु–'नत्वा' प्रणम्य, णम् प्रह्वत्वे शब्दे(च), अस्य समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्यये रूपम्, अनेन च नित्यैकान्तवादपक्षोऽनित्यैकान्तवादपक्षश्च निरस्तो भवति, तत्रासम्भवात्, यतो नित्यानित्यपक्ष एव एष (न)घटते, तस्य क्रियाभेदेनोत्पत्तेः. कं नत्वा?

'जिनं' इति, रागद्वेषकषायपरीषहोपसर्गादिभावारिवर्गजेतृत्वाज्जिनोऽतस्तं, स च श्रुतावधिमनःपर्यायसामान्यकेवल्यपि भवति अतो 'वीरं' भावतीर्थंकरदेवं, यतोऽभिहितम्—"विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥१॥" तं अद्भुतमाहात्म्यं नत्वेति सर्वत्र क्रिया योज्येति, सम्यक्–त्रिकरणयोगेन दुष्टं च तदष्टकर्म च तस्य 'निष्ठापकः' अशेषकर्मविनाशकः अतस्तम्। 'वोच्छामि' वक्ष्यामि भणामि उत्तरक्रियासम्बन्धः, किं?–पञ्चसंग्रहाख्यं प्रकरणं, एतच्च 'महार्थं' महानर्थो यस्मिंस्तन्महार्थं 'यथार्थं' च यथैव–आगमाविरोधेन व्यवस्थितोऽर्थस्तथैवार्थो नाऽऽलूनविशीर्णो रथ्यापुरुषप्रलपितवदिति, अयं पदार्थः। पदविग्रहस्तु समास[पद]भाक्पदानां कृत एव। ननु चात्र विघ्नोपशमाय नमस्कारे प्रस्तुते पदेनैकेन नमस्कारः कर्त्तुं युज्यते, पदत्रयोपादानं केन युज्यते, निष्फलत्वादिति, अत्रोच्यते–निष्फलत्वादित्यसिद्धम्, विशेषणानां साफल्यात्, तथाहि–नत्वा जिनं इत्येतावत्युच्यमानेऽन्येऽपि श्रुतावधिजिनादयोऽपि भवन्ति, तद्व्युदासाय वीरमिति विशेषणम्, वीरा अप्यनेके लोके प्रसिद्धाः प्रभूताद्भुतकर्मकारिणः, अतस्तन्निषेधार्थं दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकमिति, असाधारणगुणविशेषणविशिष्टत्वादभिप्रेतदेवताविशेषस्य स्तुतिरापादिता अविचला भवति विशेषणविशेष्यभावेन पदत्रयेणेत्यतो विशेषणसाफल्यता स्फुटैव, इत्यलं प्रसङ्गेन, गमनिकामात्रत्वादिति। अपरस्त्वाह–पञ्चसंग्रहादीनां पदानां वैयर्थ्यं, निष्प्रयोजनत्वाद्, एकेनैव पदेनाभिलषितार्थसिद्धेरिति, अत्रोच्यते–न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तथाहि–पञ्चसंग्रहमित्युक्ते न ज्ञायते कीदृगित्यतो महार्थं–महार्थताविशिष्टं जानीहि, पुनर्विशेषणं यथार्थमिति, महार्थत्वमागमविरोधेनापि स्यात् अतो यथार्थं विशेषणमिति, अतः पञ्चसंग्रहादीनि पदान्येवमेव घटन्ते, नान्यथेति, तस्मात्सर्वमेतद् घटमानकमिति गाथार्थः ॥१॥

अशेषकर्मद्रुमदाहदावं, समस्तविज्ञातजगत्स्वभावं । विधूतनिःशेषकुतीर्थिमानं, प्रणम्य देवं जिनवर्द्धमानं ॥१॥
संसारकूपोदरमग्नजंतुस्तोमोद्धृतौ हस्तमिवावलंब्य । जैनागमं वाहितशेषशास्त्रन्यग्भावमापूर्णयथार्थवादं ॥२॥
विवृणोमि पंचसंग्रहमतिनिपुणगभीरमल्पबुद्धिरपि । शास्त्रांतरटीकातो गुरूपदेशाच्च सुखबोधं ॥३॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

(मलय०)—इह शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः संत इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव प्रवर्त्तंते, न चायमाचार्यो न शिष्ट इति शिष्टसमयपरिपालनाय, तथा श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवंति, उक्तंच—"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवंति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यांति विनायकाः ॥१॥" इदं च प्रकरणं सम्यग्ज्ञानहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विघ्न इति विघ्नविनायकोपशांतये चेष्टदेवतानमस्कारं, तथा न प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रयोजनादिविरहे प्रवर्त्तन्ते, ततः प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादिकं च प्रतिपादयिषुरादाविमां गाथामाह—सम्यक् त्रिकरणयोगेन नत्वा—नमस्कृत्य, 'शूरवीरविक्रांतौ' वीरयतिस्म कषायोपसर्गपरीषहेंद्रियादिशत्रुगणजयंप्रति विक्रामतिस्मेति वीरः, अथवा 'ईर् गतिप्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति गमयति स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिवं प्रेरयति शिवाभिमुखमिति वा वीरः, अथवा 'ईरि गतौ" विशेषेण अपुनर्भावेन ईर्त्ते स्म याति स्म शिवमिति वीरः तं, स च नामतोऽपि कश्चिद्भवति, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणमाह—जिनं रागादिशत्रुजेतृत्वाज्जिनस्तं, सोऽपि श्रुतावधिजिनादिकोऽपि संभवति, तस्यापि यथासंभवं रागादिशत्रुजयनात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणांतरमाह—दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापकं दुष्टानामष्टानां कर्मणां निष्ठापको विनाशकस्तं, केवलिजिनमित्यर्थः। नन्वेतदेव विशेषणमास्तां पुष्टत्वात्, अलं जिनग्रहणेन, उच्यते—इह संसारमोचकादयो हिंसामैथुनादिभ्योऽपि दुष्टाष्टकर्मविनाशमिच्छंति, संसारमोचकस्यापि हिंसा यन्मुक्तिसाधनमित्यादिवचनश्रवणात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं जिनग्रहणं, जिन एव रागद्वेषा-

ज्ञानादिशत्रून् जयन्नेव सन् यो दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापको, नान्यथा, तं नत्वा, किमित्याह–वक्ष्यामि, 'एय'त्ति विभक्तिलोप आर्षत्वात्। एतमंतस्तत्वनिष्पन्नं पंचसंग्रहं, संग्रह्यतेऽनेनेति संग्रहः 'पुंनाम्नीति करणे घप्रत्ययः' पंचानां शतक–सप्ततिका–कषायप्राभृत–सत्कर्म–कर्मप्रकृतिलक्षणानां ग्रंथानां, अथवा पंचानामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणा–बंधक–बंधव्य–बंधहेतु–बंधविधिलक्षणानां संग्रहः पंचसंग्रहः। यद्वा पंचानां ग्रंथानामर्थाधिकाराणां वा संग्रहो यत्र ग्रंथे स पंचसंग्रहस्तं। कथं भूतमित्याह–महार्थं–महान् गंभीरोऽर्थो यस्मिन् तं, यथार्थं च, यथावस्थितः प्रवचनाऽविरोधी अर्थो यस्मिन् तं, यद्वा अर्थस्य प्रवचनोक्तस्यानतिक्रमणेन स्वमनीषिकया यथार्थं। चः समुच्चये। इह पंचसंग्रहोऽभिधेयः। तत्परिज्ञानं श्रोतुरनंतरं प्रयोजनं, कर्त्तुः परानुग्रहः, परंपरप्रयोजनं तूभयोरपि निःश्रेयसावाप्तिः। संबंधस्तूपायोपेयलक्षणस्तथाहि–वचनरूपापन्नं प्रकरणमुपायस्तत्परिज्ञानं चोपेयमिति ॥१॥

साम्प्रतं प्रकरणस्य यथार्थतां प्रतिपादयन्नाह—

सयगाइ पंचगंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता। दाराणि पंच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥

(स्वो०)—शतकमादिर्येषां पञ्चानां ग्रन्थानां ते शतकादिपञ्चग्रन्थाः 'यथार्हं' यथायोग्यं येन कारणेनात्र 'संक्षिप्ताः' स्थापिताः-न्यस्ताः, द्वाराणि पञ्चाथवा, तेन कारणेन यथार्थाभिधानमिदमिति गाथार्थः ॥२॥

(मलय०)—संप्रति प्रकरणस्य यथार्थाभिधानतामावेदयति–शतकादयः पंच ग्रंथाः पूर्वोक्ता यथार्हं यथायोगं येन कारणेनात्र प्रकरणे संक्षिप्ताः संगृहीताः, अथवा वक्ष्यमाणस्वरूपाणि पंच द्वाराणि यथार्हमत्र संक्षिप्तानि, तेन कारणेन इदमभिधानं पंचसंग्रहलक्षणं यथार्थं सान्वयमिति ॥२॥

इदानीं द्वाराण्यभिधातुकाम आह—

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा। तह बंधियव्व य बंधहेयवो बंधविहिणो य ॥३॥

(स्वो०)—अत्र च प्रकरणे योगोपयोगानां मार्गणा बन्धकाश्च वक्तव्याः, तथा बद्धव्यं बन्धहेतवो बन्धविधयश्चेति समुदायार्थः, अवयवार्थस्तूच्यते चालनापूर्वकमिति। अत्र कश्चिदाह—कोऽयं द्वारोपन्यासे क्रमः, यतः कर्त्तुरधीनत्वात् सर्वासां क्रियाणामादावेव बन्धकास्तावद्वक्तव्याः, तदनन्तरं योगोपयोगाः, पुनर्बद्धव्यं, ततो बन्धहेतवो बन्धविधयश्चेति, एवमेव युक्तियुक्तत्वादिति, अत्रोच्यतेन, अभिप्रायापरिज्ञानात्, अयमभिप्रायो—योगोपयोगा जीवस्यासाधारणगुणा अविनाभावित्वेन तैरेव च सुखानुमेयोऽतीन्द्रियोऽप्यात्मा, अतः सूत्रकार आदावेव योगोपयोगाना(चख्ये), छद्मस्थैश्च प्रायो गुणैर्गुणि लक्ष्यते न साक्षात्, इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थमित्थमुपन्यासः कृत इति, तथाऽल्पवक्तव्यत्वाद्, अन्यथाऽप्यनेकनयमताऽभिज्ञेन स्वमत्या क्रमप्रयोजनं वाच्यमिति। युज्यन्त इति योगाः योजनानि वा जीवव्यापाररूपाणि योगा अभिधीयन्ते। उपयुज्यन्त इति उपयोगाः—जीवविज्ञानरूपाः। योगाश्चोपयोगाश्च योगोपयोगाः तेषां मार्गणा, चशब्दसंसूचितेषु जीवस्थानकेष्वशेषजीवसङ्ग्राहकेषु वक्तव्येति संबन्धः, मध्यवर्तिचशब्दाधिक्यात् मध्यवर्त्तिगत्यादिस्थानकेषु जीवगुणस्थानमार्गणा च वक्तव्या, सर्वत्र क्रिया योज्या। बध्नन्त्यष्टप्रकारं कर्म्म स्वप्रदेशैरिति बन्धकाः। 'बद्धव्यम्' इति बन्धनीयं जीवैरात्मप्रदेशैः, तथाशब्दस्तु तस्यैव मूलोत्तरानेकभेदप्रख्यापकः। बन्धस्य हेतवः कारणानीत्यर्थः। बन्धस्य विधयो बन्धविधयो—बन्धप्रकारा वक्ष्यमाणलक्षणाः, तृतीयचकारस्तु समुच्चायकः, इति गाथार्थः ॥३॥

(मलय०)—संप्रति द्वाराण्येवोपदर्शयति—अत्र प्रकरणे योजनं योगो जीवस्य वीर्यं परिस्पंद इत्यर्थः, यद्वा युज्यते संबद्ध्यते धावन-

वल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति योगः, 'पुंनाम्नीति करणे घप्रत्ययः' । स च सप्रभेदमनोवाक्कायसहकारिभेदात्पंचदशधा वक्ष्यमाणस्वरूपः । उपयोजनमुपयोगो, यद्वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, बोधरूपो जीवस्य स्वतत्वभूतो व्यापारः, स च द्वादशभेदो वक्ष्यमाणः, तेषां मार्गणा योगोपयोगमार्गणा जीवस्थानमार्गणास्थानगुणस्थानेष्विति सामर्थ्याद्गम्यते । च शब्दान्मार्गणास्थानेषु जीवस्थानगुणस्थानमार्गणा च वक्तव्या, इति प्रथमं द्वारं। तथा बध्नन्ति संबध्नन्त्यष्टप्रकारं कर्म स्वप्रदेशैः सहेति बंधकाः, ते च वक्तव्या इति द्वितीयम् । तथा बंद्धव्यं तदेवाष्टप्रकारं कर्म वक्तव्यमिति तृतीयम् । तथा कर्मपरमाणुभिः सहात्मप्रदेशानां वह्न्यस्पिंडवदन्योऽन्यानुगमलक्षणः संबंधो बंधः, तस्य हेतवो मिथ्यात्वादयस्ते वक्तव्या इति चतुर्थम् । तथा बंधस्योक्तस्वरूपस्य विधयः प्रकारास्ते च वक्तव्याः, च शब्दः समुच्चये, इदं पंचमं द्वारम् ॥३॥

तत्र प्रथमं योगोपयोगद्वारमधिकृत्य 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायमङ्गीकृत्य योगानभिधातुकाम आह—

सच्चमसच्चं उभयं असच्चमोसं मणोवई अट्ठ। वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मयगं ॥४॥

(स्वो०)—सद्भ्यो हितं सत्यं, संतः प्राणिनोऽभिधीयन्ते, तेभ्यो हितं सत्यम्, तद्विपरीतमसत्यम्, तथा 'उभयम्' इति सत्यासत्यं द्विस्वभावं, पुनश्चतुर्थमसत्याऽमृषमेतच्चतुर्विधं मनोऽभिधीयते । वागपि चतुर्विधा एवमेव वागभिलापेन मन्तव्या, एवमष्टौ भवंति । तथा विविधा क्रिया विक्रिया, विक्रियायां भवं वैक्रियं तच्च शरीरं, तथा कार्यार्थिभिश्चतुर्दशपूर्वधरैराह्रियत इत्याहारकम्, तथा उरालैः पुद्गलैर्निर्वृत्तमौरालिकम्, उदारैर्निर्वृत्तमौदारिकं चेति, तथा मिश्रीभवन्मिश्रं, तथा शुद्धं—केवलमसहायमसंपृक्तमिति, वैक्रियं चाहारकं च औदारिकं च वैक्रियाहारकौदारिकाणि, वैक्रियाहारकौरालिकानि च तानि मिश्रशुद्धानि चेति विग्रहः । योजना त्वेवं—वैक्रियमिश्रमा-

हारकमिश्रमौदारिकमिश्रम्, शुद्धानि चैतान्येव त्रीणि, एवं षड् भवन्ति, कार्मणं सप्तममिति, कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणं, कर्मणि भवं वा कार्मणं, कर्मात्मकं वा कार्मणमिति, तदेवं चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाः सप्त काययोगाः, एवमेते पञ्चदश योगा भवन्ति। अत्र कश्चिदाह–तैजसं षोडशं किमिति न भवति ?, तस्यापि शरीरत्वादिति, अत्रोच्यते–कार्मणग्रहणेनैव तद्ग्रहणात्, नहि कार्म्मणभिन्नं तद्विद्यते, प्रसिद्धमेतदागमे, तदन्तर्गतस्य चाप्रधानत्वात्, तेन पञ्चदशैव योगा भवन्ति, न षोडशेति। पुनरप्याह–कोऽयमित्थमुपन्यासक्रमो येनैवं योगोपन्यासः क्रियते ?, अल्पवक्तव्यत्वात्, आगमे चैवमेव प्रसिद्धत्वात्, पश्चानुपूर्व्युपन्यासात्, निरोधकाले चैवमेव निरोधादयमेव क्रमो युज्यते। यत्तु प्रथमं सत्यमनोयोगस्योपन्यासः स प्रधानत्वेन, तद्विपरीतत्वादितरस्य, पुनरुभयाश्रयस्य, पुनरागमेऽन्त्यभाक्त्वेन प्रसिद्धत्वाद् असत्याऽमृषमनोयोगस्येति। एवमेव वाग्योगविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, यस्तु काययोगोपन्यासे प्रथमं वैक्रियस्य स चतुर्गतिजीवसंभवव्यापकत्वात्, तदनन्तरमाहारकस्य प्राधान्यात्, पुनरप्रधानस्यौदारिकस्य, मिश्राणि त्वेतान्येव, तत्पूर्वकाणि च शुद्धानि, कार्मणं तु विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते वा स्यात् कस्यचिज्जीवस्यातो अन्ते निर्देशः, अथवा संसारान्ते तदन्तत्वादन्ते कृतो निर्देशः। अलं प्रसङ्गेन गमनिकामात्रत्वात् प्रयासस्येति गाथार्थः ॥४॥

(मलय०)—तत्र 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्प्रथमतो योगोपयोगमार्गणां चिकीर्षुरादौ योगांस्तावदभिधातुकाम आह–यद्यपि मनोवाक्कायावष्टंभसमुत्थो जीवस्य परिस्पंद एव योग उच्यते, तथापीह कारणे कार्योपचारान्मनःप्रभृत्येव योगशब्देन विवक्षितम्। तत्र मनः सत्यं, असत्यं, उभयं सत्यासत्यरूपं, असत्यामृषा चेति चतुर्द्धा। तत्र संतो मुनयः पदार्था वा तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिंतनेन च साधु सत्यं, यथा अस्ति जीवः, सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुचिंतनपरम्।

सत्यविपरीतमसत्यं, यथा नास्ति जीवः, एकांतसद्रूपो वेत्यादिकुविकल्पनपरम् । सत्यासत्यं यथा धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमितिकल्पनपरं, अत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात्सत्यता; अन्येषामपि धवादीनां सद्भावादसत्यता, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरिदमसत्यमेव, यथा विकल्पितार्थायोगात् । तथा यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्याऽमृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि, तत् किल सत्यं परिभाषितमाराधकत्वात्, यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते, यथा नास्ति जीवः, एकांतनित्यो वेति, तदसत्यं विराधकत्वात् , यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामंतरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं, यथा हे देवदत्त घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादिचिंतनपरं तत् असत्याऽमृषा, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वात् न यथोक्तलक्षणं सत्यं, नापि मृषा; इदमपि व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यं, अन्यथा विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यत्तु सत्ये । एवं यथा मनः सत्यादिभेदाच्चतुर्द्धा, तथा वागपि चतुर्द्धेत्यष्टौ योगाः। 'वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि' त्ति-इह मिश्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, तद्यथा-वैक्रियमिश्रं आहारकमिश्रमौदारिकमिश्रं च तथा 'सुद्धाणि' त्ति-त्रीण्यप्यमूनि शुद्धानि मिश्रशब्दरहितानि, तद्यथा-वैक्रियमाहारकमौदारिकं च, तत्रान्यथा व्याख्यायाः कर्त्तुमशक्यत्वात्प्रथमतः शुद्धानि व्याख्यायन्ते, पश्चान्मिश्राणि, गाथायां पूर्वं मिश्रनिर्देशोभवनक्रमसूचनार्थः, तथाहि-पूर्वं वैक्रियमिश्रं भवति, पश्चाद्वैक्रियमित्यादि । तत्र विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि-तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं, तथा अणुभूत्वा महद्भवति, महद्भूत्वा अणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खचरं, तथा दृश्यं भूत्वाऽदृश्यं भवत्यदृश्यं भूत्वा दृश्यमित्यादि । तच्च द्विधा, औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तं तच्च देवनारकाणां,

लब्धिप्रत्ययं तिर्यग्मनुष्याणाम् । वैक्रियमिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां, नरतिरश्चां वा वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले वा क्वचित् । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इति आहारकं, 'कृद्बहुलमिति वचनात्कर्मणि वुञ्' यथा पादहारक इत्यत्र । उक्तं च—"कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं एत्थ आहरिज्जइ, भणमि आहारगं तं तु ॥१॥" कार्यं चेदं—"पाणिदयरिद्धिदंसणसुहुमपयत्थावगहणहेउं वा । संसयवोच्छेयत्थं, गमण जिणपायमूलम्मि ॥२॥" तच्च वैक्रियशरीरापेक्षयाऽत्यंतशुभं, स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकम् । आहारकमिश्रमाहारकस्य प्रारंभकाले परित्यागकाले वा क्वचित् । तथा उदारं प्रधानं, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् । यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्, शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम् । बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते । उदारमेवौदारिकं, 'विनयादिपाठादिकण्' । औदारिकमिश्रं नरतिरश्चामपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा । तथा 'कम्मयगंति' कर्मजकं, कर्मणो जातं कर्मजं कर्मात्मकमित्यर्थः, तदेव कर्मजकं 'जातौ वा स्वार्थे कः' इति प्राकृतलक्षणात् कप्रत्ययः, किमुक्तं भवति? कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः संतः कार्मणं शरीरमिति । तथा चोक्तं—"कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं । सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं ॥१॥" अत्र 'सव्वेसिं' इति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं बीजभूतं, न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपंचप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः, इदं च कर्मजं शरीरं जंतोर्गत्यन्तरसंक्रांतौ साधकतमं करणं, तथाहि—कर्मजेनैव वपुषा परिकरितो जंतुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति, तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्मान्न

दृष्टिपथमवतरति ? उच्यते–कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात्। तथा चान्यैरप्युक्तं—"अतराभवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वा-
न्नोपलभ्यते। निष्कामन् वा प्रविशन् वा, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥१॥" तदेवं चतुर्धा मनोयोगः, चतुर्धा वाग्योगः, सप्तधा च काययोग
इति पंचदश योगाः। ननु तैजसमपि शरीरं विद्यते, यद्भुक्ताहारपरिणमनहेतुः, यद्वशाच्च विशिष्टतपोविशेषसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंस-
स्तेजोलेश्याविनिर्गमस्तत्किमिह नोक्तमिति ? उच्यते–सदा कार्मणेन सहाऽव्यभिचारितया तस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वात् ॥४॥

इदानीमुपयोगान् प्रतिपादयन्नाह ग्रन्थकारः—

अन्नाणतिगं नाणाणि, पंच इइ अट्ठहा उ सागारो। अचक्खुदंसणाइचउहुवओगो अणागारो ॥५॥

(स्वो०)—'अज्ञानत्रिक'मिति–ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था यैस्तानि ज्ञानानि, न ज्ञानान्यज्ञानानि तेषां त्रिकमिति समासः, तानि च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गाख्यानि। तत्र मननं मतिः, मतिरेवाज्ञानं मत्यज्ञानं, श्रूयते इति श्रुतं, श्रुतमेवाज्ञानं श्रुताज्ञानं, विविधो भङ्गः परिच्छेदात्मकः सम्यग्ज्ञानवैसदृश्येन यस्य स विभङ्गः, तथा 'ज्ञानानि पञ्चे'ति, ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था यैस्तानि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलाख्यानि, मतिश्रुतयोः पूर्ववत् व्युत्पत्तिः, अवधीयते अधोऽधो विस्तृतं ज्ञायत इति अवधिः अवधिरेव ज्ञानं अवधिज्ञानं, मनसः पर्याया–भेदाः मनःपर्यायास्तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति, केवलमसहायमद्वितीयं ज्ञानं केवलज्ञानमित्येवं 'अष्टधा तु' अष्टधैव 'साकारः' सहाकारेण वर्त्तत इति साकारः–वस्तुस्वरूपावधारणरूपो विशेषज्ञानमितियावत्। तथा अचक्षुर्दर्शनादिश्च-तुर्द्धा उपयोगोऽनाकारः, तत्र चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनं न चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं तदादिर्यस्य स तथोक्तः, चतुर्द्धा उपयोगः, चतुर्भेद-भिन्नः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनरूपस्त्वनाकारः–आकारवर्जितः सामान्यावबोधरूपः, भेदप्रतिभेदव्याख्या त्वावश्यके न्यक्षेण प्रतिपा-

दितेतिकृत्या नेह प्रतन्यते । अथ कोऽयमित्थमुपन्यासक्रमः ? इत्यत्रोच्यते—अज्ञानानि पूर्वं भवन्ति पश्चाद् ज्ञानानीत्यनेककारणेन पूर्वमज्ञानानामुपन्यासः, पश्चात् ज्ञानानां, तथा प्रधानत्वात् ग्रन्थकारेण साकारोपयोगः प्रथममुक्तः, तदनन्तरमनाकारोपयोगोऽप्रधानत्वादित्यलमतिप्रसंगेन, प्रकृतं प्रस्तुमः इति गाथार्थः ॥५॥

(मलय०)—तदेवं योगानभिधाय संप्रत्युपयोगानभिधत्ते–ज्ञायते एभिरिति ज्ञानानि, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मका बोधाः, न ज्ञानानि अज्ञानानि, नञ्शब्दः कुत्सायां, मिथ्याज्ञानानीत्यर्थः । तेषां त्रिकमज्ञानत्रिकं, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानरूपं वक्ष्यमाणलक्षणम् । तथा ज्ञानानि पंच, तद्यथा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानं च । तत्र "मति ज्ञाने" मननं मतिः यद्वा मन्यते इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशाऽवस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्चासौ ज्ञानं च मतिज्ञानम् । तथा श्रवणं श्रुतं, वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरूपलब्धिविशेषः । एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्यं, जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतसमानपरिणामः, शब्दार्थपर्यालोचनासनुारी इन्द्रियमनोनिमित्तो ज्ञानविशेष इत्यर्थः। श्रुतं च तद्ज्ञानंच श्रुतज्ञानं। अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, यद्वा अवधिर्मर्यादा, रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम्। अमून्येव त्रीणि ज्ञानानि यदा मिथ्यात्वकलुषितानि भवंति तदा यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेशभांजि भवन्ति। उक्तं च–"आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तं" । विभङ्गमिति विपरीतो भङ्गः परिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद् विभङ्गम् । तथा परि सर्वतो भावे अवनं अवः 'तुदादिभ्योऽनत्कावित्यधिकारे अकितौ च' इत्यनेन ऊणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं

गमनं वेदनमिति पर्यायाः । परिअवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, पाठान्तरं वा पर्यय इति तत्र पर्ययणं पर्ययः 'भावे अल्प्रत्ययः' मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेदः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं वा । अथवा मनांसि पर्येति, सर्वात्मना तानि परिच्छिनत्तीति मनःपर्यायं 'कर्मणोऽणिति अण् प्रत्ययः' मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । यद्वा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः, पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यप्यनर्थान्तरं, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं । इदं चार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम् । तथा केवलमेकम् , मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् , "नट्ठमि छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् । शुद्धं वा केवलम् , तदावरणमलकलङ्कविगमात् । सकलं वा केवलम्, प्रथमत एवाऽशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलं, अनन्यसदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलम्, ज्ञेयानन्तत्वात् । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् । इतिरेवममुना प्रकारेणाऽष्टधा अष्टप्रकार एव, तुरवधारणे, साकार उपयोगः, आकारः प्रतिवस्तुनियतो ग्रहणपरिणामः, "आगारो उ विसेसो" इति वचनात् । सह आकारेण वर्त्तत इति साकारः । इह पूर्वमज्ञाननिर्देशः, सर्वजीवानां प्रथममज्ञानम्, पश्चाच्च सम्यक्त्वलाभे सति ज्ञानमिति प्रदर्शनार्थः । तथा अचक्षुर्दर्शनादिकोऽचक्षुश्चक्षुरवधिकेवलदर्शनरूपश्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारोऽनाकारः, पूर्वोक्तस्वरूपाकारविवर्जित उपयोगः । तत्र अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणं अचक्षुर्दर्शनम् । चक्षुषा दर्शनं रूपसामान्यग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् । अवधिरेव दर्शनं रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम् । केवलमेव सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवलदर्शनं । तदेवमुक्ता उपयोगा अपि ।

संप्रत्येतेषामेव योगोपयोगानां जीवस्थानेषु मार्गणा वक्तव्या । तानि च जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा—सूक्ष्मबादरभेदभिन्ना एके-

न्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रींद्रियाः, चतुरिंद्रियाः, असंज्ञिसंज्ञिभेदाश्च पञ्चेन्द्रियाः, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकमपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च, तत्र यद्यप्यमूनि जीवस्थानान्यग्रे स्वमेवाचार्या वक्ष्यन्ति, तथाप्यत्रापि सोपयोगानीति कृत्वा व्याख्यायन्ते-तत्र एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयः, ते प्रत्येकं द्विधा, सूक्ष्मा बादराश्च, तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः, बादरनामकर्मोदयाद्बादरा लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः। तथा द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इंद्रिये येषां ते द्वींद्रियाः, शंखशुक्तिकाचंदनककपर्दकजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकादयः। तथा त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेंद्रगोपककुंथुमत्कोटपिपीलिकोपदेहिकाकर्पासास्थिकत्रपुसबीजकतुंबुरूकादयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिंद्रियाः, भ्रमरमक्षिकादंशमसकवृश्चिककीटपतङ्गादयः। पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानींद्रियाणि येषां ते पञ्चेंद्रियाः, मत्स्यमकरमनुजादयः। ते च द्विभेदाः, संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च। तत्र संज्ञानं संज्ञा, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः, यथोक्तमनोविज्ञानविकला असंज्ञिनः। एते च सर्वेऽपि प्रत्येकमपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च, तत्र पर्याप्तिः-आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयात्। किमुक्तं भवति? उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां, तथान्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्संपर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेषः, आहारादिपुद्गलखलरसादिरूपतापादानहेतुः, यथोदरांतर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलानां खलरसरूपतापरिणमनहेतुशक्तिविशेषः, सा पर्याप्तिः, सा च षोढा, तद्यथा-आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिश्च। तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साहारपर्याप्तिः। यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा

शरीरपर्याप्तिः। यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिंद्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः। यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणाद-लिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालंब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः। यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय भाषात्वेन परिणमय्यालंब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः। यया पुनर्मनोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालंब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। एताश्च यथाक्रममेकेंद्रियाणां, संज्ञिवर्जानां द्वीन्द्रियादीनां, संज्ञिनां च चतुःपञ्चषट्संख्या भवन्ति, उत्पत्तिप्रथमसमय एवैता यथायथं सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितुमारभ्यन्ते, क्रमेण च निष्ठामुपयांति। तद्यथा–प्रथममाहारपर्याप्तिः, ततः शरीरपर्याप्तिः, तत इन्द्रियपर्याप्तिरित्यादि। आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पत्तिमुपपद्यते, शेषास्तु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन। अथाहारपर्याप्तिः प्रथमसमय एव निष्पद्यते इति कथमवसीयते? उच्यते–इह भगवतार्यश्यामेन प्रज्ञापनायामाहारपदे द्वितीयोद्देशके सूत्रमिदमपाठि–"आहारपज्जत्तीए अपज्जत्तएणं भन्ते! किं आहारए अणाहारए? गोयमा! नो आहारए अणाहारए" इति। तत आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतावेवोपपद्यते, नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात्, तत एकसामयिकी आहारपर्याप्तिनिर्वृत्तिः, यदि पुनरुपपातक्षेत्रमागतोऽपि आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तः स्यात्, तत एवं सति व्याकरणसूत्रमित्थं पठेत्–"सिय आहारए सिय अणाहारए" यथा शरीरादिपर्याप्तिषु "सिय आहारए सिय अणाहारए" इति। सर्वासामपि च पर्याप्तीनां परिसमाप्तिकालोंतर्मुहूर्त्तप्रमाणः। पर्याप्तयो विद्यंते येषां ते पर्याप्ताः, "अभ्रादिभ्यः" इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः, ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिविकलास्ते अपर्याप्ताः, ते च द्विधा, लब्ध्या करणैश्च। तत्र ये अपर्याप्तका एव संतो म्रियंते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयंते, ते लब्ध्यपर्याप्तकाः। ये पुनः करणानि शरीरेंद्रियादीनि न तावन्निर्वर्त्तयति, अथ चावश्यं निर्वर्त्तयिष्यंति ते करणापर्याप्तकाः ॥५॥

इदानीं जीवस्थानकेषु योगानाह —

विगलासन्नीपज्जत्तएसु लब्भंति कायवइयोगा । सव्वेवि सन्निपज्जत्तएसु सेसेसु काओगो ॥६॥

(स्वो०)—'विगलासंज्ञिपर्याप्तकेषु' विकलानि–असम्पूर्णानीन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः, इन्द्रियशब्दलोपादित्थमुपन्यासः, संज्ञा विद्यते येषां ते सज्ञिनो न संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्ते च ते पर्याप्तकाश्चेति विग्रहः, तेषु लभ्येते कायवाग्योगौ, तत्र च अन्त्यवाग्योगो द्रष्टव्यः, अस्यामेव गाथायामपिशब्दात्, तथाऽग्रे वक्ष्यति च–'विगलेसु असचमोसेव'। तथा 'सर्वेऽपि संज्ञिपर्याप्तकेषु' संज्ञिनश्च ते पर्याप्तकाश्च ते संज्ञिपर्याप्तकाः तेषु सर्वेऽपि योगाः सम्भवन्ति मनोवाक्कायलक्षणाः सोत्तरभेदाः, औदारिकमिश्रकार्मणौ केवलिसमुद्घाते, आहारकमिश्राहारकावाहारककर्तुर्भवतो, वैक्रियमिश्रवैक्रियौ उत्तरवैक्रियकारिणो, बहुवचनकरणमनेकजीवाश्रयख्यापनार्थमेकैकस्य भिन्नकार्यार्थमिति वा, 'शेषेषु' सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकैकेन्द्रियेषु तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्यपर्याप्तकेषु नवसु स्थानेषु काययोगो भवतीति गाथार्थः ॥६॥

(मलय०)—एतेषु च जीवस्थानेषु 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्प्रथमतो योगानभिधित्सुराह–इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'विगला' इत्युक्ते विकलेन्द्रियग्रहणं, एवमन्यत्रापि यथायोग्यं भावनीयम्। तत्र विकलेन्द्रियेषु–द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेष्वसंज्ञिकेषु च पञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तकेषु कायवाग्योगौ लभ्येते। तत्र काययोग औदारिकशरीरलक्षणो द्रष्टव्यो, वाग्योगश्चासत्यामृषारूपो 'विगलेसु असचमोसेव' इति वचनात्। सर्वेऽपि च संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु सप्रभेदाः कायवाङ्मनोयोगाः, पञ्चदशापि योगास्तेषु भवन्तीत्यर्थः। तत्र कार्मणौदारिकमिश्रौ केवलिसमुद्घातावस्थायां, उक्तं च—"मिश्रौदारिकयोगो, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु। कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पंचमे

तृतीये च ॥१॥" इति । आहारकाहारकमिश्रावाहारककर्तुः, वैक्रियवैक्रियमिश्रौ च तत्कर्तुः, शेषास्त्वौदारिकादयः सुप्रतीताः । तथा शेषेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तेषु च द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु काययोग एवैको भवति ॥६॥

तमेव काययोगं स्पष्टयन्नाह—

लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते । पज्जत्ते ओरालो वेउव्विय मीसगो वावि ॥७॥

(स्वो०)—'लब्ध्या करणेन च औदारिकमिश्रकोऽपर्याप्ते' तत्र लब्ध्या करणेन चापर्याप्तक इति यद्विशेषणद्वयं क्रियते तत्तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य मन्तव्यम् । नारकदेवास्तु करणापर्याप्तका एव यस्मात्तस्मात्तिर्यङ्मनुष्ययोरौदारिकमिश्रकाययोगो भवति, 'पज्जत्ते ओरालो' तयोरेव पर्याप्तकयोरौदारिककाययोगो भवति, वैक्रियो वा काययोगो बादरपर्याप्तकवायुकायिकस्य भवति, कुत एतदवसीयते यदुत-वायुकायिकस्यैव भवति ?, उत्तरसूत्रात्, उत्तरसूत्रं च 'वेउव्विय वाऊणं, पढमा चउरो समुग्घाया' । मिश्रपूर्वकत्वात् वैक्रियस्य मिश्रो वैक्रियो वा इति वक्तव्ये किमर्थं क्रमोल्लङ्घनमिति चेत् ? उच्यते-संज्ञ्यपर्याप्तकयोर्देवनारकयोरुत्पत्तिकाले वैक्रियमिश्रकाययोगो भवति, तेषां प्रत्यासन्नत्वात् अपर्याप्तकसंज्ञा विशिष्यते, अन्यथा अन्या अपि संज्ञा भवन्तीति गाथार्थः ॥७॥

(मलय०)—तमेव स्पष्टयन्नाह-लब्ध्या करणैश्चापर्याप्ते औदारिकमिश्रः काययोगो भवति । इदं च तिर्यग्मनुष्यानधिकृत्योक्तमवसेयं; तेषामेव हि लब्ध्या करणैश्चेतिविशेषणद्वयसंभवः, न देवनारकाणां ते हि करणापर्याप्ता एव सम्भवन्ति, न लब्ध्यपर्याप्तकाः, ततस्तेषामपर्याप्तावस्थायां वैक्रियमिश्रः काययोगो वेदितव्यः । सप्तानामपि चापर्याप्तानामपांतरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च कार्मणकाययोगः । तथा पर्याप्ते औदारिको वैक्रियो वैक्रियमिश्रश्च । तत्रौदारिकस्तिर्यग्मनुष्याणां, वैक्रियो देव नारकाणां, वैक्रियवैक्रियमिश्रौ

पर्याप्तबादरवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियलब्धिमतां, अपिशब्दादाहारकाहारकमिश्रौ चतुर्दशपूर्वविदः ॥७॥

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउव्विदुगं च सन्निलाद्धिल्ले । पज्जेसु उरलोच्चिय वाए वेउव्वियदुगं च ॥१॥

(मलय०)—इह केचन शरीरपर्याप्तेरवाक् नरतिश्चामौदारिकमिश्रं, देवनारकाणां वैक्रियमिश्रं शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं पुनः शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानामप्यौदारिकं वैक्रियं चेच्छंति, तन्मतेनेयमन्यकर्तृकी गाथा—अपर्याप्ते सूक्ष्मादौ कार्मणमौदारिकद्विकं च, औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणं, भावना पातनिकानुसारेण वेदितव्या। संज्ञिनि पुनः 'लद्धिल्ले इति' वैक्रियलब्धिमति देवादावपर्याप्ते वैक्रियद्विकं वैक्रियं वैक्रियमिश्रलक्षणं, च शब्दात्कार्मणं च द्रष्टव्यम्। तथा पर्याप्तेषु सूक्ष्मादिष्वौदारिक एव काययोगः, उपलक्षणमेतत्, तेन देवनारकेषु वैक्रिय एव। तथा वाते वायुकायिके पर्याप्ते वैक्रियद्विकं, वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वादौदारिकं च। वैक्रियद्विकमपि च वातकायस्य कस्यचिदेव द्रष्टव्यं, न तु सर्वस्य। यत उक्तं प्रज्ञापनाचूर्णौ—'तिण्हं ताव रासीणं, वेउव्विय लद्धी चेव नत्थि। वायरपज्जत्ताणपि, संखेज्जइ भागस्सत्ति ॥१॥' 'अत्र तिण्हं रासीणं'ति—त्रयाणां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणां राशीनां ॥

तेष्वेवोपयोगानाह—

मइसुयअन्नाण अचक्खुदंसणेक्कारसेसु ठाणेसु । पज्जत्तचउपणिंदिसु सचक्खुसन्नीसु बारसवि ॥८॥

(स्वो०)—'मतिश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनमेकादशसु स्थानेषु' इति। अत्रार्थघटना त्वेवं द्रष्टव्या—एकेन्द्रियसूक्ष्मबादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकैः सह (चतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्य)पर्याप्तकेष्वेवमेकादशसु जीवस्थानेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्यास्त्रयः प्रत्येकं भवन्ति, एते च लब्ध्यपर्याप्तकाः, यतः—करणापर्याप्तकेष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां तेषां चक्षुर्दर्शनं भवति, निर्देशस्तु द्वन्द्वैकवद्भावादनुस्वारलोपाच्च

द्रष्टव्यः। तथा 'पर्याप्तकचतुःपञ्चेन्द्रियासंज्ञिषु सचक्षुषः संज्ञिषु द्वादशापि'इति–अत्र तु पर्याप्तकचतुष्पञ्चेन्द्रियासंज्ञिषु 'सचक्षुषः' पूर्वोक्तास्त्रयः चक्षुर्दर्शनेन सहैव चत्वार उपयोगा भवन्ति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु द्वादशोपयोगा भवन्ति, अपिशब्दाद्विद्यमानतया न तूपयोगेन, उपयोगस्त्वेकस्यैक एव भवति, यत उक्तमागमे–"सव्वस्स केवलिस्सवि जुगवं दो नत्थि उवओगा" इति वचनादिति गाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—अथ जीवस्थानेषूपयोगानभिदधाति–एकादशसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियापर्याप्तचतुरिंद्रियासंज्ञिसंज्ञिषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्यास्त्रय उपयोगा भवन्ति। अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः, अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिंद्रियादिष्विंद्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपिप्राप्यते मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्। संज्ञिनि च करणापर्याप्ते मतिश्रुतावधिज्ञानविभंगज्ञानावधिदर्शनान्यपि। तथा 'पज्जत्तचउपणिंदिसु'त्ति–पर्याप्तेषु चतुरिंद्रियेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च सचक्षुषः सचक्षुर्दर्शनाः पूर्वोक्तास्त्रय उपयोगा भवन्ति। संज्ञिषु च पर्याप्तेषु द्वादशापि ॥८॥

तदेवं कृता जीवस्थानकेषु योगोपयोगमार्गणा, सम्प्रति मार्गणास्थानेषु च कर्त्तव्या, तानि च मार्गणास्थानान्यमूनि—

"गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणे य। संजमदंसणलेसा भवसम्मे सन्निआहारे ॥१॥" इयं च गाथा स्वयमेवाचार्येणाग्रे वक्ष्यते परमिह व्याख्याता, अत्राप्युपकारिणी भवतीतिकृत्वात्रैव व्याख्यायते–तत्र गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः, नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः सा चतुर्धा, तद्यथा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च। तथा 'इंदिय'त्ति–'इदु परमैश्वर्ये' इन्दनादिंद्र आत्मा ज्ञानैश्वर्ययोगात्, तस्येदमिंद्रियम्, तच्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात्पञ्चधा। इन्द्रियग्रहणेन च तदुपलक्षिता एकेन्द्रियादयो गृह्यन्ते, तेष्वेवाग्रे योगादीनां चिंतयिष्यमाणत्वात्। तथा 'काय'त्ति–चीयते इति कायः, 'चित्युपसमाधानावासदेहे कश्चादेः' इति घञ्

प्रत्ययः चकारस्य च ककारः, स च षोढा, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् । तथा 'जोग'त्ति—योगशब्दः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स सामान्येन त्रिधा, तद्यथा—मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्च । तथा 'वेय'त्ति—वेद्यत इति वेदः स च त्रिधा, स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च । तत्र स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः स्त्रीवेदः, पुंसः स्त्रियामभिलाषः पुंवेदः, नपुंसकस्योभयं प्रत्यभिलाषो नपुंसकवेदः । तथा 'कसाय'त्ति—कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः, तमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः, क्रोधमानमायालोभाः । तथा 'नाण'त्ति—ज्ञानं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, ज्ञानग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतमज्ञानमपि गृह्यते । ज्ञानं च पञ्चप्रकारमज्ञानं च त्रिप्रकारं, एते चाष्टावपि भेदाः प्रागेव सप्रपञ्चं व्याख्याताः । तथा 'संजम'त्ति—संयमनं संयमः सम्यगुपरमः, चारित्रमित्यर्थः, तच्च पञ्चधा, तद्यथा—सामायिकं, छेदोपस्थापनं, परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मसंपरायं, यथाख्यातं च । संयमग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतो देशसंयमोऽसंयमश्च गृह्यते। तत्र समो रागद्वेषरहितत्वादयो गमनं समायः, एष चान्यासामपि साधुक्रियाणामुपलक्षणं, सर्वासामपि साधुक्रियाणां रागद्वेषरहितत्वात् । समायेन निर्वृत्तं, समाये भवं वा सामायिकम् । यद्वा समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणामायो लाभः समायः, समाय एव सामायिकम् । विनयादेराकृतिगणतया 'विनयादिभ्य' इत्यनेन स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, तच्च सर्वसावद्यविरतिरूपं चारित्रम् । यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं, तथापि छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दांतरतश्च नानात्वं भजते। प्रथमं पुनरविशेषणात्सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति । तच्च द्विधा, इत्वरं यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं भरतैरवतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु अनारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयम् । यावत्कथिकं च प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्याप्राणोपरमात्। तच्च भरतैरवतभाविमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतानां विदेहतीर्थकरतीर्थान्तर्गतानां च साधूनामवसेयं, तेषामुत्थापनाया अभावात् । उक्तं च— "सव्वमिणं सामाइयं

सावज्जजोगविरइत्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च। इतरमा-
छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं। अविसेसियमाइमयं ठियमिह सामन्नसन्नाए ॥१॥
वकहति य पढमं पढमंतिमजिणाणं॥२॥ तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थेवकालीयं। सेसाणमावकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च ॥३॥"।
ननु चेत्वरिमपि सामायिकं 'करोमि भदन्त ! सामायिकं यावज्जीवं' इत्येवं यावदायुरागृहीतं, तत उत्थापनाकाले तत्परित्यजतः कथं
न प्रतिज्ञालोपः ? उच्यते-नूनं प्रागेवोक्तं यत्सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सामायिकं, सर्वत्रापि सर्वसावद्ययोगविरतिसद्भावात्। केवलं
छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दांतरतश्च नानात्वं भजते। ततो यथा यावत्कथिकं सामायिकं छेदोपस्थापनं वा परमवि-
शुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसंपरायादिचारित्रावाप्तौ न भङ्गमास्कन्दति, तथेत्वरमपि सामायिकं विशुद्धिविशेषरूपच्छेदोपस्थापनावाप्तौ नैवं
भङ्गं प्राप्नोति। यदि हि प्रव्रज्या परित्यज्यते तर्हि तद्भङ्ग आपद्यते, न तस्यैव विशुद्धिविशेषावाप्तौ। उक्तं च-"उन्निक्खमओ भङ्गो
जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं। सन्नामेत्तविसिट्ठं सुहमंपिव तस्स को भङ्गो ॥१॥" तथा छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु
यस्मिंश्चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम्। तच्च द्विधा, सातिचारं निरतिचारं च तत्र निरतिचारं यदित्वरसामायिकवतः शैक्षकस्यारोप्यते, तीर्था-
न्तरसंक्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ। सातिचारं यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणम्।
उक्तं च-"सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा। मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे ॥१॥" उभयं चेति सातिचारं
निरतिचारं च, स्थितकल्पे इति प्रथमपश्चिमतीर्थंकरतीर्थकाले। तथा परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिन् चारित्रे तत्परि-
हारविशुद्धिकम्। तच्च द्विधा, निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं च। तत्र निर्विशमानकाः विवक्षितचारित्रासेवकाः, निर्विष्टकायिका आसेवि-
तविवक्षितचारित्रकायाः, तदव्यतिरेकाच्चारित्रमप्येवमुच्यते। इह नवको गणः-चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चानुचारिणः, एकः कल्प

स्थितः, कल्पस्थितो वाचनाचार्यः । यद्यपि च सर्वेऽपि श्रुतातिशयसंपन्नाः, तथापि कल्पत्वात्तेषां मध्ये कश्चिदेकः कल्पस्थितोऽत्र स्थाप्यते । निर्विशमानकानां चायं परिहारः——"परिहारियाण उ तवो, जहन्नमज्झो तहेव उक्कोसो । सीउण्हवासकाले भणिओ धीरेहिं पत्तेयं ॥१॥" तत्थ जहन्नो गिम्हे चउत्थ छट्ठ तु होइ मज्झिमओ । अट्ठममिह उक्कोसो एत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥२॥ सिसिरे उ जहन्नाई छट्ठाइ दसमचरिमगो होई । वासासु अट्ठमाइ, बारसपज्जंतगो नेओ ॥३॥ पारणगे आयामं. पंचसु गहो दोसुभिग्गहो भिक्खे । कप्पठियाइ पइदिण करेंति एमेव आयामं ॥४॥" अत्र 'पंचसु गहो दोसुभिग्गहो' इति सामान्यतः किल साधूनामाहारस्यैषणाः सप्त भवन्ति । तद्यथा—"संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव । उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥१॥" एतासु च सप्तस्वेषणासु मध्ये आद्ययोरग्रह एव, पञ्चसु पुनर्ग्रहः, तत्राप्येकतरया भक्तमेकतरया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रह इति । "एव छम्मासतवं चरिउं परिहारगा अणुचरेत्ति । अणुचरगे परिहारय पइट्ठिए जाव जम्मासा ॥५॥ कप्पट्ठिओवि एवं छम्मासतवं करेइ सेसाओ अणुपरिहारगभावं वयन्ति कप्पट्ठियत्तं च ॥६॥ एवं सो अट्ठारसमासपसाणो उ वण्णिओ कप्पो । संखेवओ विसेसो विसेससुत्ताउ नायव्वो ॥७॥ कप्पसमत्तीए तयं जिणकप्पं वा उवेंति गच्छं वा । पडिवज्जमाणगा पुण, जिणसगासे पवज्जंति ॥८॥ तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व नो उ अन्नस्स । एएसिं जं चरणं परिहारविसुद्धियं तं तु ॥९॥" तथा सूक्ष्मो लोभांशावशेषः, संपरायः कषायोदयो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम् । तच्च द्विधा, विशुद्ध्यमानकं संक्लिश्यमानकं च । तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहतः, संक्लिश्यमानं तूपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्य । अथाख्यातमिति, अथशब्दो याथार्थ्ये 'आङो—अभिविधौ' याथातथ्येनाभिविधिना च यत्ख्यातं कथितं अकषायं चारित्रमिति तत् अथाख्यातम् । उक्तं च—"अहसद्दो जाहत्थे आङो अभिविहिए कहियमक्खायं । चरणमकसायमुदित तमहक्खाय जहक्खायं ॥१॥" अत्र 'जहक्खायमिति' यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम, तस्यायमन्वर्थः, यथा

सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धं अकषायं भवति चारित्रमिति, तथैव यत् तत् यथाख्यातम्। तच्च द्विधा, छाद्मस्थिकं कैवलिकं च। छाद्मस्थिकमपि द्विधा, क्षायिकमौपशमिकं च। तत्र क्षायिकं क्षीणमोहगुणस्थानके, औपशमिकमुपशांतमोहगुणस्थानके। कैवलिकमपि द्विधा, सयोगिकेवलिभवमयोगिकेवलिभवं च। तथा चोक्तं-"तं दुविकप्प छउमत्थकेवलिविहाणओ पुणेक्केक्कं। खयसमजसजोगाजोगकेवलिविहाणओ दुविहं ॥१॥" तथा 'दंसण'त्ति-दृष्टिर्दर्शनं, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यावबोधः। तच्चतुर्धा, तद्यथा-चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं च। एतानि च सर्वाण्यपि प्रागेव भावितानि। तथा 'लेस'त्ति-लिश्यते श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या, कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभरूपः परिणामविशेषः। उक्तं च—"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥१॥" सा च षोढा कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च। कृष्णादीनि च द्रव्याणि योगांतर्गतान्यवसेयानि, योगान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। तथाहि-यावद्योगस्तावल्लेश्या भवति, योगाभावे चायोग्यवस्थायां नेति। तथा 'भव'त्ति-भव्यस्तथारूपानादिपारिणामिकभावात्सिद्धिगमनयोग्यः। भव्यग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतोऽभव्योऽपि गृह्यते। तथा 'सम्म'त्ति-सम्यक्त्वं, सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा, सम्यक्जीवः तद्भावः सम्यक्त्वं, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा जीवस्य परिणामविशेषः। ननु स किं सहेतुक उताहेतुकः?। हेतोर्विचार्यमाणस्याघटमानत्वात्। तथाहि-कोऽस्य हेतुः? किं भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकमुत प्रवचनार्थश्रवणमाहोस्विदन्यत्किञ्चित्?। तत्र न तावद्भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकं, तद्भावेऽपि सम्यक्त्वोत्पादाभावात्। तथाहि-सत्यपि भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादिके नाभव्यानां सम्यक्त्वोत्पादः, ततो न तत्सम्यक्त्वनिमित्तं। न हि यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत्तस्य हेतुरिति सचेतसा वक्तुं शक्यमतिप्रसंगात्। स्यादेतद्बीजमूषरदेशे

निक्षिप्तमपि नांकुरमुत्पादयति, भूमिशुद्धेरभावात्। न चैतावता तदनिमित्तमन्यत्र तन्निमित्तत्वदर्शनात्। एवमभव्या अपि सम्यक्त्वांकुरोत्पादं प्रत्यूषरदेशकल्पाः, ततस्तेषां सम्यक्त्वमनुत्पादयदपि भगवदर्हद्बिंबपूजादिकं न सम्यक्त्वस्याहेतुरन्यत्र तद्धेतुत्वात्। ततो न कश्चिद्दोषः तदप्यसत् , भव्यानामपि केषांचिद्दीर्घसंसारिणां तद्भावेऽपि सम्यक्त्वोत्पादादर्शनात्। अथ द्वितीयः पक्षः सोऽप्यसन् , प्रवचनार्थश्रवणस्याप्यनेकशो भावेऽपि सम्यक्त्वानुत्पादात्। तथाहि–सर्वजीवानामपि भगवद्भिरनंतशो ग्रैवेयकोपपातो निरदेशि। न चासौ ग्रैवेयकोपपातो रजोहरणादिलिंगधारणमन्तरेणोपपद्यते। "सो दव्वसंजमेणं, पगरिसरूवेण जिणुवइट्ठेणं" इति वचनप्रामाण्यात्। रजोहरणादिलिंगधारणे च यथायोगमवश्यं प्रवचनार्थस्य श्रवणमधिगमश्चोपजायते। यत उक्तं—"लिंगे य जहाजोगं होइ, इमो सुत्तपोरिसाइयं। ज तत्थ निच्चकम्मं पन्नत्त वीयरागेहिं ॥१॥" अत्र 'इमोत्ति' श्रुतधर्मः, स च भगवद्वचनं 'सो पुण पहीणदोसस्स वयणं तु' इति वचनात्। न चेत्थं प्रवचनार्थश्रवणभावेऽपि केषांचित्सम्यक्त्वोत्पादः। यतः–सम्यक्त्वे सति नियमतः किंचिदूनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमात्र एव संसारो भवति, न चासौ सर्वजीवानामेतावन्मात्रः। तथा चोक्तं–"तब्भावंमि य नियमा परियट्टद्धूणसो उ संसारो। न य सो सव्वेसिं जओ ता तब्भावेवि तं नत्थि ॥१॥" अत्र 'तब्भावंमि य इति सम्यक्त्वभावे, तन्न प्रवचनार्थश्रवणमपि सम्यक्त्वहेतुः। नाप्यन्यत् , तस्मिन्नप्यनंतशः प्राप्तेऽपि सम्यक्त्वोत्पादाभावात्। उक्तं च–"न य अत्थि कोइ अन्नो इत्थ हेऊ अपत्तपुव्वो जो। जमणादो संसारे केण समं न घडिओ जोगो ॥९॥" अथाहेतुक इति पक्षः सोऽप्ययुक्तः, अहेतुकत्वे सदा सर्वत्र सर्वेषामपि तद्भावप्रसक्तेः, अहेतुकस्य देशकालपुरुषादिनियमायोगात्। न खलु निर्निमित्तं देशकालादि प्रतिनियतं भवितुमर्हति, अन्यथा तेषामेव देशादीनां हेतुत्वप्रसक्तेरिति। अत्रोच्यते–यत्तावदुक्तं किं सहेतुक उताहेतुक ? इत्यादि, तत्राहेतुकपक्षोऽनभ्युपगमतिरस्कृतत्वात्तन्न नः क्षतिमावहति,

सहेतुकपक्षस्त्वभ्युपगम्यत एव, यत्पुनस्तत्राप्युक्तं कोऽस्य हेतुः ? किं भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादि ? किमुत प्रवचनार्थश्रवणमित्यादि ? तदप्ययुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। न खलु पारमेश्वरवचनोपनिषद्वेदिनो भगवदर्हत्पूजादर्शनादिकमात्रमेव केवलं सम्यक्त्वस्य निमित्तमाचक्षते, किं तु पारमार्थिकं कारणं तथाभव्यत्वमनादिपारिणामिकं जीवस्य स्वभावविशेषभूतं. शेषं तु भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकं सहकारिकारणमात्रं, ततो न कश्चिद्दोषः, तथाहि–तस्य तस्य जन्तोरयमेवानादिपारिणामिकस्तथाभव्यत्वलक्षणः स्वभावविशेषो, येन तत्र तत्र विवक्षिते क्षेत्रे तदा तदा विवक्षिते काले तत्तत्प्रतिनियतं भगवदर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकं प्रतीत्य सम्यक्त्वलाभो भवति, कस्यचित्पुनस्तथाविधनिमित्तमंतरेणापि। तथाभव्यत्वं हि नाम साध्यव्याधिकल्पं, यथा किल साध्यो व्याधिः कश्चित्स्वयमेवोपशांतिमेति, कश्चित्पुनर्यावन्न वैद्योपदेशेन प्रतिक्रिया वितन्यते, तावन्नैवोपशाम्यति, प्रभूतेन वा कालेन निवर्त्तते, तथेदमपि तथाभव्यत्वं किंचित्स्वयमेव विपाकमायाति, येन च बाह्यमर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकं निमित्तमनपेक्ष्यापि जन्तोः सम्यग्दर्शनावाप्तिरुपजायते, किंचित्पुनरर्हद्बिंबपूजादर्शनं विशिष्टतपोलक्ष्मी(तपोऽर्पितलब्धि)समन्वितसाधुदर्शनं भगवद्वचनश्रवणं वा निमित्तमपेक्ष्य विपाकमायाति, अथवा प्रभूतेन कालेन निर्निमित्तमेव विपच्यते। अत एवोक्तं हरिभद्रसूरिणा धर्मसारप्रकरणे "साध्यव्याधिसममेव तदिति" ततस्तथारूपमर्हद्बिंबपूजादर्शनादिकं तथाभव्यत्वस्य विपाकाधानहेतुरुपजायमानं सम्यक्त्वस्यापि हेतुरुच्यते। यदप्युक्तं तद्भावेऽपि सम्यक्त्वोत्पादादर्शनान्न तस्य तद्धेतुतेति, तदप्ययुक्तम्। विवक्षितस्यैवार्हद्बिंबपूजादर्शनादेस्तद्धेतुत्वोपगमात्, तथाभव्यत्वस्य तथास्वभावत्वात्। तथाहि–इत्थंभूत एव तस्य तथाभव्यत्वस्यानादिपारिणामिकः स्वभावः, येन विवक्षितक्षेत्रकालसद्भावे विवक्षितं भगवदर्हद्बिंबपूजादिकमपेक्ष्य विपाकमायाति, नान्यथा, ततो न कश्चिद्दोष इत्यलं प्रसंगेन। तच्च सम्यक्त्वं त्रिधा, क्षायिकं क्षायोपशमिकमौपशमिकं च। तत्र त्रिविधस्यापि दर्शनमो-

हनीयस्य क्षयेणात्यंतिकोच्छेदेन निर्वृत्तं क्षायिकम् । यत्पुनरुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण, अनुदीर्णस्य चोपशमेन सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणेन विष्कम्भितोदयित्वरूपेण च निर्वृत्तं तत्क्षायोपशमिकम् । तथा उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सत्यनुदीर्णस्य य उपशमो, विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कंभणं, तेन निर्वृत्तमौपशमिकम् । सम्यक्त्वग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतानि मिश्रसासादनमिथ्यात्वान्यपि गृह्यन्ते, तानि च गुणस्थानकाभिधाने व्याख्यास्यामः । तथा 'सन्नि'त्ति-संज्ञी प्रागुक्तरूपः, तत्प्रतिपक्षभूतसर्वोऽप्येकेन्द्रियादिरसंज्ञी, सोऽपि संज्ञिग्रहणेन सूचितो द्रष्टव्यः । तथा 'आहारे'त्ति-ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारकः । तत्प्रतिपक्षभूतोऽनाहारकः ॥९॥

इदानीं मार्गणास्थानेषु योगान् प्रतिषेधद्वारेण (विधिद्वारेण) च व्याख्यानयन्नाह—

इगिविगलथावरेसु न मणो दोभेय केवलदुगम्मि । इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चमोसेव ॥९॥
सच्चा असच्चमोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ । अंतरगइकेवलिएसु कम्मयन्नत्थ तं विवक्खाए ॥१०॥

(स्वो०)—'एकेन्द्रियविकलेन्द्रियस्थावरकायेषु न मनो, द्वौ भेदौ केवलिद्विके, एकेन्द्रियस्थावरकाये न वाक्, विकलेन्द्रियेष्वसत्यामृषैव, प्रथमगाथापदानि, प्राकृते तु केषाञ्चिल्लोपादेवमेव द्रष्टव्यानि । द्वितीयगाथापदानि तु 'सत्या असत्याऽमृषा द्वे द्वयोः केवलयोः भाषे अपान्तरालगतिकेवलिकेषु कार्मणम्, अन्यत्र तद्विवक्षया' इति । अत्र प्रथमगाथापदार्थस्तु–इन्द्रियद्वारमधिकृत्यैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु न मनो भवति, कायद्वारमधिकृत्य स्थावरकाये (च),ज्ञानदर्शनद्वारद्वयमधिकृत्य केवलज्ञानदर्शनयोः द्वे मनसी मृषोभयरूपे न भवतः,

गाथान्ते एवशब्दाधिकत्वात् संज्ञ्याहारकविपक्षद्वारयोश्चतुर्विधमपि मनो न भवति । तथेन्द्रियद्वारमधिकृत्य एकेन्द्रियेषु कायमधिकृत्य स्थावरकाये तथाऽऽहारकविपक्षे च चतुर्विधापि भाषा न भवति । इन्द्रियद्वारे विकलेन्द्रियेषु संज्ञिद्वारविपक्षे चासत्यामृषैव भाषा भवति । तथा ज्ञानदर्शनद्वारद्वयमधिकृत्य केवलज्ञानदर्शनयोः सत्यान्त्यभाषे भवतः, शेषद्वारेषु निषिद्धद्वारावशेषेषु च चतुर्विधमपि मनो वाक् च भवति, गतिद्वारे चतुर्विधायामपि गतौ, इन्द्रियद्वारे पञ्चेन्द्रियेषु, कायद्वारे त्रसेषु, योगद्वारं तथैव मृग्यते, वेदद्वारे स्त्रीपुंनपुंसकेषु, कषायद्वारे क्रोधमानमायालोभेषु, लेश्याद्वारे कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लासु, संयमद्वारे सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्परायथाख्यातेषु, दर्शनद्वारे चक्षुरचक्षुरवधिषु, ज्ञानद्वारे मतिश्रुतावधिषु सविपक्षेषु मनःपर्याये च, भव्यद्वारे भव्याभव्येषु, संज्ञिद्वारे संज्ञिषु, सम्यक्त्वद्वारे सम्यङ्मिश्रमिथ्यादृष्टिषु, आहारकद्वारे आहारकेषु चतुर्विधमपि मनो वाक् च भवति, सुगमत्वाद् भावना न क्रियते । जीवस्थानगुणस्थानकयोः प्रपञ्चेनाभिहितत्वात् (अभिधास्यमानत्वाच्च)। अपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य कार्म्मणशरीरं भवति, इत्युक्ते कश्चिदाह—कस्मिन् द्वारे अस्याऽवतार इति चेद्, उच्यते—नैतत्साक्षाद् द्वारं, न च द्वारावयवः, किन्तु ग्रन्थकारेण लाघवार्थं गतीन्द्रियकायवेदाः संज्ञी च सविपक्षोऽपान्तरालगतौ स्वनामव्यपदेशं लभन्ते इति काका साभिहितः, कथमेतदवसीयते यथा तस्यां स्वनामव्यपदेशं लभन्ते ?, उच्यते, स्वायुरुदयात्, तथाऽऽगमे कायस्थितावुक्तम्—"एगिंदियाणणंता दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिती । अयराण इग पणिंदिसु नरतिरियाणं सगट्ठ भवा ॥१॥ पुरिसत्तं सण्णित्तं सयपुहुत्त तु होइ अयराण । थो पलियसयपुहुत्त नपुंसगत्तं अणतद्धा ॥२॥" यद्यन्तरालगतौ तद्व्यपदेशं न लभेरन् तदानीमेतावन्मात्रा कायस्थितिर्न घटते, तदभावे महान् दोषः सम्पनीपद्यते, अनिन्द्रियादिव्यपदेशात्, तस्मादित्थमेष्टव्यमित्यतः पञ्चस्वपि द्वारेषु सप्रभेदेषु कार्मणं शरीरं भवतीति अन्तरगतिकैवलिकेष्विति,

तत्रान्तरगत्यवयवो व्याख्यातः, कैवलिकेष्वित्यत्र तु दर्शनज्ञानयोर्यथाख्यातचारित्रे च कार्मणं शरीरं भवति तत्सद्भावादिति ।'अन्यत्र तद्विवक्षया' इति, अन्येषु द्वारेषु तत्कार्मणं शरीरं विवक्षया भवति, वक्तुमिच्छा विवक्षा—वक्तुरभिप्रायः सम्भवासंभवरूपः, तच्च येषु द्वारेषु द्वारावयवेषु च न भवति भवति चेत्येतद् भाव्यते—चक्षुर्दर्शनमनःपर्यायज्ञानविभङ्गाहारकद्वारेषु न भवति, कथं ?, विग्रहगतौ कार्मणशरीरसद्भावात् तत्र चक्षुर्दर्शनाभावात् , यद्यपि लब्धिमङ्गीकृत्य तद्विद्यते तथापि न तदाद्रियते, यतो लब्ध्यपर्याप्तकानामुपयोगत्रयमेवोक्तम् , मनःपर्यायज्ञानं तु सुसाधुषु भवति, तत्र तस्यासद्भाव एव, विभङ्गस्य तु तद्भविकत्वात् , आहारककार्मणयोर्विरोधात् कार्मणशरीरं न भवति, कषायलेश्याऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनमतिश्रुतावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानभव्याभव्यसम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिषु तु भवति, तच्च लाघवार्थं यथासम्भवं भाव्यते, यतस्तीर्थकृतां भव्यत्वसम्यग्दृष्टित्वमतिश्रुतावधिज्ञानित्वाचक्षुर्दर्शनित्वावधिदर्शनित्वशुभत्रिलेश्यत्वकषायत्वानि विद्यन्ते, तीर्थकृतश्चान्तरालगतिर्विद्यते, यतोऽपराजितविमानादरिष्ठनेमिनः शौरिकपुरे उत्पादस्तत्र च वक्रसम्भवो, यदि एकसमयेन तिर्यग्लोकमवतरति, द्वितीयेन समश्रेण्यां तिष्ठति, तृतीयेनोत्पादः, एवमन्तरालगतिसम्भवस्तीर्थकृतामिति । तथाऽभव्यो मिथ्यादृष्टिर्मत्यज्ञानी श्रुताज्ञान्यशुभत्रिलेश्यश्च भाव्यत एवेति गाथार्थः ॥९–१०॥

(मलय०)—तदेवमुक्तानि मार्गणस्थानानि सांप्रतमेतेषु क्वचित्प्रतिषेधद्वारेण, क्वचिच्च विधिद्वारेण योगानभिधित्सुराह—इन्द्रियद्वारेषु एकेन्द्रियेषु विगलेन्द्रियेषु च द्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणेषु, कायद्वारे स्थावरेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायरूपेषु, मनश्चतुर्विधमपि न भवति, उपलक्षणमेतत् , तेनासंज्ञिन्यनाहारके च न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा ज्ञानद्वारे दर्शनद्वारे च, यथाक्रमं केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे, द्वौ मनसो भेदौ असत्यसत्यासत्यरूपौ न भवतः । तथा इन्द्रियद्वारे एकेन्द्रियेषु, कायद्वारे स्थावरेषु पृथिव्यादिषु

पञ्चसु, उपलक्षणमेतत्, अनाहारके च चतुर्विधापि वाग्न भवति। विकलेन्द्रियेषु पुनर्द्वीन्द्रियादिषु, उपलक्षणमेतत्, तेन संज्ञिद्वारे असंज्ञिनि च वागसत्यामृषैव भवति, न शेषा। द्वयोः केवलयोः—केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपयोः द्वे भाषे, तद्यथा—सत्या असत्याऽमृषा च। शेषेषु च स्थानेषु सर्वेषु चतुर्विधं मनश्चतुर्विधा च वाग्भवति। तथा अंतरगतौ अपांतरालगतौ कैवलिके च समुद्घाते कार्मणं भवति, अन्यत्र तत्कार्मणं विवक्षया द्रष्टव्यम्। तथाहि—सत्तारूपेण चेद्विवक्ष्यते तर्ह्यस्ति, योगरूपतया तु नेति ॥९–१०॥

मणनाणविभंगेसु मीसं उरलंपि नारयसुरेसु। केवलथावरविगले वेउव्विदुगं न संभवइ ॥११॥

(स्वो०)—'मनोज्ञानविभङ्गयोः मिश्रमौरालिकमपि नारकसुरेषु केवलस्थावरविकले वैक्रियद्विकं न संभवति' इति पदानि। पदार्थस्तु मनोज्ञानं च विभङ्गश्च तयोरौदारिकमिश्रशरीरं न संभवति, उत्पत्तिकाले तयोरभावात्। देवनारकयोरौदारिकमौदारिकमिश्रमपि शरीरं न संभवति, पश्चानुपूर्व्युपन्यासाच्चक्षुर्दर्शनानाहारकयोर्मिश्रशरीरत्रयमपि न भवति, यतोऽनाहारको वक्रगतौ भवति, चक्षुर्दर्शनं तु तृतीयपर्याप्तौ, सा च शरीरपर्याप्तेरुत्तरकाले भवति। शेषद्वारेषु शेषद्वारावयवेषु चोत्पत्तिकाले तिर्यङ्मनुष्ययोः, केवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातेषु (च) केवलिसमुद्घाते औदारिकमिश्रं तदुत्तरकालं त्वौदारिकं शरीरं भवतीति भावनीयमिति। 'केवले'त्ति—केवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातेषु वैक्रियमिश्रं वैक्रियं (च) शरीरं न संभवति, यतः—सयोगिकेवलिनः सप्तैव योगाः, केवलं च स्थावरकायश्च विकलेन्द्रियाश्च द्वन्द्वैकत्वं तस्मिन्निति, स्थावरकाये द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु च वैक्रियमिश्रं वैक्रियं च शरीरं न सम्भवति, पश्चानुपूर्व्युपन्यासात् संज्ञिविपक्षे च न भवति, शेषद्वारेषु शेषद्वारावयवेषु च भवति। कथं?, देवनारकयोः प्रसिद्धमेव, पञ्चेन्द्रियत्रसस्त्रीपुंनपुंसकभव्याभव्यसंज्ञिमिथ्यादृष्टयस्त एव कषायलेश्यात्रिज्ञानाज्ञानवन्तश्च तथा प्रमत्तसंयतास्तु दर्शनत्रयज्ञानचतुष्कसामायिकच्छेदोप-

स्थापनीयसम्यक्त्ववन्तो भव्याश्च तेषां च त्रयोदश योगाः, एकेन्द्रियबादरपर्याप्तकवायुकायिके वैक्रियमिश्रं वैक्रियशरीरं च भवत्येव तद्भावितमेवेति गाथार्थः ॥११॥

(मलय०)—मनःपर्यायज्ञाने विभंगे चौदारिकमिश्रं न भवति, तथा नारकेषु सुरेषु चौदारिकमपिशब्दादौदारिकमिश्रं च न भवति। बहुलार्थश्चायमपिशब्दः, तेन चक्षुर्दर्शने अनाहारके चौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्राभावो वेदितव्यः। तथा 'केवल' इत्यादि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुपलक्षणमेतत्, यथाख्यातसंयमे, स्थावरे पृथिव्यादौ "वाए वेउव्वियदुगं चेति" प्रागुक्तवचनसामर्थ्याद्वायुवर्ज्जे, विकलेषु च द्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियेषु वैक्रियद्विकं वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं न भवति ॥११॥

आहारदुगं जायइ चोद्दसपुव्विस्स इइ विसणओ। मणुगइपंचेंदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

(स्वो०)—आहारकद्विकं जायते चतुर्दशपूर्विण इति विशेषणतः मनुजगतिपञ्चेन्द्रियादिकेषु स्वमत्या पश्येदिति' पदानि। पदार्थस्तु 'आहारकद्विकम्' इत्याहारकमाहारकमिश्रं च शरीरं 'जायते' उत्पद्यते भवतीतियावत्, चतुर्दशपूर्विणः चतुर्दशपूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तस्येत्येवं 'विशेषणतो' विशेषणसकाशान्मनुजगतिपञ्चेन्द्रियादिकेषु स्थानेषु 'स्वमत्या' आत्ममत्या 'पश्येत्' निभालयेदित्युपदेशः। तत्र प्रपञ्चितज्ञशिष्यहितार्थमेतदेव विभाव्यते—तत्र गतिद्वारे मनुजगतावेव, इन्द्रियद्वारे पञ्चेन्द्रियेषु, कायद्वारे त्रसेषु, (योगद्वारे त्रिष्वपि योगेषु) वेदद्वारे पुंनपुंसकयोः, कषायद्वारे चतुर्ष्वपि कषायेषु, लेश्याद्वारे शुभलेश्यात्रये, संयमद्वारे सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः, दर्शनद्वारे अचक्षुश्चक्षुरवधिषु, ज्ञानद्वारे मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानेषु, भव्यसंज्ञिसम्यग्दृष्ट्याहारकेष्वाहारकमिश्रमाहारकं च भवतीति गाथार्थः ॥१२॥

(मलय०)—आहारकद्विकमाहारकाहारकमिश्रलक्षणं चतुर्दशपूर्विणो नान्यस्येति विशेषणात्। मनुजगतिपंचेंद्रियादिषु स्थानेषु स्वमत्या तत् योजयेत्। यत्र चतुर्दशपूर्वाधिगमसंभवस्तत्र तद्विनिश्चिनुयान्न शेषेषु स्थानेष्वित्यर्थः। तदेवं मार्गणास्थानेषु केषुचिद्योगाः प्रतिषिद्धाः, केषुचिच्च विहितास्तेऽत्र मन्दमतिभिर्नावगम्यन्ते केषु कियन्तः, ततस्तदवबोधाय यत्र यावन्तो भवन्ति, तत्र तावन्तो दर्श्यन्ते—सुरगतौ निरगतौ चाहारकद्विकौदारिकद्विकहीनाः शेषा एकादशयोगाः, तत्राहारकद्विकाभावश्चतुर्दशपूर्वाधिगमाऽभावात्, 'उरलंपि नारयसुरेसु' इति प्रतिषेधादौदारिकद्विकाभावः। तिर्यग्गतिस्त्रीवेदमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गाविरतसासादनाभव्यमिथ्यात्वौपशमिकसम्यक्त्वेष्वाहारकद्विकोनाः शेषास्त्रयोदश। आहारकद्विकाभावभावना प्राग्वत्सर्वत्रानुसर्त्तव्या। मनुजगतिपञ्चेंद्रियत्रसकायकाययोगपुंनपुंसकवेदकषायचतुष्टयमतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनाचक्षुर्दर्शनलेश्याषट्कक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभव्यसंज्ञ्याहारकेषु पञ्चदशापि। एकेन्द्रियेषु चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगाहारकद्विकवर्जाः शेषाः पञ्च। पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिषु वैक्रियद्विकस्याप्यभावात्त्रयः। विकलेन्द्रियेषु 'विगलेसु असच्चमोसेवेति' वचनात् असत्यामृषाभाषाप्रक्षेपाच्चत्वारः। वायुकायिके कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विकरूपाः पञ्च। मनोयोगवाग्योगमनःपर्यायज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनेष्वौदारिकमिश्रकार्मणवर्जाः शेषास्त्रयोदश। यतः—कार्मणमपांतरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये चौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां तदानीं च मनोयोगाद्यभावः। चक्षुर्दर्शने कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रवर्जाः शेषा एकादश। परिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायसंयमयोः कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियद्विकाहारकद्विकवर्ज्जाः शेषा नव। सम्यग्मिथ्यादृष्टौ वैक्रियप्रक्षेपाद्दश। देशयतेर्वैक्रियद्विकप्रक्षेपादेकादश। यथाख्याते पुनरौदारिकमिश्रकार्मणप्रक्षेपादेकादश, समुद्घातावस्थायां कार्मणौदारिकमिश्रयोः प्राप्यमाणत्वात्। केवलज्ञाने केवलदर्शने च मनोद्विकवाग्द्विककार्मणौदारिकद्विकरूपाः सप्त। असंज्ञिनि कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विका-

ऽसत्यामृषारूपाः षट्। कार्मणमेवैकमनाहारके ॥१२॥

तेष्वेव गत्यादिस्थानेषु उपयोगानाह—

मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु। इगिथावरेसु तिन्नि उ चउ विगले बार तससगले ॥१३॥

(स्वो०)—'मनुजगतौ द्वादश मनोज्ञानकेवलद्वयवर्जिता नवान्यासु एकेन्द्रियस्थावरेषु त्रीणि तु चत्वारो विकले द्वादश त्रससकले' केषाञ्चित्पदानां लोपात्, पदानि। पदार्थोऽधुना–मनुजगतौ द्वादश संपूर्णा भवन्ति, मनोज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनवर्जितास्त एव 'शेषासु' नारकतिर्यगमरगतिषु नवोपयोगा भवन्ति। इन्द्रियद्वारमधिकृत्यैकेन्द्रियेषु कायद्वारमधिकृत्य स्थावरेषु त्रय उपयोगाः मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्या भवन्ति। 'चत्वारो विकल' इति–चतुरिन्द्रियेषु चक्षुर्दर्शनसहितास्त एव पूर्वोक्ताः, द्वादश कायमधिकृत्य त्रसेषु इन्द्रियद्वारे 'सकलेषु' पञ्चेन्द्रियेष्वित्यर्थः। तुशब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशिनष्टि?, अभव्यमिथ्यादृष्टिषु पञ्चोपयोगाश्चक्षुरचक्षुर्दर्शनमज्ञानत्रयं च। असंज्ञिनो विभङ्गरहितास्त एव पूर्वोक्ताश्चत्वारो भवन्ति, अनाहारकस्य मिथ्यादृष्टेश्चत्वारस्त्रयः प्राग्वत् विभङ्गं कालसौकर्यस्येव, सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानचतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनं सप्तोपयोगा भवन्तीति गाथार्थः ॥१३॥

(मलय०)—तदेवं मार्गणास्थानेषु योगानभिधाय सांप्रतमुपयोगानाह–मनुजगतौ द्वादशाप्युपयोगाः। अन्यासु च नारकामरतिर्यग्गतिषु प्रत्येकं मनःपर्यायज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनवर्जाः शेषा नवोपयोगाः, तथा एकेन्द्रियेषु, उपलक्षणमेतत्, द्वीन्द्रियेषु त्रींद्रियेषु च, स्थावरेषु च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायरूपेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्यास्त्रय उपयोगा भवन्ति। तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात् मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः षट् उपयोगा देशयतेः। अज्ञानव्यामिश्रज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षट् मिश्रे।

आद्यज्ञानत्रिकाज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा नव असंयते। तथा चत्वारो विकलेष्वन्येषामसम्भवाच्चतुरिंद्रियेषूपयोगाः, तत्र त्रयः पूर्वोक्ता एव चतुर्थस्तु चक्षुर्दर्शनं, उपलक्षणं चैतत्, तेनैते एव चत्वारोऽसंज्ञिनि च वेदितव्याः। तथा त्रसेषु 'सगले'त्ति पञ्चेन्द्रियेषु द्वादश ॥१३॥

जोए वेए सन्नी आहारगभव्वसुक्कलेसासु। बारस संजमसंमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

(स्वो०)—'योगे वेदे संज्ञिन्याहारकभव्यशुक्ललेश्यासु द्वादश संयमसम्यग्दृष्टौ नव दश लेश्याकषायेष्वि'ति पदानि। पदार्थस्त्वयम्—योगे इति जातिनिर्देशात् मनोवाक्कायरूपे त्रिभेदे, एवं वेदे स्त्रीपुंनपुंसकसंज्ञे द्रव्यरूपे, संज्ञिद्वारे संज्ञिनि, आहारकद्वारे आहारके, भव्यद्वारे भव्ये, लेश्याद्वारे शुक्ललेश्यायां, एतेषु स्थानेषु द्वादशोपयोगा भवन्ति। संयमद्वारे यथाख्याते क्षायिकसम्यग्दृष्टौ च नवोपयोगा भवन्ति, यतस्तयोरज्ञानत्रयं न भवति। लेश्याद्वारे कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मासु, कषायद्वारे चतुर्ष्वपि कषायेषु दशोपयोगा भवन्ति, यतोऽकषायाः केवलिनोऽलेश्याः शुक्ललेश्या वेति गाथार्थः ॥१४॥

(मलय०)—योगे मनोवाक्कायरूपे, वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे, संज्ञिनि आहारकभव्येषु (भव्ययोः) शुक्ललेश्यायां च द्वादशाप्युपयोगाः। वश्चेह द्रव्यरूप आकारमात्रं गृह्यते, तेन तत्र केवलज्ञानाद्यविरोधः। तथा संयमे यथाख्यातरूपे, सम्यक्त्वे क्षायिकलक्षणे नवोपयोगाः, तत्राज्ञानत्रिकाभावात्। तथा लेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजःपद्माख्यासु, कषायेषु च चतुर्षु केवलज्ञानकेवलदर्शनहीनाः शेषा दशोपयोगाः, कृष्णादिलेश्याभावे केवलद्विकानुत्पादात् ॥१४॥

सम्मत्तकारणेहिं मिच्छानिमित्ता न होंति उवओगा। केवलदुगेण सेसा संतेव अचक्खुचक्खूसु ॥१५॥

(स्वो०)—'सम्यक्त्वकारणैर्मिथ्यात्वनिमित्ता न भवन्त्युपयोगाः केवलद्विकेन शेषाः सन्त्येवाचक्षुश्चक्षुषो'रिति पदानि। पदार्थस्तु सम्यक्त्वं कारणं-हेतुर्येषां ते सम्यक्त्वकारणा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानाविधदर्शनसंज्ञाः तैः सह मिथ्यात्वहेतवो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गाख्या न भवन्ति, केवलज्ञानदर्शनाभ्यां सह शेषा दशोपयोगा न भवन्ति, भवन्त्येव चक्षुरचक्षुर्दर्शनाभ्यां सह सम्यक्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चेति गाथार्थः ॥१५॥

(मलय०)—इह ये उपयोगा यैरुपयोगैः सह न भवन्ति, यैश्च सह भवन्ति, तान् तथोपदर्शयन्नाह-सम्यक्त्वं कारणं येषां ते सम्यक्त्वकारणाः, तैर्मतिज्ञानादिभिरुपयोगैः सह मिथ्यात्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिबन्धना मत्यज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति। तथा केवलद्विकेन केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपेण सह शेषाश्छाद्मस्थिका मतिज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति, देशज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानदर्शनप्रादुर्भावात्। 'उप्पन्नंमि अणंते नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे'इति वचनप्रामाण्यात्। आह-ननु यदि मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुस्सन्ति, तर्हि सकलस्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, तत्कथं केवलज्ञानदर्शनभावे मतिज्ञानाद्यभावः? आह च—"आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाईणि। आवरणसव्वविगमे कह ताइं न होंति जीवस्स॥१॥" उच्यते—इह यथा सहस्रभानोरुपचितघटपटलांतरितस्यापांतरालावस्थितकटकुट्याद्यावरणविवरप्रविष्टप्रकाशोऽस्पष्टरूपो घटपटादीन् प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापांतरालमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन्पदार्थान् प्रकाशयति, स च तथा प्रकाशयंस्तत्तत्क्षयोपशमानुरूपं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यादिरूपमभिधानमुद्वहति, ततो यथा सकलघनपटलकटकुट्याद्यावरणापगमे स तथाविधप्रकाशः सहस्रभानोरस्पष्टरूपो न भवति, किं तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव, तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमति-

ज्ञानाद्यावरणविलयेन तथाविधोऽस्पष्टरूपो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो न भवति, किं तु सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तुप-
रिच्छिदन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः । उक्तं च—"कडविवरागयकिरणा मेहन्तरियस्स जइ दिणेसस्स । उक्कडमेहावगमे न होंति
जह तह इमाइपि ॥१॥" । अन्ये पुनराहुः—सन्त्येव सयोगिकेवल्यादावपि मतिज्ञानादीनि, केवलमफलत्वात्संत्यपि तदानीं तानि न वि-
वक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि उक्तं च—"अन्ने आभिणिवोहियनाणाइणि वि जिणस्स विज्जंति । अफलाणि य सूरुदये जहेव
नखत्तमाइणि ॥१॥" । तथा 'संतेव अचक्खुचक्खूसु' त्ति—संत्येव भवंत्येव अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनाभ्यां बहुवचनादवधिदर्शनेन च सह सम्य-
क्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चोपयोगाः, तेन मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्प-
रायक्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वेषु केवलद्विकाज्ञानत्रिकहीनाः शेषाः सप्तोपयोगाः । अज्ञानत्रिकाभव्यसास्वादनमिथ्यात्वेषु केवलद्वि-
कमतिज्ञानादिचतुष्टयरहिताः शेषाः षट् । केवलद्विके च केवलज्ञानकेवलदर्शने, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु केवलद्विकहीनाः शेषा दश ।
मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनरहिताश्च शेषा दशाऽनाहारके । सूत्रे च 'अचक्खुचक्खूसु' त्ति—सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या । भवति च तृतीयार्थे
सप्तमी, यदाह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे—'तृतीयार्थे सप्तमी,' यथा 'तिसु तेसु अलंकिया पुहई' इति ॥१५॥

तदेवं कृता मार्गणास्थानेषु योगोपयोगमार्गणा, सांप्रतं गुणस्थानकेषु कर्त्तव्या, तानि च गुणस्थानकान्यमूनि, तद्यथा—मिथ्यादृष्टि-
गुणस्थानम्, सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, देशविरतगुणस्थानम्,
प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अपूर्वकरणगुणस्थानम्, अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम्, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम्,
उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्, सयोगिकेवलिगुणस्थानम्, अयोगिकेवलिगुणस्थानं चेति ।

तत्र मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य, भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत्, स मिथ्यादृष्टिः, गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरेतेषां शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठंत्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा गुणानां स्थानं गुणस्थानं, मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्तस्य कथं गुणस्थानसंभवः? गुणा हि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुः? उच्यते—इह यद्यपि तत्वार्थश्रद्धानलक्षणात्मगुणसर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयविपाकोदयवशाद्वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिः, अंततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्तापि भवति, यथाऽतिबहलघनपटलसमाच्छादितायामपि चन्द्रार्कप्रभायां काचित्प्रभा। तथाहि—समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिवाकररजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकांतेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाऽभावप्रसंगात्। उक्तं च—"सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसुराणमिति"। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः। यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अंततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादिति। नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतसकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति, तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। उक्तं च—'सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः।' सूत्रं हि यदि तस्य न प्रमाणं जिनाभिहितं, किं पुनः शेषो भगवदर्हदभिहितयथावज्जीवाजीवादिवस्तुतत्वप्रतिपत्तिनिर्णयः (विकलः?), ननु सकलप्रवचनार्थाभिरोचनात्तद्गतकतिपयार्थानां चाऽरोचनादेष न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति, कथं मिथ्यादृष्टिः? तदसत्, वस्तुतत्वापरिज्ञानात्। इह यदा सकलं वस्तु

जिनप्रणीततया सम्यक् श्रद्धत्ते, तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिः, यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकांतेन तस्य सम्यक्परिज्ञानमिथ्यापरिज्ञानाभावतो न सम्यक्श्रद्धानं, नाप्येकांततो विप्रतिपत्तिस्तदा स सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—"जहा नालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्स वि एत्थ समागयस्स पुरिसस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एव सम्मामिच्छदिट्ठिस्सवि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न य रुई नावि निंदत्ति", यदा पुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकांततो विप्रतिपद्यते, तदा स मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोषः। तच्च मिथ्यात्वं पञ्चभेदं, ते च पञ्चभेदा उपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते।

तथा आयमौपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति अपनयतीत्यासादनं, अनंतानुबंधिकषायवेदनं, अत्र पृषोदरादित्वात् यशब्दलोपः, 'कृद्बहुलमिति वचनाच्च कर्त्तर्यनट्' सति हि अस्मिन् परमानंदरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेणोत्कर्षतः षडावलिकाभिरपगच्छतीति। सह आसादनेन वर्त्तत इति सासादनः, सम्यक् अविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः, तत्रायं शब्दार्थः—सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्त्तत इति सास्वादनः, यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति, ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च स सास्वादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। एतच्चैवं भवति—इह गंभीरापारसंसारपारावारमध्यमध्यासिनो जन्तुर्मिथ्यादर्शनमोहनीयादिप्रत्ययमनंतपुद्गलपरावर्त्तान् यावत् अनेक-

शारीरिकमानसिकदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन अनाभोगनिर्वर्त्तितेन यथाप्रवृत्तकरणेन 'करणं परिणामोऽत्रेति' वचनात्' अध्यवसायविशेषरूपेण ज्ञानावरणीयादिकर्माण्यायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि पल्योपमासंख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटिस्थितिकानि करोति। अत्र चांतरे जीवस्य कर्मपरिणामजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिविडचिरप्ररूढगुपिलवल्कल(वक्र)ग्रंथिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वोऽयं ग्रन्थिर्भवति। यदुक्तं—"तहिं अन्तरम्मि जीवस्स हवइ हु अभिन्नपुव्वो गंठी एवं जिणा बिंति।" "गंठित्ति सुदुज्झेओ कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व। जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥१॥" इमं च ग्रंथिं यावद्भव्या अपि यथाप्रवृत्तकरणेन कर्म क्षपयित्वा अनंतशः समागच्छन्ति। यदुक्तमावश्यकटीकायां—अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनांतरतो वा प्रवर्त्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति, न शेषलाभ इति। एतदनन्तरं पुनः कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृत्तिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेवापूर्वकरणरूपया परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वमोहनीयकर्मस्थितेरंतर्मुहूर्त्तमुदयक्षणादुपरि अतिक्रम्यानिवृत्तिकरणसंज्ञितेन विशुद्धिविशेषेणांतर्मुहूर्त्तकालप्रमाणमन्तरकरणं करोति। अत्र यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणानामयं क्रमः—"जा गंठी ता पढमं गठिं समइच्छतो हवइ वीयं। अणियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥१॥" अत्र 'गंठिं समइच्छतो'त्ति—ग्रंथिं समतिक्रामतो भिंदानस्येत्यर्थः,। 'सम्मत्तपुरक्खड'त्ति—सम्यक्त्वं पुरोऽग्रे कृतं येन तस्मिन्, आसन्नसम्यक्त्वे जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः। तस्मिंश्चांतरकरणे कृते सति तस्य कर्मणः स्थितिद्वयं भवति। अंतरकरणाधस्तनी प्रथमा स्थितिरंतर्मुहूर्त्तप्रमाणा तस्यैव चांतरकरणस्योपरितनी द्वितीया, स्थापना चेयं—ततः प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिः, अन्तर्मुहूर्त्तेन पुनस्तस्यामपगतायामंतरकरण-

प्रथमसमये एवौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावात्। यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेंधनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति, तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यंतरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः उक्तं च— "ऊसरदेसं दड्ढेलयं च विज्झाइ वणदवो पप्प। इय मिच्छस्स अणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥१॥" तस्यां चांतर्मुहूर्त्तिक्यामुपशांताद्धायां परमनिधिलाभकल्पायां जघन्येन समयमात्रशेषायामुत्कर्षतश्च षडावलिकाशेषाया सत्यां कस्यचिन्महाबिभीषिकोत्थानकल्पोऽनंतानुबंधिकषायोदयो भवति, तदुदये च सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके वर्त्तते, उपशमश्रेणिप्रतिपत्तितो वा कश्चित्सासादनत्वं याति, तदुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यादृष्टिर्भवतीति।

तथा सम्यक् मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। इहानंतराभिहितविधिलभ्यौपशमिकसम्यक्त्वानुगतेन विशोधिविशेषेणौषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति, तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धमशुद्धं च। स्थापना चेयं। तत्र त्रयाणां पुंजानां मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्धः पुंज उदेति, तदा तदुदयवशाज्जीवस्यार्द्धविशुद्धमर्हदभिहिततत्वश्रद्धानं भवति, तदा च सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, तच्चांतर्मौहूर्त्तिकं, अंतर्मुहूर्त्ताच्चोर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छति।

तथा विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्त्तते स्मेति विरतः, 'गत्यकर्मण्याधारे चेति' कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, यथा शयितो देवदत्त इत्यत्र। न विरतोऽविरतः, यद्वा क्लीबभावे क्तप्रत्यये विरमणं विरतं, सावद्ययोगप्रत्याख्यानं, नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति अविरतसम्यग्दृष्टिः, एष हि अविरतिप्रत्ययं दुरंतनरकादिदुःखफलकर्मबंधं सावद्ययोगविरतिं च परममुनिप्रणीतसिद्धि-

सौधाध्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन्नपि न विरतिमभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतते, अप्रत्याख्यानावरणकषायोदयविघ्नितत्वात्। ते हि अल्पमपि प्रत्याख्यानमावृण्वंति, यत उक्तं—"आवृण्वंति प्रत्याख्यानं स्वल्पमपि येन जीवस्य। तेनाप्रत्याख्यानावरणास्ते नञ् हि स्वल्पार्थः ॥१॥" तथा—"बंधं अविरइहेउं जाणंतो रागदोसदुक्खं च। विरइसुहं इच्छंतो विरइं काउं च असमत्थो ॥२॥ एस असंजयसम्मो निंदंतो पावकम्मकरणं च। अहिगयजीवाजीवो अचलियदिट्ठी चलियमोहो ॥३॥" सम्यग्दृष्टित्वं चास्य पूर्वव्यावर्णितांतरकरणकालसंभविनि औपशमिकसम्यक्त्वे, विशुद्धदर्शनमोहपुंजोदयसंभविनि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे वा, सर्वदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिकसम्यक्त्वे वा सति द्रष्टव्यं, तस्य च गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्ज्जसावद्ययोगांते विरतं विरतिर्यस्यासौ देशविरतः। उक्तश्च—"सम्मद्दंसणसहिओ गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए। एगव्वयाइचरिमो अणुमइमेत्तोत्ति देसजइ ॥१॥ परिमियमुवसेवंतो अपरिमियमणंतयं परिहरंतो। पावइ परम्मि लोए अपरिमियमणंतयं सोक्खं ॥१॥" एष चाप्रत्याख्यानावरणकषायेषु क्षयोपशमं गतेषु सत्सु भवति, अस्य चाविरतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षयाऽनंतगुणा विशुद्धिर्विशोधिस्थानानि च संख्यातीतानि भवन्ति। यत उक्तं—"तस्मादविरतसम्यग्दृष्टिस्थानाद्विशोधिमुपगम्य। स्थानांतराण्यनेकान्यारोहति पूर्वविधिनैव ॥१॥ क्षपयत्युपशमयति चाऽप्रत्याख्यानावृतः कषायांस्तान्। स ततो येन भवेत्तस्य, विरमणे बुद्धिरल्पेऽल्पे ॥२॥" सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वस्य नास्ति, प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात्। उक्तं च—"सर्वप्रत्याख्यानं, येनावृण्वंति तदभिलपतोऽपि। तेन प्रत्याख्यानावरणास्ते निर्विशेषोक्त्या ॥१॥" देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम्।

तथा संयच्छति स्म सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमति स्मेति संयतः, "गत्यकर्मण्याधारे चेति" कर्त्तरि क्तः प्रत्ययः,संयतत्वं चास्य प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमात् प्रायः सामायिकप्रतिपत्तेश्छेदोपस्थापनीयचारित्रप्रतिपत्तेर्वा वेदितव्यम्। यत आह—"छेदोपस्थाप्य वा, वृत्तं सामायिकं चरित्रं वा। स ततो लभते प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमात् ॥१॥" यत्त्वस्य परिहारविशुद्धिकमपि चारित्रमन्यत्रोक्तं, तत्कादाचित्कं विशिष्टदेशकालसंहननश्रुताद्यपेक्षमिति न विवक्षितम्।

तथा प्रमाद्यति स्म मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः, अत्रापि 'गत्यकर्मण्याधारे चेति' कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानं प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्। विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृतः स्वरूपभेदः। तथाहि—देशविरतगुणापेक्षया एतद्गुणानां विशुद्धिप्रकर्षोऽशुद्ध्यप्रकर्षश्च, अप्रमत्तसंयतगुणापेक्षया तु विपर्ययः, एवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षयोजना द्रष्टव्या।

तथा न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः, अप्रमत्तश्चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतश्च प्रमत्तसंयतापेक्षयाऽतिविशुद्ध्यमानाध्यवसायः, विशोधिस्थानानि चास्य कालत्रयमपेक्ष्य सामान्यतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रमाणानि भवन्ति। उक्तं च—"निर्ज्ञाता एव तथा, विशोधयोऽसंख्यलोकमात्रास्ताः। तरतमयुक्ता या अधितिष्ठन् यतिरप्रमत्तः स्यात् ॥१॥" अस्य च भगवतोऽप्रमत्तसंयतस्य विशिष्टतपोधर्मध्यानादियोगतः कर्माणि क्षपयतो अपूर्वापूर्वतराणि च विशोधिस्थानान्यधिरोहतो मनःपर्यायज्ञानादयोऽपि ऋद्धयः प्रादुष्षन्ति। यत उक्तं—"अवगाहते स च श्रुतजलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानं। मानसपर्यायं वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धीर्वा ॥१॥ चारणवैक्रियसर्वौषधितायाश्चापि लब्धयस्तस्य। प्रादुर्भवंति गुणतो बलानि वा मानसादीनि ॥२॥" तस्य गुणस्थानमप्रमत्तसंयतगुण-

स्थानम्।

तथा अपूर्वमभिनवमनन्यसदृशमिति यावत्। करणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमस्थितिबन्धानां पश्चानामर्थानां निर्वर्त्तनं यस्यासावपूर्वकरणः, तथाहि–बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्त्तनाकरणेन खंडनमल्पीकरणं स्थितिघातः। रसस्यापि च प्रचूरीभूतस्य सतोऽपवर्त्तनाकरणेन खंडनं रसघातः। एतौ च द्वावपि पूर्वगुणस्थानकेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र पुनर्विशुद्धेरतीवप्रकृष्टत्वाद्बृहत्प्रमाणावपूर्वाविमौ करोति। तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्त्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्योदयक्षणादन्तर्मुहूर्त्तं यावत् क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या यद्विरचनं सा गुणश्रेणिः। स्थापना चेयं—इमां च पूर्वगुणस्थानकेष्वविशुद्धतरत्वात्कालतो द्राघीयसीमप्रथीयसीं च दलिकस्याल्पतरस्यापवर्त्तनाद्विरचितवान्, इह पुनर्विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां पृथुतरां च प्रभूततरदलिकस्यापवर्त्तनाद्विरचयति। तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशान्नयनं गुणसंक्रमः। तमपीहापूर्वं करोति, तथा स्थितिं कर्मणां प्रागशुद्धत्वाद्द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां पल्योपमासंख्येयभागेन हीनां हीनतरां विशुद्धिवशाद्बध्नाति। एष चापूर्वकरणो द्विधा, क्षपक उपशमकश्च। क्षपणोपशमनार्हत्वाच्चैवमुच्यते राज्यार्हकुमारराजवत्, न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा किमपि सर्वात्मना कर्म, तस्य गुणस्थानमपूर्वकरणगुणस्थानम्। अस्मिंश्च गुणस्थानके कालत्रयवर्त्तिनो नानाजीवानाश्रित्य प्रतिसमयं यथोत्तरमधिकवृद्ध्या असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवंति, तथाहि—येऽस्य गुणस्थानस्य प्रथमसमयं प्रतिपन्ना प्रतिपद्यंते प्रतिपत्स्यंते च, तान् सर्वानपेक्ष्य जघन्यादीन्युत्कृष्टांतान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि लभ्यंते, क्वचित्कदाचित्केषांचित्प्रथमसमयवर्त्तिनां

परस्परमध्यवसायस्थाननानात्वस्यापि भावात्। तस्य च नानात्वस्यैतावत एव केवलज्ञानेनोपलब्धत्वात्। अत एवेदमपि न वाच्यं, कालत्रयवर्त्तिनामेतद्गुणस्थानकप्रथमसमयप्रतिपत्तॄणामानंत्यात् परस्परमध्यवसायस्थानानां नानात्वाच्चानंतान्यध्यवसायस्थानानि प्राप्नुवंतीति, बहूनां प्राय एकाध्यवसायस्थानवर्त्तित्वात्। ततो द्वितीससमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यंते, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं यावच्चरमसमयः, एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणंति। ननु द्वितीयादिसमयेष्वध्यवसायस्थानानां वृद्धौ किं कारणं ?-उच्यते—स्वभावविशेषः, एतद्गुणस्थानकप्रतिपत्तारो हि प्रतिसमयं विशुद्धिप्रकर्षमासादयंतः खलु स्वभावत एव बहवो विभिन्नेषु विभिन्नेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्त्तंत इति। अत्र च प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनंतगुणविशुद्धं, प्रथमसमयोत्कृष्टाच्चाध्यवसायस्थानाद् द्वितीयसमयजघन्याध्यवसायस्थानमनंतगुणविशुद्धं, तस्मादपि तदुत्कृष्टमनंतगुणविशुद्धं, इत्येवं यावत् द्विचरमसमयोत्कृष्टाऽध्यवसायस्थानाच्चरमसमयजघन्याध्यवसायस्थानमनंतगुणविशुद्धं, तस्मादपि तदुत्कृष्टमनंतगुणविशुद्धं; इति एकसमयगतानि चाध्यवसायस्थानानि परस्परमनंतभागवृद्धासंख्यातभागवृद्धसंख्यातभागवृद्धसंख्येयगुणवृद्धासंख्येयगुणवृद्धानन्तगुणवृद्धषट्स्थानपतितानि, युगपदेतद्गुणस्थानकप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्ति, यथोक्तमनंतरमिति कृत्वा निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते। उक्तं च—"नियट्टि अनियट्टि बायरे सुहुमे"।

संप्रत्यनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकमुच्यते—तत्र युगपदेतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां जीवानां बहूनामप्यन्योऽन्याध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः-निवृत्तिः, सा नास्त्यस्येत्यनिवृत्तिः, समकालमेतद् गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यस्मिन् समये यदध्यवसायस्थानं,

द्वितीयेऽपि विवक्षितः पुरुषस्तस्मिन् समये तदेवाध्यवसायस्थानमनुवर्त्तते इत्यर्थः । संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः कषायोदयः, बादरः सूक्ष्मकिट्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूरः संपरायो यस्य स बादरसंपरायः, अनिवृत्तिश्चासौ बादरसंपरायश्च, तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् । तस्यां चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकाद्धायामांतर्मौहूर्त्तिक्यां प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनंतगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यवसायस्थानं भवति, यावंतश्चांतर्मुहूर्ते समयास्तावंत्येवाध्यवसायस्थानानि तत्प्रविष्टानां भवंति नाधिकानि, एकसमयप्रविष्टानां सर्वेषामप्येकाध्यवसायस्थानत्वात् । स चानिवृत्तिबादरो द्वेधा, क्षपक उपशमकश्च, क्षपयति उपशमयति वा कषायाष्टकमिति कृत्वा ।

तथा सूक्ष्मः किट्टीकृतः संपरायो लोभकषायोदयो यस्य स सूक्ष्मसंपरायः, स द्विधा, क्षपक उपशमकश्च, क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा, तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् ।

तथा छादयति ज्ञानादिकं गुणमात्मन इति छद्म, ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मोदयः, छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः, स च सरागोऽपि भवतीति तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपः, उपलक्षणत्वादस्य द्वेषोऽपि क्रोधमानोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थः । स च क्षीणकषायोऽपि भवति, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं उपशांतकषायग्रहणं, उपशांता उपशमिता विद्यमाना एव संतः संक्रमणोद्वर्तनादिकरणविपाकप्रदेशोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषायाः प्राग्निरूपितशब्दार्था येन स उपशांतकषायः, स चासौ वीतरागछद्मस्थश्च, तस्य गुणस्थानं उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् । एतच्चोपशमश्रेणिपरिज्ञानेन सम्यगवगंतुं शक्यते । सा चोपशमश्रेणिराचार्येण स्वयमेवाग्रे सप्रपंचमुपशमनाकरणाधिकारे वक्ष्यते, तत इह स्थानाशून्यार्थं किंचि-

त्वप्रमत्तसंयतप्रमत्तसंयतदेशविरताविरतानामन्यतमो भवति।
दुच्यते-इहोपशमश्रेणिप्रस्थापकोऽप्रमत्तसंयत एव, उपशमश्रेणिपर्यवसाने त्वप्रमत्तसंयतप्रमत्तसंयतदेशविरताविरतानामन्यतमो भवति। ... पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥१॥" । अन्ये पुनराहुः—
यदाह भाष्यकृत्--"उवसामगसेढीए पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ य। पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥१॥" । अन्ये पुनराहुः— ... दर्शनत्रिकादिकं तु संयमे एव वर्त्तमानः। तत्र प्रथ-
अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमोऽनंतानुबंधिनः कषायानुपशमयति, दर्शनत्रिकादिकं तु संयमे एव वर्त्तमानः। तत्र प्रथ-
मतोऽनंतानुबंधिन उपशमयति, ततो दर्शनत्रिकं, दर्शनत्रिकोपशमनानंतरं च प्रमत्ताप्रमत्तपरिवृत्तिशतानि कृत्वाऽपूर्वकरणगुणस्थानकं
चानुभूयानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानमारोहति। तत्र चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति, ततः स्त्रीवेदं , ततो हास्यर-
त्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं षट्कं, ततः पुरुषवेदं, ततो युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ, ततः संज्वलनक्रोधं, ततो
युगपदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानौ, ततः संज्वलनमानं, ततो युगपदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाये, तदुपशांतौ च तत्समय-
मेव च संज्वलनमायाया बंधोदयोदीरणाव्यवच्छेदः, ततोऽसौ लोभवेदको जातः, लोभवेदनाद्धायाश्च त्रयो विभागाः,तद्यथा—अश्वकर्ण-
करणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च। तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानोऽपूर्वाणि स्पर्द्धकानि करोति। अथ किमिदं स्पर्द्धकमि-
त्युच्यते-इह तावदनंतानन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति, तत्र चैकैकस्मिन् स्कंधे यः सर्वजघन्यरसः पर-
माणुस्तस्यापि रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवेभ्योऽनंतगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति, अपर एकाधिकान्, अन्यस्तु द्व्यधि-
कान्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावन्नेयं, यावदन्यः परमाणुः सिद्धानन्तभागेनाभव्येभ्योऽनंतगुणेनाधिकान् रसभागान् प्रयच्छति। तत्र
जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषां समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणा इत्युच्यते। अन्येषां त्वेकाधिकभागरसयुक्तानां समुदायो
द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसभागयुक्तानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानां परमाणूनां समु-

दायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनंतभागकल्पा अभव्येभ्योऽनंतगुणा वाच्याः, एतासां च समुदायः स्पर्द्धकमुच्यते। इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरंतरं वृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैः, ततस्तेनैव क्रमेण ततः प्रभृति द्वितीयं स्पर्द्धकमारभ्यते। एवमेव च तृतीयम्। एवं तावद्वाच्यं यावदनंतानि स्पर्द्धकानि। एतेभ्य एव चेदानीं प्रथमादिवर्गणा गृहीत्वा विशुद्धिप्रकर्षवशादनंतगुणहीनरसाः कृत्वाऽपूर्ववत्स्पर्द्धकानि करोति। न चैवंभूतानि कदाचनापि पूर्वं कृतानि, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते। संज्वलनमायायाश्च बंधादौ व्यवच्छिन्ने सति ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमायामुपशमयति। एवमश्वकर्णकरणाद्धायां गतायां, ततो द्वितीये लोभवेदकाद्धायास्त्रिभागे वर्त्तमानो लोभस्य किट्टीः करोति। अथ किमिदं किट्टिरित्युच्यते—पूर्वस्पर्द्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च प्रथमादिवर्गणा गृहीत्वा विशुद्धिप्रकर्षवशादत्यंतहीनरसाः कृत्वा तासामेकोत्तरवृद्धित्यागेन बृहदंतरालतया व्यवस्थापनं, यथा यासामेवासत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरादि चासीत्, तासामेव विशुद्धिवशादनुभागभागानां दशकस्य पंचदशकादेश्च व्यवस्थापनमिति। किट्टिकरणाद्धायाश्च चरमसमये युगपदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति, तदुपशांतौ च तत्समयमेव संज्वलनलोभबंधव्यवच्छेदो बादरलोभोदयव्यवच्छेदश्च, ततोऽसौ सूक्ष्मसंपरायो भवति, तदानीं च सूक्ष्मकिट्टीकृतं दलिकमुपशमयति, समयोनावलिकाद्विककालबद्धं च। सूक्ष्मसंपरायाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभ उपशांतो भवति, ततोऽसावनंतरसमये उपशांतमोहो जायते। अत्राह परः—ननूपशमश्रेणिमप्रमत्तसंयत एवारभते। "उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ उ" इति वचनप्रामाण्यात्। अप्रमत्तसंयतश्चानंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमिथ्यात्वानामुपशमाद्भवत्यन्यथा तेषामुदये सम्यक्त्वादिलाभायोगात्। तथा च सूत्रं—"पढमिल्लुयाण उदए नियमा संजोयणाकसायाण। सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धियावि न लहन्ति ॥१॥ बीयकसायाणुदए अपच्चक्खाणनामधिज्जाणं। सम्मद्दंसणलम्भं,

विरयाविरइं न उ लहंति ॥२॥ तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं। देसिक्कदेसविरइं चरित्तलम्भं नउ लहंति ॥३॥"
इति । ततः कथमिदानीं तेषामुपशमो भण्यते ? तदसत्, सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञानात्। पूर्वं हि तेषां क्षयोपशम एवासीत्, नोपशमः,
तत इदानीमुपशमः क्रियते। ननु क्षयोपशमोऽप्युदिते कर्मांशे क्षीणे अनुदिते चोपशान्ते भवति, उपशमोऽपि चेत्थंभूत एव, ततः
कोऽनयोः प्रतिविशेषो ? येनैवमुच्यते यत्पूर्वं क्षयोपशम आसीन्नोपशम इति । उच्यते-इह क्षयोपशमे तदावारकस्य कर्मणः प्रदेशतोऽ-
नुभावोऽस्ति, उपशमे तु नेति प्रतिविशेषः। आह च भाष्यकृत्—"वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो। उवसंतकसाओ
पुण वेएइ न संतकम्मंपि ॥१॥" ननु यदि सत्यपि क्षयोपशमेऽनन्तानुबन्ध्यादिकषायमिथ्यात्वानां प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति, तर्हि कथं
न सम्यक्त्वादिगुणविघातो भवति ? तदुदये ह्यवश्यं सम्यक्त्वादिलाभः सन्नप्यपगच्छति, यथा सासादनसम्यग्दृष्टेरिति, नैष दोषः, प्रदे-
शतोऽनुभवस्य मन्दानुभावात्, मन्दानुभावो ह्युदयो न स्वावार्यगुणविघातमाधातुमलं, यथा चतुर्ज्ञानिनो मतिज्ञानावरणादीनां विपा-
कतोऽप्युदयः। तथाहि-मतिज्ञानावरणादिकं कर्म ध्रुवोदयं, ध्रुवोदयत्वाच्चावश्यं विपाकतोऽनुभवनीयं, विपाकानुभवापेक्षयैव ध्रुवोदय-
कर्मत्वाभिधानात्। अथ च तत्सकलचतुर्ज्ञानिनो न मत्यादिज्ञानविघातकृद्भवति, तदुदयस्य मन्दानुभावत्वात्। तद्यदि विपाकतोऽप्य-
नुभूयमानं मन्दानुभावोदयत्वान्न स्वावार्यगुणविघाताय प्रभवति, ततः प्रदेशतोऽनुभूयमानमनन्तानुबन्ध्यादि सुतरां न भविष्यति,
तदुदयस्यातीवमन्दानुभावत्वात्। तथा चाह भाष्यकृत्—"किहदंसणाइघाओ न होइ संजोयणाइ वेययओ। मंदाणुभावयाए जहाणुभावं-
मिवि कहिंचि ॥१॥ निच्चोइण्णंपि जहा सकलचउणाणिणो तदावरण। न विघायमंदयाए, पएसकम्मं तहा नेय ॥२॥"। उपशान्तकषायवी-
तरागछद्मस्थगुणस्थानं च जघन्यतः समयमात्रमुत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमात्प्रतिपातः। स च द्विधा, भवक्षयेणा-

द्धाक्षयेण वा, तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षयः उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। द्विधापि च प्रतिपातोऽग्रे स्वयमेवाचार्येण वक्ष्यते। उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौवारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। यश्च द्वौवारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः, यः पुनरेकवारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपीति कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः, सैद्धान्तिकाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते, यत उक्तं कल्पाध्ययने–"सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा। चरणोवसमखयाणं सागरसंखंतरा होंति॥१॥ एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु। अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं च सव्वाइं॥॥" अन्यत्राप्युक्तं–"मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसंततः। यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयो मोहस्य तत्र न॥३॥"

तथा क्षीणा अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः, तत्रान्येष्वपि गुणस्थानकेषु वक्ष्यमाणयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः सम्भवति, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणं, यद्वा छद्मस्थः सरागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं, वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्चेति वीतरागछद्मस्थः, स चोपशान्तकषायोऽपि भवतीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणं, क्षीणकषायश्चासौ वीतरागछद्मस्थश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः, तस्य गुणस्थानं क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्। इदं च यथावाप्यते तथा मूलत एव भाव्यते। इह यः क्षपकश्रेणिप्रस्थापकः सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमान उत्तमसंहननी शुद्धध्यानार्पितमना अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमः। आह च–"पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं। अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो (सुद्धज्झाणो सुसंघयणो) ॥१॥" (केवलं यद्यप्रमत्तसंयतः पूर्ववित्तर्हि शुक्लध्यानोपगतः शेषस्तु सर्वोऽपि धर्मध्यानोपगतः। इति

प्रत्यन्तरेऽधिकम्)। तत्र क्षपकश्रेणिमारोहन् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनः क्षपयति, ततो मिथ्यात्वं, ततः सम्यग्मिथ्यात्वं, ततः सम्यक्त्वं, एतेषां च क्षपणं स्वयमेवाचार्येणाग्रे सविस्तरमभिधास्यते, तत इह न विस्तार्यते (वितायते)। इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिक्षयानन्तरं च मरणसंभवतो व्युपरमते, ततः कदाचिन्मिथ्यादर्शनोदयतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति बीजाभावात्। क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषु मध्ये समुत्पद्यते, प्रतिपतितपरिणामस्तु नानामतिसम्भवाद्यथापरिणामं सर्वगतिभाग्भवति। यत उक्तं—"बद्धाऊ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा। तो मिच्छत्तोदयओ चिणेज्ज भूओ न खीणंमि ॥१॥ तम्मि मओ जाइ दिवं तप्परिणामाय सत्तए खीणे। उवरयपरिणामो पुण पच्छा नाणामइगईओ ॥२॥" बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति, तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमादधाति, अत आह—"बद्धाऊ पडिवन्नो नियमा खीणंमि सत्तए ठाइ"। अत्राह—ननु यदि दर्शनत्रिकमपि क्षयमुपगतं तर्हि किमसौ सम्यग्दृष्टिरुतासम्यग्दृष्टिः ? उच्यते—सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्दर्शनाऽभावे सम्यग्दृष्टित्वमनुपपन्नमिति चेत् तदसत्, अभिप्रायापरिज्ञानात्। इह निर्मदनीकृतमदनकोद्रवकल्पा अपगतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव यत्सम्यग्दर्शनं तदेव क्षीणं, यत्पुनरात्मपरिणतिस्वभावं तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं तन्न क्षीणं, अपि च तदतीवश्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य दृष्टिरिव विशुद्धतरस्वरूपं भवति, आह च—"खीणंमि दंसणतिए किं होइ तओ तिदसणाइओ। भन्नइ सम्मद्दिट्ठी सम्मत्तखए कुओ सम्मं ॥१॥ निच्चलियमयणकोद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं। खीणं न उ जो भावो सद्दहणालक्खणो तस्स ॥२॥ सो तस्स विसुद्धयरो जायइ सम्मत्तपोग्गलक्खयओ। दिट्ठिव्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणुसस्स ॥३॥"। यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, ततः सप्तके

क्षीणे नियमादनुपरतपरिणम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते। यदाह-"इयरो अणुवरओ च्चिय सयल सेढिं समाणेइ।" चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति। तद्यथा-यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च। एषां च स्वरूपमाचार्योऽग्रे वक्ष्यतीति न भाव्यते। केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यं,अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके। तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणाद्धाप्रथमसमये तत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिकनरकगतितिर्यग्गतिनरकानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्येकद्वित्रिचतुरिंद्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणानां षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता। ततो बद्ध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडशापि कर्माणि गुणसंक्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतोऽपि क्षीणानि भवन्ति। इहाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं, परं तन्नाद्याऽपि क्षीणं, केवलमपांतराल एव पूर्वोक्तं प्रकृतिषोडशकं क्षपितं, ततः पश्चात्तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एष सूत्रादेशः। अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तराले अष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात्षोडशकर्माणीति। ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां च संज्वलनानामन्तरकरणं करोति। अन्तरकरणविधिश्चाग्रे वक्ष्यते। अन्तरकरणं च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते, तच्चांतर्मुहूर्तमात्रेण पल्योपमासंख्येयभागमात्रं जातं, ततः प्रभृति बद्ध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसंक्रमेण तद्दलिकं प्रक्षिपति, तच्चैवं प्रक्षिप्यमाणमंतर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषं क्षीणं, अधस्तनस्थितिदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं तत्, तच्च

वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति, तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षप्यते । ततः षड्नोकषायान् युगपत्क्षपयितुमारभते, ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे संक्रमयति, किं तु संज्वलनक्रोधे, तेऽपि च पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन निःशेषाः क्षीणाः, तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः, समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, तदा प्रथमतः स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत्क्षपयति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च पुरुषवेदहास्यादिषट्के युगपत्क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते, तदा प्रथमतो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः, ततोऽवेदकः पुरुषवेदहास्यादिषट्के युगपत्क्षपयति । सम्प्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते—क्रोधं वेदयमानस्य सतस्तस्य क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्द्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणस्योपरितनस्थितौ करोति । अस्यां चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति, तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां वर्त्तते, तत्र च वर्त्तमानः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः करोति । ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूरजातिभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते, एकैकस्य कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च । एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनवि-

धिना क्रोधे क्षपिते सति शेषाणां त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति, मायया चेत्प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति, यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते, तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति, एष किट्टीकरणविधिः। किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च यावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसंक्रमेणापि प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति। तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा अन्यन्नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावदन्तर्मुहूर्त्तं, क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन माने गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वं संक्रमयति। मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव,

शेषस्य क्रोधशेषस्येव माने, मायायां प्रक्षिप्तत्वात्। ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावदन्तर्मुहूर्त्तमात्रम्। संज्वलनमानस्य च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण मायायां सर्वं प्रक्षिपति। मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातं, ततोऽनन्तरसमये मायाया द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, तस्मिन्नेव च समये मायाया बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्याः समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसंक्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावदन्तर्मुहूर्त्तम्। सञ्ज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्याः सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण लोभे सर्वं संक्रमयति। सञ्ज्वलनलोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रशेषं जातं, ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिकं गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टीः करोति तावत् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितीकृतस्य समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, तस्मिन्नेव च समये सञ्ज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानककालव्यवच्छेदश्च युगपज्जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च, तदानीमसौ सूक्ष्मसम्पराय उच्यते, पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयतृतीयकिट्टिगताः शेषीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु

स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयति, प्रथमद्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्वं द्वितीयतृतीयकिट्टयन्तगता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसम्परायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं च प्रतिसमयं स्थितिघातादिभिस्तावत्क्षपयति, यावत्सूक्ष्मसम्परायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् संख्येयभागे सञ्ज्वलनलोभं सर्वापवर्त्तनया अपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासमं करोति, सा च सूक्ष्मसम्परायाद्धा आद्याप्यंतर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततःप्रभृति मोहस्य स्थितिघातादयो निवृत्ताः, शेषकर्मणां तु प्रवर्त्तंत एव। तां च लोभस्यापवर्त्तितां स्थितिमुदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता, तत उदयेनैव केवलेन तां वेदयते यावच्चरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये ज्ञानावरणपंचकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रांतरायपञ्चकरूपाणां षोडशकर्मणां बन्धव्यवच्छेदः, मोहनीयस्योदयसत्ताव्यवच्छेदश्च भवति। ततोऽसावनंतरसमये क्षीणकषायो जायते, तस्य च शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत्प्रवर्त्तन्ते, यावत्क्षीणकषायाद्धायाः संख्येयभागा गता भवन्ति, एकः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चकांतरायपंचकदर्शनावरणचतुष्टयनिद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्त्तनया अपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वस्वरूपापेक्षया समयन्यूनं, सामान्यतः कर्मरूपतया तु तुल्यम्। सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यंतर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव। तानि च षोडशकर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदयउदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः, ततोऽनंतरसमये उदीरणा निवृत्ता, तत आवलिकामात्रं यावदुदयेनैव केवलेन तानि वेदयते, यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः, तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणं, चतुर्दशानां च प्रकृतीनां चरमसमये क्षयः, ततोऽनंतरसमये केवली जायते।

'सयोगिकेवलिगुणस्थानमिति'—योगो वीर्यपरिस्पंद इत्यनर्थांतरं, सह योगेन वर्त्तंते ये ते सयोगा मनोवाक्कायाः, ते यस्य विद्यन्ते स सयोगी। तत्र भगवतः काययोगश्चंक्रमणनिमेषोन्मेषादिः, वाचिको देशनादिः, मानसिको मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशना। ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन च पश्यंति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वालोचनाकारान्यथानुपपत्त्या अलोकस्वरूपादिकमपि बाह्यमर्थं पृष्टमवगच्छंति। उक्तं च—'जाणइ बज्झेणुमाणाओ'। केवलं ज्ञानं दर्शनं चोक्तस्वरूपं विद्यते यस्य स केवली, सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुणस्थानम्। सयोगिकेवली च जघन्येनांतर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवति, उत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटिं। सर्वश्च सयोगिकेवली समुद्‌घातादर्वाक् आयोजिकाकरणमारभते, तथा च केवलिसमुद्‌घातप्रक्रियां विभणिषुः समुद्‌घातशब्दव्याख्यानपुरस्सरमाह भाष्यकृत्—"तत्थाउयसेसाहिय कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ। त गंतुमणो पुव्वं आउज्झियकरणमज्झेई ॥१॥"। अथ आयोजिकाकरणमिति कः शब्दार्थः? उच्यते—'आङ् मर्यादायां' आ मर्यादया केवलिदृष्ट्या योजनं व्यापारणं शुभानां योगानामिति गम्यते, आयोजिका, तस्याः करणमायोजिकाकरणम्। केचिदावर्जितकरणमित्याहुस्तत्रायमन्वर्थः—आवर्जितो नामाभिमुखीकृतः, तथा च लोके वक्तारः—आवर्जितोऽयं मया, संमुखीकृत इत्यर्थः। ततश्च तथाभव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं क्रिया शुभयोगव्यापारणं आवर्जितकरणम्। अपरे आवश्यककरणमित्यूचुः, तत्राप्ययमन्वर्थः—आवश्यकेनावश्यंभावेन करणमावश्यककरणं, तथाहि—समुद्‌घातं केचित्कुर्वंति, केचिच्च न कुर्वंति, इदं त्वावश्यककरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वंति।

आयोजिकाकरणानंतरं च कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्‌घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति,

अन्यस्तु न करोत्येव उक्तं च—"आयुषि समाप्यमाने, शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिः। न स्यात् स्थितिवैषम्याद्गच्छति स ततः समुद्घातम् ॥१॥ स्थित्या च बन्धनेन च, समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषां। अंतर्मुहूर्त्तशेषे, तदायुषि समुज्जिघांसति सः ॥२॥"। ननु प्रभूतस्थितिकस्य वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्घातारंभ इति न युक्त्युपपन्नं, कृतनाशादिदोषप्रसंगात्। तथाहि—प्रभूतकालोपभोग्यस्य वेदनीयादेराराद‍ेवापगमसंपादनात्कृतनाशः, वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षयस्य पुनर्नाशसंभवान्मोक्षेऽप्यनाश्वासप्रसंगः, तदसत्, कृतनाशादिदोषाप्रसंगात्। तथाहि—इह यथा प्रतिदिवसं सेतिकापरिभोगेन वर्षशतोपभोगस्य कल्पितस्याहारस्य भस्मकव्याधिना तत्सामर्थ्यात्स्तोकदिवसैर्निःशेषतः परिभोगान्न कृतनाशोपगमः, तथा कर्मणोऽपि वेदनीयादेस्तथाविधशुभाध्यवसायानुबंधादुपक्रमेण साकल्यतो भोगान्न कृतनाशरूपदोषप्रसंगः। द्विविधो हि कर्मणोऽनुभवः, प्रदेशतो विपाकतश्च। तत्र प्रदेशतः सकलमपि कर्मानुभूयते, न तदस्ति किंचित्कर्म यत्प्रदेशतोऽप्यनुभूतं सन्न क्षयमुपयाति, ततश्च कुतः कृतनाशदोपापत्तिः?। विपाकतस्तु किंचिदनुभूयते, किंचिन्न, अन्यथा निर्मोक्षप्रसंगात्। तथाहि—यदि विपाकानुभूतित एव सर्वं कर्म क्षपणीयमिति नियमः, तर्ह्यसंख्यातेषु भवेषु तथाविधविचित्राध्यवसायविशेषैर्यन्नरकगत्यादिकं कर्मोपार्जितं, तस्य नैकस्मिन् मनुष्यादावेव भवेऽनुभवः, स्वस्वभवनिबन्धनत्वात्तद्विपाकानुभवस्य। क्रमेण च स्वस्वभवानुगमनेनानुभवेन नारकादिभवेषु चारित्राभावेन प्रभूततरकर्मसंतानोपचयात्तस्यापि स्वस्वभवानुगमनेनानुभवोपगमात्कुतो मोक्षः? तस्मात्कर्म विपाकतो भाज्यं, प्रदेशतोऽवश्यमनुभवनीयमिति प्रतिपत्तव्यं, एवं च न कश्चिद्दोषः। नन्वेवमपि दीर्घकालभोग्यतया तद्वेदनीयादिकं कर्मोपचितं, अथ च परिणामविशेषादुपक्रमेणारादेव तदनुभवति, ततः कथं न कृतनाशदोपप्रसंगः? तदप्यसद्, बन्धकाले तथाविधाध्यवसायवशादारादुपक्रमयोग्यस्यैव तेन बन्धनात्। अपि च जिनवचनप्रामाण्यादपि

वेदनीयादिकर्मणामुपक्रमो मन्तव्यः। यदाह भाष्यकृत्—'उदयक्खयखओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया। दव्वाइपंचगं पइ जुत्तमुवक्कमणमओवि ॥१॥"। अत्र द्रव्यादिपंचकं प्रतीति द्रव्यक्षेत्रकालभवभावानाश्रित्य। न चैवं मोक्षोपक्रमहेतुः कश्चिदस्ति येन तत्रानाश्वासप्रसंगः, तद्धेतुरागाद्यभावात्। ततो यदुक्तं—'वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षयस्येत्यादि' न तत्समीचीनमिति स्थितम्। भूयोऽप्याह—ननु कुतो नियमो ? यद्वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं भवति ? न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुरिति ?, उच्यते—तथारूपजीवपरिणामस्वाभाव्यात्। तथाहि—इत्थंभूत एवात्मनः परिणामो येनास्यायुर्वेदनीयादेः समं भवति न्यूनं वा, न तु कदाचनाप्यधिकम्। यथा तस्यैवायुषः खल्वध्रुवबन्धः, तथाहि—ज्ञानावरणादीनि कर्माण्यायुर्वर्ज्जानि सप्तापि सर्वदैव बद्ध्यंते, आयुस्तु प्रतिनियत एव काले स्वभवत्रिभागादिशेषरूपे, तत्र चैवं बंधवैचित्र्यनियमे न स्वभावादृतेऽपरः कश्चिदस्ति हेतुः, एवमिहापि स्वभावविशेष एव नियामको द्रष्टव्यः। आह च भाष्यकृत्—"असमट्ठिईण नियमो को थेव आउयं न सेसंपि (ति), परिणामसहावाओ अद्धुवबंधोव्व तस्सेव ॥१॥"। अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः ?। उच्यते–सम्यक् अपुनर्भावेन उत्प्राबल्येन घातो वेदनीयादिकर्मणां विनाशो यस्मिन् क्रियाविशेषे स समुद्घातः, तं च समुद्घातं कुर्वन् प्रथमसमये बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्द्धमधश्च लोकांतपर्यंतमात्मप्रदेशानां दंडमारचयति, द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं, तृतीये मंथानं, चतुर्थेऽवकाशांतरपूरणं, पंचमेऽवकाशान्तराणां संहारं, षष्ठे मथः, सप्तमे कपाटस्य, अष्टमे स्वशरीरस्थो भवति। तत्र दंडसमयात्प्राक् या पल्योपमासंख्येयभागमात्रा वेदनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत्, तस्या बुद्ध्या असंख्येयभागाः क्रियंते, ततो दंडसमये दंडं कुर्वन्नसंख्येयान् भागान् हंति, एकोऽसंख्येयभागोऽवतिष्ठते। यश्च प्राक् कर्मत्रयस्यापि रसस्तस्याप्यनन्ता भागाः क्रियन्ते, ततस्तस्मिन् दण्डसमये असातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-

प्रथमवर्जसंहननपञ्चकाप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघाताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिनीचर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान् भागान् हन्ति, एकोऽनन्तभागोऽवशिष्यते। तस्मिन्नेव च समये सातावेदनीयदेवगतिमनुष्यगतिदेवानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिशरीरपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रयप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयागुरुलघुपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकातपोद्योतस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुभागोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्ये प्रवेशनेनोपहन्यते, समुद्घातमाहात्म्यमेतत्। तस्य चोद्धरितस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य अनन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततो द्वितीये कपाटसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽवशिष्यते, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति, अत्राप्यप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेन प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः, पुनरप्येतस्मिन् समये अवशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततस्तृतीये समये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकमनन्तं भागं मुञ्चति। अत्रापि प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनावसेयः। ततः पुनरपि तृतीयसमयावशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्य अनुभागस्य चानन्ततमभागस्य बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकस्तिष्ठति, अनुभागस्याप्यनन्तान् भागान् हन्ति, एकोऽवशिष्यते। प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्ववदवसेयः। एवं च स्थितिघातादिकुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्रदेशापूरित—(ग्रन्थाग्रम् १०००) समस्तलोकस्य भगवतो वेदनीयादिकर्मत्रयस्थितिरायुषः संख्येयगुणा जाता, अनुभागस्त्वद्याप्यनन्तगुणः। चतुर्थसमयावशिष्टस्य च स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य भूयोऽपि

बुद्ध्या यथाक्रमं संख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततोऽवकाशान्तरसंहारसमये स्थितेः संख्येयान् भागान् हन्ति, एकं संख्येयभाग शेषीकरोति, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति । एवमेतेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येकं सामयिकं कण्डकमुत्कीर्णं, समये समये स्थितिकण्डकानुभागकण्डकघातनात् । अतः परं षष्ठसमयादारभ्य स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकं चान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति । षष्ठादिषु च समयेषु कण्डकस्य प्रतिसमयमेकैकं शकलं तावदुत्किरति, यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमये सकलमपि तत्कण्डकमुत्कीर्णं भवति । एवमान्तर्मौहूर्त्तिकानि स्थितिकण्डकान्यनुभागकण्डकानि च घातयन् तावद्वेदितव्यो, यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः । सर्वाण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्तव्यानि । अयं च समुद्घातविधिरावश्यकचूर्ण्यनुसारतोऽभिहितः । यस्य पुनः केवलिनो वेदनीयादिकर्मत्रयमायुषा सह समस्थितकं, स समुद्घातं न गच्छति । यत आह भगवानार्यश्यामः प्रज्ञापनायां—

जस्साउएण तुल्लाइ, बंधणेहिं ठिईइ य । भवोवग्गह कम्माइं न समुग्घायं स गच्छइ ॥१॥ अगतूण समुग्घायमणंता केवलीजिणा । जरमरणविप्पमुक्का सिद्धिं वरगइं गया ॥२॥" । अत्र 'बंधणेहिं ति' प्रदेशैः, स्थित्येति वेदनकालेन, गत्वा चागत्वा च समुद्घातम् ।

लेश्यानिरोधार्थं योगनिमित्तबन्धनिरोधार्थं च योगनिरोधमवश्यं कुरुते । आह च—"स ततो योगनिरोधं, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् । समयस्थितिं च बंधं, योगनिमित्त स निरुरुत्सन् ॥१॥ समये समये कर्मादाने सति संततेर्न मोक्षः स्यात् । यद्यपि हि विमुच्यंते, स्थितिक्षयात्पूर्णकर्माणि ॥२॥ नो कर्मणा (णो) हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य । तस्यावस्थानेन तु, सिद्धः समयस्थितेर्बन्धः ॥३॥" । अत्र बन्धस्य समयमात्रस्थितिकता बन्धसमयमतिरिच्य वेदितव्या । योगनिरोधं कुर्वन् प्रथमतो बादरकाययोगबलादन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण बादरवाग्योगं निरुणद्धि, तन्निरोधाऽनन्तरं चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा बादरकाययोगोपष्टम्भादेव बादरमनोयोगमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण

निरुणद्धि । उक्तं च—“वादरतन्वा पूर्वं, वाङ्मनसे बादरे स निरुणद्धि (क्रमेणैवेति शेष:)। आलंबनाय करणं,तदिष्यते तत्र वीर्यवतः॥१॥” अत्र च तदिति बादरतनुरूपं बादरमनोयोगनिरोधानन्तरं च पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा तत उच्छ्वासनिःश्वासावन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निरुणद्धि। ततः पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा सूक्ष्मकाययोगबलाद्बादरकाययोगं निरुणद्धि, बादरयोगे सति सूक्ष्मयोगस्य निरोद्धुमशक्यत्वात् । आह च—“वादरतनुमपि निरुणद्धि, तत. सूक्ष्मेण काययोगेन । न निरुद्ध्यन्ते हि सूक्ष्मो, योगः सति बादरे योगे ॥२”। केचिदाहुः–बादरकाययोगबलाद्बादरकाययोगं निरुणद्धि, युक्तिं चात्र वदन्ति–यथा कारपत्रिकः स्तम्भोपरिस्थितस्तमेव स्तम्भं छिनत्ति, तथा बादरकाययोगोपष्टम्भाद्बादरकाययोगं निहंतीति, तदत्र तत्त्वमतिशायिनो विदन्ति । बादरं च काययोगं निरुंधानः पूर्वस्पर्द्धकानामधस्तादपूर्वस्पर्द्धकानि करोति । स्पर्द्धकस्वरूपं चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति । तत्र यानि तस्मिन् भवे पर्याप्तिपर्यायपरिणतेन सता जीवेन पूर्वं कायादिव्यापारनिष्पादनार्थं कृतानि, तानि पूर्वस्पर्धकान्यभिधीयन्ते, तानि च स्थूलानि, यानि पुनरधुना कर्त्तुमारभते तानि सूक्ष्माणि, न चैवं भूतान्यनादौ संसारे कृतानि, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते । तत्र पूर्वस्पर्द्धकानामधस्तन्यो याः प्रथमादिवर्गणाः सन्ति, तासां ये वीर्याविभागपरिच्छेदास्तेषामसंख्येयान् भागानाकर्षति, एकमसंख्येयभागं मुञ्चति । जीवप्रदेशानामपि चैकमसंख्येयं भागमाकर्षति, शेषं सर्वं स्थापयति । एष बादरकाययोगनिरोधप्रथमसमयव्यापारः । तथा च कर्मप्रकृतिप्राभृतं—“पढमसमये अपुव्वफड्डगाणि करेइ पुव्वफड्डगाणं हेट्ठा आइवग्गणाणं अविभागपरिच्छेयाणमसंखेज्जइभागे ओकड्डइ, जीवपएसाणं चासंखेज्जइभागमोकड्डइ”, इति । द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्येभागादसंख्येयगुणं भागं जीवप्रदेशानामाकर्षति, भावतोऽसंख्येयान् भागानाकर्षतीत्यर्थः । वीर्यावि-

१ ‘भावतः’ परमार्थतः

भागमाकर्षति। एवं प्रतिसमयं समाकृष्य तावदपूर्वस्पर्द्धकानि करोति,
भागपरिच्छेदानामपि प्रथमसमयाकृष्टाद्भागादसंख्येयगुणहीनं भागमाकर्षति। एवं प्रतिसमयं समाकृष्य तावदपूर्वस्पर्द्धकानि करोति,
यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयः। कियन्ति पुनः स्पर्द्धकानि करोतीति चेत्, उच्यते—श्रेणिवर्गमूलस्यासंख्येयभागमात्राणि, पूर्वस्पर्द्धकानामसं-
ख्येयभागमात्राणीति यावत्, (अ)पूर्वस्पर्द्धककरणान्तर्मुहूर्त्तानन्तरसमये एव च किट्टीरन्तर्मुहूर्त्तं यावत्करोति। उक्तं च—"नाशयति
काययोगं स्थूलं सोऽपूर्वफड्डकीकृत्य। शेषस्य काययोगस्य, तथा किट्टीश्च स करोति ॥१॥"। अथ किमिदं किट्टिरिति? उच्यते—एकोत्तर-
वृद्धिं व्यावर्त्यित्वाऽनन्तगुणहीनैकैकवर्गणास्थापनेन योगस्याल्पीकरणं, तत्र पूर्वस्पर्द्धकानामपूर्वस्पर्द्धकानां च याः प्रथमादिवर्गणास्तासां
ये अविभागपरिच्छेदाः, तेषामयमसंख्येयान् भागानाकर्षति, एकमसंख्येयभागं स्थापयति। जीवप्रदेशानामपि चैकमसंख्येयभागमा-
कर्षति, शेषं सर्वं स्थापयति, एष किट्टीकरणप्रथमसमयव्यापारः। ततो द्वितीयसमये प्रथमसमयाकृष्टवीर्याविभागपरिच्छेदभागादसंख्ये-
यगुणहीनं वीर्याविभागपरिच्छेदानां भागमाकर्षति। जीवप्रदेशानां पुनः प्रथमसमयाकृष्टजीवप्रदेशासंख्येयभागादसंख्येयगुणभागं,
तावतोऽसंख्येयान् भागानाकर्षतीत्यर्थः। एवं तावत् किट्टीः करोति, यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयः। तत्र प्रथमसमयकृताभ्यः किट्टिभ्यो
द्वितीयसमयकृताः किट्टयोऽसंख्येयगुणहीनाः, गुणकारश्च पल्योपमासंख्येयभागः, एवं शेषेष्वपि समयेषु भावनीयम्। तथा
चोक्तं कर्मप्रकृतिप्राभृते—"इत्थ अन्तोमुहुत्तं किट्टीओ करेइ असंखेज्जगुणहीणाए सेढीए जीवपएसे य असंखेज्जगुणाए सेढीए ओक-
ड्डइ, किट्टीगुणकारो पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागोत्ति"। प्रथमसमयकृताश्च किट्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणाः, एवं द्वितीयादिसमये-
ष्वपि प्रत्येकमवगन्तव्याः। सर्वा अपि च किट्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणाः, पूर्वस्पर्द्धकानामपूर्वस्पर्द्धकानां च संख्येयभागमात्राः। कि-
ट्टिकरणावसानानन्तरं च पूर्वस्पर्द्धकान्यपूर्वस्पर्द्धकानि च नाशयति। तत्समयादारभ्य चांतर्मुहूर्त्तं यावत् किट्टिगतयोगो भवति। तथा

चोक्तं—"किट्टिकरणे निट्ठिए ततो से काले पुव्वफड्डगाणि अपुव्वफड्डगाणि च सोसेइ, अन्तोमुहुत्तं किट्टिगयजोगो भवइ इति"। न चात्र किंचिदपि करोति। ततोऽनंतरसमये सूक्ष्मकाययोगोपष्टंभादन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण सूक्ष्मवाग्योगं निरुणद्धि। ततो निरुद्धसूक्ष्मवाग्योगोऽन्तर्मुहूर्त्तमास्ते, नान्यसूक्ष्मयोगनिरोधं प्रति प्रयत्नवान् भवति। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकाययोगोपष्टंभात्सूक्ष्ममनोयोगमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निरुणद्धि। ततः पुनरपि अन्तर्मुहूर्त्तमास्ते। ततः सूक्ष्मकाययोगबलात्सूक्ष्मकाययोगमंतर्मुहूर्त्तेन निरुणद्धि। तं च निरुंधानः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्त्तिप्रदेशो भवति। आह च—"सूक्ष्मेण काययोगेन, ततो निरुणद्धि सूक्ष्मवाङ्मनसे। भवति ततोऽसौ सूक्ष्मक्रियस्तदा किट्टिगतयोगः ॥१॥ तमपि स योगं सूक्ष्मं, निरुरुत्सन् सर्वपर्ययानुगतं। सूक्ष्मक्रियमप्रतिपात्युपयाति ध्यानमतमस्कं (ध्यानममनस्कं) ॥२॥" इत्यादि। सूक्ष्मकाययोगं च निरुंधानः प्रथमसमये किट्टीनामसंख्येयान् भागान्नाशयति, एकस्तिष्ठति। द्वितीयसमये तस्यैवैकस्य भागस्योद्धरितस्य संबन्धिनोऽसंख्येयान् भागान्नाशयति, एक उद्धरति। एवं समये समये किट्टीस्तावन्नाशयति, यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माण्ययोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। येषां च कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिस्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते। सामान्यतः सत्ताकालं प्रतीत्यायोग्यवस्थासमामिति। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं सर्वाः किट्टयः सद्वेद्यबन्धो नामगोत्रयोरुदीरणा योगः शुक्ललेश्या स्थित्यनुभागघातश्चेति सप्त पदार्था युगपद्व्यवच्छिद्यन्ते। ततोऽनन्तरसमये अयोगिकेवली भवति।

अयोगिकेवलिगुणस्थानमिति—योगः पूर्वोक्तो विद्यते यस्यासौ योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम्। तस्मिंश्च वर्त्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्तिध्यानमारोहति। आह च—"स ततो

देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तिसर्ववस्तुगतं। उपयाति समुच्छिन्नक्रियमतम(मन)स्कं परं ध्यानं॥१॥"। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति। यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया वा वेदयमानस्तावद्याति, यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः। तस्मिंश्च द्विचरमसमये देवगति देवानुपूर्वीशरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसंघातपञ्चकसंस्थानषट्कांगोपांगत्रयसंहननषट्कवर्णादिविंशतिपराघातोपघातागुरुलघूच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरदुर्भगप्रत्येकानादेयायशःकीर्त्तिनिर्माणापर्याप्तकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरानुदितवेदनीयरूपाणि द्विसप्ततिसंख्यानि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात्। संक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूलप्रकृत्यभिन्नासु परप्रकृतिषु द्रष्टव्यः। "मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः" इति वचनात्। चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीमनुष्यायुःपञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेययशःकीर्त्तिपर्याप्तबादरतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः। अन्ये पुनराहुः—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात्। उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति, युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः। आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकतया भवापांतरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः, तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमये एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वादशानामिति। ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरंडफलमिव भगवानपि कर्मसंबंधविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकांते गच्छति। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाह-

मानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयांतरमस्पृशन् गच्छति। उक्तं चावश्यकचूर्णौ—"जत्तिए जीवोवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ, न वंकं विइयं च समयं न फुसइ"। इति। तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वतं कालमवतिष्ठते। अथ कथमवसीयते? तत्र गतः सन् शाश्वतं कालमवतिष्ठते इति? उच्यते-इह रागादयो मुक्तिपर्यायाच्च्यावयितुमीशाः, ते च सर्वात्मना क्षीणाः, न च क्षीणा अपि पुनः प्रादुर्भावमश्नुवते, तत्कारणकरणपुद्गलानामभावात्। न च ते पुद्गला भूयो बध्यन्ते, संक्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात्। न च सर्वात्मना रागादिक्लेशविप्रमुक्तस्य भूयः संक्लेशोत्थानमित्युक्तमनंतरमेव। ततः संक्लेशाभावात्तत्र गतस्य भगवतः शाश्वतं कालमवस्थानमिति ॥

गुणस्थानेषु योगानभिधातुकाम आह—

जोगाहारदुगूणा मिच्छे सासायणे अविरए य। अपुव्वाइसु पंचसु नव ओरालो मणवई य ॥१६॥

(स्वो०)—'योगा आहारद्विकोना मिथ्यादृष्टौ सास्वादने अविरते च "करणशब्दलोपात्" अपूर्वादिषु पञ्चसु नवौदारिकं मनोवाक् च, पदानि। पदार्थस्तु योगाः संपूर्णाः पञ्चदश त एवाहारकमिश्राहारकवर्जिता मिथ्यादृष्टौ सास्वादनेऽविरते च भवन्ति। क्रियत इति करणं अपूर्वं च तत्करणं चापूर्वकरणं तद्विद्यते यस्यासावपूर्वकरणः स आदिर्येषां तेऽपूर्वकरणादयस्तेषु पञ्चस्वपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तक्षीणकषायेषु नव योगा भवन्ति, औदारिकशरीरं मनांसि भाषाश्च अविशेषितत्वात्। चकारः समुच्चय इति गाथार्थः ॥१६॥

(मलय०)—तदेवमुक्तानि गुणस्थानकानि, सांप्रतमेतेषु योगानुपदर्शयितुमाह-आहारकद्विकेन आहारकाहारकमिश्ररूपेण ऊनाः शेषास्त्रयोदश योगा मिथ्यादृष्टौ सासादने अविरते च अविरतसम्यग्दृष्टौ च भवन्ति, आहारकद्विकाभावश्चैतेषु चतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भ-

वात्। तथा अपूर्वादिषु-अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसंपरायोपशांतमोहक्षीणमोहलक्षणेषु पञ्चसु गुणस्थानेषु नव योगा भवन्ति। ते के? इत्याह-औदारिकं, चतुर्द्धा मनः, चतुर्द्धा वाक्, चः समुच्चये ॥१६॥

वेउव्विणा जुया ते मीसे साहारगेण अपमत्ते। देसे दुविउव्विजुया आहारदुगेण य पमत्ते ॥१७॥

(स्वो०)—'वैक्रियेण युक्तास्ते सम्यग्मिथ्यादृष्टौ साहारकेणाप्रमत्ते देशविरते द्विवैक्रिययुक्ता आहारकद्विकेन च प्रमत्ते' इति पदानि। पदार्थस्तु त एवानन्तरोदिता औदारिकशरीरचतुर्विधमनश्चतुर्विधवाक्संयोगेन नव भेदा वैक्रियशरीरयुक्ता दश योगाः सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति। त एव नवानन्तरोक्ता वैक्रियेण सहाहारकेण युक्ता अप्रमत्ते एकादश योगा भवन्ति। (ते एव नवानन्तरोक्ता द्विवैक्रियेण—वैक्रियवैक्रियमिश्रेण युक्ताः एकादश योगा देसे-देशविरते भवन्ति)। ते एव पूर्वोक्ता नव वैक्रियमिश्रवैक्रियाहारकमिश्राहारकयुक्ताः प्रमत्ते त्रयोदश योगा भवन्ति। चः समुच्चय इति गाथार्थः ॥१७॥

(मलय०)—त एवानन्तरोक्ता औदारिकादयो नव योगा वैक्रियेण युताः सन्तो दश सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवंति, वैक्रियमिश्रं त्वपर्याप्तावस्थायां लभ्यते न च तदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टितेति तत्र तदभावः। ननु मा भूदपर्याप्तावस्थालभ्यं देवनारकसंभवि वैक्रियमिश्रं, यत्पुनः पर्याप्तानां मनुष्यतिरश्चां वैक्रियलब्धिमतां सम्यग्मिथ्यादृशां सतां वैक्रियकरणं संभवेत्, तदारंभकाले वैक्रियमिश्रं भवति, तत्कस्मादिह नोक्तं?, उच्यते-तेषां वैक्रियाकरणभावतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणादाचार्येणान्यैश्च तन्नाभ्युपगम्यते, तन्न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसंप्रदायाभावात्। तथा त एवानन्तरोक्ता नव वैक्रियेण आहारक सहितेन युक्ताः सन्तोऽप्रमत्ते एकादश योगा भवन्ति, यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च, तत्तदारम्भकाले, तदानीं च प्रमादभावः, इति नाप्रमत्ते तत्सम्भवः। तथा त एव नव

पूर्वोक्ता द्विवक्रियेण—वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्ररूपेण युताः सन्तो देशविरते एकादश भवन्ति । त एव चैकादश आहारकद्विकेन आहारकआहारकमिश्रलक्षणेन युताः सन्तस्त्रयोदश प्रमत्ते—प्रमत्तसंयते भवन्ति । चः समुच्चये ॥१७॥

अज्जोगो अज्जोगी सत्त सजोगंमि होंति जोगा उ । दो दो मणवइजोगा उरालदुगं सकम्मइगं ॥१८॥

(स्वो०)—'अयोगो अयोगी सप्त सयोगिनि भवन्ति, योगास्तु द्वौ द्वौ मनोवाग्योगावौदारिकद्विकं सकार्मण'मिति पदानि । पदार्थस्तु—अयोगकेवल्ययोगो योगवर्जितो मनोवाक्कायानां योग इति व्यापारस्तेन वर्जितो निष्प्रकम्पमनोवाक्काय इति भावः । सयोगिकेवलिनि सप्त योगाः, सत्यमनोऽसत्याऽमृषामनो वाक् चैते औदारिकमिश्रौदारिकशरीरं सकार्मणमेते सप्त योगा भवन्ति । तुशब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशिनष्टि ?, शतके देशविरतप्रमत्तानां वैक्रियद्विकमप्रमत्तस्याहारकं च प्रतिषिद्धं दर्शितम्, यतः 'तिसु तेरस एगे दस नव जोगा हुन्ति सत्तसु गुणेसु । एक्कारस य पमत्ते सत्त सजोगे अजोगेक्का' । तेरस चउसु दसेगे पञ्चसु नव दोसु हुन्ति इक्कारा । इक्कम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवइ एक्कं, इति विशेपितत्वादिति गाथार्थः ॥१८॥

(मलय०)—अत्र 'अज्जोगो अज्जोगी' इत्यत्र जकारस्य द्वित्वं 'सेवादिषु चेति" प्राकृतलक्षणात् । ततोऽयमर्थः—अयोगो—योगवर्जितो अयोगी—अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थायाः । तथा तुः पुनरर्थे, भिन्नक्रमश्च, स चैवं योज्यः, सयोगिनि—सयोगिकेवलिनि पुनः सप्त योगा भवन्ति । के ते ? इत्याह—द्वे मनसी—सत्यासत्यामृषारूपे, द्वे वचसी—सत्यासत्यामृषारूपे एव, उदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणं, सकार्मणं, कार्मणसहितमिति, तत्रौदारिकमिश्रकार्मणे समुद्घातावस्थायां, शेपयोगाः सुप्रतीताः ॥१८॥

गुणस्थानेषूपयोगानाह—

अचक्खुचक्खूदंसणमन्नाणतिगं च मिच्छसासाणे । विरयाविरए सम्मे नाणतिगं दंसणतिगं च ॥१९॥

(स्वो०)—'अचक्षुश्चक्षुर्दर्शनमज्ञानत्रिकं च मिथ्यादृष्टिसास्वादने विरताविरतौ सम्यग्दृष्टौ ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च' पदानि। पदार्थस्तु–अचक्षुर्दर्शनं चक्षुर्दर्शनं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गाख्याः पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टौ सास्वादने च भवन्ति। चः समुच्चये, मतिश्रुतावधिज्ञानत्रिकमचक्षुश्चक्षुरवधिदर्शनरूपं दर्शनत्रिकं च देशविरतेऽविरतसम्यग्दृष्टौ च भवति, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥१९॥

(मलय०)—तदेवं गुणस्थानकेषु योगानभिधाय साम्प्रतमुपयोगानाह–अचक्षुर्दर्शनं चक्षुर्दर्शनमज्ञानत्रिकं च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गलक्षणं, चः समुच्चये, मिथ्यादृष्टौ सासादने चोपयोगा भवन्ति। यत्तु अवधिदर्शनं, तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति, तन्न सम्यगवगच्छामः, अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं, प्रतिपाद्यते। यत उक्तं प्रज्ञप्तौ—"ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं भंते! नाणी अन्नाणी?। गोयमा! नाणीवि अन्नाणीवि, जइ नाणी, अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी। जे तिनाणी ते आभिणीवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी। जे चउनाणी ते आभिणीवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी" इति। अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति, मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितम्। यदा त्ववधिज्ञानी सासादनभावं वा गच्छति, तदा तत्राप्यवधिदर्शनं प्राप्यते। तथा विरताविरते–देशविरते, 'सम्मेति' अविरतसम्यग्दृष्टौ मतिश्रुतावधिलक्षणं ज्ञानत्रिकं, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनत्रिकमिति षट् उपयोगा भवन्ति ॥१९॥

मिस्संमि वामिस्सं मणनाणजुयं पमत्तपुव्वाणं । केवलियनाणदंसणउवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

(स्वो०)—'सम्यग्मिथ्यादृष्टौ व्यामिश्रं मनःपर्यायज्ञानयुक्तं प्रमत्तपूर्वाणां कैवलिकज्ञानदर्शनोपयोगावयोगियोगिनोरिति पदानि। पदार्थस्तु–तदेव ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं चानन्तरोक्तं सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्व्यामिश्रं भवति। मिथ्यात्वाधिकस्याज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य सम्यग्ज्ञानबाहुल्यं, बाहुल्यसंभवस्तु तस्योभयपक्षपतनसंभवात्। तदेवं ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च पूर्वोक्तं मनःपर्यायज्ञानयुक्तमेवमेते सप्तोपयोगाः 'प्रमत्तपूर्वाणां' प्रमत्तः पूर्वो–धुर्यो येषां ते प्रमत्तपूर्वास्तेषां प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तकषाय-क्षीणकषायाणां भवन्ति। कैवलिकज्ञानदर्शने एतौ द्वावुपयोगौ सयोग्ययोगिकेवलिनोः भवतः, इत्यभिहिते कश्चिदाह–यदि स्वावरणस्य देशक्षयोपशमेऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणयोरुदयेऽपि जीवानां मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानोपयोगाश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनोपयोगाश्च संति, ततः स्वावरणसर्वक्षये केवलज्ञानदर्शनवत्कथं न भवेयुः?, आह च–"आवरणदेसविगमे जाति विज्जन्ति मतिसुयातीनि। आवरणसव्वविगमे कह ताति न होंति जीवस्स ॥१॥ उच्यते–तेषां क्षायोपशमिकत्वात्, तयोश्च ज्ञानदर्शनावरणयोः क्षये क्षायोपशमिकभावाभावादित्येते उपयोगा न भवन्ति, क्षायोपशमिकश्च देशावरणक्षयसंभव एव, यथा मेघान्तरितार्कस्य कटविवरप्रविष्टः प्रकाशो घटपटादीनुद्योतयति, तथा केवलज्ञानावरणावरितस्य केवलज्ञानस्य यः प्रकाशः मत्याद्यावरणविवरविनिर्गतः स्वाभिधानमुद्वहन् जीवादिपदार्थान् प्रकाशयति, सर्वावरणव्यपगमे तु क्षयोपशमजनितरन्ध्रापगमोऽपि, यथा कटापगमे रन्ध्रापगमः, केवलावरणक्षयाच्च न मन्दप्रभा, अतिनिर्मलत्वात् केवलज्ञानस्य, अतः ते नोपयोगा भवन्ति। "कडविवरागयकिरणा मेहन्तरियस्स जह दिणेसस्स। ते कडमेहावगमे न होंति जह तह इमाइं पि ॥१॥" स्वस्वभावक्षयादिति गाथार्थः ॥२०॥

(मलय०)—मिश्रे-सम्यग्मिथ्यादृष्टौ तदेव ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं चानन्तरोक्तमज्ञानव्यामिश्रं द्रष्टव्यम्। मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्र-

मित्यादि, केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्येनाज्ञानबाहुल्यं, समतायां तु सम्यक्त्वमिथ्यात्वमित्यादि, केवलं कदाचित्... योरुभयोरपि समतेति । तथा तदेव पूर्वोक्तमुपयोगषट्कं मनःपर्यायज्ञानयुतं, प्रमत्तः पूर्वो येषां ते प्रमत्तपूर्वास्तेषां प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहानामवसेयम् । तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणौ द्वावुपयोगौ सयोग्ययोगिकेवलिषु द्रष्टव्यौ न शेषाः, 'केवलदुगे न सेसा' इति वचनात् ॥२०॥

गत्यादिस्थानोत्कीर्त्तनामाह—

गइइंदिए य काए जोगे वेए कसायलेसासु य । संजमदंसणनाणे भव्वसन्निसम्मआहारे ॥२१॥

(स्वो०)—'गतीन्द्रिये च काये योगे वेदे कषायलेश्यासु च संयमदर्शनज्ञाने भव्यसंज्ञिसम्यगाहारे' 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्येकशेषसमासात् द्वन्द्वैकत्वमित्येवंभूतलक्षणात् प्राकृतलक्षणानुसाराच्चोत्तरत्रापि द्रष्टव्यानि पदानि । पदार्थस्तु गतिद्वारं चतुर्विधम्, इन्द्रियद्वारं पञ्चधा, कायद्वारं द्विधा, योगवेदद्वारे प्रत्येकं त्रिधा, कषायद्वारं चतुर्द्धा, लेश्याद्वारं षोढा, संयमद्वारं च पञ्चधैकधा वा, दर्शनद्वारं चतुर्द्धा, ज्ञानद्वारं अष्टधा, भव्यसंज्ञिसम्यग्दृष्ट्याहारकद्वाराणि सविपक्षाणि, तेषु जीवगुणस्थानानि मन्तव्यानि इति वाक्यशेष इति गाथार्थः ॥२१॥

(मलय०)—तदेवं गुणस्थानकेषु उपयोगानभिधाय, सांप्रतं मार्गणास्थानेषु जीवस्थानादिविवक्षुस्तान्येव तावदाह–इयं च गाथा प्रागेव व्याख्याता ॥२१॥

तत्र गत्यादिषु जीवस्थानानि प्रतिपादयन्नाह—

तिरियगइए चोद्दस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा। एगिंदिएसु चउरो विगलपणिंदीसु छच्चउरो॥२२॥

(स्वो०)—तिर्यग्गतौ चतुर्दश नारकसुरनरगतिषु द्वे स्थाने एकेन्द्रियेषु चत्वारि विकलपञ्चेन्द्रियेषु षट् चत्वारि' इति पदानि। पदार्थस्तु—तिर्यग्गतौ चतुर्दश जीवस्थानानि भवन्ति अखिलानि। नारकसुरनरगतिषु संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थाने द्वे भवतः। एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु पञ्चप्रकारेष्वपि प्रत्येकं सूक्ष्मबादरपर्याप्तका (पर्याप्तका)ख्यानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति। विकलेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकस्थानानि षड् भवन्ति। पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थानानि चत्वारि भवन्ति। नारकसुरनरगतिषु द्वे स्थाने यदुक्तं तन्नरगतौ न घटते, कुतः इति चेत्? तृतीयस्थानसंभवात्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तत्रायमभिप्रायः—नारकसुरसाहचर्यान्नराणामपि करणापर्याप्तकत्वमङ्गीकृत्य शतकाभिप्रायं च मत्वा स्थानद्वयमुक्तम्। आह—एवमपि सुतरां दोषो लब्ध्यपर्याप्तकाग्रहणात्, नायमपि दोषः, तस्याप्यागमे संज्ञित्वाव्यभिचारात्। कथं?, यतोऽन्यथागमाभिहिता कायस्थितिर्न घटते, यतः—सा संज्ञित्वमात्रस्य, न तु पर्याप्तकापर्याप्तकविशेषितस्य। आह—एवमपि सम्मूर्च्छजमनुष्याग्रहणमेव?, न, तेषामपि ग्रहणात्, यतः सूत्रकारेण क्रममुल्लङ्घ्य तृतीयस्थानेऽभिधानात्त्रैविध्यं ख्यापितमिति गाथार्थः॥२२॥

(मलय०)—इदानीमेतेषु जीवस्थानानि चिंतयन्नाह—तिर्यग्गतौ चतुर्दशापि जीवस्थानानि भवन्ति, यतस्तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वेऽपि प्राप्यन्ते। नारकसुरनरगतिषु च पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे द्वे द्वे जीवस्थाने। इह नारकसुरसाहचर्यान्नराः करणापर्याप्तका एव विवक्षिताः समनस्काश्च। ततस्तेषामपि यथोक्तमेव जीवस्थानकद्विकं भवति। यदि पुनः सामान्यतो नरा विवक्ष्यन्ते, तर्हि अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणमपि तृतीयं जीवस्थानकं द्रष्टव्यम्, वांतपित्तादिसंमूर्छिममनुष्याणामसंज्ञिलब्ध्यपर्याप्तकत्वात्। तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ—

"कहिणं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्मभूमीसु, छप्पन्नाए अंतरदीवेसु, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वंतेसु वा, पित्तेसु वा, सुक्केसु वा, सोणियेसु वा, सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा, विगयजीवकलेवरेसु वा, नगरनिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइएसु, असुइट्ठाणेसु, एत्थणं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति, अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छदिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करंति त्ति"। तथा एकेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरलक्षणानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति। विकलेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणानि षड् जीवस्थानकानि। पञ्चेंद्रियेषु पुनः पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिरूपाणि चत्वारि जीवस्थानानि ॥२२॥

दस तसकाए चउ चउ थावरकाएसु जीवठाणाइं। चत्तारि अट्ठ दोन्निय कायवई माणसेसु कमा ॥२३॥

(स्वो०)—'दश त्रसकाये चत्वारि चत्वारि स्थावरकायेषु जीवस्थानानि चत्वार्यष्ट द्वे च कायवाङ्मानसेषु क्रमा'दिति पदानि। पदार्थस्तु—त्रस्यन्तीति त्रसाः तेषां कायस्तस्मिन् द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकजीवस्थानानि दश भवन्ति। स्थावरकायेषु—पृथिवीजलाग्निवायुवनस्पतिरूपेषु पञ्चस्वप्येकेन्द्रियेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकसंज्ञानि चत्वारि चत्वारि प्रत्येकं स्थानानि भवन्ति। एतान्येवानन्तरोक्तानि काययोगे भवन्ति, वाग्योगे द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियासंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थानान्यष्टौ भवन्ति, मानसे संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थाने द्वे भवतः, क्रमात्–क्रमेण यथासंख्येन तच्चोक्तमेव। चकारो योगानां त्रैविध्यस्य प्राधान्यनिर्देशप्रापणार्थः। आह—एवं पूर्वोक्तं यत्तदत्र विरुध्यते, कथमिति चेत्, उच्यते—नवसु स्थानेषु काययोगः केवलः, चतुर्षु कायवाग्योगौ, एकस्मिन् कायवाङ्मनो-

योगाः, उत्तरसूत्रेऽन्यथा भणनाद्विरोधो, नायं विरोधः, पूर्वसूत्रं लब्ध्यपर्याप्तकविवक्षातो निष्ठाकालप्राधान्याचोक्तम्, उत्तरसूत्रं तु करणापर्याप्तकानां पर्याप्तकत्वदर्शनात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्च कथञ्चिदभेदादित्यविरोध इति गाथार्थः ॥२३॥

(मलय०)—त्रसेषु पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि दश जीवस्थानकानि भवन्ति । तथा स्थावरेषु–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिषु प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि चत्वारि जीवस्थानानि । एतान्येव चत्वारि केवलकाययोगे वाग्योगमनोयोगविरहिते । वाग्योगे पुनर्मनोयोगविरहिते पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि अष्टौ जीवस्थानकानि । मानसे च योगे पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे द्वे जीवस्थानके ॥२३॥

चउ चउ पुमित्थिवेए सव्वाणि नपुंससंपराएसु । किण्हाइतिगाहारगभव्वाभव्वे य मिच्छे य ॥२४॥

(स्वो०)—'चत्वारि चत्वारि पुंस्त्रीवेदे सर्वाणि नपुंसकसंपरायेषु कृष्णादित्रिकाहारकभव्याभव्ये च मिथ्यादृष्टौ चेति पदानि । पदार्थस्तु–पुंस्त्रीवेदयोः संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थानानि चत्वारि चत्वारि प्रत्येकं भवन्ति । नपुंसकवेदश्च कषायाश्च नपुंसककषायाः तेषु सर्वाणि सम्पूर्णानि जीवस्थानानि भवन्ति । कृष्णनीलकापोतलेश्यासु आहारकभव्याभव्येषु मिथ्यादृष्टौ च सर्वाणि भवन्ति । चः समुच्चये, द्वितीयचकारोऽधिकार्थसूचकः, कोऽसावर्थो ?, लब्ध्यपर्याप्तका सर्वे नपुंसका एव इतरे भाज्याः, असंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकौ तु यद्यपि नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य निर्दिष्टं, क्रमोल्लङ्घनं सर्वत्र लाघवार्थमिति गाथार्थः ॥२४॥

(मलय०)—पुंवेदे स्त्रीवेदे च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति । यद्यपि चासंज्ञी पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुंसक एवोक्तः, तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ—"तेणं भंते ! असंणिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा

पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा ?। गोयमा ! नो इत्थिवेयगा, नो पुरिसवेयगा, नियमा नपुंसगवेयगा इति"। तथापीह स्त्रीपुंसलिंगाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे पुंवेदे चोक्तः। उक्तं च मूलटीकायां—यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ, तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमंगीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्ताविति। तथा नपुंसकवेदे संपरायेषु—क्रोधमानमायालोभेषु, लेश्यात्रिके—कृष्णनीलकापोतरूपे, आहारके, भव्ये, अभव्ये, चशब्दादसंयमे च 'मिच्छे य' त्ति—मिथ्यादृष्टौ, चशब्दः समुच्चये, सर्वाण्यपि जीवस्थानानि भवन्ति। भावना सुज्ञाना ॥२४॥

तेऊ लेसाइसु दोन्नि संजमे एक्कमट्ठमणहारे। सण्णी सम्मंमि य दोन्नि सेसयाइं असंनिम्मि ॥२५॥

(स्वो०)—'तेजोलेश्यादिषु द्वे संयमे एकमष्टावनाहारे संज्ञिनि सम्यग्दृष्टौ च द्वे शेषकाण्यसंज्ञिनी'ति पदानि। पदार्थस्तु—तैजसीपद्मशुक्लेश्यासु संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थाने द्वे भवतः। सम्यग्यमः संयमः तस्मिन्नेकं संज्ञिपर्याप्तकस्थानम्। अनाहारके सप्तापर्याप्तका अन्तरगतौ संज्ञिपर्याकस्तु केवलिसमुद्घाते एवमष्टौ स्थानानि भवन्ति। संज्ञिद्वारे सम्यग्दृष्टिद्वारे च संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकस्थाने द्वे भवतः। शेषाणि—एतद्द्विकवर्जितानि द्वादश स्थानान्यसंज्ञिनि भवन्ति। चकाराधिक्यात् तेजोलेश्यायामेकेन्द्रियबादरपृथ्वीजलवनस्पतयः करणापर्याप्तका अपि भवन्ति, यतो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवास्तेषूत्पद्यन्ते, 'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' इति वचनादिति गाथार्थः ॥२५॥

(मलय०)—तेजोलेश्यादिषु—तेजःपद्मशुक्लेश्यासु द्वे द्वे पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थानके भवतः, गाथोत्तरार्धे चशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वात्तेजोलेश्यायामपर्याप्तबादरैकेन्द्रियोऽपि द्रष्टव्यः, यतो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवाः पृथिव्यप्वनस्पतिषु मध्ये समुत्पद्यन्ते, ते च तेजोलेश्यावन्तः, यल्लेश्यश्च म्रियते, अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपजायते। 'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' इति

वचनात् । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पृथिव्यब्वनस्पतिलक्षणस्यापर्याप्तावस्थायां कियत्कालं तेजोलेश्याऽवाप्यते । तथा संयमे सामायिकादौ, देशसंयमे च, एकं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणं जीवस्थानम् । अनाहारकेऽष्टौ जीवस्थानानि, तत्र सप्तापर्याप्तकाः अष्टमः संज्ञी पर्याप्तः, स च केवलिसमुद्घातावस्थायाम् । तथा संज्ञिनि सम्यक्त्वे च क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकरूपे पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे द्वे द्वे जीवस्थाने । ननु अपर्याप्तः संज्ञी कथमौपशमिके सम्यक्त्वेऽवाप्यते ? यतो न तावदस्यामेवापर्याप्तावस्थायामिदमुपजायते, तदानीं तस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात् । अथोच्येत–मा तदानीमेतदुत्पादयतु, पारभविकं तद्भवत्केन विनिवार्यते ? तदप्ययुक्तं, यतो यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति, स तावत्तद्भावमापन्नः सन् कालं न करोत्येव, यत उक्तमागमे–"अणबंधोदयमायुगबधं कालं च सासणो कुणइ । उवसमसम्मदिट्ठी, चउण्हमेकंपि नो कुणइ ॥१॥" यस्तूपशमश्रेणिमारूढः सन् मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तस्य प्रथमसमये एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात्क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति, न त्वौपशमिकम् । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ–"जो उवसमसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मदिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ त्ति" नैष दोषः । सप्ततिचूर्णावपर्याप्तस्याप्यौपशमिकसम्यक्त्वाभिधानात् । तथाहि–सप्ततिचूर्णौ गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयादिमार्गणावसरेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानचिन्तायां पञ्चविंशत्युदयः सप्तविंशत्युदयश्च देवनारकानधिकृत्योक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टय उक्ताः, देवाश्च त्रिविधसम्यग्दृष्टयोऽपि । तथा च तद्ग्रंथः—"पणुवीससत्तावीसोदया देवनेरइए पडुच्च । नेरइगो खइगवेयगसम्मदिट्ठी, देवो तिविहसम्मदिट्ठीवि" इति । पञ्चविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्तिं निर्वर्त्तयतः, सप्तविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य, शेषपर्याप्तिभिः पुनरपर्याप्तस्य, ततोऽपर्याप्तावस्थायामपीहौपशमिकं सम्यक्त्वमुक्तम् । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति ।

पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जितानि शेषाणि द्वादश जीवस्थानानि असंज्ञिनि भवन्ति ॥२५॥

दुसु नाणदंसणाइं सव्वे अण्णाणिणो य विन्नेया। सन्निमि अयोगिअवेइएवमाई मुणेयव्वं ॥२६॥

(स्वो०)—द्वयोर्ज्ञानदर्शनानि सर्व्वेऽप्यज्ञानिनश्च विज्ञेया, संज्ञिन्ययोग्यवेद्येवमादि मन्तव्यमि'ति पदानि। पदार्थस्तु–द्वयोः संज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकयोः ज्ञानदर्शनानि सम्यग्दर्शनप्रधानानि भवन्ति, सर्व्वेऽपि जीवस्थानकजीवा अज्ञानिनोऽपि विज्ञेयाः, संज्ञिन्ययोगित्वमवेदित्वमेवमादिशब्दादलेश्यत्वमकषायत्वमनिन्द्रियत्वं च मन्तव्यमिति गाथार्थः ॥२६॥

(मलय०)—संप्रति सामान्येन ज्ञानादौ यति जीवस्थानानि प्राप्यन्ते तति प्रतिपादयति–द्वयोः संज्ञिपञ्चेंद्रियपर्याप्तापर्याप्तयोः सामान्येन ज्ञानदर्शनानि संभवन्ति, न शेषेषु। अज्ञानिनश्च सामान्येन सर्वाण्यपि जीवस्थानानि, यत्तु अयोगित्वमवेदित्वमेवमादिशब्दादलेश्यत्वमकषायत्वमनिन्द्रियत्वं च, तत्संज्ञिनि पर्याप्ते वेदितव्यम्। अथायोगित्वे सति संज्ञित्वं कथं ?, उच्यते–द्रव्यमनःसंबन्धात्। भवति च द्रव्यमनःसम्बन्धात्संज्ञिव्यपदेशः, यथा सयोगिकेवलिनि। उक्तं च—'मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण सन्निणो भन्नन्ति' इति ॥२६॥

दोमइसुयओहिदुगे एक्कं मणनाणकेवलविभंगे। छतिगं व चक्खुदंसणचउदस ठाणाणि सेसातिगे ॥२७॥

(मलय०)—तत्र यदुक्तं 'दुसु नाणदंसणाइं'इत्यादि, तद्विशेषतो भावयति–मतिज्ञाने, श्रुतज्ञाने, अवधिद्विके–अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे द्वे द्वे पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने । तथा एकं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणं मनःपर्यायज्ञाने, केवलद्विके–केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे, विभङ्गे च । इह विभङ्गे यदेकं पर्याप्तसंज्ञिलक्षणं जीवस्थानमुक्तं तत्तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया असंज्ञिनारकापेक्षया च द्रष्टव्यम् । तथाहि–न संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां चापर्याप्तावस्थायां विभङ्गमुपजायते । तथा ये असंज्ञिमध्याद्रत्नप्रभायां नारका उत्पद्यन्ते ते असंज्ञिन इति व्यवह्रियन्ते, तेषामपि चापर्याप्तावस्थायां न विभङ्गं, किंतु पर्याप्तिपरिसमाप्तेरूर्ध्वं, तत एतदपेक्षया विभङ्गे संज्ञिपर्याप्तलक्षणमेकं जीवस्थानकं, सामान्यचिन्तायां पुनर्द्वे अपि पर्याप्तापर्याप्तसंज्ञिलक्षणे जीवस्थानके, संज्ञिमध्यादुत्पद्यमानानां नारकाणां देवानां चापर्याप्तावस्थायामपि विभङ्गसम्भवात् । तथा चक्षुर्दर्शने पर्याप्तापर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिलक्षणानि षड् जीवस्थानकानि, अपर्याप्तावस्थायामपि इन्द्रियपर्याप्तौ कैश्चिचक्षुर्दर्शनोपयोगस्येष्टत्वात्, अन्ये तु न मन्यन्ते, ततस्तन्मतापेक्षया आह—'तिगं वत्ति', त्रिकं–जीवस्थानत्रिकं, पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिलक्षणं वेदितव्यम् । वाशब्दो मतान्तरसूचने । शेषत्रिके मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपे चतुर्दशापि जीवस्थानानि भवन्ति । तथा सासादने षट् बादरैकेन्द्रियादयोऽपर्याप्ताः पर्याप्तश्च संज्ञीति सप्त जीवस्थानानि । मिश्रे चैकं पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमिति स्वधिया भावनीयम् ॥२७॥[1]

तेष्वेव गत्यादिषु गुणस्थानकान्याह—

सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे । इगिविगलेसु जुयलं सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥२८॥

---

१ एषा गाथा स्वोपज्ञटीकायां नास्ति

(स्वो०)—'सुरनारकयोश्चत्वारि पञ्च तिर्यक्षु चतुर्दश मनुष्ये एकेन्द्रियविकलेन्द्रियेषु युगलं सर्वाणि पञ्चेन्द्रियेषु भवन्ती'ति पदानि। पदार्थस्तु 'सुरनारकयो'रिति–सुरनारकगत्योर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टिस्थानानि चत्वारि भवन्ति। पञ्च तिर्यग्गतौ पूर्वोक्तानि चत्वारि देशविरतस्थानं च। मनुष्यगतौ चतुर्दश संपूर्णानि गुणस्थानानि भवन्ति। एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु 'युगलं'–मिथ्यादृष्टिः सास्वादनश्च। पञ्च तिरिएसु इति बहुवचननिर्देशात् सास्वादनः एतेषु करणापर्याप्तकेषूत्पत्तिकालादुत्कृष्टेनापि देशोनषडावलिकामात्रं कालं भवति। पञ्चेन्द्रियेषु सर्वाणि भवन्तीति गाथार्थः ॥२८॥

(मलय०)—तदेवमुक्तानि मार्गणास्थानेषु जीवस्थानानि, सम्प्रति गुणस्थानकान्याह–सुरेषु नारकेषु च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति। तान्येव देशविरतिसहितानि पञ्च गुणस्थानकानि तिर्यक्षु भवन्ति। चतुर्दशापि मनुष्ये, तत्र मिथ्यात्वाद्ययोगित्वपर्यन्तसर्वभावसम्भवात्। तथा एकेन्द्रियेषु, विकलेषु–विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिंद्रियरूपेषु, मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणं गुणस्थानकयुगलं भवति। सासादनत्वं लब्धिपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां करणापर्याप्तावस्थायामवसेयम्। तथा पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियद्वारे सर्वाणि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् ॥२८॥

सव्वेसु वि मिच्छो वाउतेउसुहुमातिगं पमोत्तूणं। सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ॥२९॥

(स्वो०)—'सर्वेष्वपि मिथ्यादृष्टिः वायुतेजःसूक्ष्मत्रिकं प्रमुच्य सास्वादनस्तु सम्यग्दृष्टिः संज्ञिद्विके शेषाणि संज्ञिनि' पदानि। पदार्थस्तु–'सर्वेषु' त्रसस्थावरकाययोः अपिशब्दात् सप्रभेदयोर्मिथ्यादृष्टिर्भवति। अनन्तरोक्तयोः काययोः सप्रभेदयोर्वाय्वग्निकायसर्वसूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तकसाधारणभेदान् प्रमुच्य सास्वादनो भवति। सम्यग्दृष्टिः संज्ञिपर्याप्तककरणापर्याप्तकयोः त्रसकायान्तर्गतयोर्भवति।

शेपाणीति विभक्तिलोपान्निर्देशः, शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरत्यादीन्येकादश स्थानानि त्रसकायान्तर्गतसंज्ञिस्थाने भवन्ति । तु-शब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशिनष्टि ?, अनेनैव सूत्रेण जीवस्थानेषु गुणस्थानान्याह–सर्वेष्वपि जीवस्थानेषु मिथ्यादृष्टिर्भवति, वायुतेजःसूक्ष्मत्रिकविशिष्टस्थानानि प्रमुच्य सास्वादनो भवति । सम्यग्दृष्टिः संज्ञिद्विके, शेषस्थानानि संज्ञिनि भवन्तीति गाथार्थः ॥२९॥

(मलय०)—सर्वेष्वपि त्रसेषु स्थावरेषु च मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकमविशेषेणावसेयम् । तथाऽग्निवायुसूक्ष्मत्रिकं च सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तकसाधारणरूपं विमुच्य शेषेषु लब्धिपर्याप्तेषु करणैश्चापर्याप्तेषु, संज्ञिनि पर्याप्ते च सासादनः–सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं भवति । तुशब्दो लब्धिपर्याप्तेष्वित्यादिविशेषणसूचकः । तथा 'सम्मो'त्ति–अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं संज्ञिद्विके पर्याप्तापर्याप्तलक्षणे । शेषाणि पुनः सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरतादीन्येकादश गुणस्थानकानि संज्ञिनि पर्याप्ते द्रष्टव्यानि ॥२९॥

जा बायरो ता वेएसु तिसु वि तह तिसु य संपराएसु । लोभंमि जाव सुहुमो छल्लेसा जाव सम्मो त्ति ॥३०॥

(स्वो०)—'यावद्बादरस्तावद्वेदेषु त्रिष्वपि तथा सर्वसंपरायेषु लोभे यावत्सूक्ष्मः षड्लेश्यासु यावत्सम्यग्दृष्टिरिति' पदानि । पदार्थस्तु–यावदनिवृत्तिबादरस्तावत्सर्वेऽपि मिथ्यादृष्ट्याद्या वेदेषु त्रिष्वपि भवन्ति, तथा सर्वकषायेषु क्रोधमानमायालोभाख्येषु । लोभे यावत्सूक्ष्मसंपरायस्थानं तावद् भवन्ति । 'षड्लेश्यास्विति' सप्तमीबहुवचनलोपादित्थमुपन्यासो लोपश्च 'सुपां सुपो लुक्', 'पूर्वसवर्णाच्छयोनान्याया जाल' (?) इति लक्षणादवसेयः, यावत्सम्यग्दृष्टिस्थानमिति वाक्यशेषः । इतिशब्दाधिक्यात् शुभलेश्यात्रयमेव सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले भवति, तदुत्तरकाले सर्वा अपि परावर्त्तन्ते अपि, यतः–प्रमत्तस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये कृष्णलेश्याभाव एवेति मतान्तरं सूचितमिति । त्रिष्वपि वेदेषु बादरकषायं यावद्भवन्तीत्युक्ते आह–ते हि किं द्रव्यवेदेषु उताहो भाववेदेषु ? यदि

द्रव्यवेदेपु तदानीं प्रत्यक्षविरोधः, तदुपरितनेष्वपि तद्दर्शनात्, अथ चेद् भाववेदेषु तत्कथं वेदोदये सत्यपि तेषां चरणमिति? अत्रोच्यते–द्रव्यवेदोदयस्तावदत्र नैताद्दतो मया। भाववेदोदये ब्रूमश्चरणमत्र(णं तु)यथा भवेत् ॥१॥ सर्वघातिकषायाणां, क्षयोपशमसंभवम्। भाववेदोदयो नैतद्, हन्ति यस्मात्स देशहा ॥२॥ हन्त्येव तद्बलो यद्वत्सवायुरनलस्तृणम्। देशहा केवलस्तस्य, स्वोदयः संप्रकीर्त्तितः ॥३॥ उदयो भाववेदस्य, यतोऽनादिः प्रतिक्षणम्। पर्यायेण तदेकस्मिन्, द्रव्यवेदे हि सत्यपि ॥४॥ संख्यातीता हि भेदाः स्युस्तस्य सिद्धान्तसिद्धितः। तेषामन्तर्गताः केचिच्छद्मस्थानां प्रतीतये(तिदाः) ॥५॥ यथा पित्तादयो दोषाः, सर्वजन्तुगता अपि। उत्कटत्वविहीनास्तु, न भवेयुर्विबाधकाः ॥६॥ कषायस्योदये यद्वद्, व्यपदेशो न मन्दके। भाववेदोदयेऽप्येवं, व्यपदेशो न बाधनम् ॥७॥ द्रव्यवेदाच्च निर्देशस्त्रिविधो लिङ्गिनां भवेत्। तत्त्वतो न भवत्येव, सूक्ष्मादीनामसावपि ॥८॥ सत्यपि हि द्रव्यवेदे, नासौ भावस्य कारणम्। दग्धरज्जुवदाकारमात्रत्वाद् व्यवहारतः ॥९॥ उच्यते द्रव्यवेदो हि, नासावत्रोररीकृतः। सति वेदोदये तस्माद्विद्यते चरणत्रयम् ॥१०॥ इति गाथार्थः ॥३०॥

(मलय०)—यावद्बादरोऽनिवृत्तिबादरसम्परायत्वं तावज्जीवाः सर्वेऽपि त्रिषु वेदेषु स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणेषु, तथा त्रिष्वपि च संपरायेषु क्रोधमानमायारूपेषु द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति? त्रिषु वेदेषु, त्रिषु च क्रोधमानमायारूपेषु संपरायेषु मिथ्यादृष्ट्यादीन्यनिवृत्तिबादरसंपरायपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति। एवमन्यत्रापि भावना द्रष्टव्या। तथा लोभे यावत्सूक्ष्मः सूक्ष्मसंपरायस्तावत्सर्वेऽपि जीवा मिथ्यादृष्टिप्रभृतयो वेदितव्याः। यावत् 'सम्मो' त्ति–अविरतसम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपि लेश्या भवन्ति ॥३०॥

अपुव्वाइसु सुक्का नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं। मीसो एगो चउरो असंजया संजया सेसा ॥३१॥

(स्वो०)—'अपूर्वादिषु शुक्ला नास्त्ययोगिनि तिस्रः शेषाणां मिश्र एकश्चत्वारोऽसंयताः संयताः शेषाः' इति पदानि। पदार्थस्तु–अपूर्वकरणादिषु गुणस्थानेषु शुक्ललेश्या भवति। अयोगिस्थानं लेश्यावर्जितम्। 'शेषाणा'मिति–शेषेषु देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु तिस्रः शुभलेश्या भवन्ति। 'मिश्रो'–व्यामिश्रः, स च संयमं प्रत्येको–देशविरताख्यः, चत्वारोऽसंयता मिथ्यादृष्ट्याद्याः, संयताः 'शेषाः'–प्रमत्तादिनवगुणस्थानकजीवाः, आधाराधेयव्यत्यासकरणादेतद् ज्ञापयति–यदुत शुक्लैव येषु गुणेष्वाधारभूमिषु लेश्या तेषां क्रमेणोभयश्रेण्योरपि गुणवृद्धिर्भवति प्रतिपततां त्वनियमः, शेषगुणानां क्रमोत्क्रमेऽप्यनियमः। योगदर्शनज्ञानद्वाराणि तूक्तान्येव, नाभिधीयन्त इति गाथार्थः ॥३१॥

(मलय०)—अपूर्वादिषु–अपूर्वकरणादिषु गुणस्थानकेषु 'सुक्का'त्ति–एका शुक्ललेश्या भवति, न शेषा लेश्याः। तथा अयोगिनि–अयोगिकेवलिगुणस्थानके सापि शुक्ललेश्या नास्ति, अलेश्यत्वादयोगिकेवलिनाम्। तथा शेषाणां देशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतानां तिस्रस्तेजःपद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति। सूत्रे तु 'तिन्नि त्ति' नपुंसकनिर्देशः प्राकृतलक्षणात्। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे–'लिंगं व्यभिचार्यपि।' इदं च लेश्यात्रयं देशविरतादीनां देशविरत्यादिप्रतिपत्तिकाले द्रष्टव्यं, अन्यथा षडपि लेश्याः। उक्तं च–सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्त्तन्तेऽपीति। तथा योगे मनोवाक्कायरूपेऽऽयोगिकेवलिवर्ज्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि। मतिश्रुतावधिज्ञानेष्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि। मनःपर्यायज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहान्तानि सप्त गुणस्थानकानि। केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः संयोग्ययोगिकेवलिलक्षणं गुणस्थानकद्विकम्। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रलक्षणानि त्रीणि गुणस्थानकानि। चक्षुरचक्षुर-

वधिदर्शनेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणमोहान्तानि द्वादश गुणस्थानकानीति स्वधिया भावनीयम् । तथा मिश्रो-व्यामिश्रः संयमं प्रत्येको देशविरत इत्यर्थः, चत्वारो मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयताः, शेषाश्च संयताः, तत्र प्रमत्ताप्रमत्ताः सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयमसंभविनः, अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरौ सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमसंभविनौ, सूक्ष्मसंपराये सूक्ष्मसंपरायसंयमः, उपशांतमोहक्षीणमोहसयोग्ययोगिकेवलिनो यथाख्यातचारित्रिणः ॥३१॥

अब्भविएसु पढमं सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु । सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असण्णीवि ॥३२॥

(स्वो०)—'अभव्येषु प्रथमं सर्वाणीतरेषु द्वे असंज्ञिषु संज्ञिषु द्वादश केवली नो संज्ञी नाप्यसंज्ञीति' पदानि । पदार्थस्तु-अभव्येषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं भवति। सर्वाण्यशेषाणीतरेषु-भव्येषु । द्वे स्थाने असंज्ञिषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनाख्ये भवतः । संज्ञिषु द्वादश मिथ्यात्वादिस्थानानि भवन्ति, यतः-केवली योगी अयोगी च न संज्ञी नाप्यसंज्ञीति गाथार्थः ॥३२॥

(मलय०)—अभव्येषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं, इतरेषु च भव्येषु सर्वाणि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यन्तानि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति । तथाऽसंज्ञिषु संज्ञिवर्जितेषु द्वे मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणे गुणस्थानके । तत्र सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं लब्धिपर्याप्तस्य करणापर्याप्तावस्थायां वेदितव्यम् । तथा संज्ञिनि सयोग्ययोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि द्वादश गुणस्थानकानि । ये तु सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानके ते तत्र न संभवतः, सयोग्ययोगिकेवलिनोः संज्ञित्वायोगात् , तदयोगश्च मनोविज्ञानाभावात् । न चाप्येकान्तेन तयोरसंज्ञित्वं द्रष्टव्यम् , द्रव्यमनोपेक्षया संज्ञित्वस्यापि व्यवहारात् । तथा चाह-केवलिनौ न संज्ञिनौ मनोविज्ञानाभावात् , नाप्यसंज्ञिनौ द्रव्यमनःसम्बन्धापेक्षया संज्ञित्वव्यवहारात् । उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—"मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण

सन्निणो वुच्चंति । मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति त्ति ॥" ॥३२॥

अपमत्तुवसन्तअजोगि जाव सव्वेवि अविरयाईया । वेयगउवसमखाइयदिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥३३॥

(स्वो०)—'अप्रमत्तोपशान्तायोगिनो यावत्सर्व्वेऽप्यविरताद्या वेदकोपशमक्षायिकसम्यग्दृष्टयः क्रमशो मन्तव्याः' इति पदानि । पदार्थस्तु-यथासङ्ख्येनात्र योजना, अविरतादयोऽप्रमत्तान्ता वेदकसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। अविरतादय उपशान्तकषायान्ता औपशमिकसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। अविरतादयोऽयोग्यन्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। अमुना क्रमेण मन्तव्या इति गाथार्थः ॥३३॥

(मलय०)—इह यथासंख्येन पदयोजना कर्त्तव्या। सा चैवं-अविरतादयोऽप्रमत्तान्ता वेदकसम्यग्दृष्टयः, अविरतादय उपशान्तमोहान्ता औपशमिकसम्यग्दृष्टयः,अविरतादयोऽयोगिपर्यन्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, क्रमशः क्रमेण यथासंख्यरूपेणोक्तलक्षणेन मन्तव्याः । किमुक्तं भवति ? वेदसम्यक्त्वेऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीन्यप्रमत्तपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि । औपशमिकसम्यक्त्वे त्वविरतादीन्युपशान्तमोहपर्यन्तानि अष्टौ गुणस्थानकानि। क्षायिकसम्यक्त्वे अविरतादीनि अयोगिपर्यन्तानि एकादश गुणस्थानकानि । मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रेषु पुनः स्वं स्वमेव गुणस्थानं, एतच्चानुक्तमपि सामर्थ्यादवसीयते इति नोक्तम् ॥३३॥

आहारगेसु तेरस पंच अणाहारगेसु वि भवंति। भणिया जोगुवयोगाण मग्गणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

॥ इति पञ्चसङ्गहपढमं दारं सम्मत्तं ॥

(स्वो०)—'आहारकेषु त्रयोदश पञ्चानाहारकेष्वपि भवन्ति, भणिता योगोपयोगानां मार्गणा बन्धकान् भणामः' इति पदानि, पदार्थस्तु-'आहारकेषु' आहारकजीवेषु त्रयोदश गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्याद्यानि सयोगिपर्यन्तानि भवन्ति । पञ्चानाहारकेष्वपि

मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरतसयोग्ययोगिस्थानानि भवन्ति। अयोगी स्वकालं, सयोगिकेवली समुद्घाते समयत्रयं सम्यग्दृष्टिस्तु विग्रहे समयमेकं, मिथ्यादृष्टिसास्वादनौ विग्रहे एकं द्वौ त्रयान्वा समयान्। भणिता योगोपयोगानां मार्गणा—अन्वेषणा, साम्प्रतं बन्धकान् भणामः, इति गाथार्थः ॥३४॥

॥ समाप्तं योगोपयोगमार्गणाद्वारं प्रथमम्। इति ग्रन्थशतचतुष्कम् (४००)॥

(मलय०)—आहरकेष्वयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतसम्यग्दृष्टि-सयोग्ययोगिकेवलिलक्षणानि पंच गुणस्थानकानि। तत्र सयोगिकेवलिगुणस्थानकमनाहारके समुद्घातावस्थायां, शेषाणि सुप्रतीतानि। तदेवं भणिता योगोपयोगमार्गणा। संप्रति बन्धकान् भणामः, 'वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वेति' भविष्यति वर्त्तमानात्, ततोऽयमर्थः भणिष्यामः प्रतिपादयिष्यामः ॥३४॥

॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसंग्रहटीकायां योगोपयोगमागणाभिधानं प्रथमं द्वारं समाप्तम् ॥

समाप्तमिदं पञ्चसंग्रहटीकायां योगोपयोगमार्गणाभिधानं प्रथमं द्वारं।

॥४२॥

अथ द्वितीयं द्वारम् ।

चउदसविहा वि जीवा विबंधगा तेसिमंतिमो भेओ। चोद्दसहा सव्वे वि हु किमाइसंताइपयनेया ॥१॥

(स्वो०)—'चतुर्दशविधा अपि जीवा विबन्धकास्तेषामन्तिमो भेदः चतुर्दशधा सर्वेऽपि किमादिसदादिपदज्ञेयाः' इति पदानि। पदार्थस्तु–चतुर्दशविधाः–चतुर्दशभेदा अपि जीवाः जीवस्थानेषु समाश्रिताः, विशेषेण बन्धका विबन्धका अष्टविधस्य कर्मणो ज्ञेया इति क्रिया सर्वत्र सम्बन्धनीया, तेषामन्तिमो भेदः कर्तृत्व(तया)विवक्षितः संज्ञिपर्याप्तकाख्यश्चतुर्दशधा–चतुर्दशप्रकारश्चतुर्दशगुणस्थानभेदो ज्ञेयः, सर्वेऽप्येतेऽनन्तरोक्ताः पूर्वोक्ताश्च किमादिकैः सत्पदादिकैश्च पदैर्ज्ञेया–ज्ञातव्याः। हुरवधारणे, किमवधारयति, अन्तिम एव चतुर्दशधा भवति, अन्ये त्वेकद्वित्रिगुणा एव, तत्रैकगुणाः सर्वे मिथ्यादृष्टयो, द्विगुणा के(च)न करणापर्याप्तकाः, यतः करणापर्याप्तकेषु सूक्ष्मरहितेषु सास्वादनोऽपि लभ्यते, त्रिगुणस्तु संज्ञी करणापर्याप्तको, यतस्तत्राविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवतीति गाथार्थः ॥१॥

(मलय०)—प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–चतुर्दशविधा अपि चतुर्दशप्रकारा अपि जीवाः प्रागुक्तस्वरूपा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादयो विबन्धका ज्ञेयाः, विशेषेण बन्धका विबन्धका अष्टप्रकारस्य कर्मण इति शेषः। तेषां चतुर्दशविधानां जीवानामन्तिमो भेदः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्यश्चतुर्दशधा–चतुर्दशप्रकारो मिथ्यादृष्ट्यादिभेदादवसेयः। सर्वेऽपि चैतेऽनन्तरोक्ता अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादयो मिथ्या-

दृष्ट्यादयश्च किमादिकैः पदैः सत्पदादिकैश्च प्ररूप्यमाणा यथावद् ज्ञातव्याः ॥१॥

इदानीं किमादिपदैर्निरूपयन्नाह—

किं जीवा उवसमाइएहिं भावेहिं संजुयं दव्वं। कस्स सरूवस्स पहू केणंति न केणइ कया उ ॥२॥

(स्वो०)—'किं जीवाः? उपशमादिभिर्भावैः संयुतं द्रव्यं, कस्य? स्वरूपस्य प्रभवः, केनेति? न केनचित्कृतास्तु' पदानि। पदार्थस्तु-किं जीवाः? इत्येवं पृष्टे उपशमादिभिर्भावैः संयुतं द्रव्यं जीवा अभिधीयन्ते। कस्येत्येवं पृष्टे स्वरूपस्य-आत्मीयरूपस्य प्रभवः-स्वामिनो भवन्ति। केन कृताः? इति पृष्टे न केनचित्कृता-न केनचिद्विहिताः, स्वाभाविकस्वरूपावस्थितत्वात्। तुशब्दस्तेषां नित्यत्वावधारणार्थ एव, अत्राह-किमर्थमौदयिकपारिणामिकक्षायिकान् परित्यज्यौपशमिकभावोपन्यास इति? उच्यते-औदयिकपारिणामिकौ भावावजीवानामपि भवतः, अयन्तु जीवलक्षणमधिकृत्योक्तः, क्षायिकस्य (क्षायोपशमिकस्य) चौपशमिकपूर्वकत्वादयमेव युक्तियुक्त इति गाथार्थः ॥२॥

(मलय०)—तत्र 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्प्रथमतः किमादिपदैः प्ररूपणां चिकीर्षुराह—किं जीवाः? किं नाम जीवा इत्यभिधीयते? एवं परेण प्रश्ने कृते सति सूरिरुत्तरमाह—उपशमादिभिः, उपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संयुतं-सन्मिश्रं द्रव्यम्। आह—औदयिकादीन् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम्? उच्यते—इह जीवस्य स्वरूपं पृष्टेन सता तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम्। एवं हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत्प्रतिपादितं भवति, नान्यथा। औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वकः, न खल्वौपश-

मिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद्भावादत्यन्तभेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति । ततः 'कस्य प्रभवः—स्वामिनो जीवाः ?' इति प्रश्ने कृते सति उत्तरं—स्वरूपस्य—आत्मीयस्य रूपस्य, निश्चयनयमतमेतत् । तथाहि—कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभवः, किंतु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात् । यस्तु स्वस्वामिभावः संसारे स कर्मोपाधीजनितत्वादौपाधिको न पारमार्थिक इति । तथा केन कृता जीवाः ? इति प्रश्ने कृते सति समाधिर्न केनचित्कृताः, किंतु नभस्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवानां तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सप्रपञ्चमभिहितमिति नेह भूयोऽभिधीयते ग्रन्थगौरवभयात् ॥२॥

कत्थ ? सरीरे लोए व हुंति केवचिर ? सव्वकालं तु । कइ भावजुया जीवा ? दुगतिगचउपंचमीसेहिं ॥३॥

(स्वो०)—'कुत्र ? शरीरे लोके वा भवन्ति, कियच्चिरं ? सर्वकालमपि, कतिभावयुता जीवा ? द्विकत्रिकचतुष्पञ्चमिश्रैरिति पदानि । पदार्थस्तु—'कुत्र' कस्मिन् स्थाने जीवाः ? इत्येवं पृष्टे शरीरे—औदारिकादिपञ्चप्रकारे प्रागुक्ता बन्धका भवन्ति । वाशब्दश्चशब्दार्थः, बन्धकाश्च अबन्धकाश्च लोके जीवा भवन्ति । 'कियच्चिर'मित्येवं पृष्ट सर्वकालमपि । कतिभावयुता जीवा ? इति पृष्टे केचिद् द्वाभ्यां क्षायिकपारिणामिकाभ्यां, ते च सिद्धाः, केचित् त्रिभिरौदयिकपारिणामिकक्षायोपशमिकैरेकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रिया भवन्ति, केचिच्चतुर्भिरेतैरेव त्रिभिः सौपशमिकैः, औपशमिकसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिकाः पञ्चेन्द्रिया भवन्ति, अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टयः क्षायिकचतुर्थभावयुक्ताः भवन्ति, केचित् पञ्चभावयुक्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टय उपशमश्रेण्यन्तर्गता औपशमिकचारित्रवन्तो भवन्ति । शुद्धभावाः पञ्चैवैते, तेषामेव सन्निपातान्मिश्रः षष्ठो भेदो भवतीति गाथार्थः ॥३॥

(मलय)—कुत्र जीवा अवतिष्ठन्ते ? इति प्रश्ने कृते सत्युत्तरमाचार्य आह—शरीरे लोके वा, तत्र सामान्यचिन्तायां लोके नालोके, अलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसंभवात्। विशेषचिन्तायां शरीरे नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशानां क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगमभावात्। उक्तं च—"अन्नोन्नमणुगयाइ इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं। जह खीरपाणीयाइं ति।" तथा 'केवचिर'त्ति—कियच्चिरं कियत्कालं जीवा भवन्तीति प्रश्ने कृते सत्युत्तरं—सर्वकालमेव, तुरेवकारार्थः, इह 'केणं ति न केणई कया उ' इत्यनेन ग्रन्थेन पूर्वं जीवानामनादित्वमावेदितं, इदानीं त्वनिधनत्वं, ततश्चानादिनिधना जीवा इति द्रष्टव्यम्। तथा च सति मुक्त्यवस्थामधिगता अपि जीवा न विनश्यन्ति किंतु ज्ञानादिके स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्ते इति श्रद्धेयम्। तेन यत्कैश्चिदुच्यते—"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न कांचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्ति ॥१॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नांतरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥२॥" तथा—"अर्हन्मरणचित्तस्य प्रतिसंधिर्न विद्यते। प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेतस ॥३॥" इति तदपास्तमवसेयम्, सतः सर्वथाविनाशायोगात् तथादर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन, माभूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा। तथा कतिभिरुपशमादिभिर्भावैर्युताः—संयुक्ता जीवाः ? इति प्रश्ने कृते सति उत्तरमाह—द्विकत्रिकचतुःपञ्चमिश्रैः। ननु के उपशमादयो भावाः ? किं वा तेषां द्विकादिकमिति ? उच्यते—इह भावाः षट्, तद्यथा—औदयिक औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिकः सान्निपातिकश्च। तत्रौदयिको द्विधा, उदय उदयनिष्पन्नश्च। तत्राष्टानां कर्मणां यथास्वमुदयप्राप्तानामात्मीयात्मीयस्वरूपेणानुभवनमुदयः, उदय एव औदयिकः। विनयादेराकृतिगणतयोदयशब्दस्य तन्मध्यपाठाभ्युपगमात्, 'विनयादिभ्य' इति स्वार्थे इकण्प्रत्ययः, एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। उदयनिष्पन्नो द्विधा, जीवविषयोऽजीवविषयश्च। तत्र चेयं

शब्दव्युत्पत्तिः, उदयेन निर्वृत्त औदयिकः, जीवविषयश्चौदयिको भावो नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपः। तथाहि—नारकत्वादयो भावा जीवस्य नरकगत्यादिकर्मोदयसंपादितसत्ताकाः, न स्वाभाविकाः। तथा चोक्तमार्षे—'से किं तं उदइए? उदइए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—उदइए उदयनिप्फन्ने य। से किं तं उदइए? उदइए अट्ठण्हं कम्मपगडीणमुदए से तं उदइए। से किं तं उदयनिप्फन्ने? तं दुविहे पन्नत्ते, तंजहा-जीवोदयनिप्फन्ने अजीवोदयनिप्फन्ने य। से किं तं जीवोदयनिप्फन्ने? जीवोदयनिप्फन्ने अणेगविहे पन्नत्ते, तंजहा—नेरइए, तिरिक्खजोणिए, मणुसे, देवे, पुढविकाइए, आउकाइए, तेउकाइए, वाउकाइए, वणस्सइकाइए, तसकाइए, कोहकसाई, माणकसाई, मायाकसाई, लोभकसाई, इत्थिवेयए, पुरिसवेयए, नपुंसकवेयए, कण्हलेसे, नीललेसे, काउलेसे, तेउलेसे, पम्हलेसे, सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठी, अविरए, अन्नाणी, आहारए, छउमत्थे, सयोगी, संसारत्थे, असिद्धे इति।" अत्र जीवोदयनिष्पन्न इति जीवे आधारभूते कर्मणामुदयेन निष्पन्नो जीवोदयनिष्पन्न इति द्रष्टव्यम्। अजीवविषयस्त्वौदारिकादिशरीरविषयः। तथाहि—औदारिकादिशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमौदारिकादिशरीररूपतापरिणतिः शरीरे वर्णादिपरिणतिश्च, न कर्मोदयमन्तरेण भवतीत्यौदारिकादिपरिणतिरौदयिको भावः। तथा औपशमिको भावो द्विधा, उपशम उपशमनिष्पन्नश्च। तत्रोपशमो भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था प्रदेशतोऽपि उदयाभाव इति यावत्। सचेत्थं भूत उपशमः सर्वोपशम उच्यते. स च मोहनीयस्यैव कर्मणो न शेषस्य, 'सव्वुवसमगा मोहस्सेव उ' इति वचनप्रामाण्यात्। तत्र चैवं शब्दव्युत्पत्तिः—उपशम एव औपशमिकः स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः। उपशमनिष्पन्नस्तु क्रोधाद्युदयाभावफलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः परिणामविशेषः। तत्र चैवं शब्दव्युत्पत्तिः-उपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः। स चानेकप्रभेदस्तद्यथा—उपशान्तवेदः, उपशान्तक्रोधः, उपशान्तमानः, उपशान्तमायः, उपशान्तलोभः, उपशान्तदर्शनमोहनीयः, उपशान्तचारित्रमोहनीयः। क्षायिकोऽपि भावो द्विधा, क्षयः क्षयनिष्पन्नश्च। तत्र क्षयः कर्मणामभावः, क्षय एव क्षायिकः। क्षयनिष्पन्नस्तु तत्कर्माभावफलरूपो वि-

चित्रो जीवस्य परिणतिविशेषः, तद्यथा-केवलज्ञानित्वं, केवलदर्शनित्वं, क्षीणमतिज्ञानावरणत्वं, क्षीणश्रुतज्ञानावरणत्वं, यावत्क्षीणवीर्यान्तरायत्वं, मुक्तत्वमिति। क्षायोपशमिकोऽपि भावो द्विधा, तद्यथा-क्षयोपशमः क्षयोपशमनिष्पन्नश्च। तत्रोदीर्णस्यांशस्य क्षयः,अनुदीर्णस्य चांशस्य विपाकमधिकृत्योपशमः क्षयोपशमः। स च चतुर्णां घातिकर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायरूपाणामवसेयः नान्येषां, क्षयोपशम एव क्षायोपशमिकः। क्षयोपशमनिष्पन्नस्तु घातिकर्मक्षयोपशमसंपाद्यो मतिज्ञानादिलब्धिरूप आत्मनः परिणामविशेषः। तथा चोक्तमार्षे—"से किं तं खओवसमनिप्फन्ने? खओवसमनिप्फन्ने अणेगविहे पन्नत्ते, तंजहा—खओवसमिया आभिणिबोहियनाणलद्धी, एवं सुयनाणलद्धी, ओहिनाणलद्धी, मणपज्जवनाणलद्धी, खओवसमिया मइअन्नाणलद्धी, खओवसमिया सुयअन्नाणलद्धी, खओवसमिया विभंगनाणलद्धी, खओवसमिया सम्मदंसणलद्धी, खओवसमिया सम्ममिच्छदंसणलद्धी, खओवसमिया सामाइयलद्धी, खओवसमिया छेओवट्ठावणलद्धी, एव परिहारविसुद्धियलद्धी, सुहुमसंपरायलद्धी, खओवसमिया चरित्ताचरित्तलद्धी, खओवसमिया दाणलद्धी, खओवसमिया लाभलद्धी, एवं भोगलद्धी, उवभोगलद्धी, खओवसमिया वीरियलद्धी, खओवसमिया पंडियवीरियलद्धी, एवं बालवीरियलद्धी, बालपंडियवीरियलद्धी, खओवसमिया सोइंदियलद्धी, एवं चक्खुइंदियलद्धी, घाणिंदियलद्धी, जिब्भिंदियलद्धी, फासिंदियलद्धी इत्यादि"। तथा परिणमनं परिणामः। कथंचिदवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरावस्थागमनम्। उक्तं च—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानं। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥" परिणाम एव पारिणामिकः, स च साद्यनादिभेदाद् द्विधा। तत्र ये गुडघृततण्डुलासवघटादीनां नवपुराणत्वादयोऽवस्थाविशेषाः, ये च वर्षधरपर्वतभवनविमानकूटरत्नप्रभादीनां पुद्गलविचटनचटनसंपाद्या अवस्थाविशेषाः, यानि च गंधर्वनगराणि, यच्च कपिहसितमुल्कापातो गर्जितं महिका दिग्दाहो विद्युत् चंद्रपरिवेषः सूर्यपरिवेषः चन्द्रसूर्यग्रसनमिन्द्रधनुरित्यादि, स सर्वः सादिः पारिणामिको भावः। अनादिपारिणामिकस्तु लोकस्थितिरलोकस्थि-

तिर्भव्यत्वमभव्यत्वं जीवत्वं धर्मास्तिकायत्वमित्यादिरूपः। तथा सन्निपतनं सन्निपातो मिलनं तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः। औदयिकादिभावद्वयादिसंयोगनिष्पाद्योऽवस्थाविशेष इत्यर्थः। तत्र च सामान्यतः षड्विंशतिभङ्गा उत्पद्यन्ते। तद्यथा—दश द्विकसंयोगे दश त्रिकसंयोगे, पञ्च चतुःसंयोगे, एकः पञ्चकसंयोगे इति। अथ कथं दश द्विकसंयोगे भङ्गा उत्पद्यन्ते? उच्यते–औदयिक औपशमिक इत्येको भङ्गः, औदयिकः क्षायिक इति द्वितीयः, औदयिकः क्षायोपशमिक इति तृतीयः, औदयिकः पारिणामिक इति चतुर्थः, औपशमिकः क्षायिक इति पञ्चमः, औपशमिकः क्षायोपशमिक इति षष्ठः, औपशमिकः पारिणामिक इति सप्तमः, क्षायिकः क्षायोपशमिक इत्यष्टमः, क्षायिकः पारिणामिक इति नवमः, क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति दशमः। अथ कथं दश त्रिकसंयोगे भङ्गा उत्पद्यन्ते? उच्यते–औदयिक औपशमिकः क्षायिक इत्येको भङ्गः, औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिक इति द्वितीयः, औदयिक औपशमिकः पारिणामक इति तृतीयः, औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक इति चतुर्थः, औदयिकः क्षायिकः पारिणामिक इति पञ्चमः, औदयिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति षष्ठः, औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक इति सप्तमः, औपशमिकः क्षायिकः पारिणामिक इत्यष्टमः, औपशमिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति नवमः, क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति दशमः। अथ कथं पञ्च चतुष्कसंयोगे भङ्गाः? इति चेद्, उच्यते—औदयिक औपशमिक क्षायिकः क्षायोपशमिक इत्येको भङ्गः, औदयिक औपशमिकः क्षायिकः पारिणामिक इति द्वितीयः, औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति तृतीयः, औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति चतुर्थः, औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति पञ्चमः। षड्विंशतितमस्तु भङ्गः पञ्चकसंयोगे जायमानः सुप्रतीत एव। एते च षड्विंशतिभङ्गा भङ्गरचनामात्रमधिकृत्य दर्शिता वेदितव्याः, संभविनः पुनरेतेषु भङ्गेषु मध्ये

परमार्थतः षडेव। तद्यथा–एको द्विकसंयोगे, द्वौ त्रिकसंयोगे, द्वौ चतुष्कसंयोगे, एकः पञ्चकसंयोगे। शेषास्तु विंशतिरप्यसंभविनः। तत्र द्विकसंयोगे एको भङ्गो नवमः संभवति, तद्यथा–क्षायिकः पारिणामिक इति। एष च सिद्धानधिकृत्य वेदितव्यः, तत्र क्षायिको भावः क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानादि, पारिणामिको जीवत्वम्। त्रिकसंयोगे एको भङ्गः पञ्चमः संभवति, तद्यथा–औदयिकः क्षायिकः पारिणामिकः। तत्रौदयिकं मनुष्यत्वादि, क्षायिकं केवलज्ञानादि, पारिणामिके जीवत्वभव्यत्वे, एष भंगः केवलिनो वेदितव्यः। द्वितीयस्तु त्रिकसंयोगे भङ्गः षष्ठः संभवति, तद्यथा—औदयिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति। एष भङ्गश्चतुर्गतिकानपि संसारिणोऽधिकृत्य वेदितव्यः। तत्रौदयिको नारकत्वादिपर्यायः, क्षायोपशमिक इन्द्रियमत्यज्ञानादि, पारिणामिको जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं च। अत एवष भङ्गो गतिभेदाच्चतुर्धा भिद्यते, तद्यथा—निरयगतावौदयिकं नैरयिकत्वं, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिकं जीवत्वादि। तिर्यग्गतावौदयिकं तिर्यग्योनित्वं क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि पारिणामिकं जीवत्वादि। एवं देवमनुष्यगत्योरपि भावना कार्या। अमीषामेव त्रयाणां भावानां मध्ये यदा क्षायिको भावश्चतुर्थः प्रक्षिप्यते तदा चतुष्कसंयोगो भवति। एवं चाभिलपनीयः, औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः परिणामिकः। एष चतुष्कसंयोगे चतुर्थो भङ्गः। अयं चास्य भावार्थः—औदयिकं मनुष्यत्वादि, क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, परिणामिकं जीवत्वादि। एषोऽपि गतिभेदात्प्राग्वच्चतुर्धाऽवगन्तव्यः। अथत्रा क्षायिकभावस्थाने औपशमिको भावः प्रक्षिप्यते, एवं चाभिलापः–औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिकः। एष चतुष्कसंयोगे तृतीयो भङ्गः। एषोऽपि गतिभेदात्प्रागिव चतुर्धा भावनीयः—नवरमौपशमिकं सम्यक्त्वमवगन्तव्यम्। पञ्चकसंयोगे तु भङ्ग उपशमश्रेण्यामेवोपपद्यते नान्यत्र, स चैवमभिलपनीयः–औदयिक औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिकः। अस्यायं भावार्थः–औदयिकं मनुष्यत्वादि, औ-

पशमिकमुपशान्तकषायत्वं, क्षायिकं सम्यक्त्वं, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिकं जीवत्वादि । तदेवमवान्तरभङ्गभेदापेक्षया सर्वे भङ्गाः सम्भविनः पञ्चदश । तथा चोक्तं—"उदइय खओवसमियपरिणामेक्केक्कु गइचउक्के वि । खयजोगेण वि चउरो तदभावे उवसमेणं च ॥१॥ उवसमसेढि एक्को केवलिणो वि य तहेव सिद्धस्स । अविरुद्धसन्निवाइयभेया एमेए पन्नरस ॥२॥" तदेवं पञ्चदशभङ्गापेक्षया द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकरूपैरपि मान्निपातिकैर्भावैर्युता जीवाः प्राप्यन्ते । तथा चाह—'दुगतिगचउपंचमीसेहिं' द्विकत्रिकचतुःपञ्चरूपाश्च ते मिश्राश्च सान्निपातिका द्विकत्रिकचतुःपञ्चमिश्रास्तैः ॥३॥

'कत्थ सरीरे' इत्यवयवं प्रत्येकं व्याख्यातुकाम आह सूत्रकारः—

सुरनेरइया तिसु तिसु वाउपणिंदीतिरिक्ख चउ चउसु । मणुया पंचसु सेसा तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥४॥

(स्वो०)—'सुरनारकास्त्रिषु त्रिषु वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः चतुश्चतुर्षु मनुजाः पञ्चसु शेषास्त्रिषु तनुष्वविग्रहाः सिद्धाः' इतिपदानि । पदार्थस्त्वयम्—सुरनारकजीवास्त्रिषु त्रिषु तैजसकार्मणवैक्रियाख्येषु शरीरेषु भवन्ति, वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्चतुःचतुर्षु पूर्वोक्तेषु त्रिषु सौदारिकेषु भवन्ति, मनुजाः पञ्चसु सम्पूर्णेषु, शेषा—एकद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्त्रिषु त्रिषु तैजसकार्मणौदारिकेषु भवन्ति, अविग्रहा—विग्रहरहिताः सिद्धा भवन्ति । अत्राह—पूर्वं योगानभिदधता सप्त शरीराणि तैजसप्राधान्येनोक्तानीह तु(स)तैजसान्यपि पञ्चेति, कथं न विरोध इति ? अत्रोच्यते—बन्धहेतुत्वमङ्गीकृत्य मिश्रसम्पूर्णान्यप्यविशेषेण प्रधानान्यनुसमयबन्धकत्वाज्जीवस्योक्तानि, अत्र तु पञ्चैव बध्यन्ते न तु मिश्राणि, अस्यार्थस्य प्राधान्यख्यापनार्थं पञ्चानामेव ग्रहणं, तानि च सतैजसान्येव भवन्तीत्यविरोध इति गाथार्थः ॥४॥

(मलय०)—इह प्राक् शरीरे जीवा अवतिष्ठन्ते इत्युक्तं, तत्र ये जीवा यावत्सु शरीरेषु सम्भवन्ति, तान् तावत्सु प्रतिपादयन्नाह—

सुरा नैरयिकाश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु तनुषु शरीरेषु वर्त्तन्ते। तद्यथा—तैजसे कार्मणे वैक्रिये च। तथा वायवो वातकायास्तथा पञ्चेन्द्रि-
यतिर्यञ्चः प्रत्येकं चतसृषु चतसृषु तनुषु सम्भवन्ति। तत्र त्रीणि शरीराणि पूर्वोक्तान्येव, चतुर्थं त्वौदारिकमवगन्तव्यम्। वैक्रियं च
वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च वैक्रियलब्धिमतामवसेयम्, न सर्वेषामविशेषेण। तथा मनुजा मनुष्याः पञ्चस्वपि तनुषु सम्भव-
न्ति। तद्यथा—औदारिके वैक्रिये आहारके तैजसे कार्मणे च। तत्र वैक्रियं वैक्रियलब्धिमतां, आहारकं चतुर्दशपूर्ववेदिनां, औदारिकतै-
जसकार्मणानि सुप्रतीतानि। शेषास्त्वेकद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु औदारिकतैजसकार्मणरूपासु तनुषु वेदि-
तव्याः। सिद्धा व्यपगतसकलकर्ममलकलङ्काः पुनरविग्रहा विग्रहरहिता अशरीरा इत्यर्थः ॥४॥

साम्प्रतं सत्पदप्ररूपणामाह—

पुढवाईचउ चउहा साहारवणंपि संतयं सययं। पत्तेय पज्जपज्जा दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥५॥

(स्वो०)—'पृथिव्यादयश्चत्वारश्चतुर्द्धा, साधारणवनमपि सान्तकं सततं प्रत्येकपर्याप्तकापर्याप्तका द्विविधाः शेषास्तूपपन्नाः' इति
पदानि, पदार्थस्त्वयम्—पृथिवीजलाग्निवायवश्चत्वारः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्द्धा—चतुष्प्रकारा भवन्ति, साधारणवनमप्येवमेव
चतुर्द्धा, सततमनवरतं द्विधा प्रागुत्पन्नमुत्पद्यमानकं च भवति, प्रत्येकपर्याप्तकापर्याप्तकवनस्पतिकायिकाः तुर्यपदे, तुशब्दस्यानेकार्थ-
॥४७॥ त्वाद्बादरा एव, ते चैवमेव भवन्ति। शेषा—द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियासंज्ञिपर्याप्तकाः (अपर्याप्तकाः)संज्ञिपर्याप्तकाश्च प्रागुत्पन्नाः सन्ति, उत्प- ॥४७॥
द्यमानकास्तु भाज्या इति वाक्यशेषः, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् संज्ञिनोऽपर्याप्तकाः प्रागुत्पन्नाः उत्पद्यमानकाश्च भाज्याः, यतस्तेषाम
न्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम्, उत्कृष्टतो द्वादश मुहूर्त्ता अन्तरं। आह—यद्येवं द्वित्रिचतुरसंज्ञ्यपर्याप्तकानामप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानं तदेवान्तर्मुहूर्त्तमन्तरं,

कस्मात्तेषां स्थानानि शून्यानि न भवन्ति? अत्रोच्यते—तेषामेव स्थानानामन्तर्मुहूर्त्तस्य बृहत्तरत्वात्। कथमेतदवसीयते? तेषां नित्यराश्यधिकारे नित्यराशिभिः सह यौगपद्यनिर्दिष्टत्वाज्जीवसमासे प्रज्ञापनायामपि पर्याप्तकापर्याप्तकोभयराशित्वेन प्रतिपादितत्वात्। संज्ञ्यपर्याप्तकराशेरनभिधानं कादाचित्कत्वात्, यच्च सम्मूर्च्छनमनुष्याणामनित्यानामपि सङ्ख्या प्रतिपादिता, सा चोत्कृष्टपदमाश्रित्य विशेषेणोक्ता, उत्कृष्टप्रतिपादनाच्चासम्भवजघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदाः ख्यापिता भवन्ति, एतेषां तु सामान्यकालिकप्रतिपादनाच्चानित्यत्वं सिद्धमिति गाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—तदेवं किमादिपदैः प्ररूपणा कृता, सम्प्रति सत्पदादिपदैः प्ररूपणा कर्त्तव्या। सत्पदादीनि च पदान्यमूनि—"संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य। कालो य अन्तरं भागभावअप्पाबहुं चेव ॥१॥" तत्र प्रथमतः सत्पदप्ररूपणां विदधाति—इह ये पृथिव्यादयश्चत्वारः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाः प्रत्येकं सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तभेदाच्चतुर्धा चतुष्प्रकाराः, सर्वभेदसंख्यया षोडशसंख्याः। ततो भूयः सर्वेऽपि प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा—प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च। प्रागुत्पन्नोत्पद्यमानता च प्रज्ञापकापेक्षया वेदितव्या। ते सर्वेऽपि सततमनवरतं 'संतयं ति' यथायोगं सर्वत्र वचनलिङ्गपरिणामेन सम्बध्यन्ते, सन्तो विद्यमानाः सर्वकालं सन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः। तथा साधारणवनमपि—साधारणवनस्पतयोऽपि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदभिन्नाः प्रत्येकं द्विधा। प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च सततं सन्तो विद्यमानाः सर्वेऽपि सर्वदैव सन्त इत्यर्थः। तथा पत्तेय इत्यादि' प्रत्येकबादरवनस्पतयः पर्याप्तापर्याप्ताश्च प्रत्येकं द्विधा, प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, सततं सन्तः सर्वकालं सन्तः प्राप्यन्ते इति यावत्। शेषास्तु द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पुनः पर्याप्ताः प्रागुत्पन्नाः सततं सन्तः, उत्पद्यमानकास्तु भाज्याः, तुशब्दस्यानेकार्थत्वात्

संज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तकाः प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च भाज्याः। कथमेतदवसीयते? इति चेत्, उच्यते–इह संज्ञिनां लब्ध्यपर्याप्तका-नामवस्थानमन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, तेषामायुषोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रत्वात्, अन्तरं चैतेषामुत्पत्तिमधिकृत्योत्कर्षतो द्वादशमुहूर्त्ताः, ततस्ते प्रागुत्पन्ना अपि सत्तायां भाज्याः। ननु द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि लब्ध्यपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्त्तायुषः, अन्तरमपि च तेषामन्तर्मुहूर्त्तमात्रमन्य-त्रोद्घुष्यते, ततः कथं तेऽपि प्रागुत्पन्ना भाज्या न भवन्ति? नैष दोषः, तेषामवस्थानस्य बृहत्तरान्तर्मुहूर्त्तप्रमाण त्वात्, तदायुषस्ताव-न्मात्रत्वात्। कथमिदमवसितमिति चेत्, उच्यते–ग्रन्थान्तरे नित्यराश्यधिकारे नित्यराशिभिः सह तेषां यौगपद्येनाभिधानात् ॥५॥

मिच्छा अविरयदेसा पमत्तअपमत्तया सजोगी य। सव्वद्धं इयरगुणा नाणाजीवेसु वि न होंति॥६॥

(स्वो०)—'मिथ्यादृष्टयोऽविरतदेशविरताः प्रमत्ताप्रमत्तकाः सयोगी च। सर्वाद्धां इतरगुणा नानाजीवेष्वपि न भवन्तीति' पदानि। पदार्थोऽधुना–मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः प्रमत्ता अप्रमत्तकाः सयोगिनश्च एते षड्गुणस्थानजीवाः सर्वाद्धां–सर्वकालं सन्तो भवन्ति। 'इतरगुणाः' शेषगुणस्थानजीवा 'नानाप्रकारेष्वपि' सर्वजीवेष्वप्यन्विष्यमाणाः सर्वकालं न भवन्तीति गाथार्थः ॥६॥

(मलय०)—तदेवं चतुर्दशविधान् सत्पदप्ररूपणया प्ररूप्य सांप्रतमेतेषामेवान्तिमो भेदश्चतुर्दशप्रकारः सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयितव्यः, स च चतुर्दशधा गुणस्थानकभेदाद्भवति, ततो गुणस्थानकान्येव सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयति–मिथ्यादृष्टयविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तस-योगिकेवलिलक्षणानि षट् गुणस्थानकानि सर्वाद्धं सर्वकालं विद्यन्ते, इतराणि–शेषाणि 'गुण' त्ति–गुणस्थानकानि सास्वादनसम्यग्मि-थ्यादृष्टयपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशांतमोहक्षीणमोहायोगिकेवलिलक्षणान्यष्टसंख्याकानि नानाजीवेष्वपि, आस्तामेकस्मिन् जीवे इत्यपि शब्दार्थः, न सर्वकालं भवन्ति, न सर्वकालं विद्यमानानि प्राप्यन्ते इत्यर्थः, किंतु कदाचिदेव। यदापि च सासादनादयः

प्राप्यन्ते, तदापि कदाचिदेकका:, कदाचिद्बहवः । बहुत्वं च प्रतिनियत प्रत्येकमग्रे वक्ष्यति ॥६॥

षड् गुणस्थानानि सदैव सन्ति, शेषाणि–सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मकषायोपशान्तक्षीणकषायायोगिगुणस्थानानि तु क्वचिद् भवन्ति क्वचिन्नेति, तेषां चैकानेकभेदाद् द्विधोत्पत्तिः, एवं चाष्टानां गुणस्थानकानां षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि भङ्गकानां भवन्ति, अतस्तेषां प्रतिपादिकां गाथामाह सूत्रकारः—

इगदुगजोगाईणं ठवियमहो एगणेग इइ जुयलं । इगिजोगाउ दु दु गुणा गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥

(स्वो०)—'एकद्विकयोगादीनां स्थापयित्वाऽधः एकबहुत्वमिति युगलं, एकयोगात् द्विद्विगुणं गुणितविमिश्रा भवेयुः भंगका' इति पदानि। पदार्थस्तु–गणितानुक्रमेण लाघवार्थमभिधीयते–एकद्वित्र्यादिसंयोगसङ्ख्या–उभयमुहं रासिदुगं हिट्ठिल्लांतरेण भय पढमं। लद्धहरासिविभत्ते तस्सुवरि गणित्तु संजोगा ॥१॥ अनेन गाथासूत्रेण कर्त्तव्या । तेषां चाधः स्थापयित्वा एकश्च बहुत्वं च यस्मिन् युगले तद्युगलं एककयोगादारभ्य द्विगुणं द्विगुणं स्थापयित्वा यद्यप्येकका: प्रत्येकमवस्थितास्तथाप्यत्र संयोगस्यैव प्राधान्यादेककयोगा उच्यन्ते, सास्वादनस्थाने एकगुणिनः बहवश्च, मिश्रस्थाने एकगुणिनः बहवश्च, अनेन क्रमेण तावन्नेतव्याः, यावदयोगिगुणस्थानम्, तत्स्थापना—

एतेऽधःस्थाङ्काः स्वोपरितनाङ्कगुणाः

८	७	६	५	४	३	२	१
१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८
२५६	१२८	६४	३२	१६	८	४	२
२५६	१०२४	१७९२	१७९२	११२०	४४८	११२	१६

२५६-१०२४-१७९२-१७९२-११२०-४४८-११२-१६. पुनरेकत्र मिश्राः ६५६० एवं भवेयुर्भङ्गाः । भावना-प्रत्येकपदेषु द्वौ द्वौ, एवं षोडश, एकैकद्विकयोगे चत्वारः चत्वारः एवं सर्वेषु द्वादशोत्तरं शतं ११२, एकैकत्रिकयोगे अष्टौ अष्टौ सर्वेषु चत्वारि शतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि, ते च छन्दोवत्स्थाप्याः, एवमन्येऽपि भावनीया इति गाथार्थः ॥७॥

(मलय०)—एतेषां च सासादनादीनामष्टसंख्याकानां यावन्तो भेदा एकद्विकादिसंयोगतः सर्वसंख्यया भवन्ति, तावतः प्रतिपिपादयिषुः सामान्यतः करणगाथामाह-एकद्विकयोगादीनां-एकद्विकत्रिकसंयोगादीनां प्रत्येकमधस्तादेकानेकरूपं युगलं-द्विकमवस्थाप्यते, तत एककयोगादारभ्य 'दुदुगुण' त्ति-द्विगुणा द्वाभ्यां महिता द्विद्विगुणाः, तथाहि-पाश्चात्या भङ्गा द्विगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकसहिता विधेयाः, ततः पुनरपि गुणितविमिश्रा ये भङ्गाः प्राचीना द्वाभ्यां गुणितास्तैः केवलैः सहिताः क्रियन्ते, तत ईप्सितपदे इष्टसंख्याका भङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावना-इह यावन्तः पदार्था विकल्पेन भवन्तो भेदसंख्यया ज्ञातुमिष्टास्तावन्तोऽसत्कल्पनया बिंदवः स्थाप्यन्ते । इह च प्रकृता अष्टौ सासादनादयः, ततोऽष्टौ बिंदवः स्थाप्यन्ते, तेषां चाधस्तात्प्रत्येकं द्विकः स्थाप्यः । स्थापना चेयं—

०	०	०	०	०	०	०	०
२	२	२	२	२	२	२	२

तत्रैकपदे द्वौ भङ्गौ, तद्यथा-एको बहवो वेति । पदद्वये भङ्गा अष्टौ, तद्यथा-पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ, जाताश्चत्वारः, ते द्वितीयबिंदुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाताः षट्, ततो 'गुणियविमिस्सा' इति वचनात् यौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ, तौ षट्सु मध्ये प्रक्षिप्येते, ततो जाता अष्टौ, एतावन्तः पदद्वये भङ्गाः । ननु पदद्वये भङ्गाश्चत्वार एव प्राप्यन्ते । तथाहि-किल एकः सासादन एको मिश्र इत्येको भङ्गः, एकः सासादनो बहवो मिश्रा इति द्वितीयः, बहवः सासादना एको मिश्र इति तृतीयः, बहवः सासादना बहवो मिश्रा इति चतुर्थः, अतः परमेकोऽपि भङ्गो न संभवति, तत्कथमुच्यते पदद्वये भङ्गा

अष्टौ भवन्तीति? तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्, इह हि यदि सासादनमिश्रौ सदैवाऽवस्थितौ भवेतां, भजना तु तयोरेकानेकत्वमात्रकृतैव केवला भवेत्, तदोक्तप्रकारेण द्वयोः पदयोर्भङ्गाश्चत्वार एव भवन्ति, यावता सासादनमिश्रौ स्वरूपेणापि विकल्पनीयः, तथाहि— कदाचित्सासादनो भवति कदाचिन्मिश्रः कदाचिदुभौ। तत्र सासादनः केवलो जायमानः कदाचिदेक कदाचिदनेक इति द्वौ भङ्गौ, एवं मिश्रेऽपि द्वाविति चत्वारः, उभौ च युगपज्जायमानौ भवदुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गिकतया जायते, ततः पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्ति। एवमुत्तरत्रापि भङ्गार्थभावना भावनीया। संप्रति पदत्रयभङ्गा दर्श्यन्ते–तत्र पाश्चात्याः पदद्वयभङ्गा अष्टौ द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाताः षोडश, ते तृतीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाता अष्टादश, ततो भूयः पाश्चात्या अष्टौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताः षड्विंशतिः एतावन्तः पदत्रये भङ्गाः। ततः सैव षड्विंशतिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जाता द्विपञ्चाशत्, सा चतुर्थबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जाताश्चतुःपञ्चाशत्, ततः पुनरपि पाश्चात्याः षड्विंशतिः प्रक्षिप्यते, जाता अशीतिः, एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः। ततः सा अशीतिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जातं षष्ठ्यधिकं शतं, तत्पञ्चमबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातं द्विषष्ठ्यधिकं शतं, ततः पुनरपि प्राक्तनी अशीतिः प्रक्षिप्यते, ततो जाते द्वे शते द्विचत्वारिंशे एतावन्तः पदपञ्चके भङ्गाः। ततस्ते द्वे शते द्विचत्वारिंशे द्वाभ्यां गुण्येते, जातानि चत्वारि शतानि चतुरशीत्यधिकानि, तानि षष्ठबिंदुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि, ततो भूयः प्राक्तने द्वे शते द्विचत्वारिंशदधिके प्रक्षिप्येते, जातानि सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि, एतावन्तः षट्सु पदेषु भङ्गाः। ततः सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दशशतानि षट्पञ्चाशदधिकानि, तानि सप्तमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दशशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि, ततः पुनरपि प्राक्तनानि सप्त-

शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, ततो भवन्त्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि, एतावन्तः सप्तपदभङ्गाः। अमूनि चैकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि द्विसप्तत्यधिकानि, तान्यष्टमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि चतुःसप्तत्यधिकानि, ततो भूयोऽपि प्राक्तनान्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षष्ठ्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि, एतावन्तोऽष्टपदभङ्गाः ॥७॥

अहवा एक्कपईया दो भंगा इगिबहुत्तसन्ना जे। ते च्चिय पयवुड्ढीए तिगुणा दुगसंजुया भंगा ॥८॥

(स्वो०)—अथवैकपदिकौ द्वौ भङ्गौ एकबहुत्वसंज्ञौ यौ तावेव पदवृद्धौ त्रिगुणौ षट् द्विकसंयुतौ अष्टौ भवन्तीति, पदद्वये, एत एव त्रिगुणाः चतुर्विंशतिर्द्वियुता षड्विंशतिरेते त्रिपदभङ्गाः, भूयस्त्रिगुणाः द्वियुता अशीतिः, एते चतुष्पदभङ्गाः, एवं पदवृद्धौ यदृच्छया नेतव्याः, इति गाथार्थः ॥८॥ द्वारम् ॥

(मलय०)—संप्रत्येषामेव भङ्गकानां प्रकारान्तरेण प्ररूपणामाह–अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने। एकपदिकौ एकपदभवौ द्वौ भङ्गौ भवतः, कौ तौ ? इत्याह—यौ एकबहुत्वसंज्ञौ, कदाचिदेकः सासादनः कदाचिदनेक इत्येवंरूपौ। ततस्तावेव द्वौ भंगावादौ कृत्वा पदवृद्धौ द्विकादिपदवृद्धौ प्राक्तनाः प्राक्तनास्त्रिगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकेन संयुक्ता विधेयाः, ततस्तत्तत्पदभङ्गा भवन्ति। इयमत्र भावना—तावेवैकपदिकौ भङ्गौ, पदद्वये त्रिगुणीक्रियते, ततो जाताः षट्, ते द्विकेन संयुज्यन्ते, ततो जायन्तेऽष्टौ, एतावन्तः पदद्वये भङ्गाः। ततस्तेऽष्टौ त्रिगुणाः क्रियन्ते, जाता चतुर्विंशतिः, सा द्विकेन संयुक्ता जाताः षड्विंशतिः, एतावन्तः पदत्रये भङ्गाः। ततः सापि षड्विंशतिस्त्रिगुणीक्रियते, जाता अष्टसप्ततिः, ततो द्विकप्रक्षेपः, ततो भवत्यशीतिः, एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः। एवं तावद्वाच्यं यावत्स-

सप्रदभङ्गाः पडशीत्यधिकान्येकविंशतिशतानि। तानि भूयस्त्रिगुणीक्रियन्ते, ततो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि। एतावन्तोऽष्टसु सासादनादिपदेषु भङ्गा ॥८॥

साम्प्रतं द्रव्यप्रमाणमभिधातुकाम आह—

साहारणाण भेया चउरो अणंता असंखया सेसा। मिच्छाणंता चउरो पलियासंखंस सेस संखेज्जा ॥९॥

(स्वो०)—'साधारणानां चत्वारो भेदा अनन्ताः, असङ्ख्यकाः शेषाः, मिथ्यादृष्टयोऽनन्ताश्चत्वारः पल्योपमासंख्यांशः शेषाः संख्येयाः' इति पदानि। पदार्थस्त्वयम्—'साधारणानां' साधारणवनस्पतिकायिकानां ये प्रागुक्ताश्चत्वारो भेदास्ते प्रत्येकमनन्ता—अनन्तसंख्याः। 'असंख्येयका' इति संख्यातीताः 'शेषा' अष्टाविंशतिभेदाः—पृथ्वीजलाग्निवायूनां सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकाख्याः षोडश, प्रत्येकबादरवनस्पतिः पर्याप्तापर्याप्तद्विरूपो द्वित्रिचतुःसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तकाश्च द्वादशैते सर्वेऽप्यसंख्याः, यतः संज्ञ्यपर्याप्तका अपि क्वचिदिष्टकालेऽभिहिताः 'एक्को व दो व तिन्नि व संखमसंखा व एग समएणं' इति गाथया। मिथ्यादृष्टयोऽनन्ताः, सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टयविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरताख्याः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागतुल्याः प्रत्येकं भवन्ति, शेषाः—प्रमत्तादिनवगुणस्थानजीवाः प्रत्येकं संख्येयाः, यतस्ते मनुष्यास्ते चाशेषा अपि संख्येया इति गाथार्थः ॥९॥

(मलय०)—तदेवं कृता सत्पदप्ररूपणा, संप्रति द्रव्यप्रमाणमाह—साधारणानां साधारणवनस्पतिकायिकानां चत्वारो भेदाः, पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाः, प्रत्येकमनन्ता अनन्तसंख्याः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम्। तथा शेषाः पृथिव्यम्बुतेजोवायवः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदाच्चतुर्भेदाः, तथा पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः, पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिनो-

ऽसंख्याता असंख्यातसंख्याः। अथापर्याप्तसंज्ञिनः कथमसंख्याता गीयन्ते? न हि ते सदैव प्राप्यन्ते, किं तु कदाचिदेव, ततः कथमसंख्याता घटन्ते? नैष दोषः, यतो यद्यपि ते सदैव न भवन्ति, तथापि यदा भवन्ति, तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽसंख्येयाः। उक्तं च—"एगो व दो व तीन्नि व संखमसंखा व एगसमएणम्॥"इति। तथा मिथ्यादृष्टयो अनंता अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः। तथा चत्वारः सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टयविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतरूपाः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयांशाः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणाः। पल्योपमं चेह क्षेत्रपल्योपममवसेयम्। ततः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः। इह सासादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्चाध्रुवत्वात्कदाचिल्लोके प्राप्यन्ते, कदाचिन्न, यदा प्राप्यन्ते तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागतुल्याः। अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरताः पुनः सदैव प्राप्यन्ते ध्रुवत्वात्तेषां, केवलं कदाचित्स्तोकाः कदाचिद्बहवः। तत्र जघन्यपदेऽपि ते द्वये अपि प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशितुल्याः, उत्कर्षतोऽप्येतावन्त एव। नवरमसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वाज्जघन्यादुत्कृष्टमसंख्यातमसंख्यातगुणं द्रष्टव्यम्। देशविरतेभ्यश्चाविरतसम्यग्दृष्टयो जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च प्रभूततरा अवसेयाः। शेषाः प्रमत्तादिगुणस्थानवर्त्तिनो जीवाः प्रत्येकं संख्येयाः प्रतिनियतसंख्याकाः। सा च प्रतिनियता संख्या स्वयमेव वक्ष्यते ॥९॥

अधुना तदेव द्रव्यप्रमाणं विशेषेणाभिधातुकाम आह—

पत्तेयपज्जवणकाइयाउ पयरं हरंति लोगस्स। अंगुलअसंखभागेण भाइयं भूदगतणू य ॥१०॥

(स्वो०)—'प्रत्येकपर्याप्तकवनस्पतिकायिकास्तु प्रतरं हरन्ति लोकस्य अङ्गुलासंख्येयभागेन भाजितम्, भूदकतनवश्च'इति पदानि। पदार्थोऽधुना–प्रत्येकग्रहणात् साधारणा अनन्ताः पूर्वोक्ता एव, प्रत्येकाश्च ते पर्याप्तकाश्च प्रत्येकपर्याप्तकाः ते च वनस्पतिकायिकाश्च ते,

तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वाद् बादराः, सर्वेऽपि एते 'प्रतरम्' उपरितनाधस्तनप्रदेशनिरपेक्षप्रदेशात्मकं घनीकृतलोकस्य । कथमेतत् ? तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । अथवा यथावस्थितलोकप्रतरस्यानियतत्वात् घनीकृतस्य 'अपहरन्ति' कल्पनयाऽन्यत्र कुर्वन्ति, किंविशिष्टं प्रतरं ?— अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रखण्डैः खण्डितं, किमुक्तं भवति—प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावन्तस्ते वनस्पतिकायिकाः, एवं भूकायिकाश्च, उदककायिकाश्च उदकमेव कायो येषां ते उदककायिकाः, एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः, चः समुच्चये । आह— कस्मात्पृथिवीं त्यक्त्वैवमुपन्यासः क्रियते इति ? उच्यते—बादराः पर्याप्तकाऽपर्याप्तकाः सूक्ष्माः पर्याप्तकापर्याप्तकाः पृथिव्युदककायिका अस्य वनस्पतेः यथोत्तरं तुल्यनिर्देशेऽप्यसङ्ख्येयगुणाः ख्यापिता भवन्ति । आह—यद्येवं ततः कस्मादग्निकायिका न प्रथममुक्ताः ? अत्रोच्यते—यत्राग्निस्तत्र वायुरस्यार्थस्य ख्यापनार्थं क्रमेणैवोपन्यस्ताः । आह—काऽत्र युक्तिर्वनस्पतिकायिकानां स्तोकत्वे इतराणां त्वधिकत्वे ? अत्रोच्यते—तदुत्पत्तिस्थानविशेषाच्छरीरावगाहनातश्च, यतस्तस्य वनस्पतेः रत्नप्रभोपरितलस्थपृथिवीसरित्समुद्रोपवनादिषु गिरिषु चोत्पत्तिस्थानं, पृथिवीकायिकानां तु पृथिवीनामनेकत्वाद् बृहत्तरत्वाच्च तत्पिण्डोत्पत्तिस्थानाच्चासङ्ख्येयत्वं घटते । आह—यद्येवमुदककायिकानां स्वल्पत्वमागतं, नैवम्, तेषामप्यसङ्ख्येयसमुद्रप्रभूतघनोदधिसम्भवात् सूक्ष्मशरीरत्वाच्चासङ्ख्येयगुणत्वं घटत एव । वायुकायिकानां सकललोकाकाशसम्भवत्वाद्भावितमेव, तेषामपर्याप्तकानामपि इयमेव युक्तिः, यतः—स्वजातीयपर्याप्ताश्रयत्वात् तेषामुत्पत्तेर्भावनेति गाथार्थः ॥१०॥

(मलय०)—तदेवमभिहितं सामान्यतो द्रव्यप्रमाणम् । सांप्रतमेतदेव विशेषतोऽभिधित्सुराह—पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका भूकायिका उदककायिकाश्च पर्याप्तबादराः प्रत्येकं लोकस्य घनीकृतस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य उपरितनाधस्तनप्रदेशरहितैकैकप्रदेशप्रस्तरात्मकं

मण्डकाकारं प्रतरमङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागैर्भाजितं खण्डितं सकलमपि हरन्ति। इयमत्र भावना—सर्वेऽपि प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पति-कायिका जंतवः प्रतरमेककालमपहर्त्तुमुद्यता विवक्षिताः सन्तो यदि युगपदेकैकमङ्गुलासंख्येयभागमात्रं खण्डमपसारयन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। तत इदमायातम्—घनीकृतलोकस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयमात्राणि खण्डानि भवन्ति, तावत्प्रमाणाः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतयः। एवं पर्याप्तबादरभूकायिकोदककायिकानामपि प्रत्येकं भावना कार्या। यद्यपि चामीषां त्रयाणामपीत्थं समानप्रमाणत्वमभिहितम्, तथाप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागस्यासङ्ख्यातभेदभिन्नत्वात्परस्परमिदमल्पबहुत्व-मवसेयम्। स्तोकाः प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतयः। तेभ्यः पर्याप्तबादरभूकायिका असङ्ख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि बादरपर्याप्ताप्कायिका असङ्ख्येयगुणाः ॥१०॥

आवलिवग्गो अन्तरावलीय गुणिओ हु बायरा तेऊ। वाऊ य लोगसंखं सेसतिगमसंखिया लोगा ॥११॥

(स्वो०)—'आवलिवर्गोऽन्तरावलिकया गुणितो हु बादरस्तेजः। वायवो लोकासङ्ख्याः शेषत्रिकमसङ्ख्या लोकाः' इति पदानि। पदार्थस्तु—'आवलिका' सङ्ख्यातीतसमयात्मिका, तस्या 'वर्गो' भिन्नावलिकागुणो यावत्सङ्ख्यस्तावत्सङ्ख्या बादरपर्याप्तकतेजःकायिका भवन्ति। वायवो लोकासङ्ख्येयभागाकाशप्रदेशप्रमाणासङ्ख्येयप्रतरप्रमाणाः, 'शेषत्रिक' मिति पृथिव्युदकाग्निवायूनां यच्छेषमेकैकस्य त्रिकं बादरापर्याप्तकसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकस्वरूपं तदसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणं, हुशब्दो यथाप्राप्तिख्यापकः (ततः) वनस्पतेः प्रत्येक-बादरापर्याप्तकाः तत्प्रमाणाः, न तु सूक्ष्माः, असम्भवत्वादिति गाथार्थः ॥११॥

१ 'को वनस्पतेः प्रत्येकबादरापर्याप्तका पवातस्ते पवैतत्प्रमाणाः' इति क.

(मलय०)—आवलिका असंख्येयसमयात्मिकाप्यसत्कल्पनया दशसमयात्मिका कल्प्यते। ततस्तस्या दशसमयात्मिकाया आवलिकाया आवलिकावर्गः, स च किल कल्पनया शतसमयप्रमाणः, तत आवलिकावर्ग ऊनावलिकया—कतिपयसमयन्यूनया आवलिकया कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयरष्टभिरित्यर्थः, गुण्यते, गुणने च कृते सति यावन्तो वर्गा भवन्ति, तेषु च वर्गेषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा बादरपर्याप्ततेजस्कायिकाः। तथा 'वाऊ य लोगसंखं'ति—वायवो बादरपर्याप्तवायवो लोकसङ्ख्येयभागतुल्याः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतरेषु संख्याततमभागवर्त्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा इत्यर्थः। अमीषां पृथिव्यम्बुतेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां बादरपर्याप्तानां परस्परमल्पबहुत्वमिदं—सर्वस्तोकाः पर्याप्तबादरतेजस्कायिकाः, तेभ्यः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः। 'सेसतिगमसंखिया लोगा'इति—शेषत्रिकं—पृथिव्यम्बुतेजोवायुकायिकानामपर्याप्तबादरपर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मलक्षणमसंख्येया लोकाः, असंख्येयेषु लोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः। किमुक्तं भवति ? असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां प्रत्येकमपर्याप्ता बादराः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च सूक्ष्मा भवन्तीति। इदं सामान्येनोक्तं, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां स्वस्थाने प्रत्येकं त्रयाणामपि राशीनामिदमल्पबहुत्वं—सर्वस्तोका अपर्याप्तबादराः, तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्माः संख्येयगुणाः, शेषत्रिकग्रहणं चोपलक्षणं, तेनापर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतयोप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अवगन्तव्याः। साधारणवनस्पतीनां च प्रागेव पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाश्चत्वारोऽपि भेदाः सामान्यतोऽनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा उक्ताः। यदि पुनस्तेषामपि विशेषचिन्ता क्रियते, तदेदमल्पबहुत्वमवसेयं—बादरपर्याप्तसाधारणाः सर्वस्तोकाः,

तेभ्यो बादरापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणाः संख्येयगुणाः ॥११॥

पजत्तापजत्ता बितिचउ असन्निणो अवहरंति । अंगुलसंखासंखप्पएसभइयं पुढो पयरं ॥१२॥

(स्वो०)—'पर्याप्तापर्याप्ता द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिनोऽपहरन्ति । अङ्गुलसङ्ख्येयासङ्ख्येयप्रदेशभक्तं पृथक् प्रतरं' इन्द्रियादिपदलोपात् पदानि । पदार्थः—अङ्गुलश्रेणीप्रदेशानां संख्येयभागविभक्ता यावन्तः प्रतरप्रदेशाः तावन्तः पर्याप्तकाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिनः प्रत्येकं सम्भवन्ति, युगपद् भणनेऽपि सङ्ख्येयभागस्य वैचित्र्यान्न दोषः । एवमङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रदेशैर्भक्तप्रतरप्रमाणास्त एव पूर्वोक्ता अपर्याप्ता इति । अथवाङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रैः खण्डैः खण्डितं प्रतरं पर्याप्तकाः, असंख्येयभागमात्रैरपर्याप्तका द्वीन्द्रियादयोऽपहरन्तीति गाथार्थः ॥१२॥

(मलय०)—द्वित्रिचतुरसंज्ञिनो—द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियाः पृथक् प्रत्येकं पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च यथासंख्यमङ्गुलसंख्येयासंख्येयभागप्रदेशैर्भाजितं खण्डितं प्रतरमपहरन्ति । इयमत्र भावना—सर्वेऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया यदि युगपदेकैकमंगुलमात्रक्षेत्रसंख्येयभागमात्रं खण्डं प्रतरस्यापहरन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति । इदमुक्तं भवति—घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यैकस्मिन्प्रतरे यावन्त्यङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि खण्डानि, तावन्तः पर्याप्ता द्वीन्द्रियाः । एवं पर्याप्तास्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि प्रत्येकमवगन्तव्याः । यावन्ति पुनरेकस्मिन्प्रतरे अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागप्रमाणानि खण्डानि तावन्तोऽपर्याप्ता द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकमवसेयाः । यद्यपि च सर्वे पर्याप्ताः सर्वेऽपि चापर्याप्ता द्वीन्द्रियादयः सामान्यतः समान-

प्रमाणा उक्तास्तथापि विशेषचिन्तायामिदमल्पबहुत्वमवसेयं–सर्वस्तोकाः पर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियाः, पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेपाधिकाः, पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, अपर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया असंख्यातगुणाः, तेभ्योऽपर्याप्ताश्चतुरिन्द्रिया विशेपाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ॥१२॥

सन्नी चउसु गईसु पढमाए असंखसेढिनेरइया । सेढिअसंखेज्जंसो सेसासु जहोत्तरं तह य ॥१३॥

(स्वो०)—'संज्ञिनश्चतसृषु गतिषु प्रथमायां असंख्येयाः श्रेण्यो नारकाः श्रेण्यसंख्येयांशः शेषासु यथोत्तरं तथा च' पदानि । पदार्थः–संज्ञिनश्चतसृष्वपि गतिषु भवन्ति, नासंज्ञिनः । तत्र प्रथमायां नरकपृथिव्यां असङ्ख्येयश्रेणीप्रदेशतुल्या नारकाः गाथान्ते तथाशब्दाधिक्याद्भवनपतयश्च भवन्ति, श्रेण्यश्च घनीकृतलोकप्रमाणाः, द्वितीयादिषु नरकपृथिवीष्वेकश्रेण्यसंख्येयभागप्रदेशतुल्या भवन्ति, यथोत्तरं चासङ्ख्येयभागमात्राः, द्वितीयनरकपृथिवीनारकेभ्यस्तृतीयपृथिवीनारकाः असङ्ख्येयभागमात्राः, एवं यथोत्तरं शेषास्वपि नेतव्या इति गाथार्थः ॥१३॥

(मलय०)—तदेवमसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यंताः सर्वेऽपि जीवाः संख्यया प्ररूपिताः, संप्रति संज्ञिप्ररूपणार्थमाह–संज्ञिनश्चतसृष्वपि गतिषु वर्त्तन्ते, ततो गतीरधिकृत्य तत्प्ररूपणा कर्त्तव्या । तत्र प्रथमतो नरकगतिमधिकृत्याह—प्रथमायां नरकपृथिव्यां रत्नप्रभाभिधानायां घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य असंख्येया एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः, एतावत्प्रमाणा नारकाः, असंख्यातासु एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः । गाथान्ते चशब्दस्यानुक्तार्थसंसूचनात् भवनपतयोऽप्येतावत्प्रमाणा वेदितव्याः । शेपास्तु द्वितीयादिषु नरकपृथिवीषु प्रत्येकं 'सेढिअसंखेज्जस'त्ति–घनीकृतस्य लोकस्यैकस्या अप्येकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येय-

तमो भागो नारकाः, असंख्येयतमे भागे यावन्तः प्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः। 'जहोत्तरं तह य'त्ति। तथाचेति समुच्चये, यथोत्तरं च यथा यथा उत्तरा पृथ्वी तथा तथा पूर्वपृथ्वीगतनारकापेक्षया असंख्याततमासंख्याततमभागमात्रा द्रष्टव्याः। तद्यथा–द्वितीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया तृतीयपृथिव्यां नारका असंख्याततमभागमात्राः। तृतीयपृथिवीगतनारकापेक्षया चतुर्थपृथिव्यां नारका असंख्याततभागमात्राः, एवं सप्तस्वपि पृथिवीषु द्रष्टव्यम्। कथमेतदवसेयमितिचेत्, उच्यते–युक्तिवशात्। तथाहि–सर्वस्तोकाः सप्तमपृथिव्यां नारकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभागभाविनः,तेभ्योऽपि तस्यामेव सप्तमपृथिव्यां दक्षिणदिग्विभागभाविनोऽसंख्येयगुणाः। कथमिति चेत्,उच्यते–इह द्विधा जन्तवः–शुक्लपाक्षिकाः कृष्णपाक्षिकाश्च। तेषां चेदं लक्षणं–इह येषां किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धमात्रः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः। उक्तं च—"जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु अहीए पुण कण्हपक्खीओ ॥१॥" अत एव च स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, बहवः कृष्णपाक्षिकाः। कृष्णपाक्षिकास्तु प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात्। तच्च तथास्वाभाव्यं पूर्वाचार्यैरेवं युक्तिभिरुपबृंह्यते। तथा हि–कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदया भवन्ति, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात्तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते न शेषासु। यत उक्तं—"पायमिह कुरकम्मा, भवसिद्धियावि दाहिणल्लेसु। नेरइयतिरियमणुयासुराइठाणेसु गच्छन्ति ॥२॥"। ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसम्भवात् सम्भवन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमेभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणा इति। तेभ्योऽपि षष्ठपृथिव्यां तमःप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः। कथमिति चेत्, उच्यते–इह सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः सप्तमनरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते, किञ्चिद्विहीनहीनतरपापकर्मकारि-

णश्च षष्ठ्यादिषु पृथिवीषु। सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः, बहवश्च यथोत्तरं किंचिद्धीनहीनतरादिपापकर्मकारिणः,ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वम्, सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणां, एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भावितव्यम्। तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्त्तिनो नारका असंख्येयगुणाः, युक्तिरत्रापि प्रागुक्तानुसर्त्तव्या। तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्त्तिनो ऽसंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां पङ्कप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभागभाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव चतुर्थपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि तृतीयपृथिव्यां वालुकाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव तृतीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिव्यां शर्कराप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव द्वितीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः। तथा च प्रज्ञापनाग्रन्थः—

“दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा अहे सत्तमपुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो अहे सत्तमपुढविनेरइएहिंतो छट्ठाए तमाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो तमापुढविनेरइएहिंतो पञ्चमाए धूमप्पभापुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो धूमप्पभापुढविनेरइएहिंतो चउत्थीए पङ्कप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो पंकप्पभापुढविनेरइएहिंतो तइयाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो दुइयाए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहि-

पेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो सक्करप्पभापुढविनेरइएहिंतो इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा इति।'' ये च येभ्योऽसंख्येयगुणास्तेषां ते असंख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते। ततो रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकेभ्योऽपि शर्कराप्रभानारका असंख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते, किं पुनः सकलनारकेभ्यः ?। एवमधोऽधः पृथिवीष्वपि भावनीयम्। ततो युक्तमुक्तं 'जहोत्तरं तह य त्ति' ॥१३॥

संखेज्जजोयणाणं सूइपएसेहिं भाइओ पयरो। वंतरसुरेहिं हीरइ एवं एकेक्कभेए णं ॥१४॥

(स्वो०)—'संख्येययोजनानां सूचिप्रदेशैर्भाजितः प्रतरः व्यन्तरसुरैः ह्रियते एवमेकैकभेदेन' पदानि। पदार्थः—संख्येययोजनानां या 'सूचिः' एकप्रदेशिका पंक्तिः, संख्येययोजनप्रमाणा प्रदेशपंक्तिरिति भावः, तया भक्तः प्रतरो व्यन्तरसुरैर्ह्रियते—भागलब्धतुल्या व्यन्तरदेवा इति। एवमेव प्रतिनिकायं भावना, संख्येयस्य वैचित्र्यान्न दोषः, इति गाथार्थः ॥१४॥

(मलय०)—संप्रति व्यन्तराणां प्रमाणमाह—सङ्ख्येयानां योजनानां या सूचिरेकप्रादेशिकी श्रेणिः, किमुक्तं भवति ? संख्येययोजनप्रमाणा या एकप्रादेशिकी पङ्क्तिस्तत्प्रदेशैर्भक्तः प्रतरो व्यन्तरसुरैरपह्रियते, अयमत्र तात्पर्यार्थः—यावन्ति संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राण्याकाशखण्डान्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा व्यन्तरसुराः। अथवेयं कल्पना—संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं युगपद्यदि सर्वेऽपि व्यन्तरसुरा अपहरन्ति, तर्हि सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये तेऽपहरन्ति। अत्रापि स एवार्थः। एवमेकैकस्मिन् भेदे व्यन्तरनिकाये द्रष्टव्यम्। किमुक्तं भवति ? यथा सकलव्यन्तरसुराणां परिमाणमुक्तमेवमेकैकस्मिन् व्यन्तरनिकाये परिमाणमवसेयम्। न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणव्याघातप्रसङ्गः, श्रेणिप्रमाणहेतुयोजनसंख्येयत्वस्य वैचित्र्यात् ॥१४॥

छप्पन्नदोसयंगुलसूइपएसिं भाइओ पयरो । जोइसिएहिं हीरइ सट्ठाणे त्थीय संखगुणा ॥१५॥

(स्वो०)-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलानां प्रदेशसूच्या भाजितः प्रतरः ह्रियते ज्योतिष्कैः, भागलब्धप्रमाणा ज्योतिष इत्यर्थः, स्वस्थानेषु चतुर्ष्वपि देवनिकायेषु स्त्रियो देव्यो देवानां (देवेभ्यः) संख्येयगुणाः । इति गाथार्थः ॥१५॥

(मलय०)—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुलप्रमाणसूचिप्रदेशैर्भाजितः खण्डितः प्रतर उक्तस्वरूपो ज्योतिष्कदेवैरपह्रियते । इयमत्र भावना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा ज्योतिष्कदेवाः । अथवेयं कल्पना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं यदि युगपत्सर्वेऽपि ज्योतिष्कदेवा अपहरन्ति, तर्हि ते सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये अपहरन्ति । तथा स्वस्थाने चतुर्ष्वपि देवनिकायेषु स्वस्वनिकायगतदेवापेक्षया देव्यः संख्येयगुणा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायां महादण्डके तथा पाठात् । महादण्डकश्चाग्रे दर्शयिष्यते ॥१५॥

अस्संखसेढिखपएसतुल्लया पढमदुइयकप्पेसु । सेढिअसंखंससमा उवरिं तु जहोत्तरं तह य ॥१६॥

(स्वो०)-असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशैस्तुल्याः प्रथमकल्पे सौधर्माख्ये, द्वितीये चेशानाख्ये, एकश्रेण्यसंख्येयभागाकाशप्रदेशतुल्याः, उपरि प्रत्येकं देवस्थानेषु देवाः, यथोत्तरं च ये ये यथोपरि ते तेऽधःस्थेभ्यः स्वल्पस्वल्पतराः, चशब्दात् समश्रेण्यागता अपि ईशानमाहेन्द्राः प्राणताच्युतदेवाः स्वल्पाः, इति गाथार्थः ॥१६॥

(मलय०)—घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाध आयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसंख्यातास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तत्तुल्यास्ताव-

केवलं सौधर्मकल्पगतदेवापेक्षया ईशानकल्पगता
तत्प्रमाणाः प्रथमे कल्पे सौधर्माख्ये, द्वितीये च कल्पे ईशानाख्ये प्रत्येकं देवा भवन्ति। केवलं सौधर्मकल्पगतदेवापेक्षया ईशानकल्पगता
देवाः संख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः। प्रज्ञापनायामीशानदेवापेक्षया सौधर्मकल्पदेवानां संख्येयगुणतयाभिधानात्। 'सेढिअसंखंससमा उवरिं
तु'त्ति। तुर्वाक्यभेदे। उपरि पुनः सौधर्मेशानकल्पयोरुपरिष्टात्पुनः सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारलक्षणेषु कल्पेषु
प्रत्येकं देवा घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या एकस्याः श्रेणेरसंख्येयांशसमाः, असंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः।
'जहोत्तरं तह य' त्ति–तथा चेति समुच्चये। यथा यथा उत्तरे उत्तरे देवाः उत्तरोत्तरकल्पगता देवास्तथा तथा पूर्वकल्पगतदेवापेक्षया
असंख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः। इदमुक्तं भवति—यावन्तः सनत्कुमारकल्पगता देवास्तदपेक्षया माहेन्द्रकल्पे असंख्येयभागमात्राः;
माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया सनत्कुमारकल्पगता देवा असंख्येयगुणा इत्यर्थः। एवं माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया ब्रह्मलोककल्पगतदेवा
असंख्येयभागमात्राः। एवं लांतकमहाशुक्रसहस्रारकल्पेष्वपि भावनीयम्। 'तह य' इत्यत्र च शब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वादानतप्राण-
तारणाच्युतकल्पेषु अधस्तनमध्यमोपरितनग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशा-
स्तावत्प्रमाणा देवा अवगन्तव्याः, पूर्वपूर्वदेवापेक्षया चोत्तरोत्तरदेवाः संख्येयगुणहीनाः, तथा प्रज्ञापनायां महादण्डके पठितत्वात्।
महादण्डकश्चायम्—"अह भन्ते! सव्वजीवअप्पाबहुमहादंडयं वत्तयिस्सामि, सव्वत्थोवा गब्भवक्कन्तियमणुस्सा १। मणुस्सीओ
सङ्खेज्जगुणाओ २। बायरतेउकाइया पज्जत्तया असङ्खेज्जगुणा ३। अणुत्तरोववाइया देवा असङ्खेज्जगुणा ४। उवरिमगेवेज्जगा देवा सङ्खे-
ज्जगुणा ५। मज्झिमगेवेज्जगा देवा सङ्खेज्जगुणा ६। हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा सङ्खेज्जगुणा ७। अच्चुए कप्पे देवा सङ्खेज्जगुणा ८। आरणे
कप्पे देवा सङ्खेज्जगुणा ९। पाणए कप्पे देवा सङ्खेज्जगुणा १०। आणए कप्पे देवा सङ्खेज्जगुणा ११। अहे सत्तमाए पुढवीए नेरइया

असङ्खेज्जगुणा १२। छट्ठाए तमाए पुढवीए नेरइया असङ्खेज्जगुणा १३। सहस्सारे कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणां १४। महासुक्के कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणा १५। पञ्चमाए धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया असङ्खेज्जगुणा १६। लन्तए कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणा १७। चउत्थीए पङ्कप्पभाए पुढवीए नेरइया असङ्खेज्जगुणा १८। बम्भलोए कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणा १९। तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइया असङ्खेज्जगुणा २०। माहिंदे कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणा २१। सणंकुमारे कप्पे दवा असङ्खेज्जगुणा २२। दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइया असङ्खेज्जगुणा २३। सम्मुच्छिममणुस्सा असङ्खेज्जगुणा २४। ईसाणे कप्पे देवा असङ्खेज्जगुणा २५। ईसाणे कप्पे देवीओ सङ्खेज्जगुणाओ २६। सोहम्मे कप्पे देवा सङ्खेज्जगुणा २७। सोहम्मे कप्पे देवीओ सङ्खेज्जगुणाओ २८। भवणवासी देवा असङ्खेज्जगुणा २९। भवणवासीणीओ देवीओ सङ्खेज्जगुणाओ ३०। इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा ३१। खहयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा ३२। खहयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ ३३। थलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ३४। थलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ ३५। जलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ३६। जलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ ३७। वाणमन्तरा देवा संखेज्जगुणा ३८। वाणमंतरीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ३९। जोइसिया देवा संखेज्जगुणा ४०। जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ४१। खहयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया नपुमगा संखेज्जगुणा ४२। थलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्जगुणा ४३। जलयरपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्जगुणा ४४। चउरिंदिया पज्जत्तया संखेज्जगुणा ४५। पञ्चेन्दिया पज्जत्तया विसेसाहिया ४६। बेइंदिया पज्जत्तया विसेसाहिया ४७। तेइंदिया पज्जत्तया विसेसाहिया ४८। पञ्चेन्दिया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ४९। चउरिंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया

५०। तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया ५१। बेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया ५२। पत्तेयसरीरबायरवणप्फइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५३। बायरनिगोया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५४। बायरपुढविकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५५। बायरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५६। बायरवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५७। बायरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५८। पत्तेयसरीरवणप्फइकाइया अप्पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५९। बायरनिगोया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६०। बायरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६१। बायरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६२। बायरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६३। सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ६४। सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ६५। सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ६६। सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ६७। सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ६८। सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया ६९। सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया ७०। सुहुमवाउइया पज्जत्तगा विसेसाहिया ७१। सुहुमनिगोया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७२। सुहुमनिगोया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ७३। अभवसिद्धिया अणंतगुणा ७४। परिवडियसम्मदिट्ठी अणंतगुणा ७५। सिद्धा अणंतगुणा ७६। बायरवणस्सइकाइणा पज्जत्तगा अणंतगुणा ७७। बायरा पज्जत्तगा विसेसाहिया ७८। बायरवणस्सईकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७९। बायरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया ८०। बायरा विसेसाहिया ८१। सुहुमवणप्फइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८२। सुहुम अपज्जत्तगा विसेसाहिया ८३। सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ८४। सुहुमपज्जत्तगा विसेसाहिया ८५। सुहुमा विसेसाहिया ८६। भवसिद्धिया विसेसाहिया ८७। निगोयजीवा विसेसाहिया ८८। वणस्सइजीवा विसेसाहिया ८९। एगिंदिया विसेसाहिया ९०। तिरिक्खजोणिया विसेसाहिया ९१। मिच्छादिट्ठी विसेसाहिया ९२। अविरया विसेसा-

हिया ९३। सकसाई विसेसाहिया ९४। छउमत्था विसेसाहिया ९५। सजोगी विसेसाहिया ९६। संसारत्था विसेसाहिया ९७। सव्वजीवा विसेसाहिया ९८। इति" ॥१६॥

प्रथमपृथिवीनारकभवनपतिसौधर्म्मदेवानां सर्वेषामसंख्येयत्वे सत्युक्तेऽपि विशेषमाह—

सेढीएक्केक्कपएसरइयसूईणमंगुलप्पमियं। घम्माए भवणसोहम्मयाणमाणं इमं होइ ॥१७॥

(स्वो०)—याः पूर्वं प्रतिपादिताः श्रेण्यः ताभ्यः एकैकमाकाशप्रदेशं गृहीत्वा या रचिताः सूचयस्तासामङ्गुलप्रमितम्—अङ्गुलागतम्, नारकभवनपतिसौधर्म्मदेवानां मानम्—सङ्ख्या, एतद् भवति वक्ष्यमाणम्। इति गाथार्थः ॥१७॥

(मलय०)—इह पूर्वं रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिदेवानां सौधर्मकल्पगतदेवानां च परिमाणमसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणं सामान्येनोक्तं, तत्र न ज्ञायते के बहवः के स्तोका इति? तत्र परस्परं विशेषमाह—घर्मायां घर्माभिधानायां प्रथमपृथिव्यां नारकाः, तेषामिति शेषः, तथा भवनपतीनां सौधर्मजानां च सौधर्मकल्पगतानां च देवानां परिमाणावधारणाय या असंख्येयाः श्रेणयः पूर्वमुक्तास्ताः प्रति प्रत्येकमेकैकं प्रदेशं श्रेणिव्यतिरिक्तं गृहीत्वा या रचिताः सूचय एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः, किमुक्तं भवति? रत्नप्रभानारकादिपरिमाणेषु प्रत्येकं यावत्यः श्रेणयस्तावतः प्रदेशान् श्रेणिव्यतिरिक्तान् गृहीत्वा एकप्रादेशिक्यः सूचयः क्रियन्ते, तासां च सूचीनामङ्गुलप्रमितमङ्गुलभागमितमिदं वक्ष्यमाणं मानं प्रमाणम् ॥१७॥

छप्पन्नदोसयंगुलभूओ भूओ विगब्भ मूलतिगं। गुणिया जहुत्तरत्था रासीओ कमेण सूइओ ॥१८॥

(स्वो०)—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलाद् भूयो भूयो विगृह्य-गृहीत्वा मूलत्रयं षोडशचतुर्द्विसङ्ख्यं राशयो यथोत्तरस्था गुणिताः क्रमेण यथोपन्यासं सूचयो भवन्ति । प्रथमपृथ्वीनारकाणां षण्णवतिचतुःसहस्राङ्गुलप्रमाणाः, भवनपतीनां चतुःषष्ट्यङ्गुलप्रमाणाः, सौधर्मदेवानामष्टाङ्गुलप्रमाणा इयदङ्गुलसूचिप्रदेशप्रमाणश्रेणीप्रदेशतुल्यास्ते । इति गाथार्थः ॥१८॥

(मलय०)—तदेव दर्शयति–षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्याङ्गुलमात्रस्याङ्गुलक्षेत्रगतप्रदेशराशेर्भूयो भूयो वारंवारं विगृह्य, किमुक्तं भवति ? वर्गमूलानयनकरणेन एकवारं विगृह्य वर्गमूलमानीय भूयो विगृह्यते, ततो द्वितीयं वर्गमूलमागच्छति, ततो भूयोऽपि विगृह्यते, ततस्तृतीयं वर्गमूलमागच्छति, एवं भूयो भूयो विगृह्य मूलत्रिकं वर्गमूलत्रयमानीय यथोत्तरस्था राशयो गुण्यन्ते। ततो गुणिताः संतस्ते क्रमेण यथाक्रमं सूचयो भवन्ति, एतावत्प्रदेशराशिप्रमाणा यथाक्रमं रत्नप्रभानारकादिषु श्रेणिपरिमाणहेतवः सूचयो भवन्तीत्यर्थः। इयमत्र भावना–अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे असंख्याता अपि प्रदेशाः किलासत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाः कल्प्यन्ते । तेषां प्रथमं वर्गमूलं षोडश, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं द्वे । एते च राशय उपर्यधोभावेन क्रमेण व्यवस्थाप्यन्ते । तत्र प्रथमवर्गमूलेन षोडशलक्षणेन उपरितनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणो राशिर्गुण्यते, गुणिते च सति तस्मिन् जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, एतावत्यः किल श्रेणयो रत्नप्रभानारकाणां परिमाणाय द्रष्टव्याः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारका भवन्तीत्यर्थः । तथा द्वितीयेन वर्गमूलेन चतुष्कलक्षणेनोपरितनः षोडशकलक्षणो राशिर्गुण्यते, गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः, एतावत्यः श्रेणयो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्याः । तथा तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेनोपरितनश्चतुष्कलक्षणो राशिर्गुण्यते, ततो जाता अष्टौ, एतावत्यः श्रेणयः सौधर्मदेवानां परिमाणाय ज्ञातव्याः ॥१८॥

अहवंगुलप्पएसा समूलगुणिया उ नेरइयसूई । पढमदुइयापयाइं समूलगुणियाइं इयराणं ॥१९॥

(स्वो०)—अथवेयं सङ्ख्या अङ्गुलप्रदेशाः स्वमूलगुणा यावन्तो भवन्ति, तावच्छ्रेणीप्रदेशमिताः प्रथमपृथिवीनारकाः । अङ्गुलप्रदेशप्रथमपदं द्वितीयपदगुणं यावत्सङ्ख्यं तावत्श्रेणीप्रदेशतुल्या भवनपतयः, अङ्गुलप्रदेशद्वितीयवर्गमूलं तृतीयमूलगुणं यावत्संख्यं तावत्श्रेणीप्रदेशतुल्या सौधर्म्मदेवाः । इति गाथार्थः ॥१९॥

(मलय०)—रत्नप्रभानारकादीनामेव विषये प्रकारान्तरेण भूयः श्रेणिपरिमाणमाह–अथवेति प्रकारान्तसूचने । प्रकारान्तरं चेदं–पूर्वमङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रदेशप्रमाणः कल्पितः, इह तु न तथा कल्प्यते, किं तु यथावस्थित एव विवक्ष्यते इति । अङ्गुले एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे ये प्रदेशास्ते स्वकीयेन वर्गमूलेन गुणिताः सन्तो यावन्तः सम्भवन्ति एतावत्प्रमाणा नैरयिकसूचिः, नैरयिकपरिमाणहेतूनां श्रेणीनां विस्तरः । किमुक्तं भवति? एतावत्प्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारकाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः । तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत्प्रथमं पदं वर्गमूलं, तत्स्वकीयेन मूलेनाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराश्यपेक्षया द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, एतावत्प्रमाणा भवनपतीनां परिमाणावधारणाय श्रेणयो द्रष्टव्याः। तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरेव यद् द्वितीयं पदं वर्गमूलं, तत्स्वमूलेन स्वकीयेन वर्गमूलेन अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराश्यपेक्षया तृतीयेन च वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणाः सौधर्मदेवानां परिमाणावधारणाय श्रेणयो ज्ञेयाः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्याः सौधर्मदेवा भवन्तीति भावना । एवं पूर्वत्रापि भावना द्रष्टव्या ॥१९॥

अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया उ होंति सेढीओ । उत्तरविउव्वियाणं तिरियाण य सन्निपज्जाणं ॥२०॥

(स्वो०)—अङ्गुलसूचिप्रदेशवर्गमूलासङ्ख्येयभागप्रदेशप्रमाणाः श्रेण्यः, किमुक्तं भवति ?–तासु श्रेणीषु यावन्तोऽम्बरप्रदेशास्तावन्त उत्तरवैक्रियशरीरिणो जीवा मन्तव्याः चतुर्गतिगता इति । तिर्यग्गतौ संज्ञिनश्च पर्याप्तका एतावन्त इति गाथार्थः ॥२०॥

(मलय०)—संप्रत्युत्तरवैक्रियसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियपरिमाणावधारणार्थमाह–अङ्गुलस्याङ्गुलप्रमाणस्य क्षेत्रस्य प्रदेशराशेर्यन्मूलं वर्गमूलं प्रथमं, तस्य योऽसंख्येयो भागस्तेन प्रमितास्तत्प्रमाणास्तिरश्चां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्तरवैक्रियाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः। इयमत्र भावना–एकप्रादेशिके अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः, तस्य यत्प्रथमं वर्गमूलं, तस्यासंख्येयभागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्र-माणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसंपन्नाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वेदितव्याः । उक्तं च— "पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा, कालओ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरन्ति । खेत्तओ पयरस्स असंखेज्जइभागे असंखेज्जाओ सेढीओ, तासिणं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइ भागो इति ।" उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसंपन्नाः पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रिया असंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु गजमत्स्यहंसादयो द्रष्टव्याः ॥२०॥

उक्कोसपए मणुया सेढी रूवाहिया अवहरंति । तइयमूलाहएहिं अंगुलमूलप्पएसेहिं ॥२१॥

(स्वो०)—उत्कृष्टपदे मनुष्याः श्रेणीं सप्तरज्जुप्रमाणां तत्प्रदेशपङ्क्तिं रूपाधिकाः सन्तः सर्वेऽप्यपहरन्ति । कथं ? अङ्गुलमूलप्रदे-

शानां तृतीयमूलगुणैरंगुलमूलप्रदेशैरपहरमाणाः,किमुक्तं भवति ? अङ्गुलमूलं तृतीयमूलाहतं यावत्तावन्मात्रैः खण्डैः खण्डितां श्रेणीं हरन्ति, तावन्मात्रा भवन्तीति गाथार्थः ॥२१॥
॥५९॥

(मलय०)—संप्रति मनुष्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह–इह द्वये मनुष्या गर्भव्युत्क्रान्ताः सम्मूर्छिमाश्च । तत्र गर्भव्युत्क्रान्ताः पर्याप्ता

अपर्याप्ताश्च भवन्ति। संमूर्छिमास्तु अन्तर्मुहूर्त्तायुषोऽपर्याप्ता एव म्रियन्ते; एतच्च प्रागेव प्रथमाधिकारेऽभिहितं, ततस्ते पर्याप्ता न भवन्ति। तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्ताः पर्याप्ता मनुष्यास्ते सदैव लभ्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषाम्। ते च संख्येयाः। संख्या च तेषां जघन्यतोऽपि पञ्चमवर्ग-गुणितषष्ठवर्गप्रमाणा द्रष्टव्या। अथ वर्गः किमुच्यते? किं स्वरूपश्च पञ्चमो वर्गः? किंभूतः षष्ठः? कीदृग्वा पञ्चमवर्गगुणितः स षष्ठो वर्गो भवतीति?, उच्यते—इह विवक्षितो राशिस्तेनैव राशिना गुणितो वर्ग इत्यभिधीयते। तत्रैकस्य वर्ग एक एव भवति, ततो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते। द्वयोश्च वर्गश्चत्वारो भवन्ति, इत्येष प्रथमो वर्गः (४)। चतुर्णां वर्गः षोडशेति द्वितीयो वर्गः (१६)। षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके, इति तृतीयो वर्गः (२५६)। द्वयोः शतयोः षट्पञ्चाशदधिकयोर्वर्गः पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि, एष चतुर्थो वर्गः (६५५३६)। अस्य च राशेर्वर्गः सार्द्धगाथया प्रोच्यते—"चत्तारि य कोडिसया अउणत्तीसं च होंति कोडीओ। अउणावन्न लक्खा सत्तट्ठि चेव य सहस्सा॥१॥ दोयसया छन्नउया, पंचमवग्गो इमो विनिद्दिट्ठो।" अङ्कतोऽपि स्थापना—४२९४९६७२९६। अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते, तद्यथा—"लक्खं कोडाकोडीण, चउरासीई भवे सहस्साइं। चत्तारि य सत्तट्ठा होंति सया कोडिकोडीणं॥१॥ चोयाला लक्खाइं कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा। तिन्नि य सया य सयरा कोडीण होंति नायव्वा॥२॥ पंचाणउई लक्खा एगावन्नं भवे सहस्साइं। छस्सोलसुत्तरसया एसो छट्ठो य हवइ वग्गो॥३॥" अङ्कतः स्थापना—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। एष षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते, गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति, तावत्प्रमाणा जघन्यतोऽपि पर्याप्तगर्भजमनुष्याः। स च राशिरेतावान् भवति—७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६। अयं च राशिरेकोनत्रिंशदङ्कस्थानो न कोटाकोट्यादिप्रकारेणाभिधातुं कथमपि शक्यते। ततः पर्यन्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादारभ्याङ्कस्थानसंग्रहमात्रं पूर्व-

पुरुषप्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते—"छ तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि। पंचेव तिन्नि नव पंच, सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥१॥ चउ छ दो चउ एक्को, पण दो छक्केक्कगो य अट्ठेव। दो दो नव सत्तेव य, अंकट्ठाणा इगुणतीसं ॥२॥" एष च राशिः पूर्वसूरिभिस्त्रियमलपदादूर्ध्वं चतुर्यमलपदस्याधस्तादित्युपवर्ण्यते, तत्र द्वौ द्वौ वर्गौ यमलपदम्। तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—"दोविवित्तिवग्गा जमलपयति भन्नइ" इति। ततः षड् वर्गाः समुदितास्त्रियमलपदम्, त्रियमलपदसमाहारः, तस्मादूर्ध्वमेव राशिः, षष्ठवर्गस्य पञ्चमवर्गेण गुणितत्वात्। अष्टवर्गसमुदायश्च तुर्ययमलपदं, चतुर्णां यमलकपदानां समाहार इत्यर्थः, तस्याधस्तात्सप्तमवर्गस्याप्यपरिपूर्णत्वात्। एष एव च राशिः षण्णवतिच्छेदनकदायी। तथाहि–प्रथमो वर्गो द्वे छेदनके ददाति। तद्यथा–प्रथमं छेदनकं द्वौ, द्वितीयमेकम्। द्वितीयो वर्गश्चत्वारि छेदकानि, तत्र प्रथममष्टौ, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं द्वे, चतुर्थमेकम्। एवं तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदकानि, चतुर्थः षोडश, पञ्चमो द्वात्रिंशतम्, षष्ठश्चतुःषष्टिं, स एव पञ्चमवर्गेण गुणितः षण्णवतिं। कथमेतदवसेयमिति चेत्, उच्यते–(ग्रन्थाग्रं–२०००) इह यो यो वर्गो येन येन वर्गेण गुण्यते, तत्र तत्र तयोर्द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते, यथा प्रथमवर्गेण द्वितीयवर्गे गुणिते षट्। तथाहि–द्वितीयो वर्गः षोडशलक्षणः प्रथमवर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते, गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः, तस्याः प्रथमछेदनकं द्वात्रिंशत्, द्वितीयं षोडश, तृतीयमष्टौ, चतुर्थं चत्वारि, पञ्चमं द्वे, षष्ठमेकमिति। एवमन्यत्रापि भावनीयम्। तत्र पञ्चमवर्गे द्वात्रिंशच्छेदनकानि, षष्ठे चतुःषष्टिः। ततः पञ्चमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि प्राप्यन्ते। एवमेकराशिर्विनेयजनमतिप्रकर्षाधानाय त्रिप्रकार आगमे परमगुरुभिरुपदर्शितः। तथा चानुयोगद्वारसूत्रं—"जहण्णपदे मणुस्सा, संखेज्जा संखेज्जाओ कोडीओ। तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हेट्ठा ॥१॥ अहवण छट्ठो वग्गो पंचमवग्गपडुप्पन्नो। अहवणं छन्नउइं छेयणगदायी रासी त्ति ॥२॥" ये तु गर्भव्युत्क्रान्ताः

सम्मूर्च्छिमाश्चापर्याप्तास्ते उभये अपि कदाचित्प्राप्यन्ते कदाचिन्न। यतो गर्भव्युत्क्रान्तानामपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्रम्, उत्कर्षतो द्वादशमुहूर्त्ता अन्तरम्। संमूर्छिमानां त्वपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्रमुत्कर्षतश्चतुर्विंशतिरन्तर्मुहूर्त्ताः। अपर्याप्ताश्चान्तर्मुहूर्त्तायुषः। अतोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं सर्वेऽपि निर्लेपमपगच्छन्ति। तस्मादमी द्वयेऽप्यपर्याप्ताः कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न। यदा पुनरमी द्वयेऽपि अपर्याप्ता गर्भव्युत्क्रान्ताश्च पर्याप्ताः समुदिताः सर्वोत्कर्षेण भवन्ति, तदा तेषामिदं परिमाणं—'उक्कोसपएत्यादि'—उत्कृष्टपदे सर्वोत्कृष्टसम्मूर्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायग्रहणरूपे मनुजा—मनुष्या रूपाधिका एकेन रूपेण परमार्थतोऽसतापि कल्पितेनाधिकाः सन्त एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अंगुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्तत्प्रथम वर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेन गुण्यते, ततो जाता द्वात्रिंशत्, ततस्तैरङ्गुलप्रथमवर्गमूलप्रदेशैस्तृतीयवर्गमूलप्रदेशैराहतैर्गुणितैरसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्संख्यैः प्रतरस्यैकां श्रेणिं सकलामप्यपहरन्ति। इयमत्र भावना—एकप्रादेशिके श्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्र यः प्रदेशराशिस्तस्य यत्प्रथमवर्गमूलं तत्तृतीयवर्गमूलगुणितं सत् यावद्भवति, तावन्मात्रं खण्डं प्रत्येकं यदि सर्वेऽपि पर्याप्तापर्याप्तसंमूर्छिमगर्भजनुष्या गृह्णन्ति, ततः सकलामपि श्रेणिमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति, परमेकं मनुष्यरूपं न प्राप्यते। सर्वोत्कर्षेऽपि तेषामेतावतामेव केवलवेदसोपलब्धत्वात्। तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—"उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति, ते एकंमि मणुयरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ। कालओ ताव असंखेज्जाहिं उसप्पिणीहिं ओसप्पीणीहिं, खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं, किं भणियं होइ? तीसे सेढीए अंगुलायए खेत्ते जो य पएसरासी, तस्स जं पढम वग्गमूलपएसरासिमाणं, तं तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ, एवईएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव

निट्ठाइ, ताव मणुस्सावि अवहीरमाणा निट्ठंति । आह-कइमेगसेढी एइहमेत्तेहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जा उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ आह-खेत्तस्स सुहुमत्तणओ। सुत्तेविमं भणियं-"सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं। अंगुलसेढीमेत्ते उसप्पिणीओ असंखेज्जा ॥१॥" इति । ततश्चेदमायातं-कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयसमानाः। क्षेत्रतः पुनरेकस्यामेकप्रादेशिक्यां श्रेणावङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितं सद् यावत्प्रदेशपरिमाणं भवति, तावन्मात्राणि खण्डानि यावन्ति भवन्त्येकखण्डहीनानि, तावन्तः सर्वोत्कृष्टपदे मनुष्याः ॥२१॥

सासायणाइचउरो होंति असंखा अणंतया मिच्छा । कोडिसहस्सपुहुत्तं पमत्तइयरे उ थोवयरा ॥२२॥

(स्वो०)—सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टयविरतदेशविरताः प्रत्येकं संख्यातीता मन्तव्याः, सदा द्वौ नित्यौ, अनित्यौ द्वौ, उत्कृष्टसम्भवे। अनन्ता मिथ्यादृष्टयः, कोटीसहस्रपृथक्त्वतुल्याः प्रमत्तास्तेभ्योऽप्रमत्ताः स्तोकतराः। 'मिच्छाणंता चउरो पलियासखंस' इत्यस्यास्य च को विशेषो ? विशेषाभावे पुनरुक्तदोष इति ? अत्रोच्यते-क्रमोपन्यासोल्लङ्घनेन यथोत्तरं प्रभूताः ख्यापिताः अत्रायं विशेषः, अविरतेभ्यो न देशविरता बहव इति दोषः ? उच्यते-तुशब्दाधिक्याद् गुणाधिक्याच्च स्तोकाः ख्यापिता एवं न दोषः। इति गाथार्थः ॥२२॥

(मलय०)—तदेवमपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिभेदेन चतुर्दशविधानामपि जीवानां परिमाणमुक्तम्। सम्प्रति गुणस्थानकभेदेन चतुर्दशविधानां परिमाणमाह-सासादनादयः सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयविरतदेशविरतरूपाश्चत्वारः प्रत्येकमसंख्याताः, सासादनादीनां चतुर्णामपि प्रत्येकमुत्कर्षपदे क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा अनन्ता अनन्तसंख्या मिथ्यादृष्टयः, तेषामनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा प्रमत्ताः-प्रमत्तसंयता जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वपरिमाणाः प्राप्यन्ते, उत्कर्षतो-

ऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः । इह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्यानवभ्यः इति सामयिकी संज्ञा । तत जघन्यतोऽपि पञ्चदशसु कर्मभूमिषु प्रमत्तसंयताश्चिन्त्यमानाः कोटिसहस्रद्वयस्योपरि प्राप्यन्ते, उत्कर्षतो नवकोटिसहस्राणीति । तथा इतरे अप्रमत्तसंयताः स्तोकतराः प्रमत्तसंयतेभ्यः स्वल्पतराः ॥२२॥

एगाइ चउपण्णा समगं उवसामगा य उवसंता । अद्धं पडुच्च सेढीए होंति सव्वेवि संखेज्जा ॥२३॥

(स्वो०)—एकादारभ्य उत्कृष्टतश्चतुःपञ्चाशत्पर्यन्ताः समकं–एककालं उपशामकाः–अपूर्वकरणबादरसूक्ष्मा मोहनीयस्य उपशान्तमोहाश्च, चकारो भिन्नक्रमे, इयन्तो जीवाः प्रादुर्भवन्ति, प्रतिसमयं पुनरुत्पद्यमानाः श्रेणीकालं प्रतीत्य–आश्रित्य सर्वेऽपि श्रेण्यन्तर्गताः संख्येया इति । यद्यपि संख्येयाः सामान्यतोऽभिहिताः, तथापि शतानि, न सहस्राणि, न लक्षाः । कुत एतदवसीयते ? युक्तितः, प्रमत्ताप्रमत्तयतिकोटिसहस्रपृथक्त्वात्, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धपरिणामास्ते क्षपकाः, उत्कृष्टेनापि शतपृथक्त्वपरिमाणाः, तेभ्यो ये अन्तर्वर्तिस्वल्पपरिणामास्ते उपशामका अन्तर्मुहूर्त्तान्तर्वर्तिनः, परत सर्वेषामप्यभावादियन्तो भावनीयाः । इति गाथार्थः ॥२३॥

(मलय०)—इहोपशमका उपशान्ताश्च कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न, उपशमश्रेणेरन्तरस्य भावात् । ततश्च यदा उपशमका–अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपराया उपशान्ता उपशान्तमोहा भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कर्षतश्चतुःपञ्चाशत् । इदं प्रमाणं प्रवेशनकमधिकृत्योक्तम् । एतावन्त एकस्मिन्समयेऽपूर्वकरणादिषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमुपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रविशन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः। श्रेणेरुपशमश्रेणेरद्धा कालं प्रतीत्य पुनर्भवन्ति सर्वेऽपि संख्येयाः । इदमुक्तं भवति—सकलेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तलक्षणे उपशमश्रेणिकालेऽन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वेऽपि संख्येयाः प्राप्यन्ते । आह–नन्वन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽप्युपशमश्रेणिकाले असंख्येयाः समयाः प्राप्यन्ते, तत्र यदि प्रतिस-

मयमेकैकः प्रविशति, तथापि सकलं श्रेणिकालमधिकृत्यासंख्येयाः प्राप्नुवन्ति, किं पुनर्द्वित्र्यादेरारभ्योत्कर्षतश्चतुःपञ्चाशतः प्रवेशने ?। अत्रोच्यते—स्यादियं कल्पना, यदि सकलेष्वपि श्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवेत्, यावता स एव न भवति, किं तु केषुचिदेव समयेषु। अथैतदपि कथमवसीयते ? इति चेत, उच्यते—इहोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते पर्याप्तगर्भजमनुष्या एव, न शेषजीवाः, तेऽपि चारित्रिणः, न ये केचन, चारित्रिणश्चोत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः, तेऽपि च न सर्वेऽपि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, किं तु कतिपया एव, ततो ज्ञायते न सर्वेष्वप्युपशमश्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवति, किन्तु केषुचिदेव। तत्रापि कदाचित्कुत्रचित्समये पञ्चदशापि कर्मभूमीरधिकृत्योत्कर्षतश्चतुःपञ्चाशत्प्रविशन्तः प्राप्यन्ते, नाधिकाः। ततः सकलेऽपि श्रेणिकाले संख्येया एव भवन्ति, नासंख्येयास्तेऽपि च संख्येयाशतानि द्रष्टव्याः, न सहस्राणि, तथा पूर्वसूरिभिरावेदितत्वात् ॥२३॥

खवगा खीणाजोगी एगाइ जाव होंति अट्ठसयं। अद्धाए सयपुहुत्तं कोडिपुहुत्तं सजोगीओ ॥२४॥

(स्वो०)—क्षपकाः क्षीणा अयोगिनः क्षपणार्हापूर्वकरणबादरसूक्ष्मकषायाः क्षपका इति, क्षीणाः—क्षीणकषायाः, अयोगिनो—योगव्यापाररहिताः, निरुद्धपञ्चदशयोगास्ते त्वेकादयो यावदष्टशतं तावद् भवन्ति १०८ समकमेककालं। 'अद्धायां' श्रेणिकाले अन्तर्मुहूर्त्तान्तर्वर्तिनः शतपृथक्त्वमात्राः प्रादुर्भवन्ति, पृथक्त्वम् तु द्विशतादिनवशतपर्यन्तम्। सयोगिनः केवलज्ञानिनः कोटीपृथक्त्वप्रमाणाः। इति गाथार्थः ॥२४॥

(मलय०)—इहापि क्षपकाः क्षीणमोहा अयोगिनश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, क्षपकश्रेणेरयोगिकालस्य चान्तरसंभवात्। ततो यदा क्षपका—अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसंपरायसूक्ष्मसंपरायाः, क्षीणाः—क्षीणमोहा, अयोगिनो—अयोगिकेवलिनश्च भवन्ति, तदा जघन्यत

एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽष्टशतं अष्टाधिकशतप्रमाणाः। इदमपि प्रमाणं प्रवेशनमधिकृत्योक्तमवसेयम्, एतावन्त एकस्मिन् समये क्षपकत्वे क्षीणमोहत्वे अयोगित्वे चोत्कर्षतः प्रविशन्तीत्यर्थः। 'अद्धाए सयपुहुत्तं'ति–अद्धा क्षपकश्रेणिकालोऽयोगिकालश्च, तस्यामद्धायां सकलायामपि प्रत्येकमन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वसंख्यया शतपृथक्त्वसंख्याः प्राप्यन्ते। इयमत्र भावना–सकलेऽपि क्षपकश्रेणिकालेऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिष्वन्येऽन्ये प्रविशन्तो यदि सर्वेऽपि संख्यायन्ते, तथाप्युत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वसंख्या एव लभ्यन्ते, नाधिकाः। एवमयोगिकेवलिनोऽपि भावनीयाः। 'कोडिपुहुत्तं सजोगीओ' इति–सयोगिनः सयोगिकेवलिनः पुनः कोटिपृथक्त्वं कोटिपृथक्त्वसंख्याः। इह सयोगिकेवलिनः सदैव भवन्ति, ध्रुवत्वात्तेषाम्। ते च जघन्यपदेऽपि कोटिपृथक्त्वमानाः, उत्कर्षतोऽपि कोटिपृथक्त्वमाना एव, केवलमुत्कर्षपदे कोटिपृथक्त्वं बृहत्तरमवसेयम् ॥२४॥

उक्तं द्रव्यप्रमाणद्वारम्। क्षेत्रद्वारमाह—

अपज्जत्ता दोन्निवि सुहुमा एगिंदिया जए सव्वे। सेसा य असंखेज्जा बायरपवणा असंखेसु ॥२५॥

(स्वो०)—अपर्याप्तौ द्वौ करणापर्याप्तकलब्ध्यपर्याप्तकौ, अथवा प्रत्येकसाधारणापर्याप्तकौ, तावेव विशेष्येते-सूक्ष्मावेकेन्द्रियौ. अपिशब्दो भिन्नक्रमः, स च सम्भावने, सूक्ष्मा एकेन्द्रियाः पर्याप्तकाः सर्वेऽपि–सर्वस्मिन् जगति सर्वशब्द उभयत्र सम्बन्धनीयः प्रथमाबहुवचनान्तः सप्तम्येकवचनान्तश्च। ततः सर्वेऽपि सूक्ष्मा एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः प्रत्येकसाधारणपर्याप्तका द्वावेवापर्याप्तकौ तज्जातीयौ पूर्वोक्तौ सर्वस्मिन् जगति प्रत्येकं लोकाकाशव्यापिनौ इत्यर्थः। शेषाः पृथिव्यादयो द्वीन्द्रियादयश्च प्रत्येकाः साधारणाश्च ये बादराः प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च ते लोकासंख्येयभागे स्थिताः। ये बादरा वायुकायिकास्ते पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च लोकस्याने-

केष्वसंख्येयभागेषु स्थिताः। आह परः–सूक्ष्माः सप्रभेदाः सर्वे प्रत्येकं सर्वलोकापन्नाः, शेषा बादराः सप्रभेदाः प्रत्येकं लोकास्यासङ्ख्येयभागापन्नाः, एवमञ्जसैवाऽभीष्टेऽर्थे सिद्धे कस्मादेवं व्याख्यायते, सूत्रे चानर्थकं अपर्याप्तद्वयग्रहणं क्रियते ? उच्यते–केषाञ्चिदपर्याप्तकाः सर्वेऽपि प्रभूता इति कृत्वा सर्वलोकापन्नाः, तत्र स्वकायनिश्रया सर्वेषामुत्पत्तेरेकैकपर्याप्तकनिश्रयाऽसङ्ख्येया अपर्याप्तकाः सम्भवन्ति, अस्यार्थस्य ख्यापनाय एवं व्याख्यायते, अथवाऽन्या सूत्रघटना–अपर्याप्ता अपिशब्दात् पर्याप्ताश्च सूक्ष्मा द्वावप्येतौ सर्वस्मिञ्जगति भवत इति गाथार्थः ॥२५॥

(मलय०)––तदेवमुक्तं द्र० प्रमाणम्। साम्प्रतं क्षेत्रप्रमाणमाह–द्वये अप्यपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्तकाश्च, अपिशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् पर्याप्ताश्च, सूक्ष्मा एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि जगति भवन्ति। 'सुहुमा उ सव्वलोए' इति वचनप्रमाण्यात्। आह–सूक्ष्माः सर्वेऽपि पृथिव्यादयः पर्याप्तादिभेदभिन्नाः प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिन इत्यञ्जसैवाभीष्टार्थः सिद्धः, ततः किमर्थमिह मुख्यया वृत्त्या अपर्याप्तग्रहणं कृतमपिशब्दात्तु पर्याप्तग्रहणमिति ?, उच्यते–पर्याप्तापेक्षया स्तोकानामप्यपर्याप्तानां स्वरूपतोऽतिबाहुल्यख्यापनार्थम्। तथाहि–यद्यपि पर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणहीनाः अपर्याप्तास्तथापि ते सर्वस्मिन्नपि जगति वर्त्तन्ते, इत्युच्यमाने निःसंशयमतिबाहुल्यं तेषां ख्यापितं भवति। अथ कथमपर्याप्ताः पर्याप्तापेक्षया संख्येयगुणहीनाः ?, उच्यते–प्रज्ञापनायामपर्याप्तापेक्षया पर्याप्तानां संख्येयगुणतयाभिधानात्। तथा च तद्ग्रन्थः–"सव्वथोवा सुहुमा अपज्जत्ता, पज्जत्ता संखेयगुणत्ति।" अन्यत्राप्युक्तं–"जीवाणमपज्जत्ता बहुतरगा बायराण विन्नेया। सुहुमाण उ पज्जत्ता, ओहेण उ केवली बिंति ॥१॥" शेषास्तु शेषाः पुनः पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्ना बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवनस्पतयो द्वीन्द्रियादयश्च प्रत्येकं लोकस्यासङ्ख्येयतमे भागेऽव-

तिष्ठन्ते। 'वायरपवणा असंखेसु' त्ति–बादरपवना बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता अपर्याप्तश्च प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयेषु भागेषु वर्त्तन्ते। लोकस्य हि यत्किमपि सुषिरं तत्र सर्वत्रापि वायवः प्रसर्पन्ति। यत्पुनरतिनिविडनिचितावयवतया सुषिरहीनकनकगिरिमध्यभागादि तत्र न। तच्च सकलमपि लोकस्यासंख्येयभागमात्रम्। तत एकमसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वप्यसंख्येयेषु भागेषु वायवो वर्त्तन्त इति ॥२५॥

सासायणाइ सव्वे लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि। मिच्छा उ सव्वलोए होइ सजोगीवि समुग्घाए ॥२६॥

(स्वो०)—सास्वादनादीनि सर्वगुणस्थानानि सास्वादनादयो वा प्रत्येकं सर्वगुणस्थानजीवा लोकस्याऽसंख्येयभागे व्यवस्थिताः। मिथ्यादृष्टयस्तु सर्वलोकापन्नाः, यतः सूक्ष्मनामकर्मोदयिनो मिथ्यादृष्टय एव भवन्ति नाऽन्ये सास्वादनादयः। 'सजोगिनोऽपि' केवलिसमुद्घातावस्थायां कार्मणयोगेन सयोगिनः सर्वजगद्व्यापिनो भवन्ति इति गाथार्थः ॥२६॥

(मलय०)—सासादनादयः सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवलिवर्जाः प्रत्येकं सर्वेऽपि लोकस्यासंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो हि संज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वेव प्राप्यन्ते, सासादनास्तु केचित्स्वल्पाः करणापर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपि, ते च संज्ञिपञ्चेन्द्रियादयः स्वल्पत्वाल्लोकस्यासंख्येयभागे वर्त्तन्त इति सासादनादयो लोकासंख्येयभागवर्तिन उक्ताः। तथा मिथ्यादृष्टयः सर्वलोके सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति, सूक्ष्मैकेन्द्रिया हि सकललोकव्यापिनः ते च मिथ्यादृष्टय इति। तथा सयोग्यपि सयोगिकेवल्यपि, आस्तां मिथ्यादृष्टय इत्यपिशब्दार्थः, समुद्घाते समुद्घातगतः सन् सर्वलोके भवति, सकललोकव्यापी भवति। तथाहि–समुद्घातं कुर्वन् प्रथमे दण्डसमये, द्वितीये च कपाटसमये लोकस्यासंख्येयतमे भागे वर्त्तते, तृतीये

मथः समये पुनरसंख्येयभागेषु, चतुर्थे सर्वलोके। तथा चोक्तं—"चतुर्थे लोकपूरणमष्टमे संहार" इति ॥२६॥

समुद्घातप्रसङ्गेनाऽशेषसमुद्घातसङ्ख्यां प्रतिपादयन्नाह—

वेयणकसायमारणवेउव्वियतेउहारकेवलिया। सग पण चउ तिन्नि कमा मणुसुरनेरइयातिरियाणं ॥२७॥

(स्वो०)—वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः, मरणसमुद्घातः, उत्तरवैक्रियशरीरकरणसमुद्घातः, तेजोलेश्यासमुद्घातः, (आहारकसमुद्घातः) केवलिसमुद्घातः, एवं सप्त समुद्घाताः। एतेषामेव गतिषु सम्भवमाह–मनुष्यगतौ सर्वेऽपि अविकलाः, देवगतौ पञ्चाद्याः, नरकगतौ चत्वार आद्याः, तिर्यग्गतौ त्रय आद्या इति गाथार्थः ॥२७॥

(मलय०)—होइ सजोगीवि समुग्घाए' इत्युक्तं ततः समुद्घातप्रस्तावादशेषान् समुद्घातान् प्ररूपयति–समुद्घातशब्दः पाश्चात्योऽग्रेतनगाथागतो वा प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तद्यथा–वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः, मारणसमुद्घातो, वैक्रियसमुद्घातः, तैजससमुद्घात, आहारकसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातश्च। तत्र वेदनया समुद्घातो वेदनासमुद्घातः, स चासातवेदनीयकर्माश्रयः। कषायेण कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः, स च कषायचारित्रमोहनीयाश्रयः। तथा मरणे मरणकाले भवो मारणः, मारणश्चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः, सोन्तर्मुहूर्त्तविशेषायुःकर्मविषयः। तथा वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरीरनामकर्मविषयः। तथा तेजसि विषये भवस्तैजसः,स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः, स च तेजोलेश्याविनिर्गमकालभावी तैजसशरीरनामकर्माश्रयः। आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः, स चाहारकशरीरनामकर्मविषयः। केवलिन्यन्तर्मुहूर्त्तभाविपरमपदे भवः समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः?। उच्यते–समित्येकीभावः, उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः

समुद्घातः । केन सह एकीभावगमनं ? इति चेत्, उच्यते-अर्थाद्वेदनादिभिः । तथाहि-यदा आत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति, तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः । प्राबल्येन घातः कथं ? इति चेत्, उच्यते-इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः, तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयपुद्गलपरिशातं करोति। तथाहि-वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्धवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति, तैश्च प्रदेशैर्वदनजठरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्त्तं यावदवतिष्ठते, तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्त्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। कषायसमुद्घातसमुद्धतः कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामविस्तराभ्यां देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। एवं मारणसमुद्घातगत आयुःपुद्गलशातम्। वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्वत् शातयति। तथा चोक्तं—"वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता संखेज्जाइ जोयणाइं दण्डं निसिरइ, निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" इति। तैजसाहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद्घातवदवगन्तव्यौ। केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं, आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारकशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। आहारकसमुद्घातश्चाहारकशरीरप्रारम्भकाले वेदितव्यः। केवलिसमुद्घातसमुद्धतस्तु केवली सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। केवलिसमुद्घातवर्जाः

शेषाः षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकाः, केवलिसमुद्घातः पुनरष्टसामयिकः। उक्तं च प्रज्ञापनायां—"वेयणासमुग्घाएणं भन्ते! कइ समइए पन्नत्ते? गोयमा! असंखेज्जसमइए अन्तोमुहुत्तिए पन्नत्ते। एवं जाव आहारसमुग्घाए। केवलिसमुग्घाएणं भन्ते! कइ समइए पन्नत्ते? गोयमा! अट्ठसमइए पन्नत्ते" इति। एतानेव समुद्घातान् गतिषु चिन्तयति। 'सग'इत्यादि–मनुष्यगतौ सप्तापि समुद्घाता भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्। सुरगतावाद्याः पञ्च समुद्घाताः, आहारकसमुद्घातकेवलिसमुद्घातयोस्तत्रासम्भवात्, पुनरेषु चतुर्दशपूर्वाधिगमक्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रलब्ध्यसम्भवात्। निरयगतावाद्याश्चत्वारः समुद्घाताः, तत्र तैजससमुद्घातस्याप्यसम्भवात्, तदसम्भवश्च नैरयिकाणां तेजोलेश्यालब्धेरभावात्। तिर्यग्गतौ वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनवर्जानां शेषजीवानामाद्यास्त्रयः समुद्घाताः, तेषां वैक्रियलब्धेरप्यसम्भवात् ॥२७॥

पंचेन्दियतिरियाणं देवाण व होंति पंच सन्नीणं। वेउव्वियवाऊणं पढमा चउरो समुग्घाया ॥२८॥

(स्वो०)—पञ्चेन्द्रियतिरश्चां संज्ञिनां देवानामिव पञ्चाद्याः समुद्घाता भवन्तीति, उत्तरवैक्रियशरीरिणां वायुकायिकानां चत्वार आद्याः समुद्घाता भवन्तीति, यतस्तेषां वैक्रियशरीरलब्धिरिति गाथार्थः ॥२८॥

(मलय०)—वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनयोर्विशेषमाह–पञ्चेन्द्रियतिरश्चां संज्ञिनां देवानामिव प्रथमाः पञ्च समुद्घाता भवन्ति। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वपि संज्ञिषु केषुचिद्वैक्रियतेजोलेश्यालब्धिसंभवात्। वैक्रियलब्धिमतां पुनर्वायूनां वायुकायिकानां प्रथमा वेदनाकषायमारणवैक्रियरूपाश्चत्वारः समुद्घाताः ॥२८॥

गतं क्षेत्रद्वारम्। स्पर्शनाद्वारमाह—

चउदसविहावि जीवा समुग्घाएणं फुसंति सव्वजगं। रिउसेढीए व केई एवं मिच्छा सजोगीया ॥२९॥

(स्वो०)—चतुर्दशप्रकारा अपि तिर्यञ्चः समुद्घातेन सर्वं जगत् स्पृशन्ति ऋजुश्रेण्या वा केचन, एवं समुद्घातेनैव मिथ्यादृष्टयः सयोगिनश्च सर्वं जगत्स्पृशन्ति। 'चोद्दसविहावि जीवा' इति वक्तव्ये यत्तिरश्चोऽभिधत्ते तद् ज्ञापयति—तिर्यग्लोकनिवासिनो ये तिर्यञ्चो मनुष्या वा ते मरणसमुद्घातेन सर्वं जगत् स्पृशन्ति, एक ऋजुगत्या ऊर्ध्वलोकान्ते व्रजति, अन्यस्त्वधोलोकान्ते, तथैवोत्पत्तिकालः, एवं सर्वलोकस्पर्शिनो भवन्ति, कुत एतदवसीयते? उच्यते—'रिउसेढीइ व केई' इति वचनात्, येऽधोलोकान्तादूर्ध्वलोकान्ते स्थावरकायिका ऋजुश्रेण्या उत्पद्यन्ते ते प्रत्येकं सर्वलोकस्पर्शिनो भवन्ति, न च त्रसतिरश्चां ऊर्ध्वलोकेऽधोलोके वा सम्भव इति। देवा नारका वा नैवं स्पर्शनां कुर्वन्ति, यतस्ते तिर्यग्लोकोपपातिनो बाहुल्येन स्वभवान्ते भवन्ति, येऽप्येकेन्द्रियत्वं प्रतिपद्यन्ते देवास्तेऽपि स्वस्थानादूर्ध्वमुखा व्रजन्ति, तिर्यग्लोकमुखा वा, नाधोलोकमुखा अतस्ते न सर्वलोकस्पर्शिनो भवन्ति। वेदनासमुद्घाते कषायसमुद्घाते वैक्रियशरीरकरणसमुद्घाते तेजोलेश्यानिसर्गसमुद्घाते आहारकशरीरकरणसमुद्घाते जीवस्यात्मप्रदेशाः यथा हुतभुक्तसदुग्धाद्यवयवास्तुच्छा अपि स्थालीमापूरयन्ति तन्मुखविवरेण च निर्गच्छन्ति एवं जीवप्रदेशा अपि शरीरात्सर्वाशा आपूरयन्तो निर्गच्छन्त्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्, न च लोकव्यापिनो भवन्ति, सर्वसमुद्घातानां वेदनासमुद्घातोऽन्तर्गतो, यथा रोगाणां ज्वरः। वैक्रियाहारकशरीरकरणार्थं निर्गता जीवप्रदेशास्तद्योगान् पुद्गलान् गृहीत्वा तच्छरीरं निष्पादयन्ति, तस्य च षट् पर्याप्तयो युगपत् प्रारभ्यन्ते, ततः शरीरपर्याप्तिमन्तर्मुहूर्त्तेन निष्पादयन्ति, शेषाः सामयिक्यः, औदारिकस्य तु प्रथमा सामयिकी शेषा आन्तर्मुहूर्त्तिकाः। तेजोलेश्यासमुद्घातोऽवश्यं कषायसमुद्घातपूर्वको, यतः कषायाग्निः प्रथमं जठरे सम्भवति, ततः स बलवान् मुखेन निर्गच्छंस्तेजोलेश्योच्यते। केवलिसमुद्घा-

तस्तु अष्टसामयिकः प्रतीत एव, तस्मिन् सयोगी जगत्स्पर्शी भवति। 'मिथ्यादृष्टयः' तुशब्दात् सूक्ष्माः सर्वे सर्वलोकापन्नाः, एकजीवो वा समुद्घातेनैकेन्द्रियवदिति गाथार्थः ॥२९॥

(मलय०)—गतं क्षेत्रद्वारमधुना स्पर्शनाद्वारमाह–चतुर्दशविधा अपि अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिभेदाच्चतुर्दशप्रकारा अपि जीवाः सर्वं जगत्स्पृशन्ति। कथमित्याह–समुद्घातेन–मारणसमुद्घातेन। इयमत्र भावना–इह सूक्ष्मैकेन्द्रियाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येकं सकललोकवर्त्तिनस्ततस्ते स्वस्थानतोऽपि सकललोकस्पर्शिन उपपद्यन्ते, किं पुनर्मारणान्तिकसमुद्घातयोगतः। बादरापर्याप्तैकेन्द्रियादयः स्वस्थानमधिकृत्य प्रत्येकं लोकासंख्येयभागवर्त्तिन एव समुद्घातमधिकृत्य पुनः सकललोकस्पर्शिनोऽपि भवन्ति। तथाहि–समुद्घात इह मारणसमुद्घात उच्यते। मारणसमुद्घातसमुद्धतस्तु जीवः स्वशरीरविष्कम्भबाहल्यं जघन्यतो दैर्घ्येणाङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुत्कर्षेण संख्येयानि योजनानि स्वप्रदेशदण्डं निसृजति, निसृज्य च यत्र स्थानेऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यते, तत्र स्थाने तं स्वप्रदेशदण्डं प्रक्षिपति, तच्चोत्पत्तिस्थानं ऋजुगत्या एकेन समयेन स्वप्रदेशदण्डः प्राप्नोति, विग्रहगत्या तूत्कर्षतश्चतुर्थे समये, यतो मारणसमुद्घातमधिकृत्य नानाजीवापेक्षया बादरापर्याप्तैकेन्द्रियादयो द्वादशभेदाः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वं जगत्स्पृशन्तः प्राप्यन्ते इति। 'रिउसेढीए व केई' इति–केचित्पुनर्जीवाः सूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणा ऋजुश्रेण्या ऋजुगत्या, वाशब्दः पक्षान्तरसूचने, न केवलं समुद्घातेन ऋजुश्रेण्या वा इत्यर्थः। सर्वं जगत्स्पृशन्ति, तथाहि–अधोलोकादूर्ध्वलोकान्ते उत्पद्यमानाश्चतुर्दशापि रज्जूः स्पृशन्ति, एवं सर्वास्वपि दिक्षु भावनीयम्। ततो नानाजीवापेक्षया ऋजुश्रेण्यापि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकस्पर्शिनः। संप्रति गुणस्थानके स्पर्शनां चिन्तयति–'एवं मिच्छासजोगि'त्ति–एवं सर्वजगत्स्पर्शितया मिथ्यादृष्टयः सयोगिनश्चावगन्तव्याः। तत्र मिथ्यादृशः सूक्ष्मैकेन्द्रियादयः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाश्च सकललोकस्प-

शिनः । सयोगिकेवलिनः पुनः केवलिसमुद्घातगताश्चतुर्थसमये सर्वलोकस्पर्शिनः प्रागेवोपदर्शिताः ॥२९॥

शेषगुणस्थानेष्वाह—

मीसा अजया अड अड बारस सासायणा छ देसजई । सग सेसा उ फुसंति रज्जू खीणा असंखंसं ॥३०॥

(स्वो०)—सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरताश्च अष्टावष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति, द्वादश सास्वादनाः स्पृशन्ति, षट् देशविरताः स्पृशन्ति, उक्तशेषाः प्रमत्ताद्याः सप्त रज्जूः स्पृशन्ति, तुशब्दात् प्रमत्तोऽप्रमत्ताभिमुखः तत्स्थानमप्राप्तो ग्राह्यः, क्षीणकषायस्तु रज्जोरसंख्ययेयभागं स्पृशन्ति, यतो नासौ म्रियते न च समुद्घातं करोतीति गाथार्थः ॥३०॥

(मलय०)—शेषगुणस्थानकेषु स्पर्शनामाह–मिश्राः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, अयता अविरतसम्यग्दृष्टयः प्रत्येकमष्टावष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति । द्वादश पुनः सासादनाः । देशयतो देशविरताः षट् । शेषा उक्तव्यतिरिक्ताः क्षीणमोहवर्जाः प्रमत्ताद्याः प्रत्येकं सप्त सप्त रज्जूः स्पृशन्ति । क्षीणाः क्षीणमोहाः पुनरसंख्येयांशं रज्जोरसंख्येयं भागम् ॥३०॥

एतदेव भावयति—

सहसारंतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं । निज्जंति अच्चुयं जा अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥३१॥

(स्वो०)—सति सम्यग्मिथ्यात्वगुणे न म्रियन्ते अतो भवस्था एव गृह्यन्ते, सहस्रारदेवलोकान्तवर्तिनः तदवसानाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयो देवा नारकानञ्जसा पूर्वस्वजनस्नेहेन गच्छन्ति तृतीयपृथिवीं यावत्, एवं हि सप्तरज्जुस्पर्शना भवति, यतस्तिर्यग्लोकात्पञ्च सहस्रारो द्वे तृतीया पृथिवीति, अन्यां त्वेकां रज्जुमच्युतदेवेन स्वालयेऽधस्तनसुराः यतो नीयन्तेऽतः स्पृशन्ति, एवमष्टाविति । यद्यप्यविरतस्य

मृत्युरस्ति तथापि अधश्चतुर्थपृथिव्यादिषु ससम्यक्त्वो न गच्छति, नाप्यागच्छति, उपरि वा सहस्रारं गच्छति, तेन सम्यग्मिथ्यादृष्टिवदविरतोऽपि प्रतिपादितः, यदि पुनः षष्ठ्याः सास्वादनवदागच्छति द्वादशरज्जुस्पर्शना मतान्तरे सम्भाव्यत एव। निर्देशगाथातुशब्दान्नवरज्जुस्पर्शना भवत्यविरतस्य, यतोऽनुत्तरदेवा मनुष्यभवं गच्छन्तः सप्तरज्जुस्पर्शिनो भवन्ति, केषाञ्चिन्मतेन क्षायिकदृष्टयः तृतीयपृथिव्यां गच्छन्तीति गाथार्थः ॥३१॥

(मलय०)—एनामेव गाथां स्वयमेव भावयति–इह सहस्रारान्तकाः सहस्रारपर्यवसाना देवा नारकस्नेहेन पूर्वसांगतिकनारकस्नेहेन तस्य वेदनोपशमनार्थं, उपलक्षणमेतत्, पूर्ववैरिकस्य नारकस्य वेदनोदीरणार्थं वा तृतीयां भुवं नरकपृथिवीं गच्छन्ति। आनतादयो देवाः पुनरल्पस्नेहादिभावात्स्नेहादिप्रयोजनेनापि नरकं न गच्छन्तीति सहस्रारान्तग्रहणम्। तथा अच्युतदेवेन जन्मान्तरस्नेहतस्तद्भवस्नेहतो वा इतरसुराः शेषसुरा अच्युतदेवलोकं यावन्नीयन्ते, ततः सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च प्रत्येकमष्टाष्टरज्जुस्पर्शना घटते। इयमत्र भावना–इह यदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवनपत्यादिको देवः पूर्वसांगतिकेनाच्युतदेवलोकवासिना देवेनाच्युतदेवलोके स्नेहान्नीयते, तदा तस्य षड्रज्जुस्पर्शना भवति, 'छ अच्चुए' इति वचनात्। तथा कश्चिदमरः सहस्रारकल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वसांगतिकस्य वेदनोपशमनाय, पूर्ववैरिकस्य वेदनोदीरणाय वा वालुकाप्रभाभिधानामपि नरकपृथिवीमुपगच्छति, तदा भवनपतिनिवासस्याधस्तादन्यदपि रज्जुद्वयमधिकं प्राप्यन्ते, इति पूर्वोक्ताः षट् रज्जवो रज्जुद्वयेन सहिता अष्टौ भवन्ति। एवं नानाजीवापेक्षया सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽष्टरज्जुस्पर्शकाः प्राप्यन्ते। अथवा कोऽपि सहस्रारकल्पनिवासी देवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वोक्तकारणवशात्तृतीयां नरकभुवं गच्छन् सप्त रज्जूः स्पृशति, स एव च सहस्रारदेवो यदाच्युतदेवेन स्नेहादच्युते देवलोके नीयते, तदान्यामप्येकामधिकां रज्जुं स्पृशतीत्यष्टर-

ज्जुस्पर्शना, एवमविरतसम्यग्दृष्टीनामप्यष्टरज्जुस्पर्शना भावनीया। नन्वविरतसम्यग्दृष्टयस्तद्भवे वर्त्तमानाः कालमपि कुर्वन्ति, ततस्तेषामन्यथापि कथं न भावना क्रियते? उच्यते—अन्यथा तेषामष्टरज्जुस्पर्शनाया असंभवात्। तथाहि—तिर्यङ्मनुष्यो वा ससम्यक्त्वो द्वितीयादिषु नरकपृथिवीषु न गच्छति, नापि तत आगच्छति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतः, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतः, सर्वोत्कृष्टा सप्तरज्जुस्पर्शनावाप्यते, नाधिका क्वाप्यन्यत्र। ततोऽविरतसम्यग्दृष्टयोऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टिवदविशेषेणाष्टरज्जुस्पर्शकाः प्रतिपत्तव्याः, न प्रकारान्तरेण। अपरे पुनराहुरविरतसम्यग्दृष्टीनामुत्कर्षतो नवरज्जुस्पर्शना। कथमिति चेत्, उच्यते—इह तन्मतेन क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तृतीयस्यामपि नरकपृथिव्यां गच्छन्ति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतां, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना। तृतीयस्यां पृथिव्यामुत्पाद्यमानानां ततो वा उद्धृत्य मनुष्यभवमागच्छतां द्विरज्जुस्पर्शनेति सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां नवरज्जुस्पर्शना। व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायेण पुनरमीषां द्वादशरज्जुस्पर्शनापि प्राप्यते। तथा हि—अनुत्तरसुरभवं गच्छतां, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना। तथा नरतिरश्चामन्यतरोऽविरतसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धायुः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन गृहीतेन व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायतः षष्ठनरकपृथिव्यामिति नारकत्वेनोत्पद्यते, ततो वा उद्धृत्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्ववानत्र मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते, ततोऽविरतसम्यग्दृष्टिः षष्ठनरकपृथिवीं गच्छन् ततो वा समागच्छन् पञ्च रज्जूः स्पृशति। ततः सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना। सप्तमपृथिव्यां पुनः सम्यक्त्वसहितस्य गमनागमनं वा प्रज्ञप्त्यामपि निषिद्धं, ततः षष्ठनरकपृथिवीग्रहणम्॥

सास्वादनस्य द्वादश भावयति—

छट्ठाए नेरइओ सासणभावेण एइ तिरिमणुए । लोगंतनिक्कुडेसु जंतिऽन्ने सासणगुणत्था ॥३२॥

(स्वो०)—षष्ठनरकपृथिव्यां भवान्ते औपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्य मिथ्यात्वं गन्तुमनाः साखादनत्वं प्राप्तः कालं करोति तेन सास्वादनः तिर्यक्षु मनुष्येषु वा उत्पद्यते ततः पञ्चरज्जुस्पर्शो भवति, तिर्यग्लोकात्तथाविधा अन्ये सास्वादनगुणस्था लोकान्तनिष्कूटेषूत्पद्यन्ते, एवं द्वादश रज्जुस्पर्शना भवति, प्रायोऽधोलोकाभिमुखी सास्वादनगुणापन्नानां सत्त्वानां गतिरेव नास्ति, तेन इयन्मात्रा स्पर्शना प्रतिपादिता, अथोर्ध्वलोकवदधोलोकेऽपि यान्ति ततश्चतुर्दशापि लभ्यन्त इति गाथार्थः ॥३२॥

(मलय०)—संप्रति सासादनानां द्वादशरज्जुस्पर्शनां भावयति-षष्ठनरकपृथिव्यां वर्त्तमानः कश्चिन्नारकः स्वभवान्ते औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्य सासादनभावं गतः सन् कालं करोति, कालं च कृत्वा तिर्यक्षु मनुष्येषु वा समुत्पद्यते, ततस्तस्य पञ्चरज्जुस्पर्शना भवति । इह सप्तमपृथिवीनारकः सासादनभावं परित्यज्यैव तिर्यक्षूत्पद्यते, इति षष्ठपृथिवीग्रहणम् । तथा तिर्यग्लोकादपि केचित्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनगुणस्थाः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्त्तिनः संत उपरि लोकान्तनिष्कुटेषु त्रसनाडीपर्यन्तवर्त्तिलोकान्तप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, ततस्तेषां सप्तरज्जुस्पर्शना । ततः सामान्यतः सासादनगुणस्थानस्थानां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना समुत्पद्यते । नह्येकं जीवमधिकृत्येयं स्पर्शना चिन्त्यते, किंत्वेकं गुणस्थानम्, ततो न कश्चिद्दोषः । इह प्रायः सासादनभावमापन्नानामधोगतिर्नोपजायते, ततो द्वादशरज्जुस्पर्शना प्रतिपादिता । यदि पुनरधोपि गतिः सासादनानां भवेत्, ततोऽधोलोकनिष्कुटादिष्वपि तेषामुत्पादसंभवाच्चतुर्दशरज्जुस्पर्शनाभिधीयते ॥३२॥

उवसामगउवसंता सव्वट्ठे अप्पमत्तविरया य । गच्छन्ति रिउगईए पुंदेसजया उ बारसमे ॥३३॥

(स्वो०)—'उपशामका' उपशमश्रेण्यां निवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मकषायाः, 'उपशान्ता' उपशान्तकषायाः, 'अप्रमत्ताः'संयमोद्यमपरा 'विरता' उपशमार्हाः, चशब्दात् प्रमत्ता अपि अप्रमत्ताभिमुखाः सर्वार्थविमानं गच्छन्ति । गमनं च द्विधा—ऋजुगत्या वक्रगत्या च। सामयिकी ऋजुगतिः, त्रिविधा वक्रगतिः,द्विसामयिकी कोपर (कूर्प्पर) वक्रगतिः, त्रिसामयिकी लाङ्गुलवक्रगतिः, चतुःसामयिकी गोमूत्रिकावक्रगतिरिति, ते च भगवन्तो विशुद्धपरिणामा मनुष्याः स्वभवान्तसमये स्वशरीरपरित्यागेन स्वजीवप्रदेशैः सर्वार्थविमानं गच्छन्ति, ततः सप्तरज्जुस्पर्शिनो भवन्ति, यतः स तेषां गुणो यावदायुः, अतो मनुष्यायुषा ते तत्रायोगिवत् परभवायुर्गत्यानुपूर्व्यनुदयेन च गच्छन्ति, यत आगमः 'इह बोंदि चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झति' तस्मिन्नेव समयेऽत्र शरीरं परित्यजति, स्वशरीरत्यागेन तस्मिन्नेव समये सिद्धिस्थाने सिद्धत्वं प्राप्नोति, एवमेतेऽपि येनैव समयेन शरीरं परित्यजन्ति, तेनैव सर्वार्थविमानं प्राप्नुवन्ति। आह परः, उक्तमागमे–'परभवपढमे साडण' इति, परभवायुःप्रथमसमयोदये शरीरशातः शरीरत्यागो जीवस्य भवति, अतो देवायुरुदये शरीरं परित्यजतां कथं स्पर्शना तद्गुणा भवति ? उच्यते–नायं दोषः, ऋजुगतित्वात् , मनुष्यभवान्तसमये ऋजुगतावुत्पत्तिस्थान शरीरं अपरित्यजन् समारोहति स्म, यथेलिकाजीवः पुच्छस्थानमपरित्यजन् मुखेनापूर्वं क्षेत्रं शरीरवितानात् प्राप्य ततः पुच्छं संहरत्येवं सामयिकगतौ जीवः शरीरस्थ एवोत्पत्तिस्थानमारोहति, उभयक्षेत्रस्थस्यानन्तरसमये परभवायुरुदयमुपगच्छति, तस्मिंश्च समये शरीरशातं कुर्वतां न दोषः, ततः स्पर्शना उभयत्राविरोधेन सम्भवति, यतो वक्रगतावेव परभवादिसमये शरीरशातपूर्वकस्तदायुर्गत्यानुपूर्विकाणामुदयो घटते, न ऋजुगताविति । 'पुरुषा' मानवा देशविरताः द्वादशमे देवलोके गच्छन्ति, ऋजुगतावेव, यतः तिरश्चां न सहस्रारादूर्ध्वतो गमनमस्ति अतः षड्रज्जुस्पर्शना भावितैव । तुशब्दाद्यद्यप्यकर्मकत्वादस्पर्शनायोगी सिद्धिमुपगच्छति, तथाप्युपचारतोऽसावपि जीवप्रदेशैः सप्त-

रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं स्वस्वशरीरपरित्यागातिसिद्धिक्षेत्रप्राप्तत्वाच्च स्पर्शितवानेवोच्यते–यतः सिद्धक्षेत्रस्थाः सिद्धा उच्यन्ते, तथा तत्कालेऽसावपि सप्तरज्जुप्रमाणत्वात् तद्गत एवोच्यते, इति गाथार्थः ॥३२॥

(मलय०)—संप्रत्यपूर्वकरणादीनां स्पर्शनामभिधित्सुराह–उपशमका उपशमश्रेण्यारूढाः अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायाः,उपशान्ता उपशान्तमोहाः,तथा अप्रमत्तविरता अप्रमत्तसंयताः, चशब्दात्प्रमत्तभावाभिमुखाः, सर्वार्थे सर्वार्थसिद्धे महाविमाने ऋजुगत्या गच्छन्ति उत्पद्यन्ते, ततस्ते सप्तरज्जुस्पर्शिनः । इह क्षपकश्रेण्यारूढा अपूर्वकरणादयो न म्रियन्ते, न च मारणसमुद्घातमारभन्ते, ततस्तेषामसंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना घटते, नाऽधिका । अत एव क्षीणमोहस्यासंख्येयभागमात्रस्पर्शना प्रागभ्यधायि, ततोऽपूर्वकरणादीनामुपशमश्रेणिमधिकृत्य सप्तरज्जुस्पर्शना प्रत्यपादि । पर आह–ननु मनुष्यभवायुषः क्षये, परभवायुष उदये परलोकगमनं, तदानीं चाविरतता, नोपशमकत्वादि, तत्कथमपूर्वकरणादीनां सप्तरज्जुस्पर्शनेति ? नैष दोषः, इह द्विधा गतिः, कन्दुकगतिरिलिकागतिश्च । तत्र कन्दुकस्येव गतिः कन्दुकगतिः । किमुक्तं भवति ? यथा कन्दुकः स्वप्रदेशसंपिंडित ऊर्ध्वं गच्छति, तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन् स्वप्रदेशानेकत्र संपिण्ड्य गच्छति । तथा इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः । यथा इलिका पुच्छदेशमपरित्यजन्ती, मुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः पुच्छं संहरति, एवं जीवोऽपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये शरीरं परित्यजति । तत इलिकागतिमधिकृत्यापूर्वकरणादीनां सप्तरज्जुस्पर्शना न विहन्यते । तथा ऋजुगत्यैव 'पुंदेसजया' इति–अत्र पुंग्रहणेन मनुष्यग्रहणं, ततोऽयमर्थः–मनुष्यरूपा देशयता देशविरता द्वादशेऽच्युताभिधाने देवलोके गच्छन्ति उत्पद्यन्ते, ततस्तेषां षड्रज्जुस्पर्शना । तिर्यग्लोकमध्यादच्युतदेवलोकस्य षड्रज्जुमानत्वात् ॥३३॥

गतं स्पर्शनाद्वारम् । कालद्वारमधिकृत्योच्यते—

सत्तण्हमपज्जाणं अंतमुहुत्तं दुहावि सुहुमाणं । सेसाणंपि जहन्ना भवठिई होइ एमेव ॥३४॥

(स्वो०)—सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनां सप्तानामप्यपर्याप्तकानां सूक्ष्मपर्याप्तकानामपि अन्तर्मुहूर्त्तमात्रा भवस्थितिर्भवति, एकभवायुः प्रमाणमिति, 'द्विविधापि' जघन्य उत्कृष्टतश्च । शेषाणामपि बादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनां पर्याप्तकानां 'एवमेव' अन्तर्मुहूर्त्तमात्रा एव जघन्या भवस्थितिर्भवतीति गाथार्थः ॥३४॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं स्पर्शनाद्वारं । सम्प्रति कालद्वारं वक्तव्यम् । कालश्च त्रिधा । भवस्थितिकालः, कायस्थितिकालः, गुणस्थानविभागकालश्च । तत्र भवे एकस्मिन् स्थितिर्भवस्थितिस्तस्याः कालो भवस्थितिकालः । तथा काये पृथिवीकायादीनामन्यतमस्मिन् मृत्वा मृत्वा तत्रैव भूयो भूयः स्थितिरुत्पत्तिः कायस्थितिः, तस्याः कालः कायस्थितिकालः । तथा गुणस्थानेषु विभागेन पार्थक्येन तद्भावापरित्यागविषयः कालो गुणस्थानविभागकालः । तत्र प्रथमतो भवस्थितिकालमानमाह—सप्तानां सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्यानामपर्याप्तानां लब्ध्यपर्याप्तकानां, सूक्ष्माणां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां पर्याप्तानामपि च द्विधापि जघन्यत उत्कर्षतश्च भवस्थितिरेकभवायुःप्रमाणमन्तर्मुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तमात्रम् । केवलं जघन्यपदे तदेवान्तर्मुहूर्त्तं लघु द्रष्टव्यं, उत्कृष्टपदे तु तदपि बृहत्तरमिति । तथा शेषाणामपि बादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां जघन्या भवस्थितिरेवमेवान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन भवति ॥३४॥

शेषाणामुत्कृष्टभवस्थितिमाह—

बावीससहस्साइं बारस वासाइं अउणपन्नदिणा । छम्मासपुव्वकोडीतेत्तीसयराइं उक्कोसा ॥३५॥

(स्वो०)—द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि बादरपर्याप्तकैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिः, सा च पृथिवीकायिकेष्वेव, यतोऽप्कायिकानां सप्त, तेजःकायिकानां त्रीणि अहोरात्राणि, वायुकायिकानां त्रीणि (वर्षसहस्राणि), वनस्पतिकायिकानां दश वर्षसहस्राणि परमस्थितिरिति । द्वीन्द्रियाणां द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणां एकोनपञ्चाशद्दिनानि, चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः, असंज्ञिनां वर्षाणां पूर्वकोटिः, संज्ञिनां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सर्वेषां पर्याप्तकानां भवस्थितिः क्रमेणोत्कृष्टेति गाथार्थः ॥३५॥

(मलय०)—सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तबादरैकेन्द्रियादीनामुत्कृष्टां भवस्थितिमाह—इह पर्याप्तबादरैकेन्द्रियादीनां द्वाविंशतिवर्षसहस्रादिभिः सह यथासंख्येन सम्बन्धः । तत्र पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां द्वाविंशतिवर्षसहस्राण्युत्कृष्टा भवस्थितिः, सा च बादरपृथ्वीकायिकैकेन्द्रियापेक्षया द्रष्टव्या, न शेषैकेन्द्रियापेक्षया, शेषैकेन्द्रियाणामेतावत्या भवस्थितेरभावात् । तथाहि—उत्कृष्टा भवस्थितिर्बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकानां द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, बादरपर्याप्ताप्कायिकानां सप्तवर्षसहस्राणि, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकानां त्रयोऽहोरात्राः । पर्याप्तबादरवायुकायिकानां त्रीणि वर्षसहस्राणि, पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतीनां दशवर्षसहस्राणि । उक्तं च—"बावीस सत्त तिन्नि य, वाससहस्साणि दस य उक्कोसा । पुढविदगानिलपत्तेयतरुसु तेउतिरायं च ॥१॥" ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टा भवस्थितिर्बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकापेक्षयैव घटते, नान्यथा । तथा पर्याप्तद्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिर्द्वादशवर्षाणि । पर्याप्तत्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद्दिवसाः । पर्याप्तचतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः । पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटी । एषा च पूर्वकोटी पर्याप्तसम्मूर्छिमजलचरापेक्षया द्रष्टव्या, न संमूर्छिमस्थलचरखचरापेक्षया, तेषामेतावत्या भवस्थितेरभावात् । तथाहि—पर्याप्तसंमूर्छिमजलचराणा-

मुत्कृष्टा भवस्थितिः पूर्वकोटी, पर्याप्तसंमूर्छिमचतुष्पदस्थलचराणां चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, उरःपरिसर्पपर्याप्तसंमूर्छिमस्थलचराणां त्रिपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि, पर्याप्तभुजपरिसर्पसंमूर्छिमस्थलचराणां द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि, पर्याप्तसंमूर्छिमखचराणां द्विसप्ततिवर्षसहस्राणि। तथा चोक्तं—"सम्मुच्छपुव्वकोडी चउरासीई भवे सहस्साइं। तेवण्णा बायाला, बावत्तरि चेव पक्खीणं ॥१॥" ततः सम्मूर्छिमजलचरापेक्षयैव पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटिप्रमाणोत्कृष्टा भवस्थितिः प्राप्यते, न शेषजीवापेक्षया। तथा पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सा चानुत्तरसुरापेक्षया, सप्तमपृथिवीनारकापेक्षया वा वेदितव्या, नो शेषसंज्ञिजीवापेक्षया, शेषसंज्ञिजीवानामेतावत्या भवस्थितेरप्राप्यमाणत्वात्। तथाहि—चतुर्धा संज्ञी। तद्यथा—नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देवश्च। नारकश्च पृथिवीभेदात्सप्तधा। तत्र रत्नप्रभानारकाणां जघन्या भवस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा सागरोपममेकम्। शर्कराप्रभानारकाणां जघन्या सागरोपममेकं, उत्कृष्टा त्रीणि सागरोपमाणि। वालुकाप्रभानारकाणां जघन्या त्रीणि सागरोपमाणि, उत्कृष्टा सप्त। पङ्कप्रभानारकाणां जघन्या सप्त सागरोपमाणि, उत्कृष्टा दश। धूमप्रभानारकाणां जघन्या दश सागरोपमाणि, उत्कृष्टा सप्तदश। तमःप्रभानारकाणां जघन्या सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कृष्टा द्वाविंशतिः। महातमःप्रभानारकाणां जघन्या द्वाविंशतिसागरोपमाणि, उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशदिति। तिर्यञ्चः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पञ्चधा, तद्यथा—जलचराश्चतुष्पदस्थलचरा उरःपरिसर्पस्थलचरा भुजपरिसर्पस्थलचराः खचराश्च। तत्र जलचराणामुत्कृष्टा भवस्थितिः पूर्वकोटी, चतुष्पदस्थलचराणां त्रीणि पल्योपमानि, उरःपरिसर्पस्थलचराणां पूर्वकोटी, भुजपरिसर्पस्थलचराणां पूर्वकोटी, खचराणां पल्योपमासंख्येयभागः। उक्तं च—"गब्भंमि पुव्वकोडी तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं। उरभुयगपुव्वकोडी पलिओवमअसंखभागो य ॥१॥"। मनुष्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि। देवाश्चतुर्विधाः, तद्यथा—भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्का

वैमानिकाश्च । तत्र भवनपतयो दशधा । तद्यथा—असुरकुमारा, नागकुमारा, विद्युत्कुमाराः, सुवर्णकुमारा, अग्निकुमारा, वायुकुमाराः, स्तनितकुमारा, उदधिकुमारा, द्वीपकुमारा, दिक्कुमाराश्च । एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा—मन्दरगिरिदक्षिणदिग्वर्तिन उत्तरदिग्वर्त्तिनश्च, तत्र दक्षिणदिग्वर्तिनामसुरकुमाराणामुत्कृष्टा भवस्थितिरेकं सागरोपमम्, उत्तरदिग्वर्त्तिनां त्वेकं सागरोपमं किञ्चित्समधिकम् । नागकुमारादीनां दक्षिणदिग्वर्त्तिनां सर्वेषामपि प्रत्येकमुत्कृष्टा भवस्थितिः सार्द्धपल्योपमम्, उत्तरदिग्वर्त्तिनां तु देशोनं पल्योपमद्वयम् । तथा दक्षिणदिग्वर्त्यसुरकुमारेश्वरचमरदेवीनामुत्कृष्टा भवस्थितिः सार्द्धं पल्योपमत्रयं, उत्तरदिग्वर्त्यसुरकुमाराधिपबलीन्द्रदेवीनां तु सार्द्धानि चत्वारि पल्योपमानि । नागकुमारादिनवनिकायदेवीनां दक्षिणदिग्वर्त्तिनीनामुत्कृष्टा भवस्थितिः सार्द्धपल्योपमं, उत्तरदिग्वर्त्तिनीनां तु देशोनं पल्योपमद्वयम् । सर्वेषां च भवनपतीनां देवानां देवीनां च जघन्या भवस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि । व्यन्तरा अष्टविधाः, तद्यथा—पिशाचाः, भूताः, यक्षाः, राक्षसाः, किन्नराः, किंपुरुषाः, महोरगाः, गन्धर्वाश्च । एतेषां चाष्टविधानामप्युत्कृष्टा भवस्थितिः पल्योपमं, जघन्या दशवर्षसहस्राणि । व्यन्तरीणां जघन्या भवस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टार्द्धं पल्योपमम् । ज्योतिष्काः पञ्चविधाः, तद्यथा—चन्द्रमसः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, ताराश्च । तत्र चन्द्रविमानवासिदेवानां जघन्या भवस्थितिः पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा वर्षलक्षाधिकं पल्योपमम् । चंद्रविमानवासिदेवीनां जघन्या भवस्थितिः पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा पञ्चाशद्वर्षसहस्राधिकं पल्योपमार्द्धम् । सूर्यविमानवासिनां देवानां जघन्या भवस्थितिः पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा वर्षसहस्राधिकं पल्योपमम् । सूर्यविमानवासिदेवीनां जघन्या भवस्थितिः पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा पञ्चवर्षशताधिक पल्योपमार्द्धम् । ग्रहविमानवासिदेवानां जघन्या भवस्थितिः पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा पल्योपमम् । ग्रहविमानवासिदेवीनां जघन्या पल्योपमचतुर्थांशः,

उत्कृष्टा पल्योपमार्द्धम् । नक्षत्रविमानवासिदेवानां जघन्या पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा पल्योपमार्द्धम् । नक्षत्रविमानवासिदेवीनां जघन्या पल्योपमचतुर्थांशः, उत्कृष्टा साधिकपल्योपमचतुर्थांशः । तारकविमानवासिदेवानां जघन्या पल्योपमस्याष्टमोंऽशः, उत्कृष्टा पल्योपमचतुर्थांशः । तारकविमानवासिदेवीनां जघन्या पल्योपमाष्टमांशः, उत्कृष्टा साधिकः पल्योपमाष्टमभागः । उक्तं च—"चंदाइच्चगहाणं, नक्खत्ताणं च देविसहियाणम् । अट्ठण्हंपि जहण्णं, आउ पलियस्स चउभागो ॥१॥ पलिओवमट्ठभागो तारयदेवाण तह य देवीणं । होइ जहन्नं आउं इत्तो उक्कोसगं वोच्छं ॥२॥ पलियं च वरिसलक्खं चंदाणं सूरियाण पलियं तु । वरिससहस्सेणहियं गहाण पलिओवमं पुण्णं ॥३॥ नक्खत्ते पलियद्धं तारयदेवाण पलियचउभागो । ससिदेवीणं आउं उक्कोसं होइ पलियद्धं ॥४॥ पन्नाससहस्सेहिं, वासाणहियं तहेव पलियद्धं । पणवाससयब्भहियं रवीदेवीणं परं आउं ॥५॥ पलिओवमस्स अद्धं गहदेवीणं तहेव सविसेसो । पलिओवमचउभागो आउं नक्खत्तदेवीणं ॥६॥ तारयदेवीणं पि हु उक्कोसं आउय विणिद्दिट्ठं । पलिओवमट्ठभागो अहिओ किंची विसेसेण ॥७॥" वैमानिका द्विविधास्तद्यथा—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । तत्र द्वादशसु देवलोकेषु जाताः कल्पोपपन्नाः, ग्रैवेयकानुत्तरविमानवासिनः कल्पातीताः । तत्र सौधर्मकल्पे देवानां जघन्या भवस्थितिरेकं पल्योपमं, उत्कृष्टा द्वे सागरोपमे । परिगृहीतदेवीनां जघन्या पल्योपमं, उत्कृष्टा सप्त पल्योपमानि । अपरिगृहीतदेवीनां जघन्या पल्योपममं, उत्कृष्टा पञ्चाशत्पल्योपमानि । ईशानकल्पे देवानां जघन्या भवस्थितिरेकं साधिकं पल्योपमं, उत्कृष्टा द्वे सातिरेके सागरोपमे । परिगृहीतदेवीनां जघन्या सातिरेकं पल्योपमं, उत्कृष्टा नव पल्योपमानि । अपरिगृहीतदेवीनां जघन्या सातिरेकं पल्योपमं, उत्कृष्टा पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि । सनत्कुमारकल्पे देवानां जघन्या द्वे सागरोपमे, उत्कृष्टा सप्त सागरोपमाणि । माहेन्द्रकल्पे देवानां जघन्या सातिरेके द्वे सागरोपमे, उत्कृष्टा सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि । ब्रह्मलोककल्पे देवानां जघन्या सप्त सागरोपमाणि, उत्कृष्टा दश । लान्तककल्पे देवानां जघन्या दश सागरोपमाणि, उत्कृष्टा चतुर्दश । महा-

शुक्रकल्पे देवानां जघन्या चतुर्दश सागरोपमाणि, उत्कृष्टा सप्तदश। सहस्रारकल्पे देवानां जघन्या सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कृष्टाष्टादश। आनतकल्पे देवानां जघन्या अष्टादश सागरोपमाणि, उत्कृष्टा एकोनविंशतिः। प्राणतकल्पे देवानां जघन्या एकोनविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा विंशतिः। आरणकल्पे देवानां जघन्या विंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा एकविंशतिः। अच्युतकल्पे देवानां जघन्या एकविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा द्वाविंशतिः। कल्पातीतदेवेषु मध्ये अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकविमानेषु देवानां जघन्या द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा त्रयोविंशतिः। अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानेषु जघन्या त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा चतुर्विंशतिः। अधस्तनोपरितनग्रैवेकविमानेषु जघन्या चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा पञ्चविंशतिः। मध्यमाधस्तनग्रैवेयकविमानेषु जघन्या पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा षड्विंशतिः। मध्यममध्यमग्रैवेयकविमानेषु जघन्या षड्विंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा सप्तविंशतिः। मध्यमोपरितनग्रैवेयकविमानेषु जघन्या सप्तविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टाष्टाविंशतिः। उपरितनाधस्तनग्रैवेयकविमानेषु जघन्याष्टाविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टा एकोनत्रिंशत्। उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानेषु देवानां जघन्या एकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि, उत्कृष्टा त्रिंशत्। उपरितनोपरितनग्रैवेयकविमानेषु देवानां जघन्या त्रिंशत्सागरोपमाणि, उत्कृष्टा एकत्रिंशत्। विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानेषु देवानां जघन्या एकत्रिंशत्सागरोपमाणि, उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्। सर्वार्थसिद्धमहाविमाने देवानां भवस्थितिरजघन्योत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा। तदेवं सप्तमपृथिवीनारकाननुत्तरसुरान् वा विहायान्यत्र त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा भवस्थितिर्न प्राप्यते इति तानेवाधिकृत्य संज्ञिनां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टा स्थितिरवसेया ॥३५॥

एकस्मिन् जीवे गुणावस्थानकालमाह—

होइ अणाइ अणंतो अणाइ संतो य साइसंतो य । देसूणपोग्गलद्धं अंतमुहुत्तं चरिममिच्छो ॥३६॥

(स्वो०)—मिथ्यागुणालङ्कृतो जीवः त्रिधा कालभेदाद् भवति, अनाद्यनन्तं कालमेकः, अनादिसान्तं कालं द्वितीयः, सादिसपर्यवसानं कालं तृतीयः, द्वयोराद्ययोर्मिथ्यादृष्ट्योरजघन्योत्कृष्टः कालः, तृतीयस्य जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रो गुणावस्थानकालः, तस्य चोत्कृष्टः पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं किञ्चिन्न्यूनं यावदिति गाथार्थः ॥३६॥

(मलय०)—तदेवं भवस्थितिकाल उक्तः, संप्रत्येकस्मिन् जीवे गुणस्थानेषु विभागेन कालमानमाह–इह मिथ्यादृष्टिः कालतश्चिन्त्यमानस्त्रिधा प्राप्यते, तद्यथा–अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः, सादिसान्तश्च । तत्राभव्यो भव्यो वा कश्चित्तथाविधोऽप्राप्तव्यपरमपदो अनाद्यन्तः, तस्यानादिकालादारभ्यागामिनं सकलमपि कालं यावन्मिथ्यात्वापगमसंभवाभावात् । यस्तु भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टिरवश्यमायत्यां सम्यक्त्वमवाप्स्यति ततः स मिथ्यादृष्टिः कालमाश्रित्यानादिसान्तः । यस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकवशादवाप्य सम्यक्त्वं, ततः केनापि कारणेन पुनः सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टो मिथ्यात्वमनुभवति, स भूयः कालान्तरे नियमतः सम्यक्त्वमवाप्स्यति, ततः स मिथ्यादृष्टिः सादिसान्तः । तथाहि–सम्यक्त्वलाभानन्तरं मिथ्यात्वमासादितमिति सादिः, पुनरपि कालान्तरे नियमतो मिथ्यात्वमपगमिष्यतीति सान्तः । एष च सादिसान्तो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवति, सम्यक्त्वप्रतिपातानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन भूयोऽपि सम्यक्त्वप्राप्तेः । उत्कर्षतो देशोनं किञ्चिन्न्यूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं, प्रतिपतितसम्यग्दृष्टेः देशोनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतः सम्यक्त्वलाभसंभवात् । अतएव च साद्यनन्तरूपो मिथ्यादृष्टिर्न भवति, सादितायां सत्यामुत्कर्षतः किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतो मिथ्यात्वापगमसंभवात् ॥३६॥

तमेवाधिकारायातं पुद्गलपरावर्त्तमाह—

पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो। एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥३७॥

(स्वो०)—पुद्गलपरावर्त्तोऽस्मिन् प्रवचने द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधो मन्तव्यः, एकैको भूयोऽपि द्विविधो बादरत्वसूक्ष्मत्वभेदादिति गाथार्थः ॥३७॥

(मलय०)—इह देशोनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धमित्युक्तं, तत्र किंस्वरूपः पुद्गलपरावर्त्तः? इति पुद्गलपरावर्त्तस्वरूपमाह–इह–अस्मिन् पारमेश्वरे प्रवचने पुद्गलपरावर्त्तो द्रव्यादितो–द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतश्चतुर्विधश्चतुष्प्रकारो ज्ञातव्यः। तद्यथा–द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः, क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः, कालपुद्गलपरावर्त्तः, भावपुद्गलपरावर्त्तश्च। 'मुणेयव्वो' इत्यत्र 'जो जाणमुणाविति' प्राकृतलक्षणाज्ज्ञानातेर्मुण इत्यादेशः। पुनरप्येकैकः पुद्गलपरावर्त्तो बादरसूक्ष्मत्वभेदेन द्विधा द्विप्रकारः। तद्यथा–बादरः सूक्ष्मश्च ॥३७॥

संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू। इगु जीवु मुयइ बायर अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥३८॥

(स्वो०)—संसारे 'अटन्' भ्राम्यन् यावता कालेन स्पृष्ट्वा–आत्मभावेन परिणमय्य सर्वानप्यणून्–परमाणून् एको जीवो मुञ्चति, एषोऽद्धाविशेषो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः, औदारिकवैक्रियादीनां अन्यतरशरीरस्थः यावता कालेन स्वप्रदेशैः सर्वपरमाणून् स्पृष्ट्वा एको जीवो मुञ्चति स सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्त इति गाथार्थः ॥३८॥

(मलय०)—तत्र बादरसूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तावाह–संसरंति प्राणिनोऽस्मिन्निति संसारश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकं क्षेत्रं तस्मिन् संसारे

अटन् परिभ्रमन्नेको जीवः सकलेऽपि संसारे ये केचन परमाणवस्तान् सर्वानपि यावता कालेन स्पृष्ट्वा मुञ्चति, औदारिकादिरूपतया परिभुज्य परिभुज्य परित्यजति, तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेनैकेन जीवेन सर्वेऽपि जगद्वर्त्तिनः परमाणवो यथायोगमौदारिकवैक्रियतैजसकार्मणभाषाप्राणापानमनस्त्वेन परिभुज्य परिभुज्य परित्यक्तास्तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः। सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तमाह—'अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो' औदारिकादीनां शरीराणामन्यतमस्यां तनौ शरीरे स्थितः सन् यावता कालेनैको जीवः संसारे परिभ्रमन् सर्वानप्यणून् स्पृष्ट्वा परिभुज्य मुंचति, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः। इयमत्र भावना—यावता कालेन सर्वेऽपि लोकाकाशभाविनः परमाणव औदारिकाद्यन्यतमैकविवक्षितशरीररूपतया परिभुज्य निष्ठां नीयते, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः। पुद्गलानां परमाणूनामौदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त्तः परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गलपरावर्त्तः, इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनंतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानत्वरूपं लक्ष्यते, तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तादौ पुद्गलपरावर्त्तनाऽभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानत्वरूपस्य विद्यमानत्वात्पुद्गलपरावर्त्तशब्दः प्रवर्त्तमानो न विरुध्यते। यथा गोशब्दः पूर्वं गमने व्युत्पादितः तेन च गमनेन व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिखुरककुद्लाङ्गुलसास्नादिमत्त्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते ततो गमनरहितेऽपि गोपिण्डे प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावाद् गोशब्दः प्रवर्त्तते इति। अस्मिंश्च सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्त्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यज्यन्ते ते न गण्यन्ते, किंतु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते ते एव गण्यन्ते ॥३८॥

लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं । खेत्तंमि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥३९॥

(स्वो०)—'लोकस्य' चतुर्दशरज्जुप्रमाणाकाशखण्डस्य 'प्रदेशेषु' निर्विभागखण्डेषु अनन्तरपरम्परप्रकाराभ्यां मृतस्यैकजीवस्य, किमुक्तं भवति—प्रत्येकं सर्वप्रदेशेषु यावता कालेनैको जीवो मृतो भवति स बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः, सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशादनुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति, तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकं परिकल्प्य तस्माद् गणनाप्रवृत्तिरिति, अमुना प्रकारेण प्रभूतकालख्यापनं सम्भाव्यत इति गाथार्थः ॥३९॥

(मलय०)—तदेवमुक्तः सूक्ष्मबादरभेदभिन्नो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः, सम्प्रति बादरसूक्ष्मभेदभिन्नं क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तमाह—लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यानन्तरपरम्पराविभक्तिभ्यां अनन्तरप्रकारेण परम्पराप्रकारेण च सर्वेषु प्रदेशेष्वेकस्य जीवस्य मृतस्य यावान् कालविशेषो भवति, स तावान् क्षेत्रविषयो बादरपुद्गलपरावर्त्तः। किमुक्तं भवति ? यावता कालेनैकेन जीवेन क्रमेणोत्क्रमेण वा यत्र तत्र म्रियमाणेन सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणसंस्पृष्टाः क्रियन्ते, स तावान् कालविशेषः क्षेत्रबादरपुद्गलपरावर्त्तः। संप्रति क्षेत्रसूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तमाह—'सुहुमो उ अणंतरमयस्स' चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य सर्वेषु प्रदेशेष्वनंतरमृतस्यैकस्य जीवस्य यावान् कालविशेषः स तावान् सूक्ष्मः सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तो भवति। इयमत्र भावना—यद्यपि जीवस्यावगाहना जघन्यापि असंख्येयप्रदेशात्मिका भवति, तथापि विवक्षिते कस्मिंश्चिद्देशे म्रियमाणस्य विवक्षितः कश्चिदेकः प्रदेशोऽवधिभूतो विवक्ष्यते, ततस्तस्मात्प्रदेशादन्यत्र देशान्तरे ये नभःप्रदेशा मरणेन व्याप्यन्ते ते न गण्यन्ते, किं त्वनन्तेऽपि काले गते सति विवक्षितात्प्रदेशादनन्तरो यः प्रदेशो मरणेन व्याप्तो भवति स गण्यते, तस्मादप्यनन्तरो यः प्रदेशो मरणेन व्याप्तः स गण्यते, एवमानन्तर्यपरम्परया यावता कालेन सर्वेऽपि लोकाकाश-

प्रदेशा मरणेन स्पृष्टा भवन्ति, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः ॥३९॥

उसप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं । कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥४०॥

(स्वो०)—उत्सर्प्पिणीग्रहणादवसर्प्पिण्यपि ग्राह्या, यतः–तस्या अभ्यपगमे द्वितीयोत्सर्प्पिण्यभावः, रात्र्यविनाशे दिनस्येव। उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिणीसमयेषु निकृष्टकालविभागेषु अनन्तरपरम्परप्रकाराभ्यां एको जीवो यावता कालेन मृतो भवति स बादरः कालपुद्गलपरावर्त्तः, यदा तु प्रथमद्वित्रिचतुष्पञ्चमेत्यादिसमयवृद्धिक्रमेण सर्वसमयेष्वेकजीवो मृतो भवति तदा सूक्ष्मः कालपुद्गलपरावर्त्त इति गाथार्थः ॥४०॥

(मलय०)—उक्तो बादरसूक्ष्मभेदभिन्नः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः, संप्रति बादरसूक्ष्मभेदभिन्नं कालपुद्गलपरावर्त्तमाह–इहोत्सर्पिणीग्रहणेनावसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते, ततोऽयमर्थः–उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि अनन्तरपरंपराविभक्तिभ्यां अनन्तरप्रकारेण परंपराप्रकारेण च मृतस्य यावान् कालो भवति, तावान् बादरः बादरकालपुद्गलपरावर्त्तः। एतदुक्तं भवति–यावता कालेनैको जीवः सर्वानप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयान् क्रमेणोत्क्रमेण वा मरणेन व्याप्तान् करोति, तावान्कालविशेषो बादरपुद्गलपरावर्त्तः। सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तमाह–'सुहुमो उ अणंतरमयस्स' समस्तेष्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेष्वनन्तरमृतस्य उत्सर्पिणीप्रथमसमयादारभ्य ततः परं क्रमेण मृतस्यैकस्य जीवस्य यावान् कालविशेषो भवति, तावान् सूक्ष्मः सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तः। अत्रापीयं भावना–इहोत्सर्पिणीप्रथमसमये कश्चिज्जीवो मृत्युमुपागतः, ततो यदि समयोनविंशतिसागरोपमकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुरुत्सर्पिणीद्वितीयसमये म्रियते, तदा स द्वितीयः समयो मरणस्पृष्टो गण्यते, शेषास्तु समया मरणस्पृष्टा अपि सन्तो न गण्यन्ते, यदि पुनस्तस्मिन्नुत्सर्पिणीद्वितीयसमये न

म्रियते किन्तु समयान्तरे तदा सोऽपि न गृह्यते किंत्वनन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु यदोत्सर्पिणीद्वितीयसमये एव मरिष्यति
तदा स समयो गण्यते, एवमानन्तर्यप्रकारेण यावता कालेन सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया मरणव्याप्ता भवन्ति, तावान् कालविशेषः
सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तः ॥४०॥

अणुभागट्ठाणेसुं अणंतरपरंपराविभत्तीहिं । भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुणुक्कमसो ॥४१॥

(स्वो०)—'अनुभागस्थानेषु' इति—शुभाशुभकर्मणो हीनमध्यमोत्तमरसस्य निकृष्टविभागानां समुदायो रसस्पर्द्धकं, स्पर्द्धकसमुदायोऽ-
नुभागस्थानं, एवंभूतानि रसव्यक्तितोऽसंख्येयान्यनुभागस्थानानि । तेषु बन्धकत्वेन वर्त्तमानो जीवोऽनन्तरपरम्परप्रकाराभ्यां यावता
कालेन सर्वेष्वनुभागस्थानेषु मृतो भवति, स बादरः भावपुद्गलपरावर्त्तो भवति । तेष्वेव यथोत्तरस्थानक्रमेणैको जीवो यावता कालेन
बन्धकत्वेन वर्त्तमानो मृतो भवति, स सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त्तः । अनुभागस्थानस्वरूपमुपरि न्यक्षेण वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥४१॥

(मलय०)—उक्तो बादरसूक्ष्मभेदभिन्नः कालपुद्गलपरावर्त्तः, साम्प्रतं बादरसूक्ष्मभेदभिन्नं भावपुद्गलपरावर्त्तमाह—इहानुभागस्था-
नानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणे अनुभागबन्धविचारे "एकज्झवसायसमज्जियस्स, दलियस्स किं रसो तुल्लो" इत्यादिना
ग्रन्थेन स्वयमेव वक्ष्यति, तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चानुभागस्थानानां निष्पादका ये कषायोदयरूपा अध्यवसा-
यविशेषास्तेऽप्यनुभागस्थानमित्युच्यन्ते कारणे कार्योपचारात्, तेऽपि चानुभागबन्धाध्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः । संप्र-
त्यक्षरयोजना—अनुभागस्थानेषु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेषु सर्वेष्वपि यावता कालनैको जीवोऽन-
न्तरपरंपराविभक्तीभ्यां अनन्तरपरंपरारूपे ये विभक्ती विभागौ, ताभ्यामानन्तर्येण पारम्पर्येण चेत्यर्थः मृतो भवति, तावान् कालवि-

शेषो बादरभावपुद्‌गलपरावर्त्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेन क्रमेणोत्क्रमेण वा सर्वेष्वप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानो मृतो भवति तावान् कालो बादरभावपुद्‌गलपरावर्त्तः। सूक्ष्मं भावपुद्‌गलपरावर्त्तमाह—'सुहुमो सव्वेसुणुक्कमसो'—सर्वेष्वनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेष्वनुक्रमशः परिपाट्या यावता कालेन मृतो भवति, तावान्कालः सूक्ष्मः सूक्ष्मभावपुद्‌गलपरावर्त्तः। इयमत्र भावना—कश्चिज्जन्तुः सर्वजघन्ये कषायोदयरूपे अध्यवसाये वर्त्तमानो मृतः, ततो यदि स एव जन्तुरनन्तेऽपि काले गते सति प्रथमानन्तरे द्वितीयेऽध्यवसायस्थाने वर्त्तमानो म्रियते तन्मरणं गण्यते, न शेषाण्युत्क्रमभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि, ततः कालान्तरे भूयोऽपि यदि द्वितीयस्मादनन्तरे तृतीयेऽध्यवसायस्थाने वर्त्तमानो म्रियते तदा तृतीयं मरणं गण्यते, न शेषाण्यपान्तरालभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि। एवं क्रमेण सर्वाण्यप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि यावता कालेन मरणेन स्पृष्टानि भवन्ति, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मभावपुद्‌गलपरावर्त्तः। इह सर्वापि बादरपुद्‌गलपरावर्त्तप्ररूपणा विनेयानां सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तप्ररूपणासुखाधिगतिनिमित्तं कृता, न हि कोऽपि बादरपुद्गलपरावर्त्तः क्वचिदपि सिद्धान्तप्रदेशे प्रयोजनवानुपलक्ष्यते, केवलं तस्मिन् प्ररूपिते सति सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तः प्ररूप्यमाणो विनेयैः सुखेनाधिगम्यते, इति तत्प्ररूपणा क्रियते। तथा इह चतुर्णामपि सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तानां परमार्थतो न कश्चिद्विशेषस्तथापि जीवाभिगमादौ पुद्‌गलपरावर्त्तः क्षेत्रतो बाहुल्येन गृहीतः, क्षेत्रतो मार्गणायां तस्योपादानात्। तथा च तत्सूत्रं—"जे से साइए सपज्जवसिए मिच्छदिट्ठी से जहण्णेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं अणंतं कालं अणताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ। खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणमित्यादि" तत इहापि पुद्‌गलपरावर्त्तग्रहणे क्षेत्रपुद्‌गलपरावर्त्तो ग्राह्य इति ॥४१॥

आवलियाणं छक्कं समयादारब्भ सासणो होइ। मीसुवसम अंतमुहू खाइयदिट्ठी अणंतद्धा ॥४२॥

(स्वो०)—असंख्येयसमयसमुदायः आवलिका, सहोपशमसम्यक्त्वस्यास्वादनेन वर्त्तत इति सास्वादनः, तत्सास्वादनत्वमुत्कृष्टतः षडावलिकामात्रं कालं एकस्मिन् जीवे भवति, जघन्यतस्त्वेकं समयं, यत उपशमाद्धायां जीवस्वाभाव्यात् कश्चित् षडावलिकाशेषायां सास्वादनत्वं गच्छति, एवं समयहान्या यावदेकसमयशेषायां, तदन्ते मिथ्यात्वोदयान्मिथ्यादृष्टिर्भवति, तद्भवेऽन्यभवगतो वा, यतः सास्वादनगुणे सर्वस्मिन् मरणमस्ति, न सम्यग्मिथ्यात्वगुणे। (मिश्रः) उपशमसम्यक्त्वगुणश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तावधिकः। यद्यप्युपशमसम्यक्त्वगुणस्थो देशविरत्यादिगुणान्तराण्यनुभजति तथापि तस्यान्तर्मुहूर्त्तमेवावस्थानम्। क्षायिकसम्यग्दर्शनं अनन्तकालं भवति, यतस्तदुत्तरगुणसम्भवेऽपि न नश्यतीति गाथार्थः ॥४२॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमेकजीवस्य मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकालमानं, संप्रति सासादनमिश्रगुणस्थानकयोरौपशमिकसम्यक्त्वस्य क्षायिकसम्यक्त्वस्य च कालमानमाह—एकस्मात्समयादारभ्य यावदावलिकानां षट्कं तावत्सासादनो भवति। इयमत्र भावना—एकः सासादनो जीवः पूर्वं गुणस्थानकविचारनिर्दिष्टन्यायेन प्राप्तसासादनभावः कश्चित्समयमेकमवतिष्ठते, अन्यस्तु द्वौ समयौ, अपरस्तु त्रीन् समयान्, एवं यावत्कोऽपि षडावलिकाः, तत ऊर्ध्वमवश्यं मिथ्यात्वमुपगच्छति, तत एवमेकस्य जीवस्य सासादनगुणस्थानककालो जघन्यतः समयः प्राप्यते, उत्कर्षतः षडावलिकाः। तथा मिश्रोपशमौ मिश्रगुणस्थानकौपशमिकसम्यक्त्वे जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे। तथाहि—सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं सुप्रसिद्धं 'संमामिच्छादिट्ठी अन्तोमुहुत्तं' इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। केवलं जघन्यपदे तदन्तर्मुहूर्त्तं लघु द्रष्टव्यं, उत्कृष्टपदे तु तदेव बृहत्तरमिति। औपशमिकसम्यक्त्वमपि प्राथमिकमुपशमश्रेणिसंभवं वा जघन्यत उत्कर्षश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्। तत्र प्राथमिकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रतीतम्। तथाहि—यदि तदानीं देशविरत्यादिक-

मपि स्पृशति, तथापि तस्यान्तर्मुहूर्त्तमेव कालं यावदवस्थानं, ततः परं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वभावात् । देशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावे तु कोऽपि सासादनभावं गच्छति कोऽपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् । उपशमश्रेणिसंभवमप्यौपशमिकं सम्यक्त्वमान्तर्मौहूर्त्तिकं, उपशमश्रेणेरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् । तथा क्षायिकदृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरनन्ताद्धा अनन्तकालं यावद्भवति, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं प्रादुर्भूतं न कदाचिदप्यपैति, जीवस्वभावत्वात्, ततस्तत्सम्यक्त्ववान् सकलमप्यपर्यवसितं कालं यावद्भवति ॥४२॥

वेयगअविरयसम्मो तेत्तीसयराइं साइरेगाइं। अंतमुहुत्ताओ पुव्वकोडी देसो उ देसूणा ॥४३॥

(स्वो०)—वेद्यत इति वेदकम्, मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितिगतस्य क्षयात् द्वितीयस्थितिगतस्योपशमात् सम्भूतमिति क्षयोपशमजं तद्वेदकं क्षायोपशमिकं वा अविरतिगुणसमन्वितं उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, सर्वार्थविमानादिषु मनुष्यभवकतिचिद्वर्षाधिकानि । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति, यतो वेदकसम्यक्त्वमविरतभावेनान्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं स्थित्वा सम्यग्मिथ्यात्वे मिथ्यात्वे वा गच्छति, तत्राप्यविरतत्वे सत्यपि दृष्टिभेदाद् गुणभेद इति, अथवा देशसंयमं सर्वसंयमं वा गच्छति, अत्रापि वेदकसम्यक्त्वे सत्यपि अविरतत्वापगमाद् गुणभेद इति । तुशब्दादेतस्यैव रोचककारकादयो भेदा विचित्रत्वात् क्षयोपशमस्य मन्तव्याः, नेतरयोरेकरूपत्वात्, अन्तर्मुहूर्त्तशब्द उभयत्र सम्बन्धनीयः, ततश्चायं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावद् देशसंयमो भवत्येकस्मिन् जीवे, जघन्येनाप्येतद्गुणमियत्कालं स्पृष्ट्वा सर्वविरतिमविरतित्वं वा गच्छति नारत इति गाथार्थः ॥४३॥

(मलय०)—वेदकाविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकाविरतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य तावल्लभ्यते यावदुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि सातिरेकाणि भवन्ति । कथं सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्वेदकाविरतसम्यग्दृष्टिर्ल-

भ्यते ? इति चेत्, उच्यते-इह कश्चिदितः स्थानादुत्कृष्टस्थितिष्वनुत्तरविमानेषूत्पन्नः, तत्र चाविरतसम्यग्दृष्टित्वेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः, ततस्तस्मात्स्थानाच्च्युत्वाऽत्राप्यायातो यावदद्यापि सर्वविरत्यादिकं न प्रतिपद्यते तावदविरत एव, इत्येकस्य वेदकाविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यभवसंबद्धः, इति कतिपयवर्षाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यन्ते । तथा 'पुव्वकोडि देसो उ देसूणा'–देशसंयतः पुनः, तुरवक्षयभेदे, उक्तं च–'तुः स्याद्भेदेऽवधारणे' जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । तत्रान्तर्मुहूर्त्तभावना इयं–कोप्यविरतादिरन्तर्मुहूर्त्तमेकं देशविरतिं प्रतिपद्य पुनरप्यविरतादित्वमेव प्रतिपद्यते । देशोनपूर्वकोटिभावना त्वेषा–इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान्सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्त्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात, भगवद्वज्रस्वामिना व्यभिचार इति चेत् ? तथाहि–भगवान् वज्रस्वामी पाण्मासिकोऽपि भावतः प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरतिः श्रूयते, तथा च सूत्रं–"छम्मासिय छसु जयं माऊण समन्नियं वंदे" इति । सत्यमेतत्, किंत्वियं शैशवेऽपि भगवद्वज्रस्वामिनो भावतश्चरणप्रतिपत्तिराश्चर्यभूता कादाचित्कीति न तया व्यभिचारः । अथ कथमवसीयते येयं वज्रस्वामिनः शैशवेऽपि चरणप्रतिपत्तिः, सा कादाचित्कीति ? उच्यते–पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् । तथा च पञ्चवस्तुके प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालनियमविचाराधिकारे गाथा–"तयहो परिहवक्खेत्तं न चरणभावो वि पायमेसिं । आहच्च भावकहगं सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥१॥" अस्या व्याख्या–तेषामष्टानां वर्षाणामधो वर्त्तमाना मनुष्याः परिभवक्षेत्रं भवन्ति, येन तेन वातिशिशुत्वात्परिभूयन्ते, तथा चरणभावोऽपि चरणपरिणामोऽपि प्राय एतेषां वर्षाष्टकादधो वर्त्तमानानां न भवति, यत्पुनः सूत्रं 'छम्मासियं छसु जयं माऊए समन्नियं वन्दे' इत्येवंरूपं, तत् 'आहच्चभावकहगं' कादाचित्कभावकथकं, ततो वर्षाष्टकादधः परिभवक्षेत्रत्वाच्चरणपरिणामाभा-

वाच्च न दीक्ष्यन्ते इति ॥४३॥

समयाओ अंतमुहू पमत्तअपमत्तयं भयंति मुणी। देसूणपुव्वकोडिं अन्नोन्नं चिट्ठहि भयंता ॥४४॥

(स्वो०)—समयादारभ्य समयवृद्ध्या यावदन्तर्मुहूर्त्तं तावत्प्रमत्ततामप्रमत्ततां वा भजन्ते जीवाः (मुनयः), उभयगुणयोस्तु संसरन्तोभ्रमन्तः देशोनपूर्वकोटिं यावत्तिष्ठन्ति. 'अन्योन्यं' इतरेतरगुणं भजमाना बालभाववर्षहीनं संख्येयवर्षायुर्मनुष्यभवमित्यर्थः। प्रतिपत्तिसमये च यदा कालं कृत्वा अविरतित्वं गच्छन्ति तदा समयमिति, अन्यद्गुणान्तरमन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वंनो नारत इति गाथार्थः ॥४४॥

(मलय०)—संप्रति प्रमत्ताप्रमत्तसंयतगुणस्थानकयोरेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह–समयादेकस्मादारभ्य मुनयः प्रमत्ततामप्रमत्ततां वा तावद्भजन्ति यावदुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तस्याप्रमत्ततादिभावात्, अप्रमत्तस्य च प्रमत्ततादिभावात्। इयमत्र भावना–प्रमत्तमनुयोऽप्रमत्तमुनयो वा जघन्यत एकं समयं भवन्ति, तदनन्तरं मरणभावेनाविरतत्वभावात्। उत्कर्षतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तस्याप्रमत्तभावो देशविरतत्वं वा मरणं वा, अप्रमत्तस्यापि प्रमत्तता श्रेण्यारोहो देशविरतत्वादिकं वेति। अथैतदेव कथमवसितमन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं प्रमत्तस्याप्रमत्तादिभावोऽप्रमत्तस्य वा प्रमत्तादिभावो यावता देशविरतादिवत्प्रभूतमपि कालं कस्मादेतौ न भवतः? उच्यते–इह येषु संक्लेशस्थानेषु वर्त्तमानो मुनिः प्रमत्तो भवति, येषु च विशोधिस्थानेषु वर्त्तमानोऽप्रमत्तस्तानि संक्लेशस्थानानि विशोधिस्थानानि च प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रमाणानि भवन्ति। मुनिश्च यथावस्थितमुनिभावे वर्त्तमानो यावदुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा नारोहति, तावदवश्यं तथास्वाभाव्यात्संक्लेशस्थानेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा विशोधिस्थानेषु गच्छति, विशोधिस्थानेष्वप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः संक्लेशस्थानेषु गच्छति। एवं निरन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तयोः परावृत्तीः करोति, ततः प्रमत्ताप्रमत्तभावावुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्येते, न

परतः। तथा चोक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—"इत्थ संकिलिस्सइ विसुज्झइ वा विरओ अंतमुहुत्तं जाव कालं, न परओ। तेणं संकिलिस्संतो संकिलेसठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं जाव पमत्तसंजओ होइ, विसुज्झंतो विसोहिठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं जाव अपमत्तसंजओ होइ" इति। अथ प्रमत्ताप्रमत्तभावपरावृत्तीः कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं करोतीत्यत आह–'देसुण' इत्यादि–देशोनां पूर्वकोटिं यावदिमौ प्रमत्ताप्रमत्तभावावन्योन्यं परस्परं भजन्तौ तिष्ठतः। प्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमप्रमत्तभावं भजन्, अप्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं प्रमत्तभावं भजन् निरन्तरं तावद्भवति, यावद्देशोनां पूर्वकोटिमित्यर्थः। देशोनता च पूर्वकोटिः बालत्वभाविवर्षाष्टकापेक्षया द्रष्टव्या ॥४४॥

समयाओ अंतमुहू, अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो। खीणाजोगीणंतो देसस्सव जोगिणो कालो ॥४५॥

(स्वो०)—जघन्यतः समयमेकं समयवृद्ध्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तं–भिन्नद्विघटिकामात्रं कालं यावदिति, अपूर्वकरणबादरकषायसूक्ष्मकषायोपशान्ताः स्वस्वगुणस्था भवन्ति। क्षपकश्रेण्यां त्वजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमेव, तस्यां मरणाभावात्, उपशमश्रेण्यां त्वनियमः। क्षीणकषायायोगिनोस्त्वन्तर्मुहूर्त्तमेवोभयतोऽपि, तयोः प्रतिपाताभावात् क्षीणकषायस्य मरणाभावाच्च। देशविरतस्येव सयोगिनो अन्तर्मुहूर्त्ताद्देशोनपूर्वकोटिं यावत्स्थितिर्भवतीति गाथार्थः ॥४५॥

(मलय०)—संप्रति शेषगुणस्थानकानामेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह–अपूर्वकरणादारभ्य यावदुपशान्तः, किमुक्तं भवति? अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहाः प्रत्येकं समयादारभ्योत्कर्षतो अन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवन्ति। तत्र समयमात्रभावना–कश्चिदुपशमश्रेण्यामपूर्वकरणत्वं समयमात्रमनुभूयापरः कोऽपि अनिवृत्तिबादरसंपरायत्वं प्राप्य तत्समयमात्रमनुभूय, तदन्यः कोऽपि सूक्ष्मसंपरायत्वं सम्प्राप्य तदपि समयमात्रमनुभूय, परः कोऽपि पुनरुपशान्तमोहत्वमवाप्य तदपि समयमात्रमनुभूय, द्वितीये समये-

ऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नानां प्रथमसमय एवाविरतत्वमित्यपूर्वकरणादीनां समयमात्रत्वम् । अन्तर्मुहूर्त्तभावना तु सुगमा, अपूर्वकरणादीनामन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमवश्यं गुणस्थानकान्तरसंक्रमान्मरणाद्वा। क्षपकश्रेण्यां त्वपूर्वकरणादीनां प्रत्येकमजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवसेयम् , क्षपकश्रेण्यामारूढस्याकृतसकलकर्मक्षयस्य मरणासंभवात् । तथा 'खीणाजोगीणंतो' इति–क्षीणानां क्षीणकषायाणामयोगिनां भवस्थायोगिकेवलिनां(च)अजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथाहि–क्षीणकषायाणां न मरणमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं च ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रयक्षयात्सयोगिकेवलिगुणस्थानके संक्रमः । भवस्थायोगिकेवलिनां तु ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालावस्थायितया, परतः सिद्धत्वप्राप्तिः । अतो द्वयानामप्यजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथा 'देसस्सव जोगिणो कालो'–देशस्येव देशविरतस्येव योगिनः सयोगिकेवलिनः कालो वेदितव्यो, जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीत्यर्थः । अत्रान्तर्मुहूर्त्तमन्तकृत्केवलिनो विज्ञेयम् । देशोना च पूर्वकोटिः सर्वोत्कृष्टा सप्तमासजातस्य वर्षाष्टकादूर्ध्वं चरणप्रतिपत्त्या शीघ्रमेवोत्पादितकेवलज्ञानस्य पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्या ॥

कालस्थितिमाह—

एगिंदियाणणंता दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई । अयराण इगपणिंदिसु नरतिरियाणं सगट्ठभवा ॥

(स्वो०)—एकेन्द्रियाणां–सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तरूपाणां पृथिवीजलाग्निवायुवनस्पतिकायेषु प्रत्येकसाधारणरूपतया एकेन्द्रियत्वममुञ्चतां अनन्ताः सागरोपमसहस्राः कायस्थितिर्भवति । त्रसानां–द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनां पर्याप्तापर्याप्तरूपाणां द्वौ सागरोपमसहस्रौ कायस्थितिः । पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तरूपाणामेकं सागरोपमसहस्रं कायस्थितिः । नरतिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिनां पर्याप्तनामकर्मोदयिनां सप्ताष्टौ वा भवाः कायस्थितिर्भवति । देवनारकाणां तु भूयस्तत्रानुत्पत्तेः कायस्थितिरेव नास्ति । आह–अष्टानाम-

न्तर्गतत्वादप्रधानत्वाच्चानर्थकं सप्तकग्रहणं ? अत्रोच्यते–संख्येयवर्षायुषोऽधिकृत्य सप्त भवा उभयानष्टौ, केवलानामसंख्येयवर्षायुषां कायस्थितिरेव नास्ति, अस्यार्थस्य ख्यापनाय सप्तग्रहणमिति गाथार्थः ॥४६॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं गुणस्थानकेषु त्रिभागे कालमानम् , संप्रति कायस्थितिकालमानमाह–एकेन्द्रियाणां कायस्थितिर्भूयोभूयस्तस्मिन्नेवैकेन्द्रियभवे उत्पत्तिरितराणां सागरोपमाणामनन्ताः सहस्राः अनन्तसागरोपमसहस्रप्रमाणाः, अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणा इत्यर्थः । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां–"एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणिओ कालओ । खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा । तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो" इति । इयं चानन्तसागरोपमसहस्रप्रमाणा कायस्थितिरेकेन्द्रियाणामवसेया वनस्पत्यपेक्षया, न शेषपृथिव्याद्यपेक्षया । पृथिव्यादिषु सर्वेष्वपि प्रत्येकमसंख्येयमेव कालमवस्थानात् । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायामेव–"पुढविकाइए णं भंते । पुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसप्पिणिओसप्पिणिओ कालओ। खेत्तओ असंखेज्जा लोगा एवं आउतेउवाउकाइयावि। वणप्फइकाइएणं भंते ! वणप्फइकाइए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ । खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो" इति । अत्र 'खेत्तओ असंखेज्जा लोगा' इत्यस्यायमर्थः–असंख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयप्रदेशापहारे क्रियमाणे यावत्योऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावतीर्यावत्पृथिवीकायः पृथिवीकायत्वेनावतिष्ठते । एवं च वनस्पतिकायस्थितिविचारेऽपि यदुक्तं 'खेत्तओ अणंता लोगा इति' तदपि भावनीयम् । तथा त्रसानां भूयोभूय

त्रसकायत्वेनोत्पद्यमानानां कायस्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽतराणां सागरोपमाणां द्वौ सहस्रौ द्विसहस्रसागरोपमप्रमाणा, नवरं कतिपयवर्षाधिका वेदितव्या । यदुक्तं प्रज्ञापनायां—'तसकाइएणं भंते ! तसकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ! गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं दोसागरोवमसहस्साइं संखेज्जवाससहियाइं" । तथा पञ्चेन्द्रियेषु, 'षष्ठिसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्' पञ्चेन्द्रियाणां कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत एकं सागरोपमसहस्रं, केवलं किञ्चित्समधिकं तदवसेयम् , प्रज्ञापनायां तथोक्तत्वात् । तथा च तद्ग्रन्थः—"पंचिंदिएणं भंते ! पचेंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं साइरेगं"। तथा 'नरतिरियाणं सगट्ठभवा' इति नराणां मनुष्याणां तिरश्चां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तनामकर्मोदयवर्तिनां सप्ताष्टौ वा भवा उत्कृष्टा कायस्थितिः । तत्र सप्त भवाः संख्येयवर्षायुषोऽष्टमस्त्वसंख्येयवर्षायुरेव । तथाहि–पर्याप्ता मनुष्याः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा निरन्तरं यथासंख्यं सप्त पर्याप्तमनुष्यभवान् सप्त पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवान् वानुभूय यद्यष्टमे भवे भूयः पर्याप्तमनुष्याः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा समुत्पद्यन्ते, ततो नियमादसंख्येयवर्षायुष एव, न संख्येयवर्षायुषः। असंख्येयवर्षायुषश्च मृत्वा नियमतो देवलोकेषूत्पद्यन्ते, ततो नवमोऽपि मनुष्यभवः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवो वा निरन्तरं न लभ्यते, अत एव पाश्चात्याः सप्त भवा निरन्तरं भवन्तः संख्येयवर्षायुष एवोपपद्यन्ते, नैकोऽप्यसंख्येयवर्षायुः, असंख्येयवर्षायुर्भवानन्तरं भूयो मनुष्यभवस्य तिर्यग्भवस्य वा असंभवात् ॥४६॥

अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह—

पुव्वकोडिपुहुत्तं पल्लतियं तिरिनराण कालेणं । नाणाइगपज्जत्तमणूणपल्लसंखंस अंतमुहू ॥४७॥

(स्वो०)—'पूर्वकोटीनां पृथक्त्वं' सप्तसु भवेषु सप्त पूर्वकोट्य इत्यर्थः, अष्टमभवस्यासंख्येयवर्षायुषां पल्योपमत्रिकेणाभ्यधिकाः

'कालतः' कालमधिकृत्य तिर्यग्नराणां कायस्थितिर्भवति। नानाप्रकारा अपर्याप्तकानेकमनुष्यकायस्य तत्सन्ततेरव्यवच्छिन्नाया उत्कृष्टतः पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिः, एकस्य त्वन्तर्मुहूर्त्तं, जघन्यतः उत्कृष्टतश्च सर्वत्रान्तर्मुहूर्त्तमिति गाथार्थः ॥४७॥

(मलय०)—संप्रत्येतेषामेव मनुष्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां सप्ताष्टभवानामुत्कर्षतः कालमानमाह—पर्याप्तनराणां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चन्द्रियतिरश्चां वा प्रत्येकमष्टानामपि भवानां समुदायमाश्रित्य कालेन सर्वोत्कृष्टकालसंख्यया कायस्थितिः पूर्वकोटिपृथक्त्वं पल्योपमत्रिकं च। तथाहि—यदा मनुष्याः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा सप्तस्वपि पूर्वभवेषु पूर्वकोटचायुष्केषूत्पद्यन्ते अष्टमे तु भवे त्रिपल्योपमायुष्केषु, तदा भवति तेषां पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिका पल्योपमत्रयप्रमाणा कायस्थितिः। तथा 'नाणेत्यादि' इह यथासख्येन पदघटना, ततोऽयमर्थः—नानाजीवानामपर्याप्तमनुष्याणां निरन्तरमुत्पद्यमानानामविच्छेदेन काल उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभागः, एकस्य पुनरपर्याप्तमनुष्यस्य भूयो भूय उत्पद्यमानस्याविच्छेदेन कालो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम् ॥४७॥

पुरिसत्तं सन्नित्तं, सयपुहुत्तं तु होइ अयराणं। थी पलियसयपुहुत्तं, नपुंसगत्तं अणंतद्धा ॥४८॥

(स्वो०)—(पुरुपत्वं) द्रव्यपुरुषवेदोदयत्वं 'संज्ञित्वं' समनस्कत्वं सागरोपमशतपृथक्त्वं यावद् भवति, यद्यपि भवान्तरे पुरुषाकारस्याभावः चित्ताभावश्च, तथापि भाविनि भूतवदुपचारादिति न्यायतः तुशब्दाधिक्याच्च तत्राप्येवमेव प्रतिपत्तव्यम्। द्रव्यस्त्रीवेदोदयः पल्योपमशतपृथक्त्वं यावदुत्कृष्टतो भवति। द्रव्यनपुंसकवेदोदयोऽनन्तं कालं, यतः स सर्वजीवस्थानेषु लभ्यत इति गाथार्थः ॥४८॥

(मलय०)—पुरुषत्वं पुरुषवेदो निरंतरं भवन् जघन्यतोंतर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽतराणां सागरोपमाणां शतपृथक्त्वं भवति। केवलं तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात्तदपि सागरोपमशतपृथक्त्वं मनाक् सातिरेकं द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां—'पुरिसवेए णं भंते। पुरिसवेए त्ति

कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं" । तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रियो गर्भजो जीवः, तद्भावः संज्ञित्वं, तदव्यवच्छेदेन जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कालं, उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति । अत्रापि सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकमवगन्तव्यम्, तथा प्रज्ञापनायामभिहितत्वात् । तथा च प्रज्ञापनाग्रन्थः—"सन्नी णं भन्ते ! सन्नि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ति" । तथा 'थी पलियसयपुहुत्तं' ति—स्त्री स्त्रीवेदो जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षतः पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वं च । तत्र समयमात्रभावना क्रियते—काचित् युवतिरुपशमश्रेण्यां वेदत्रयोपशमेनावेदकत्वमनुभूय ततः श्रेणेः प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदोदयमेकं समयमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तत्र च तस्याः पुंस्त्वमेव न स्त्रीत्वं, तत एवं जघन्यतः स्त्रीवेदः समयमात्रं भवति । उत्कर्षतः स्त्रीवेदावस्थानचिन्तायां पुनर्भगवता आर्यश्यामेन पूर्वपूर्वतनसूरिमतभेदमुपदर्शयता पञ्चादेशाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—"इत्थीवेए णं भंते ! इत्थीवेए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? । गोयमा ! एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दसोत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं १ । एगेण आएसेणं जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेण अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं २ । एगेणं आएसेण जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ३ । एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ४ । एगेणं आएसेणं जहण्णेणं एगं समय, उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियंति ५॥" अमीषां चादेशानामियं भावना—कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवाननुभूय ईशानकल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः स्वायुःक्षये ततः च्युत्वा भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नः,

ततो भूयो द्वितीयं वारमीशानदेवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः परमवश्यं वेदान्तरमेव गच्छति। एवं दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते। अत्र पर आह–ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिपु पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीपु मध्ये समुत्पद्यते, ततोऽधिकापि स्त्रीवेदस्यावस्थितिरवाप्यते, ततः किमेतावत्येवोपदिष्टा ? तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि–इह तावद्देवीभवश्च्युत्वा असंख्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन नोत्पद्यते, देवयोनेश्च्युतानामसंख्येयवर्षायुष्केपु मध्ये उत्पातप्रतिपेधात्। नाप्यसंख्येयवर्षायुष्का सती योषिदुत्कृष्टायुष्कासु देवीषु मध्ये जायते। यत उक्तं प्रज्ञापनाटीकाकृता–"जओ असंखेज्जवासाउया उक्कोसठिईं न पावेइ इति।" ततो यथोक्तप्रमाणैव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते। द्वितीयादेशवादिनः पुनरेवमाहुः–नारीपु तिरश्चीपु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चपान् भवाननुभूय पूर्वप्रकारेणेशानदेवलोके वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीपु मध्ये समुत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पद्यते, नापरिगृहीतासु। ततस्तन्मतेन स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानमष्टादश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। तृतीयादेशवादिनां तु मतेन सौधर्मदेवलोके परिगृहीतदेवीषु सप्तपल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासु मध्ये वारद्वयं समुत्पद्यते, ततस्तन्मतेन चतुर्दशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः। चतुर्थादेशवादिनां तु मतेन सौधर्मदेवलोके पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीष्वपि मध्ये पूर्वप्रकारेण वारद्वयं देवीत्वेनोत्पद्यते, ततस्तन्मतेन पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकमवाप्यते। एप एव चादेशो ग्रन्थकृता परिगृहीतः, प्रायोऽस्यैव बहुभिः सूरिभिः परिगृहीतत्वात्। पञ्चमादेशवादिनः पुनरित्थमाहुः–नानाभवभ्रमणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते, तर्हि पल्योपमपृथक्त्वमेव पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते न ततोऽभ्यधिकम्। तत्र नारीषु तिरश्चीपु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्त भवाननुभूयाष्टमे भवे देवकुर्वादिपु

त्रिपल्योपमस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्य ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छतीति । एतेषां पञ्चानामादेशानां मध्येऽन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः पूर्वो(सर्वो)त्कृष्टश्रुतलब्धिसंपन्नैर्वा कर्तुं शक्यते । ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन् , केवलं तत्कालापेक्षया पूर्वपूर्वतनाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपयन्ति स्म । न च तेषां मतं किमपि मिथ्या ज्ञातुं शक्यते । ततस्तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान् । तेऽपि प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्तो गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति । ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि। 'गोयमा' इत्युक्तं, अन्यथा भगवति गौतमाय साक्षान्निर्देष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगवतः सर्वसंशयातीतत्वात् । तत 'एगेणं आएसेणं ति' वचनं आर्यश्यामस्य प्रतिपत्तव्यं, न भगवद्वर्धमानस्वामिन इति। तथा नपुंसकत्वं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतोऽनन्ताद्धा । तत्र एकसमयता स्त्रीवेदस्येव भावनीया । अनन्ताद्धा च सांव्यावहारिकजीवानधिकृत्यासंख्येयपुद्गलपरावर्त्तस्वरूपा द्रष्टव्या। तथा चोक्तं–"नपुंसगवेए णं भंते ! नपुंसगवेए त्ति कालओ केवचिरं होइ? गोयमा ! जहन्नेणं एक समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणताओ उस्सप्पिणीओस्सप्पिणीओ कालओ। खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, आवलियाए असंखेज्जइ भागो ।" असांव्यवहारिकजीवानधिकृत्य पुनर्द्विधानन्ताद्धा। कांश्चिदधिकृत्यानादिरपर्यवसाना, ये न कदाचिदप्यसांव्यवहारिकराशेरुद्वृत्य सांव्यवहारिकराशौ पतिष्यन्ति। कांश्चिदधिकृत्य पुनरनादिसपर्यवसाना, ये असांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशावागमिष्यन्ति । आगमिष्यन्तीति च प्रज्ञापककालभाविनो सांव्यवहारिकराशौ वर्त्तमानान् जीवानधिकृत्योच्यते, अन्यथा ये असांव्यवहारिकराशेर्निर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागमन् आगच्छन्ति आगमिष्यन्ति वा, तेषां सर्वे-

षामपि नपुंसकवेदाद्धाऽनादिसपर्यवसाना । अथ किमसांव्यवहारिकराशेर्निर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति येनैवं प्ररूपणा क्रियते ? उच्यते—आगच्छन्ति । कथमवसीयते इति चेत्, पूर्वाचार्योपदेशात् । तथा चाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो विशेषणवत्यां—"सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहारजीवरासीओ । इंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तंमि ॥१॥ अयं च विचारो विशेषतः प्रज्ञापनाटीकायामभिधास्यते, इति नेह विस्तार्यते, इति कृतं प्रसंगेन ॥४८॥

वायरपज्जेगिंदियविगलाण य वाससहस्स संखेज्जा । अपज्जंतसुहुमसाहारणाण पत्तेगमंतमुहू ॥४९॥

(स्वो०)—बादराणां पर्याप्तकनामविशेपितानां संख्येया वर्षसाहस्त्र्यः प्रत्येकं पृथिवीजलाग्निवायुवनस्पतिप्रत्येकैकेन्द्रियाणां संख्येया वर्षसाहस्त्र्यः कायस्थितिः, विकलानामपि द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं संख्येयवर्षसाहस्त्र्यः कायस्थितिः, एतेषामसंज्ञिसंज्ञिनां चापर्याप्तनामोदयिनां सूक्ष्मसाधारणनामोदयिनां च पर्याप्तनामोदयविशेपितानामपर्याप्तनामोदयविशेपितानां च प्रत्येकं त्रयाणामप्यन्तर्मुहूर्त्तमात्रा कायस्थितिर्भवतीति गाथार्थः ॥४९॥

(मलय०)—बादरपर्याप्तनामेकेन्द्रियाणां भूयो भूयः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानानां कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि । उक्तं च—"बायरेगिंदियपज्जत्तए णं भंते ! बायरेगिंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं इति ।" इयं च बादरपर्याप्तकेन्द्रियकायस्थितिचिन्ता बादरपर्याप्तैकेन्द्रियत्वं सामान्यमात्रमधिकृत्य कृता । यदि पुनर्विभागतो बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकत्वाद्यधिकृत्य कायस्थितिश्चिन्त्यते, तदैवमवसेया—बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकस्य भूयो भूयः पर्याप्तबादरपृथिवीकायिकत्वेनोत्पद्यमानस्य जघन्यतोन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि ।

एवं बादरपर्याप्ताप्कायिकवायुकायिकप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिकानामपि द्रष्टव्या । बादरपपर्याप्ततेजस्कायिकानां पुनर्जघन्यतोन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयानि रात्रिंदिवानि । उक्तं च प्रज्ञापनायां—"बायरपुढविकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बायरपुढविकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं, एवं आउकाएवि । बायरतेउकाइयपज्जत्तएणं भंते ! बायरतेउकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइए पत्तेयसरीरबायरवणप्फइकाइए य पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइ इति ।' तथा विकलानां विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियरूपाणां प्रत्येकं कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां—"बेइंदिए ण भंते ! बेइंदिए त्ति कालओ केवचिर होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेण संखेज्ज कालं, एवं तेइंदियचउरिंदिए वि इति ।" यदि पुनः पर्याप्तद्वीन्द्रियादिचिन्ता क्रियते, तदैवं तेषां कायस्थितिरवगन्तव्या—पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भूयो भूयः पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः संख्येयानि वर्षाणि । पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयानि रात्रिंदिवानि । पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येया मासाः । उक्तं च—"बेइंदियपज्जत्तएणं भंते! बेइंदियपज्जत्तए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण संखेज्जाइ वासाइ । तेइंदियपज्जत्तए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण, संखेज्जाइं राइंदियाइं । चउरिंदियपज्जत्तए णं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जा मासा इति ।" तथा अपर्याप्तानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां सप्तानामपि प्रत्येकं जघन्येनोत्कर्षेण वा कायस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तम् । यदुक्तं—"अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण

वि अंतोमुहुत्तं ।" तथा सूक्ष्माणां सामान्यतः सूक्ष्मजीवानां पृथिव्यादिसूक्ष्माणां, साधारणानां—सूक्ष्मनिगोदानां बादरनिगोदानां च पर्याप्तविशेषणेनापर्याप्तविशेषणेन च पृथग् विशिष्यमाणतया विवक्षितानां प्रत्येकं कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम्। तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां—"सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए सुहुमअपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं । पुढविकाइयआउकाइयतेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयाण वि एवं चेव । पज्जत्तयाण वि एवं । वायरनिगोयपज्जत्तए य वायरनिगोयअपज्जत्तए य पुच्छा, गोयमा ! दुन्निवि जहन्नेण उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।" यदि पुनः पर्याप्तापर्याप्तरूपे विशेषणे अनपेक्ष्य सामान्यतः सूक्ष्माणां कायस्थितिश्चिन्त्यते तदैवमवसेया—सूक्ष्मपृथिवीकायस्य भूयो भूयः सूक्ष्मपृथिवीकायत्वेनोत्पद्यमानस्य जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तं कायस्थितिः, उत्कर्षतोऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । एवं सूक्ष्माप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकानामपि भावनीया । तथा चाह—"सुहुमपुढविकाइए णं भंते ! सुहुमपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखिज्जा लोगा । एवं सुहुमआउकाइए सुहुमतेउकाइए सुहुमवाउकाइए सुहुमवणस्सइकाइए ॥४९॥

पत्तेय वायरस्स उ परमा हरियस्स होइ कायठिई । ओसप्पिणी असंखा साहारत्तं रिउगइयत्तं ॥५०॥

(स्वो०)—प्रत्येकबादरस्य 'हरितस्य' वनस्पतिजीवस्य पर्याप्तापर्याप्तकविशेषणाभ्यामप्रधानस्य 'परमा' उत्कृष्टा असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कायस्थितिर्भवति । इयत्कालमेव साहारकत्वं भवान्तरेषु संसरतः ऋजुगतित्वमपि । तत्कालमेव भवान्तरेषु कुतोऽनुमीयते ? उच्यते—अक्षराधिक्यादर्थाधिक्यं परिकल्प्यते प्रत्येकवनस्पतीनां सूक्ष्मत्वाभावात् सिद्धं बादरत्वम्, सिद्धेऽपि यद्ग्रहणं तदस्यार्थस्य

ख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥५०॥

(मलय०)—इह प्रत्येकमिति भिन्नं पदं, न समस्तं, समस्ते सति प्रत्येकवनस्पतिप्रतिप्रत्तिप्रसक्तेः । न च प्रत्येकवनस्पतेरधिकृतगाथोक्ता कायस्थितिः, आगमे तथाऽनभिधानात् , किन्तु वक्ष्यमाणा । ततोऽयमर्थः-बादरस्य बादरकायस्य तथा हरितस्य वनस्पतिकायस्य, बादरस्येति पदमत्रापि संबध्यते, सामान्यतो वनस्पतिकायस्थितेः प्रागेवाभिधानात् । ततो बादरवनस्पतिकायस्य च प्रत्येकं परमा उत्कृष्टा कायस्थितिरसंख्या असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, जघन्या तूभयत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । तथा चोक्तं-"बायरे णं भंते ! बायरे त्ति कालओ केवचिरं होइ? गोयमा ! जहन्नेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जइभाग । बायरवणस्सइकाइए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जइभागं" इति अत्र अंगुलस्यासंख्येयभागमिति । अस्यायं भावार्थः-अंगुलस्यासंख्येयतमभागमात्रे क्षेत्रे प्रतिसमयं प्रदेशापहारे क्रियमाणे यावत्योऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति, तावन्तं कालमिति । तथा 'साहारत्तं रिउगइयत्तामिति' सह आहारेण वर्त्तत इति साहारः तद्भावः साहारत्वं, तदपि निरन्तरं जघन्यतोन्तर्मुहूर्त्तं द्विसमयोनक्षुल्लकभवप्रमाणं, उत्कर्षतोऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । उक्तं च-"आहारए णं भंते ! आहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ? । गोयमा ! आहारए दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-छउमत्थआहारए केवलिआहारए य । छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ? । गोयमा ! जहण्णेणं खुड्डगभवग्गहणं दुसमयऊणं, उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जइभागं ।" इदं च साहारत्वं निरन्तरमेव तावन्तं कालं यावल्लभ्यते ऋजुगत्या परभवगतौ, न विग्रहगत्या, विग्रहगतावनाहार-

त्त्वभावात् । तद् ऋजुगतित्वमपि निरन्तरमुत्कर्षतः साहारत्वमिवासंख्येययोत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावल्लभ्यते ॥५०॥

मोहठिइबायराणं सुहुमाण असंखया भवे लोगा । साहारणेसु दोसड्ढपुग्गला निव्विसेसाणं ॥५१॥

(स्वो०)–मोहनीयकर्मणो यावन्मात्रा स्थितिः सागरोपमाणां सप्ततिकोटाकोट्यः तावन्मात्रा 'बादराणां' सामान्यतः पर्याप्तापर्याप्तरूपाणां पृथिवीजलाग्निवायुकायिकानां पृथक्, वनस्पतेः पृथक् भणनादवसीयते, एषामेव सूक्ष्माणामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्या कायस्थितिः । साधारणानां बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तविशेषणनिरपेक्षाणां द्वौ सार्धौ पुद्गलपरावर्त्तौ कायस्थितिरिति गाथार्थः ॥५१॥

(मलय०)—अत्र मोहशब्देन दर्शनमोहनीयकर्म विवक्षितं, बादराणामिति च यद्यपि सामान्येनोक्तं, तथापि पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकसाधारणबादरवनस्पतीनामिति द्रष्टव्यं, न तु सामान्यतो बादराणां बादरवनस्पतिकायिकानां वा, तेषां कायस्थितेः प्रागेवाभिधानात् । तत एवमक्षरार्थः—बादराणां पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकसाधारणवनस्पतीनां निर्विशेषाणां पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितानां कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतो मोहस्थितिर्मोहस्थितिप्रमाणा सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा इत्यर्थः । उक्तंच—"बायरपुढविकाइए णं भंते ! बायरपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ, एवं बायर आउकाइएवि, एवं जाव बायरवाउकाएवि । पत्तेयबायरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ । तथा बायरनिगोए णं भंते ! बायरनिगोएत्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ इति " तथा सूक्ष्माणां भूयो भूयः सूक्ष्मत्वेनोत्पद्यमानानां निर्विशेषाणां पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितानां कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतोऽसंख्येया लोकाः, असंख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयं प्रदेशापहारेणापह्रियमाणेषु यावत्य उत्स-

र्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्य इत्यर्थः। उक्तं च–"सुहुमे णं भंते ! सुहुमेत्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा।" पर्याप्तादिविशेषणविशिष्टानां कायस्थितिः प्रागेव चिन्तिता, तथा साधारणानां निगोदानां निर्विशेषणां सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितानां जघन्येन कायस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतो द्वौ सार्द्धौ पुद्गलपरावर्त्तौ। उक्तं च–"निगोए णं भंते ! निगोएत्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण अणंत काल अणंताओ उसप्पिणोओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा।" एतच्च सांव्यवहारिकजीवानधिकृत्योक्तमवसेयं, असांव्यवहारिकजीवानां तु भूयो भूयो निगोदत्वेनोत्पद्यमानानां कायस्थितिरनादिरवसेया। तथा चोक्तं विशेषणवत्यां–"अत्थि अणंता जीवा, जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो। तेवि अणंताणंता, निगोयवासं अणुवसंति ॥१॥" यदा तु सूक्ष्मनिगोदत्वेन चिन्ता तदोत्कर्षतः कायस्थितिरसंख्येया लोकाः। यदा पुनर्बादरनिगोदत्वेन तदा सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः। यदा तु सूक्ष्मनिगोदा अपि पर्याप्तत्वेनापर्याप्तत्वेन वा विवक्ष्यन्ते तदा जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम्। एवं बादरनिगोदा अपि। तथा वनस्पतिसामान्यपदे असंख्यातपुद्गलपरावर्त्तः, एतच्च सर्वं प्रागेवोक्तम्। इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथान्यथागमविरोधिनी दृश्यते, ततस्तामुपेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारतः सूत्रगाथा विवृताः, अत एव ग्रन्थगौरवमनादृत्य सर्वत्र प्रज्ञापनासूत्रमुपादर्शि ॥५१॥

कादाचित्कगुणानां सम्भवेन सातत्येनावस्थानकालमाह—

सासणमीसाओ हवंति सन्तया पलियसंखइगकाला। उवसामगउवसंता समयाओ अंतरमुहुत्तं ॥५२॥

(स्वो०)—साखादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च 'सन्तता' अव्यवच्छिन्नाः, पल्योपमासंख्येयभागमात्रं कालमुत्कृष्टतः एकानेकविकल्पोत्पत्त्या विनश्यन्तोऽपि इयत्कालं भवन्ति, स्वगुणस्थानमशून्यं कुर्वन्तीत्यर्थः। जघन्यतः साखादनाः समयमेकमितरे अन्तर्मुहूर्त्तमित्ययमेककालः। तुशब्दादुपशामनयोग्या अपूर्वकरणाः, बादरसूक्ष्मकषाया उपशान्तकषायाश्च जघन्यतः समयमेकं स्वगुणस्थानमशून्यं कुर्वन्ति परतो विनश्यन्ति देवत्वेनोत्पद्यन्ते, उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा गुणान्तरं व्रजन्ति, तत्परतः श्रेणीशून्यतया भाव्यमिति गाथार्थः ॥५२॥

(मलय०)—उक्तः कायस्थितिकालः, इह पूर्वं गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानं कालमानमेकजीवाश्रितमुक्तम्। संप्रति तदेव नानाजीवाश्रितमाह—सासादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च प्रत्येकमुत्कर्षतः संतता निरन्तरा भवन्ति पल्योपमासंख्येयभागं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागं कालं, जघन्यस्त्वेककालाः, एकस्य जीवस्य यो जघन्यः काल उक्तः—सासादनस्य समयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टेरन्तर्मुहूर्त्तं, स एव नानाजीवसन्ततावित्यर्थः। इयमत्र भावना—सासादनसम्यग्दृष्टयो जघन्यतः समयमात्रं प्राप्यन्ते, उपशमसम्यक्त्वाद्धायाश्चरमसमये सासादनभावप्रतिपत्तितो द्वितीयसमयेऽपगमनादपरेषां च तस्मिन् द्वितीये समये सासादनप्रतिपत्तॄणामभावात्, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशेः प्रतिसमयं प्रदेशापहारेण यावान् कालो भवत्यसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्तावन्तं कालं, परतोऽवश्यमन्तरं भवति। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्निरन्तरं प्राप्यन्ते, तद्गुणस्थानकस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागापहारोपलक्षितं कालम्। तथा उपशमका उपशमश्रेण्यन्तर्गता अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपराया उपशान्ता उपशान्तमोहाः प्रत्येकं सर्वेऽपि निरन्तरं जघन्यतः समयमात्रं लभ्यन्ते यदाऽपूर्वकरणादौ प्रविश्य द्वितीये समये म्रियन्तेऽन्ये

च न प्रविशन्ति, उत्कर्षतोऽन्तमुहूर्त्तं, परतोऽवश्यमन्तरसम्भवात् ॥५२॥

खवगा खीणा जोगी होंति अणिच्चावि अंतरमुहुत्तं। नाणाजीवे तं चिय सत्तहिं समएहिं अब्भहियं ॥

(स्वो०)-क्षपका बादरकषायाणां सूक्ष्मकषायविशेषाणां च, अपिशब्दात् क्षपणार्हा अपूर्वकरणाः 'क्षीणा' इति क्षीणकषायास्तथा अयोगिजिनश्च एते प्रत्येकं एकानेकरूपतया स्वगुणेषु 'अनित्या अपि' कादाचित्कभावा अपि, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं सन्तो भवन्ति, नानाजीवसन्ततिमाश्रित्य तदेवान्तर्मुहूर्त्तं प्रथमक्षपकश्रेणीकालं सप्तभिः समयैरभ्यधिकं भवति, प्रथमक्षपकापेक्षया तदभ्यधिकं अष्टमक्षपकापेक्षया तदन्तर्मुहूर्त्तमेव, यतोऽन्तर्मुहूर्त्तात् सप्तसमयाधिकादूर्ध्वतोऽवश्यं श्रेणीशून्यतया भाव्यमिति गाथार्थः ॥५३॥

(मलय०)—क्षपकाः क्षपकश्रेण्यन्तर्गता अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायाः, क्षीणाः क्षीणमोहाः, अयोगिनो भवस्थायोगिकेवलिनः, एते अनित्या अपि स्वे स्वे गुणस्थानके अस्थिरा अपि सन्तो नियमतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवन्ति। परतो नानाजीवानप्यधिकृत्यामी अपूर्वकरणादयः सततं भवन्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं वेदितव्याः, परतोऽवश्यमन्तरम्। क्षपकश्रेणेरपि सकलाया निरन्तरं भवन्त्या अन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं लभ्यमानत्वात्। नवरमेकजीवाश्रितादन्तर्मुहूर्त्तान्नानाजीवापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्त्तं सप्तभिः समयैरधिकमवगन्तव्यम्। तथा चाह-'नाणेत्यादि' नानाजीवानधिकृत्य तदेवैकैकजीवाश्रितमन्तर्मुहूर्त्तं सप्तभिः समयैरधिकमवसेयम्। एतच्च सूत्रकारवचनप्रामाण्यात् प्रत्येयम्। नह्यत्र कामपि युक्तिमव्याहतां वयं पश्यामः, न च ग्रन्थान्तरसंवादमिति। मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगिकेवलिगुणस्थानकानि नानाजीवानाश्रित्य सदैव प्राप्यन्ते। यत उक्तं—"मिच्छा अविरयसम्मा देसविरया पमत्तइयरे य। नाणाजीवे पडुच्च उ सव्वकाल सजोगी इति ॥१॥" ततो नैषां कालमानं ग्रन्थकृदुक्तवान् सुप्रतीतत्वादिति ॥५३॥

प्रतिपत्तिकालमाह—

एगिंदित्तं समयं तसत्तणं सम्मदेसचारित्तं। आवलियासंखंसं अडसमय चरित्तसिद्धी य ॥५४॥

(स्वो०)—'एकेन्द्रियत्वं' सततमव्यवच्छिन्नं सदा जीवाः प्रतिपद्यन्ते, तद्भावेनोत्पद्यन्त इति, 'त्रसत्वं' द्वीन्द्रियादिभावं, सम्यक्त्वं देशविरतिगुणं चावलिकासमयानां असंख्येयभागमात्रसमयान् यावत्प्रतिपद्यन्ते, तदुत्तरकालमवश्यं व्यवच्छेदेन भाव्यम्, सर्वविरतिं सिद्धत्वं चाष्टौ समयान् सातत्येन प्रतिपद्यन्ते अव्यवच्छेदेनेति गाथार्थः ॥५४॥

(मलय०)—तदेवं भवे काये चैकैकजीवस्य गुणस्थानकेष्वेकानेकजीवानामवस्थानकालमभिधाय साम्प्रतं नानाजीवापेक्षया निरन्तरोत्पत्तिकालमानमाह—सततमनवरतं नानाजीवानधिकृत्यैकेन्द्रियत्वमेकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तिः प्राप्यते। किमुक्तं भवति ? एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानाः सकलमपि कालं जन्तवः प्राप्यन्ते। तथाहि—एकेन्द्रियाः पञ्चविधाः। तद्यथा—पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिकाश्च। एते च प्रत्येकमपि सकलकालमुत्पद्यमानाः प्राप्यन्ते, किं पुनः सामान्यत एकेन्द्रियाः ?। अथ पृथिव्यादयः प्रत्येकं सकलमपि कालमुत्पद्यमानाः प्राप्यन्ते, इति कथमवसेयम् ? उच्यते—सूत्रप्रामाण्यात्। तच्चेदं सूत्रम्—"पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता ? गोयमा ! अणुसमयं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता। एवं आउकाइयावि तेउकाइयावि वाउकाइयावि वणस्सइकाइयावि अणुसमयं अविरहिया उववाएणं पन्नत्ता इति।" ननु यदि पृथिव्यादयः प्रतिसमयमुत्पद्यन्ते, तर्हि समये समये कियन्त उत्पद्यन्ते ? उच्यते—पृथिव्यप्तेजोवायवः प्रत्येकमसंख्येया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, वनस्पतयस्त्वनन्ता अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिमानाः। उक्तश्च—"चयणुववाओ एगिंदिएसु अविरहियमेव अणुसमयं। हरियाणंता लोगा सेसा काया

असंखेज्जा ॥१॥" प्रज्ञापनायामप्युक्तं—"पुढविकाइया णं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति? गोयमा! अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति, एवं जाव वाउकाइया। वणस्सकाइया णं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सठाणोववायं पडुच्च अणुसमयमविरहिया अणंता उववज्जंति, परठाणोववायं पडुच्च अणुसमयमविरहिया असंखेज्जा इति।" तथा त्रसत्वं त्रसत्वेनोत्पत्तिः सततमनवरतं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षत आवलिकाऽसंख्येयं भागं कालं, परतोऽवश्यमन्तरम्। अपि चास्तां सामान्येन त्रसत्वं, किंतु द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः सम्मूर्च्छनजमनुष्याः, अप्रतिष्ठाननरकावासनारकवर्जाः शेषाः प्रत्येकं नारकाः, अनुत्तरसुरवर्जाः शेषाः प्रत्येकं देवाश्च, निरन्तरमुत्पद्यमाना जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयं भागं कालम्। तथा सम्यक्त्वं देशतश्चारित्रं च निरन्तरं नानाजीवाः प्रतिपद्यमाना जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयं भागं कालं यावत्प्राप्यन्ते, तदनन्तरमवश्यमन्तरम्। तथा चारित्रं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानरूपमात्मपरिणामस्वभावं मूलगुणोत्तरगुणासेवनालिंगगम्यं, सिद्धत्वं सकलकर्मविनिर्मुक्तयथास्थितजीवस्वरूपं नानाजीवाः प्रतिपद्यमाना जघन्यत एकं समयं प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षतोऽष्टौ समयान्, परतो नियमादन्तरम् ॥५४॥

उवसमसेढी उवसंतया य मणुयत्तणुत्तरसुरत्तं। पडिवज्जंते समया संखेया खवगसेढी य ॥५५॥

(व्या०)—उपशमश्रेणीं उपशान्ततां च मनुजत्वं पञ्चोत्तरविमानदेवत्वं च जीवाः संख्येयान् समयान् यावत्प्रतिपद्यन्ते, चशब्दात् स्तोका मनुजाः यतः सर्वेऽपि संख्येयास्तेभ्यश्चोत्तमयतित्वप्राप्तेभ्यः एतानि स्थानानि इति। द्वितीयचशब्दात् क्षपकश्रेणीं अष्टावेव समयान् इति गाथार्थः ॥५५॥

(मलय०)—उपशमश्रेणिमुपशांततां च, मनुजत्वं पञ्चेन्द्रियगर्भजमनुष्यत्वं, तथानुत्तरसुरत्वं, उपलक्षणमेतत् अप्रतिष्ठाननरकावासनारकत्वं, तथा क्षपकश्रेणिं च, नानाजीवा निरन्तरं प्रतिपद्यमानाः जघन्यतः समयमात्रं, उत्कर्षतः संख्येयान् समयान् यावत्प्रतिपद्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरभाजः ॥५५॥

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य चुलसीई । छन्नउइ दुअट्ठसयं एगाए जहुत्तरे समए ॥५६॥

(स्वो०)—एकादयो रूपवृद्ध्या यावद् द्वात्रिंशज्जीवाः प्रथम (क्षपक)श्रेण्याद्यसमये क्षपकत्वं प्रतिपद्यन्ते, न तेभ्योऽभ्यधिकाः तदुत्तरसमये एकादयो रूपवृद्ध्या यावदष्टचत्वारिंशन्न तेभ्योऽप्यधिकास्तृतीयसमये एकादयो रूपवृद्ध्या षष्टिं यावदेवं चतुर्थसमये द्विसप्ततिं यावत्, पञ्चमसमये चतुरशीतिं यावत्, षष्ठसमये षण्णवतिं यावत्, सप्तमसमये द्व्यधिकं शतम्, अष्टमसमये एकादयो रूपवृद्ध्या अष्टाभ्यधिकशतपर्यन्ता जीवाः श्रेणीं सिद्धत्वं वा प्रतिपद्यन्ते, तत्परतः प्रतिपत्तिरेव नास्ति, एते चोत्कृष्टतः सर्वेऽपि द्व्यधिकषट्शतप्रमाणा इति गाथार्थः ॥५६॥

(मलय०)—इह प्रागिदमुत्कर्षतोऽष्टौ समयान्यावन्निरन्तरं सिद्धत्वं प्रतिपद्यमानाः प्राप्यन्ते, तत्र कतिसंख्या निरन्तरमष्टौ समयान् यावत्प्राप्यन्ते ? कति वा सप्तादिसमयानिति विनेयप्रश्नमाशङ्क्य विशेषनिर्धारणार्थमाह—एकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ता निरन्तरमष्टौ समयान् यावत्प्राप्यन्ते । इयमत्र भावना—प्रथमसमये जघन्यत एको द्वौ वा सिद्ध्यतः, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सिध्यन्ति, द्वितीयसमयेऽपि जघन्यत एको द्वौ वा सिद्ध्यतः, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत् । एवं तृतीयचतुर्थसमयेऽपि यावदष्टमेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा सिद्ध्यतः, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, परतोऽवश्यमन्तरम् । तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान्

यावत्प्राप्यन्ते, परतो नियमादन्तरम्। एवमेकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः षट् समयान्, परतोऽन्तरम्। एकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः पञ्च समयान्, ऊर्ध्वं नियमादन्तरम्। त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः समयान्। पञ्चाशीत्यादयः षण्णवतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतस्त्रीन् समयान्। तथा सप्तनवत्यादयो द्व्युत्तरशतपर्यन्ताः निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतो द्वौ समयौ, परतोऽन्तरम्। त्र्युत्तरशतादयोऽष्टोत्तरशतपर्यन्ताः सिद्ध्यन्तो नियमत एकमेव समयं यावत्प्राप्यन्ते, न द्वित्रादिसमयान्। तथा चाह–'एगाइ जहोत्तरे समए इति' एकादीन् यथोत्तरान् समयान् यावत्। इदं च पश्चानुपूर्व्या समयसंख्याप्रतिपादनम्, ततोऽयमर्थः–त्र्युत्तरशतादयोऽष्टोत्तरशतपर्यन्ता एकं समयं यावत्। सप्तनवत्यादयो द्व्युत्तरशतपर्यन्ता द्वौ समयौ। एवं यावदेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ता अष्टौ समयानिति ॥५८॥

उक्तं कालद्वारम्। अन्तरद्वारमाह–

गब्भयतिरिमणुसुरनारयाण विरहो मुहुत्तबारसगं। मुच्छिमनराण चउवीस विगलअमणाण अंतमुहू ॥

(स्वो०)–सर्वेऽपि गर्भजाः संज्ञिनो, ये तु संज्ञिनस्ते गर्भजा अगर्भजा वा, अस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थमेवमुपन्यासः, गर्भजानां तिरश्चां मनुष्याणां, (अगर्भजानां) देवानां नारकाणां च चतुर्णामपि प्रत्येकं द्वादशमुहूर्त्तान्युत्कृष्टतो 'विरहो'ऽन्तरं भवति, सामान्यनिर्देशात् संख्येयासंख्येयायुषां ग्रहणम्, देवानां चतुर्भेदानाम्, नारकाणां सप्तभेदानामपि, एतच्चान्तरमनेकजीवाश्रयं चतुर्विधानामपि संज्ञिनां प्रागुत्पन्नेभ्योऽन्ये द्वादशभिर्मुहूर्त्तैरुत्कृष्टत उत्पद्यन्त एव, जघन्यं समयमेकं व्यस्तोच्चारणादेवावगन्तव्यम्। चउवीसमुहूत्ताइं' इत्यादि, यदन्यैरभिहितं तत्प्रत्येकं नरकदेवलोकादिषु, एतत्पुनः सकलगत्याश्रयमिति न दोषः। सम्मूर्च्छजमनुष्याणां चतुर्विंशतिमुहूर्त्तान्, द्वि-

त्रिचतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिनां च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तं, एकेन्द्रियाणां सदोत्पत्तेरेवान्तरं नास्ति इति गाथार्थः ॥५७॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं सप्रपञ्चं कालद्वारं, संप्रत्यन्तरद्वारमाह–गर्भजानां तिर्यग्मनुष्याणां, तथा सुराणां देवानां, नारकाणां निरन्तरमुत्पद्यमानानामुत्पादमधिकृत्य विरहोन्तरमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ताः। इयमत्र भावना-गर्भव्युत्क्रान्तानां पंचेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां चोत्पादमधिकृत्यान्तरं जघन्यतः एकं समयमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ताः। उक्तं च—"गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एग समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता। गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता।" तथा देवानां सामान्यतो देवगतावुत्पद्यमानानामुत्पादमधिकृत्यान्तरं जघन्यतः समयमात्रमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ताः। उक्तं च—"देवगई णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।" यदि पुनरसुरकुमारादिभेदेन देवगतौ विशेषचिन्ता क्रियते, तदैवमन्तरमवसेयं–असुरकुमारनागकुमारसुवर्णकुमारविद्युत्कुमारवायुकुमाराग्निकुमारस्तनितकुमारोदधिकुमारद्विपकुमारदिक्कुमारव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मकल्पेशानकल्पदेवानां प्रत्येकमुत्पादमधिकृत्य जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्ताः, सनत्कुमारकल्पदेवानां जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो नव रात्रिंदिवानि विंशतिमुहूर्त्ताः, माहेन्द्रकल्पदेवानामुत्कर्षतो द्वादश रात्रिन्दिवानि दश मुहूर्त्ताः, ब्रह्मलोककल्पदेवानां सार्द्धद्वाविंशतिरात्रिन्दिवानि, लान्तककल्पदेवानां पञ्चचत्वारिंशद्रात्रिन्दिवानि, महाशुक्रकल्पदेवानामशीतिरात्रिन्दिवानि, सहस्रारकल्पदेवानां रात्रिंदिवशतं, आनतकल्पदेवानां संख्येया मासाः, प्राणतकल्पदेवानामपि संख्येया मासाः, केवलमानतकल्पदेवापेक्षया प्रभूता वेदितव्याः, आरणकल्पदेवानां संख्येयानि वर्षाणि, अच्युतकल्पदेवानामपि संख्येयानि वर्षाणि, नवरमारणकल्पदेवापेक्षया प्रभूतानि, अधस्तनग्रैवेयकदेवानां संख्येयानि

वर्षशतानि, मध्यमग्रैवेयकदेवानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि, उपरितनग्रैवेयकदेवानां संख्येयानि वर्षशतसहस्राणि, विजयवैजयन्तजयन्तापराजितदेवानामसंख्येयं कालं, सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवानां पल्योपमसंख्येयभागरूपं कालं, जघन्यतः सर्वत्रापि एकं समयम्। उक्तं च—"असुरकुमारा णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। नागकुमारा णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। एव सुवन्नकुमाराणं, विज्जुकुमाराण, अग्गिकुमाराणं, वायुकुमाराणं, दीवकुमाराणं, उयहिकुमाराणं, दिसाकुमाराणं, थणियकुमाराणं, जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। वाणमंतराणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समय, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। जोइसियाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। सोहमकप्पे देवा णं भंते! केवइय कालं विरहिया उववाएणं? गोयमा! जहन्नेणं एगं समय, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। ईसाणकप्पे देवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। सणन्तकुमारकप्पे देवाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं नव राइदियाइ वीसं मुहुत्ता। माहेंददेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं वारस राइंदियाइं दस मुहुत्ता। बंभलोयदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अद्धतेवीसं राइंदियाइं। लंतयदेवाण पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पणयालीसं राइंदियाइं। महासुक्कदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असीइं राइंदियाइं। सहस्सारदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं, समयं, उक्कोसेणं राइंदियसयं। आणयदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेण संखेज्जा मासा। पाणयदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एगं समय, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा। आरणदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेण एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा वासा। अच्चुयदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जा वासा। हेट्ठिमगेवेज्जाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससयाइं। मज्झिमगेवेज्जाणं पुच्छा, गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससहस्साइ। उवरिमगेवेज्जाण पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एग समयं, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससयसहस्साइं। विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवाणं पुच्छा, गोयमा!

जहण्णेण एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। सव्वट्ठसिद्धदेवा णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एग समयं उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखेज्जइभागं।” तथा नारकाणां सामान्यतो नरकगतौ निरन्तरमुत्पद्यमानानामुत्पादमधिकृत्यान्तरं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ताः। उक्तं च—“निरयगई णं भंते! केवइय कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एग समयमुक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।” इदमन्तरं सामान्यतो नरकगतावुत्पादमधिकृत्य चिन्तितम्। यदि पुनरत्रापि रत्नप्रभानारकादिविशेषचिन्ता क्रियते, तदैवमवसेयं—रत्नप्रभानारकाणामुत्पादमधिकृत्योत्कृष्टमन्तरं चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ताः। शर्कराप्रभानारकाणां सप्त रात्रिन्दिवानि। वालुकाप्रभानारकाणां पञ्चदश दिनानि। पङ्कप्रभानारकाणां मासः। धूमप्रभानारकाणां द्वौ मासौ। तमःप्रभानारकाणां चत्वारो मासाः। तमस्तमःप्रभानारकाणां षण्मासाः। जघन्यतः सर्वत्राऽप्येकः समयः। उक्तं च—“रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। सक्करप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं काल विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं सत्त राइंदियाइं। वालुयप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अद्धमासं। पंकप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहण्णेणं एग समयं, उक्कोसेणं मासो। धूमप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं काल विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दो मासा। तमप्पभापुढविनेरइया णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेण चत्तारि मासा। अहेसत्तमपुढविनेरइया णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।” तथा संमूर्च्छिमनराणां संमूर्च्छिममनुष्याणां निरन्तरमुत्पद्यमानानामुत्पादमधिकृत्य सकलेऽपि मनुष्यक्षेत्रेऽन्तरं जघन्यत एकः समयः, उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ताः। उक्तं च—“संमुच्छिममणुस्सा णं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता।” तथा विकलानां

विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां, तथा अमनस्कानां संमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां प्रत्येकं निरन्तरमुत्पद्यमानानामुत्पादमधिकृत्यान्तरं जघन्यत एकः समयः, उत्कर्षतोन्तर्मुहूर्त्तम् । आह च भगवानार्यश्यामः—"बेइंदिया णं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएण पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं तेइंदियचउरिंदियसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य पत्तेयं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं" ॥५७॥

उक्तं जीवस्थानेष्वनेकजीवाश्रयमन्तरं, तेष्वेवैकजीवाश्रयमतिदेशमाह—

तसबायरसाहारणअसन्निअपुमाण जो ठिईकालो । सो इयराणं विरहो एवं हरियेयराणं च ॥५८॥

(स्वो०)—त्रसत्वे सागरोपमद्विसहस्रमात्रो यः कायस्थितिकालः स स्थावरस्यैकेन्द्रियस्य एकजीवाश्रयो विरहकालः, एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियादिष्वियन्तं कालं स्थित्वा भूयोऽप्येकेन्द्रियेष्वागच्छतीत्यर्थः । यस्त्वेकेन्द्रियस्योत्कृष्टो व्यावहारिकस्यासंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकः कायस्थितिकालः स द्वीन्द्रियादिकत्रसविरहकालः । यो बादरस्य कायस्थितिकालो मोहस्थितिमात्रः, स सूक्ष्मस्यान्तरकालः । यः सूक्ष्मस्यासङ्ख्येयलोकमात्रः कायस्थितिकालः स बादरस्य विरहकालः । साधारणस्य यः सार्द्धद्विपुद्गलपरावर्त्तमात्रः कायस्थितिकालः स प्रत्येकस्य विरहकालः । यः प्रत्येकस्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशमात्रः कायस्थितिकालः, स साधारणस्य विरहकालः । योऽसंज्ञिनो असंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकः कायस्थितिकालः स संज्ञिनो विरहकालः । यः संज्ञिनः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्रः कायस्थितिकालः सोऽसंज्ञिनो विरहकालः । यो नपुंसकवेदस्यासंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकः कायस्थितिकालः स स्त्रीपुरुषवेदयोः विरहकालः । यः पुरुषवेदस्य सागरोपमशतपृथक्त्वमात्रः कायस्थितिकालः स नपुंसकवेदस्य विरहकालः एवं 'हरितस्य' वनस्पतिकायस्य यो विंशति

(असंख्येय) पुद्गलपरावर्त्तमात्रः कायस्थितिकालः स इतरेषां पृथिव्यादीनां विरहकालः । यः पृथिव्यादीनां असंख्येयलोकाकाशपदेशात्मकः कायस्थितिकालः स हरितजीवस्यान्तरकालः । एवमेवान्यत्रापि उत्कृष्टतो नेतव्यः । चशब्दाधिक्याज्जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तिकोऽन्यत्र जघन्यायुर्भवं स्थित्वा तत्रैवोत्पद्यत इति गाथार्थः ॥५८॥

(मलय०)—तदेवं जीवस्थानेष्वनेकजीवाश्रयमुत्पादमधिकृत्यान्तरमुक्तम् । सांप्रतं तेष्वेव जीवस्थानेषु तदेवान्तरमेकजीवाश्रितं प्रतिपिपादयिषुराह—त्रसबादरसाधारणासंज्ञिनपुंसकानां प्रत्येकं यः स्थितिकालः, स यथासंख्यमितरेषां प्रतिपक्षाणां स्थावरसूक्ष्मप्रत्येकशरीरसंज्ञिस्त्रीपुंवेदानामुत्पादमधिकृत्योत्कर्षतो विरहो विरहकालः । इयमत्र भावना—स्थावरभावं परित्यज्य भूयः स्थावरभावं प्रतिपद्यमानानामन्तरं जघन्यन्तोन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतस्त्रसकायस्थितिकालः, स चोत्कर्षतः कतिपयवर्षाधिकसागरोपमसहस्रद्वयमानः । तथा सूक्ष्मभावं परित्यज्यान्यत्रोत्पद्य भूयः सूक्ष्मभावं प्रतिपद्यमानानामन्तरं जघन्यन्तोर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो बादरकायस्थितिकालः, स चोत्कर्षतः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीमानः । तथा प्रत्येकशरीरत्वं परित्यज्यान्यत्रोत्पद्य भूयः कालान्तरे प्रत्येकशरीरत्वं प्रतिपद्यमानानां जघन्यतोन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः साधारणकायस्थितिकालः, स चोत्कर्षतोऽर्द्धतृतीयपुद्गलपरावर्त्तमानः । तथा संज्ञिनां संज्ञित्वं परित्यज्यान्यत्रोत्पद्य भूयः संज्ञित्वमागच्छतामन्तरं जघन्यतोन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतोऽसंज्ञिकायस्थितिकालः, स चोत्कर्षतोऽसंख्येयपुद्गपरावर्त्तमानः । असंज्ञी हि संज्ञिव्यतिरिक्तः सर्वोप्येकेन्द्रियादिरुच्यते, ततो वनस्पतीनामुत्कर्षतो यः कायस्थितिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणः सोऽप्यसंज्ञिनः काल इत्यसंज्ञिकायस्थितिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमानः । तथा पुरुषवेदं स्त्रीवेदं वा परित्यज्यान्यत्र वेदान्तरे गत्वा भूयः पुरुषवेदं स्त्रीवेदं वा प्रतिपद्यमानानां पुरुषवेदस्य स्त्रीवेदस्य चान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो द्वयोरप्युत्कृष्टो नपुंसकवेदकायस्थितिकालोऽसंख्ये

यपुद्गलपरावर्त्तमानः । नवरं पुरुषवेदचिन्तायां स्त्रीवेदकायस्थितिकालाधिकः, स्त्रीवेदचिन्तायां पुरुषवेदकायस्थितिकालाधिको मन्तव्यः । सूत्रगाथायां तु स्तोकत्वान्नोक्तः । नपुंसकवेदकालापेक्षया स्त्रीवेदकालः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकपल्योपमशतप्रमाणः, पुरुषवेदकालो वा कतिपयवर्षाधिकसागरोपमशतपृथक्त्वमानः स्तोक एव । यद्वा गाथान्ते चशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वादेतदप्युक्तं वेदितव्यम् । तदेवं स्थावरसूक्ष्मप्रत्येकशरीरिसंज्ञिस्त्रीपुरुषवेदानामन्तरमुक्तम् । संप्रति त्रसबादरसाधारणासंज्ञिनपुंसकवेदानामन्तरमनेनैव गाथापदत्रयेणोच्यते इतरेषां स्थावरसूक्ष्मप्रत्येकशरीरिसंज्ञिस्त्रीपुंसवेदानां प्रत्येकं यः कायस्थितिकालः स यथासंख्यं त्रसबादरसाधारणासंज्ञिनपुंसकानां विरहकालः । अत्रापीयं भावना–त्रसभावं परित्यज्यान्यत्र गत्वा भूयस्त्रसत्वमापद्यमानानां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः स्थावरकायस्थितिकालः । स चावलिकाऽसंख्येयभागवर्त्तिसमयराशिप्रमाणासंख्येयपुद्गलपरावर्त्तरूपो ज्ञेयः । तथा बादरभावं परित्यज्य सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु मध्ये गत्वा भूयो बादरभावं प्रतिपद्यमानानामन्तरं जघन्योन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः सूक्ष्मकायस्थितिकालः, (ग्रंथाग्रं ३०००) स चोत्कर्षतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रतिसमयापहारनिष्पन्नासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानः । तथा निगोदेषु मध्येऽवस्थानं परित्यज्य प्रत्येकशरीरिषु मध्ये गत्वा भूयः कालान्तरे निगोदेषु मध्ये समुत्पद्यमानानामन्तरं जघन्यतोन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत उत्कृष्टः प्रत्येकशरीरकायस्थितिकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रतिसमयापहारनिष्पाद्यासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानः । तथा असंज्ञित्वं परित्यज्य संज्ञिषु मध्ये गत्वा पुनरप्यसंज्ञित्वं प्रतिपद्यमानानां जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षत उत्कृष्टः संज्ञिकालः कतिपयवर्षाधिकसागरोपमशतपृथक्त्वमानः । तथा नपुंसकत्वमपहायान्यत्र वेदान्तरे गत्वा भूयोऽपि नपुंसकवेदं गच्छतामन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षत उत्कृष्टौ स्त्रीपुरुषवेदकालौ, तत्रोत्कृष्टः स्त्रीवेदकालः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकपल्योपमशतरूपः, पुरुषवेदकालः समधिकसागरोपमशतपृथक्त्वमानः । तथा 'एवं हरि-

येयराणं च' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण य एकस्य स्थितिकालः, स इतरस्य विरहकाल इत्येवंरूपेण हरितानां वनस्पतीनां, इतरेषामवनस्पतीनां विरहो वाच्यः । इयमत्र भावना—वनस्पतित्वं परित्यज्यान्यत्र पृथिव्यादिषु गत्वा भूयो वनस्पतित्व प्रतिपद्यमानानामन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्त, उत्कर्षत उत्कृष्टोऽवनस्पतिकायस्थितिकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रतिसमयापहारनिर्वृत्तासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः । तथा इतरेषामवनस्पतीनामवनस्पतिभावं परित्यज्य वनस्पतिमध्ये गत्वा भूयोऽप्यवनस्पतित्वं प्रतिपद्यमानानां जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्त, उत्कर्षत उत्कृष्टो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तरूपः । 'हरियेयराणं च' इत्यत्र चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन सर्वत्रापि जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमवसेयं तच्च तथैव प्रत्येकं भावितम् । एवं पञ्चेन्द्रियाणामपञ्चेन्द्रियकायस्थितिकालमपञ्चेन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियकायस्थितिकालं, तथा मनुष्याणाममनुष्यकायस्थितिकालममनुष्याणां मनुष्यकायस्थितिकालं ग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया सम्यक् परिभाव्योत्कृष्टं विरहकालं स्वयमेवाभिदध्यात् । जघन्यं सर्वत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तम् ॥५८॥

आईसाणं अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो । आसहसारे अच्चुयणुत्तर दिण मास वास नव ॥५९॥

(स्वो०)—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानेभ्यश्च्युतोऽमरोऽन्तर्मुहूर्त्तेन तत्रैवोत्पद्यते, सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्रारेभ्यश्च्युतोऽमरः नवभिर्दिनैस्तत्रैवोत्पद्यते । आनतप्राणतारणाच्युतेभ्यः च्युतोऽमरो नवभिर्मासैः तत्रैवोत्पद्यते । ग्रैवेयकविजयादिभ्यश्च्युतोऽमरो नवभिर्वर्षैः तत्रैवोत्पद्यते । यतो मनःपर्याप्त्या पर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेः तत्प्रभावादेव किञ्चिद्विशुद्धाध्यवसायस्येशानगमनं, नवभिर्दिनैः पुनर्मनसो जरठत्वादतिविशुद्धाध्यवसायस्याविरतस्य सहस्रारगमनम्, नवमासिकस्यास्मादेवाच्युतगमनादेशविरतिरिति; पञ्चोत्तरविमानगमनं तु द्रव्यभावचरणप्राप्तौ नववर्षग्रहणादवसीयत इति गाथार्थः ॥५९॥

(मलय०)—तदेवं मनुष्यैकजीवाश्रितमन्तरमभिधाय सम्प्रति देवगतौ तदाह–आ ईशानात् आईशानं, ईशानदेवलोकं पर्यन्तीकृत्यामरस्य देवस्य स्वदेवनिकायाच्च्युतस्य भूयोऽपि तत्रैवोत्पद्यमानस्य हीनकं जघन्यमन्तरं मुहूर्त्तान्तरन्तर्मुहूर्तम्। इयमत्र भावना–भवनपतिभ्यो व्यन्तरेभ्यो ज्योतिष्केभ्यः सौधर्मकल्पादीशानकल्पाद्वा च्युत्वा मत्स्यादिषु मध्ये समुत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः, ततस्तीव्रक्षयोपशमभावतः समुत्पन्नेन जातिस्मरणादिना पूर्वभवं वेदयमानोऽन्येन वा कारणेन 'अचिन्त्यत्वाज्जीवशक्तेः' धर्मानुषक्तशुभभावनां भावयन्, उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन मृत्वा भूयस्तस्मिन्नेव स्वदेवनिकाये गच्छति तत एवं जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टं त्वन्तरं वनस्पत्यादिषु पर्यटत आवलिकासंख्येयभागवर्त्तिसमयप्रमाणासंख्येयपुद्गलपरावर्त्तरूपं, तच्च स्वयमेव द्वितीयगाथायां ग्रैवेयकान् यावद्वक्ष्यति। जघन्यं तूच्यते–'आसहसार इत्यादि' 'आसहसारे' इत्यत्र पञ्चम्यर्थे सप्तमी, भवति च प्राकृतलक्षणवशात्पञ्चम्यर्थे सप्तमी। यदाह पाणिनिः–'पञ्चम्यर्थे सप्तमी' यथा–'अन्तेउरे रमिउमागओ राया इति' ततोऽयमर्थः–आसहस्रारात्सनत्कुमारदेवलोकात्सहस्रारदेवलोकं पर्यन्तीकृत्य य एतेभ्यश्च्युतः, तस्य भूयोऽपि स्वकीयदेवलोके गच्छतो जघन्यमन्तरं नव दिनानि, नवसंख्यैर्हि दिनैर्मनसो जरठत्वादतिविशुद्धाध्यवसायसम्भवतः सम्भवत्यतिविशुद्धसम्यग्दृष्टेः सतस्तस्य सहस्रारदेवलोकं यावद्गमनम्। तथा आनतकल्पादारभ्य यावदच्युतदेवलोकस्तावदेतेभ्यश्च्युतस्य मनुष्येषु मध्ये समागतस्य भूयस्तत्रैव स्वदेवलोके उत्पद्यमानस्य जघन्यमन्तरं नव मासाः, नवमासोपचितस्य हि विशिष्टविशिष्टतराध्यवसायगमनसम्भवतः सम्भवत्यच्युतदेवलोकं यावद्गमनम्। तथा प्रथमग्रैवेयकादारभ्य सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जानि अनुत्तरसुरविमानानि यावदेतेभ्यश्च्युतस्य मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्य भूयस्तत्रैव स्वदेवलोके उत्पद्यमानस्य जघन्यमन्तरं नव वर्षाणि, नवभिर्हि वर्षैः प्रकृष्टद्रव्यभावचरणप्रतिपत्तिभावतः सम्भवत्यनुत्तरविमानानि यावद्गमनम् ॥८९॥

थावरकालुक्कोसो सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ। दो अयरा विजयाइसु नरएसु वि याणुमाणेणं ॥६०॥

(स्वो०)—सर्वस्थानेभ्यश्च्युतस्य उत्कृष्टमन्तरं जीवस्य व्यावहारिकस्थावरकायस्थितिकालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, एतदेवापवदति, सर्वार्थसिद्धौ नास्त्यन्तरं, द्वितीयोत्पत्तेरभावात्। विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषूत्कृष्टता द्विसागरोपमस्थितिकवैमानिकेषु स्थित्वा तेष्वे-वोत्पद्यते, नरकेष्वप्यनेनैवानुमानेन जघन्यमुत्कृष्टमन्तरमवगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥६०॥

(मलय०)—संप्रत्येतेष्वेव स्थानेषूत्कृष्टमन्तरमाह–नवमग्रैवेयकदेवान् यावत्सर्वत्रापि भूयः स्वदेवनिकाये उत्पद्यमानस्योत्कृष्टमन्तरं स्थावरकालः, आवलिकाऽसंख्येयभागवर्त्तिसमयराशिप्रमाणाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमानः। तथा सर्वार्थे सर्वार्थसिद्धमहाविमाने द्वितीय उत्पादो न भवति, एकावतारत्वात्सर्वार्थसिद्धमहाविमानवासिनां देवानां ततस्तत्र जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं न किमपि भवतीति नोच्यते। तथा विजयादिषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषूत्कृष्टमन्तरं द्वे सागरोपमे, विजयादिभ्यश्च्युतो भूयोऽपि यदि विजयादिषूत्पद्यते, तत उत्कर्षतो मनुष्यसौधर्मादिभवेषु सागरोपमद्वयं गमयित्वोत्पद्यते। जीवाभिगमे तु भवनवासिन आरभ्यासहस्राराज्जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, आनतकल्पादारभ्यासर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जशेषविजयादिविमानचतुष्टयाद्वर्षपृथक्त्वं, उत्कर्षत आनवमग्रैवेयकात्सर्वत्र वनस्पतिकालो, विजयादिषु तु संख्येयानि सागरोपमाणि। तथा च तद्ग्रन्थः—"भवणवासिदेवपुरिसाणं जाव सहस्सारो, ताव जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-सेणं वणस्सइकालो। आणयदेवपुरिसा णं भंते! केवइयं काल अंतरं होइ? गोयमा! जहन्नेणं वासपुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो। एवं गेवेज्जदेवपुरिसस्सवि अणुत्तरोववाइयदेवपुरिसस्स जहन्नेणं वासपुहुत्तं, उक्कोसेणं संखिज्जाइं सागरोवमाइं इति।" तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति। तथा नरकेष्वपि अनेनैवानुमानेन प्रकारेण जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं विजानीहि। तत्र जघन्यं सर्वास्वपि पृथिवीषु प्रत्येकमन्तर्मु-

हूत्त, उत्कर्षतः स्थावरकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तरूपः ॥६०॥

एकजीवाश्रयगुणान्तरमाह—

पलियासंखो सासायणंतरं सेसगाण अंतमुहू। मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराणं पोग्गलद्धं तो ॥६१॥

(स्वो०)—जघन्येनापि सास्वादनः स्वगुणं परित्यज्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन व्यतीतेन तमेव गुणं प्राप्नोति, यतः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वपुञ्जी इयता कालेन मिथ्यात्वभावेन परिणमय्य तत्रैव निक्षेपतः तदुत्तरकाले भूयोऽप्यौपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति, तदन्ते च सास्वादनत्वं नान्यथेति भावः। शेषाण्युपशान्तकषायपर्यवसानानि दशापि गुणस्थानानि परित्यज्य भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तेन प्राप्नोति, यत उपशान्तत्वमपि प्राप्य प्रतिपतति मिथ्यादृष्टित्वं यावदवाप्नोति भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तेन तदेवोपशान्तस्थानं यावत्सास्वादनं सम्यग्मिथ्यादृष्टिं च विना क्रमेणारोहति, एवं सर्वेऽपि गुणाः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेन प्राप्यन्त इति, उत्कृष्टस्तु मिथ्यादृष्टिरन्यगुणस्थानेषु सागरोपमाणां षट्षष्टिद्वितयं स्थित्वा भूयोऽपि मिथ्यात्वमायाति, यतो विरतादयो गुणाः सर्वेऽपि सम्यक्त्वोपलक्षिताः, तस्य चोत्कृष्टतः एकजीवे षट्षष्टिसागरोपमाणि स्थितिः, स च सम्यक्त्वगुणी सम्यग्मिथ्यात्वेन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि सम्यक्त्वं गच्छति, ततः षट्षष्टिसागरोपमाणि स्थित्वावश्यं मिथ्यात्वं (क्षपकत्वं वा) गच्छत्यत एतदन्तरम्। शेषाणां सास्वादनाद्यानां उपशान्तान्तानां पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं किञ्चिदूनं उत्कृष्टमन्तरं, यत इयता कालेन प्राप्तसम्यक्त्वेनावश्यं सेद्धव्यमिति भावः, क्षीणकषायादीनां प्रतिपाताभावादन्तरमेव नास्तीति गाथार्थः ॥६१॥

(मलय०)—संप्रत्येकजीवाश्रितमेवान्तरं गुणस्थानकेषु चिन्तयति—सासादनस्य सासादनभावस्यान्तरं जघन्यं पल्योपमासंख्यः पल्यो

पमासंख्येयभागः। इदमुक्तं भवति–इह सासादनभावमनुभूय भूयोऽपि यदि सासादनभावं भजते, तर्हि नियमाज्जघन्यतोऽपि पल्यो-
पमासंख्येयभागेऽतिक्रान्ते सति,नार्वाक्। कथमेतदवसेयम्? इति चेदुच्यते–इह सासादनभावमासादयति नियमादौपशमिके सम्यक्त्वे
वर्त्तमानो नान्यथा, सासादनभावानुभावतश्च मिथ्यात्वं गतोऽवश्यं भूयः सम्यक्त्वमासादयति, षड्विंशतिसत्कर्मा सन् करणत्रयपूर्व-
मौपशमिकं नान्यं(न्यः), षड्विंशतिसत्कर्मा च भवति मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वलितयोः, तदुद्वलना च पल्योपमासंख्येयभागरूपेण
कालेन नान्यथा, ततो भूयः सासादनभावप्रतिपत्तेरन्तरं जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागः। तथा शेषकाणां मिथ्यादृष्टिसम्यग्मि-
थ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपाणां जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्।
तथाहि–मिथ्यादृष्ट्यादयः स्वं स्वं गुणस्थानं परित्यज्य गुणस्थानकान्तरे गत्वा भूयोऽपि स्वं स्वं गुणस्थानकं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्ते गते
सति प्रतिपद्यन्ते उपशमश्रेण्यन्तर्गतानामपूर्वकरणादीनां कथमन्तर्मुहूर्त्तमात्रमन्तरम्? इति चेदुच्यते–इह सकलोऽप्युपशमश्रेणिकालोऽन्त-
र्मुहूर्त्तप्रमाणः, उपशमश्रेणिप्रतिपातानन्तरं च भूयोऽपि कश्चिदन्तर्मुहूर्तानन्तरमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, अन्तर्मुहूर्त्तस्य चाऽसंख्येया भेदाः,
ततो विवक्षितादपूर्वकरणादिगुणस्थानकादनन्तरं शेषेष्वनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायादिगुणस्थानकेषु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानेऽपि
श्रेणिप्रतिपातानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेऽपि च गते भूयः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकानि त्रीणि करणान्यपि यथायोगं कृत्वा विवक्षितमपूर्वकरणादिकं
गुणस्थानं प्रतिपद्यमानस्य यदि परिभाव्यते अन्तरं, तदा तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रमेव लभ्यते, नाधिकमिति। अथ कस्मादिहापूर्वकरणादय
उपशमश्रेण्यन्तर्गता विवक्षिताः? उच्यते–क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां प्रतिपाताभावतो भूयः प्रतिपत्त्यभावादन्तरासम्भवात्, अत एव क्षीण-
मोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनामन्तरं न चिन्तितमसम्भवात्। न चैकवेलमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्य द्वितीयवेलायां क्षपकश्रेणिमारभते,

एकस्मिन् भवे सूत्राभिप्रायेण श्रेणिद्वयासम्भवात् "अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं च सव्वाइं" इति वचनप्रामाण्यात्। ततो वेलाद्वयेऽप्यपूर्वकरणादय उपशमश्रेण्यन्तर्गता विवक्षिताः। उत्कृष्टमन्तरमाह–'मिच्छस्से'त्यादि मिथ्यादृष्टेः परित्यक्तमिथ्यात्वस्य भूयस्तद्भावप्रतिपत्तावुत्कृष्टमन्तरं द्वे षट्षष्टी अतराणां सागरोपमाणाम्, कथं द्वेषट्षष्टी सागरोपमाणाम्? इति चेदुच्यते–कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वमासाद्य षट्षष्टिसागरोपमाणि यावत्सम्यक्त्ववानवतिष्ठते, ततस्तदनन्तरमन्तरालेऽन्तर्मुहूर्त्तकालं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि षट्षष्टिसागरोपमाणि यावत्सम्यक्त्वमनुभवति, तत एतदनन्तरं कोऽपि महात्मा मुक्तिपदवीमासादयति, कोऽपि पुनरधन्यो मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, तत्र यो मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, तस्य मिथ्यात्वपरिभ्रंशकालादारभ्य भूयो मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानस्यान्तरं द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां भवतः। नन्वेवं सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धिनाऽन्तर्मुहूर्त्तेनाधिके द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां प्राप्येते, तत्कथमधिकृतसूत्रे ते परिपूर्णे उक्ते? उच्यते–स्तोकत्वात्तदन्तर्मुहूर्त्तं न विवक्षितमित्यदोषः। तथा इतरेषां सासादनादीनामुपशान्तमोहान्तानामुत्कृष्टमन्तरं पुद्गलार्धान्तः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्धम् ॥६१॥

अनेकजीवाश्रयं गुणान्तरमाह—

वासपुहुत्तं उवसामगाण विरहो छमास खवगाणं। नाणाजीएसु सासाणमीसाणं पल्लसंखंसो ॥६२॥

(स्वो०)—वर्षपृथक्त्वेनावश्यमुपशामकैर्भूयोऽपि भाव्यं प्रागुपशामकेभ्य इति, क्षपकैस्तु प्राक्क्षपकेभ्यः षड्भिर्मासैरन्यैर्भाव्यम्, सास्वादनः सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्वा पल्योपमासंख्येयभागेऽतीते प्रागुत्पन्नेभ्यः स चान्यो यावश्यं नानाजीवेभ्यः उत्कृष्टान्तरेऽपि जघन्यतस्तु एकसमयेन प्रतिपद्यत इति गाथार्थः ॥६२॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमेकजीवाश्रयं गुणस्थानेष्वन्तरम्। साम्प्रतं तदेवानेकजीवाश्रयमाह—उपशमकानामुपशमश्रेण्यन्तर्गतानामपूर्वकरणादीनामुपशान्तमोहान्तानां नानाजीवेषु नानाजीवविषयमन्तरमुत्कृष्टं वर्षपृथक्त्वं भवति। किमुक्तं भवति? उपशमकेषु जगत्येकदा सर्वथा व्यवच्छिन्नेषु भूयोऽप्युपशमका उत्कर्षतो वर्षपृथक्त्वे गते सति प्राप्यन्ते इति। तथा क्षपकाणां क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानामपूर्वकरणादीनां क्षीणमोहपर्यन्तानां उपलक्षणमेतत् अयोगिकेवलिनां च, नानाजीवापेक्षया उत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, षण्मासान् यावत् सकलेऽपि जीवलोके कदाचित्क्षपकाः क्षीणमोहा अयोगिकेवलिनो वा न प्राप्यन्ते इत्यर्थः। तथा सासादनानां मिश्राणां प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागं कदाचित्सर्वस्मिन्नपि लोके पल्योपमासंख्येयभागमात्रं यावत् सासादना मिश्रा वा न प्राप्यन्ते इत्यर्थः। मिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतसयोगिकेवलिनां सदैव लोके सम्भवादन्तरं न भवतीति न प्रतिपादितम् ॥६२॥

सम्माई तिन्नि गुणा कमसो सगचोद्दपन्नरदिणाणि। छम्मास अजोगित्तं न कोवि पडिवज्जए सययं॥

(स्वो०)–अविरतत्वगुणं प्राक्प्रतिपत्तेरुत्कृष्टतोऽन्यः सप्त दिनानि यावत् न कश्चित्प्रतिपद्यते, देशविरतिगुणं चतुर्दशदिनानि सर्वविरतिगुणं पञ्चदशदिनानि यावन्न प्रतिपद्यते, तत्परतः प्रतिपद्यत एव। अयोगित्वं तु षड्मासान्यावत् 'सन्ततम्' अव्यवच्छिन्नं इयन्तं कालं न कश्चित्प्रतिपद्यते, सततमनवरतं वाऽतीतानागतवर्त्तमानकालेष्वनेन न्यायेनान्तरं भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु पल्योपमासंख्येयभागमात्रं उत्कृष्टतोऽन्तरं, यतः सास्वादनेनोत्तरकाले मिथ्यादृष्टिना भाव्यम्, तस्यान्यगुणाभावादिति भावः। एतच्च सुज्ञानमेव। जघन्यतः समयमेकं स्थित्वा सर्वेऽपि गुणा भूयोऽपि प्रादुर्भवन्ति इति गाथार्थः ॥६३॥

(मलय०)—साम्प्रतमविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानकेषु प्रतिपत्तिमधिकृत्यान्तरं निरूपयति–सम्यक्त्वादीनि अविरतसम्यग्दृष्ट्या-

दीनि त्रीणि गुणस्थानकानि कदाचित्क्रमशः क्रमेण यथासंख्यं सप्त चतुर्दश पञ्चदश दिनानि यावन्निरन्तरं न कोऽपि प्रतिपद्यते। इयमत्र भावना—अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं कदाचिदुत्कर्षतः सर्वस्मिन्नपि जीवलोके सप्त दिनानि यावत् न केनापि प्रतिपद्यमानं प्राप्यते, देशविरतिगुणस्थानकं चतुर्दश दिनानि, सर्वविरतिगुणस्थानकं पञ्चदश दिनानि, अयोगिकेवलिगुणस्थानकं षण्मासान् यावदिति ॥६३॥

गतमन्तरद्वारम्, भागद्वारमल्पबहुत्वान्तर्गतमेव ज्ञातव्यम्। इदानीं भावद्वारमुच्यते—

सम्माइचउसु तिय चउ उवसमगुवसंतयाण चउ पंच। चउखीणअपुव्वाणं तिन्नि उ भावावसेसाणं ॥६४॥

(स्वो०)—अविरताद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेष्वविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताख्येषु त्रयश्चत्वारो वा भावा भवन्ति, कथमेतद्? उच्यते—औदयिकभावस्यैकविंशतिर्भेदाः, तेभ्योऽविरतस्यैकोनविंशतिर्भवन्ति, लेश्याषट्कं गतिकषायचतुष्कं वेदत्रयं अविरतिसिद्धत्वमिति। मिथ्यात्वाज्ञाने न स्तः। देशविरतस्य देवनरकगतिवर्जास्त एव सप्तदश, तिर्यग्गत्यविरतिवर्जिताश्च पञ्चदश प्रमत्ताप्रमत्तयोरिति। पारिणामिकस्य त्रयो भेदाः, जीवत्वं भव्यत्वं चास्ति चतुर्णामपि, नास्त्यभव्यत्वम्। क्षायोपशमिकस्याष्टादश भेदाः, तेभ्योऽविरतस्य मतिज्ञानादिज्ञानत्रयं अचक्षुश्चक्षुरवधिदर्शनत्रयं पञ्च लब्धयः सम्यक्त्वं चैते द्वादश सन्ति, सर्वदेशविरतिमनःपर्यायज्ञानाज्ञानत्रयं तु षड् न। देशविरतस्य देशविरतिसहिता एत एव त्रयोदश, प्रमत्ताप्रमत्तयोर्मनःपर्यायसर्वविरतिसहिताश्चतुर्दश, एवमेतेष्वेते त्रयो भावाः। औपशमिकभावे औपशमिकं सम्यक्त्वं तच्च क्षायिकक्षायोपशमिकयोराद्यं यदा मोक्षबीजभूतं संभवति, तदा एषां चतुर्थो भावः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वक्षयेण यदा क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति, तदा चैषां चतुर्थो भावः। एवमुपशमश्रेण्यां अपूर्वकरणबादरसूक्ष्मकषायाणामेतदुभयचतुष्कं, किन्तु लेश्यानां शुक्लेश्यैव, सूक्ष्मसम्परायस्य यद्यपि चारित्रान्तरमुच्यते तथापि क्षायोपशमिकचारित्रान्नातिवर्त्तते, यत

उक्तम्—“लोभाणू वेयंतो जो खलु उवसामगो व खवगो वा”इत्यादि, उपशान्तकषायस्य तु यदा सम्यक्त्वचारित्रे औपशमिके भवतः, तदा चत्वारो भावाः, यदा तु क्षायिकसम्यक्त्वं औपशमिकचारित्रं प्रतिपद्यते प्रतिपातियथाख्यातं, तदा पञ्च भावाः, क्षीणकषायस्य तु पूर्वोक्तास्त्रयः क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रभावयुक्ताः,क्षपकापूर्वकरणादीनां तु क्षायिकसम्यक्त्वभावयुक्ताश्चत्वारः, औपशमिकभावाभावादिति। शेषगुणजीवानां भावत्रयं भवति। मिथ्यादृष्टेरौदयिकपारिणामिकौ सम्पूर्णौ भवतः, क्षायोपशमिकस्य तु अज्ञानत्रयं चक्षुरचक्षुदर्शने, दानलाभभोगोपभोगवीर्यलब्धयः, एते दश भेदा भवन्ति, न शेषाः। सास्वादनस्यापि अभव्यत्वमिथ्यात्वे विहाय शेषं तथैव। सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तु मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वभावोपगतं उदये भवति, नान्यो विशेषः। सयोग्ययोगिनोरपि भावत्रयं क्षायोपशमिकौपशमिकयोरभावादिति, तत्र औदयिके मनुष्यगत्यसिद्धत्वे शुक्ललेश्याप्याद्यस्य पारिणामिके जीवभव्यत्वे, क्षायिके तत्रापि संपूर्णाः, सम्यक्त्वचारित्रे केवलज्ञानदर्शने पञ्च लब्धय इति। तुशब्दाज्जीवस्थानेष्वपि यदेव मिथ्यादृष्टेर्भावत्रयं तदेव द्वादशस्थानेषु स्त्रीपुरुषवेदशुभलेश्यात्रयदेवनरकमनुष्यगतिविभङ्गवर्जं यथासम्भवं चक्षुर्दर्शनवर्जं च तथैव मन्तव्यम्। संज्ञ्यपर्याप्तकस्तु मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरतत्वभावयुक्तो वक्तव्यः, संज्ञिपर्याप्तकस्तु सर्वगुणस्थानान्तर्गत एवाभिहितो नोच्यत इति गाथार्थः ॥६४॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमन्तरम्। सम्प्रति भागद्वारावसरः, तच्चाल्पबहुत्वद्वारान्तर्गतमिति न पृथगुच्यते। सांप्रतं भावद्वारमाह—सम्यक्त्वादिषु अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु त्रयश्चत्वारो वा भावा भवन्ति। तत्र त्रय औदयिकपारिणामिकक्षायोपशमिकरूपाः, चतुर्थस्त्वौपशमिकः क्षायिको वा। तत्रौदयिको यथायोगं मनुष्यत्वादिका गतिर्वेदः कषाया आहारकत्व (अविरतत्व) मित्यादिरूपः, पारिणामिको भव्यत्वजीवत्वे, क्षायोपशमिको मतिज्ञानादिज्ञानं चक्षुर्दर्शनादिदर्शनं वेदकसम्यक्त्वं दाना-

दिलब्धिपञ्चकमित्यादिरूपः, क्षायिकः क्षायिकं सम्यक्त्वं, औपशमिक औपशमिकं सम्यक्त्वं, नवरं क्षायिक औपशमिको वा भावो यदा प्रक्षिप्यते तदा क्षायोपशमिकभावचिन्तायां वेदकसम्यक्त्वं न वक्तव्यमिति । तथा उपशमकानामुपशमश्रेण्यन्तर्गतानामपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायाणामुपशान्तानामुपशान्तमोहानां चत्वारः पञ्च वा भावाः, तत्र चत्वार औदयिकौपशमिकपारिणामिकक्षायोपशमिकरूपाः ते च प्राग्वद् द्रष्टव्याः, नवरं सूक्ष्मसम्परायस्यौदयिकभावचिन्तायां वेदाः कषायाश्च न वक्तव्याः, उपशान्तत्वेन तस्य तेषामुदयाभावात्, क्षायोपशमिकभावचिन्तायां तु वेदकसम्यक्त्वं न वक्तव्यं, औपशमिकभावचिन्तायां पुनरौपशमिकं चारित्रमधिकं वक्तव्यमिति । यदा पुनः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तदा क्षायिकं सम्यक्त्वमौपशमिकं चारित्रमिति, क्षायिकभावप्रक्षेपात्पूर्वोक्ताश्चत्वारो भावाः पञ्च भवन्ति । तथा क्षीणस्य क्षीणमोहस्य अपूर्वाणामपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायाणां क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां चत्वारो भावाः, तेषामौपशमिकभावाभावात् । अवशेषाणां तु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टीनां सयोग्ययोगिकेवलिनोश्च त्रयो भावाः । तत्र मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टीनाममी त्रयः, तद्यथा–औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकश्च । तत्रौदयिकः प्राग्वत्, पारिणामिको भव्यत्वजीवत्वे, केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनामभव्यत्वजीवत्वे, क्षायोपशमिको मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानदर्शनत्रिकदानादिलब्धिपञ्चकादिरूपः । सयोग्ययोगिकेवलिनोस्त्वमी त्रयः, तद्यथा–औदयिकः पारिणामिकः क्षायिकश्च । तत्रौदयिको मनुष्यत्वादिः, पारिणामिको भव्यत्वजीवत्वे, क्षायिकः केवलज्ञानकेवलदर्शनसम्यक्त्वदानादिलब्धिपञ्चकादिरूपः । तदेवं गुणस्थानकेषु चिन्तिता भावाः, एतदनुसारेण जीवस्थानेष्वपि स्वयमेव चिन्तनीयाः । तत्राद्येषु द्वादशसु जीवस्थानेष्वौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपं भावत्रयं, तच्च मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकोक्तमिव भावनीयं, एतदेव भावत्रयं संज्ञिन्यपि लब्ध्यपर्याप्ते । करणमात्रापर्याप्ते तु

तस्मिन् क्षीणसप्तकानां क्षायिकसम्यक्त्वस्य, केषाञ्चिद्देवानामौपशमिकसम्यक्त्वस्यापि सम्भवादौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपमौपशमिकौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपं वा भावचतुष्टयमवसेयम् । पर्याप्ते तु संज्ञिनि प्रागुक्तेन गुणस्थानकक्रमेण सर्वे भावा भावनीयाः ॥६४॥

अल्प-बहुत्वम्

उक्तं भावद्वारम् । अल्पबहुत्वमाह, तच्च तावज्जीवस्थानेषु—

थोवा गब्भयमणुया तत्तो इत्थीओ तिघणगुणियाओ । बायरतेउक्काया तासिमसंखेज्ज पज्जत्ता ॥६५॥

(स्वो०)—सर्वजीवेभ्यः स्तोका गर्भजा मनुष्याः संज्ञिनस्तेभ्योऽपि तद्युवत्यस्त्रिघनगुणा–सप्तविंशतिगुणा इत्यर्थः, ताभ्योऽपि बादराः पर्याप्तकास्तेजस्कायिका असंख्येयगुणा इति गाथार्थः ॥६५॥

(मलय०)—तदेवमभिहितं भावद्वारम् । संप्रत्यल्पबहुत्वद्वारमाह–स्तोकाः सर्वस्तोका गर्भजमनुष्याः, गर्भव्युत्क्रान्तमनुष्याः, पुरुषरूपा इति सामर्थ्याल्लभ्यते । स्त्रीणामनन्तरं पार्थक्येन वक्ष्यमाणत्वात्, सर्वस्तोकता च पुरुषरूपमनुष्याणां संख्येयकोटीकोटीमात्रप्रमाणत्वात् । 'तत्तो इति' तेभ्यो गर्भजमनुष्येभ्यः पुरुषरूपेभ्यः स्त्रियो मनुष्यरूपास्त्रिघनगुणिताः, त्रयाणां घनस्त्रिघनः सप्तविंशतिः तेन गुणितास्त्रिघनगुणिताः सप्तविंशतिगुणिता इत्यर्थः केवलं सप्तविंशतिरूपाधिका इति द्रष्टव्यम् । उक्तं च वृद्धाचार्यैः–"तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा । सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥१॥ बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहियाओ होंति देवाणं । देवीओ पन्नत्ता, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥२॥" तथा 'तासिमिति' 'व्यत्ययोऽप्यासामिति' प्राकृतलक्षणवशात्पञ्चम्यर्थे षष्ठी, ततोऽयमर्थः–ताभ्यो मनुष्यरूपाभ्यः स्त्रीभ्यः पर्याप्तबादरतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, कतिपयवर्गन्यूनावलिकाघनसमयप्रमाणत्वात्तेषाम् ॥

तत्तोणुत्तरदेवा तत्तो संखेज्ज जाणओ कप्पो । तत्तो असंखगुणिया सत्तमछट्ठी सहस्सारो ॥६६॥

(स्वो०)—तेभ्योऽपि अग्निकायिकेभ्योऽनुत्तराः—पञ्चोत्तरविमानवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि नवमाष्टमसप्तमषष्ठपञ्चमचतुर्थत्रिद्व्याद्यग्रैवेयकेष्वच्युतारणप्राणतानताख्येषु कल्पेषु परिपाट्योत्तारोत्तरेषु देवा[अ]संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः सप्तमपृथिवीनारकाः, तेभ्योऽपि षष्ठ्यां नारकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः सहस्रारदेवा इति गाथार्थः ॥६६॥

(मलय०)—ततस्तेभ्यो बादरपर्याप्ततेजस्कायिकेभ्योऽनुत्तरदेवा अनुत्तरविमानवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम् । तथा ततस्तेभ्योऽनुत्तरविमानवासिदेवेभ्यो यावदानतः कल्पस्तावत्क्रमेण संख्येयगुणा वक्तव्याः । तद्यथा—अनुत्तरविमानवासिदेवेभ्य उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटदेवाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम् एतदपि कथमवसेयं ? इति चेदुच्यते—विमानबाहुल्यात् । तथाहि—अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं चासंख्येयदेवाः, यथा यथा चाधोऽधोवर्त्तीनि विमानानि, तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते, ततोऽवसीयतेऽनुत्तरविमानवासिदेवापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटदेवा इति, प्रज्ञापनाया महादण्डके तथा पठितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या । उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटदेवेभ्यो मध्यमग्रैवेयकप्रस्तटदेवाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटदेवाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यच्युतदेवाः संख्येयगुणाः, यद्यप्यारणाऽच्युतकल्पौ समश्रेणीकौ समविमानसंख्याकौ च तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात्प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, कृष्णपाक्षिकाश्च बहवः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, लक्षणं चैतेषामनन्तरमेवोक्तम्, ततोऽच्युतकल्पदेवापेक्षया आरणकल्पदेवानां संख्येयगुणत्वम्, एवमानतकल्पेऽपि भावना

भाव्या। आरणकल्पदेवेभ्योऽपि प्राणतकल्पदेवाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यानतकल्पदेवाः संख्येयगुणाः, सर्वे चैतेऽनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पवासिपर्यन्ता देवाः प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, आणयपाणयमाई पल्लस्सासंखभागो उ' इति वचनप्रामाण्यात्। 'तत्तो' इत्यादि। तत आनतकल्पवासिभ्यो देवेभ्यः सप्तमपृथिवीनारका असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्तः प्रादेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्, तेभ्योऽपि षष्ठपृथिवीनारका असंख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनारकापेक्षया सप्तमपृथिवीनारकाणामसंख्येयतमभागमात्रतया प्रागेव प्रतिपादितत्वात्। तेभ्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनारकपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया सहस्रारकल्पदेवपरिमाणहेतोः श्रेण्यसंख्येयभागस्यासंख्येयगुणत्वात् ॥६६॥

सुक्कंमि पंचमाए लंतयचोत्थीए बंभतच्चाए। माहिंदसणंकुमारे दोच्चाए मुच्छिमा मणुया ॥६७॥

(स्वो०)—सहस्रारदेवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः शुक्रकल्पनिवासिनो देवास्तेभ्योऽपि पञ्चम्यां पृथिव्यां नारका असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि लान्तककल्पदेवा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां नारका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ब्रह्मकल्पदेवा असङ्ख्येयगुणास्तेभ्योऽपि तृतीयपृथिव्यां नारका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि माहेन्द्रदेवाः असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सनत्कुमारदेवा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयनरकपृथिव्यां नारका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सम्मूर्च्छिममनुष्या उत्कृष्टपदभाविनः असङ्ख्येयगुणा भवन्तीति गाथार्थः ॥६७॥

(मलय०)—सहस्रारदेवेभ्यः शुक्रे महाशुक्राभिधे कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात्। तथाहि—षट्सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे चत्वारिंशत्सहस्रा महाशुक्रे। अन्यच्चाधोऽधो विमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतराश्चोपरितनोपरितनविमान-

वासिनः। कथमेतदवसीयते? इति चेदुच्यते—इहोत्तरोत्तरगुणप्रकर्षयोगत उपरितनोपरितनविमानवासोपसंपत् हीनहीनतरगुणयोगतश्चाधोऽधो विमाननिवासिनः, उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षयोगिनश्च स्वभावतोऽपि स्तोकाः स्तोकतरा भूरयो भूरितराश्च हीनहीनतरगुणयोगिनः, ततोऽधोऽधोविमानेषु बहुबहुतरसम्भवादुपपद्यन्ते सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक्रकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पञ्चमनरकपृथिव्यां नारका असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽपि लान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिमानत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां पङ्कप्रभाभिधानायां नारका असंख्येयगुणाः, लान्तकदेवपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया अमीषां परिमाणहेतोः श्रेण्यसंख्येयभागस्यासंख्येयगुणत्वात्। तेभ्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागिव भावनीया। तेभ्योऽपि तृतीयनरकपृथिव्यां नारका असंख्येयगुणाः, अत्रापि युक्तिः प्रागिव। तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अत्रापि भावना तथैव। तेभ्योऽपि सनत्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात्। तथाहि—द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे विमानानाम्, अष्टौ माहेन्द्रकल्पे, अन्यच्च दक्षिणदिग्भागवर्त्ती सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्भागवर्त्ती, दक्षिणस्यां च दिशि समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिका उत्तरस्यां दिशि, स्वभावतश्चातिबहवः कृष्णपाक्षिकाः, ततो घटन्ते माहेन्द्रकल्पदेवापेक्षया सनत्कुमारकल्पे देवा असंख्येयाः, तेभ्योऽपि द्वितीयस्यां नरकपृथिव्यां नारका असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागमानत्वात्तेषाम्। एते च सप्तमपृथिवीनारकादयो द्वितीयनरकपृथिवीनारकपर्यन्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमानाः सर्वेऽपि घनीकृतलोकश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः। केवलं श्रेण्यसंख्येयभागोऽसंख्येयभेदभिन्नः, तत इत्थमसंख्येयगुणतयाल्पबहुत्वमभिधीयमानं न विरुध्यते। तथा तेभ्योऽपि द्वितीयनरकपृथिवीनारकेभ्यो मूर्च्छिमाः संमूर्च्छिमा मनुष्या

असंख्येयगुणाः, ते हि अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि तृतीयवर्गमूलेन गुणिते प्रथमवर्गमूले यावान् प्रदेशराशिरेतावत्प्रमाणानि खण्डानि यावन्त्येकस्यामेकप्रादेशिक्यां श्रेणौ भवन्ति, तावत्प्रमाणाः कतिपयकोटीकोटीप्रमाणगर्भजमनुष्यहीनाः ॥६७॥

ईसाणे सव्वत्थवि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ। संखेज्जा सोहम्मे तओ असंखा भवणवासी ॥६८॥

(स्वो०)—तेभ्यः सम्मूर्च्छजमनुष्येभ्योऽसङ्ख्येयगुणा ईशानदेवास्तेभ्यस्तद्देव्यो द्वात्रिंशद्गुणाः, ताभ्यो देवीभ्यः सङ्ख्येयगुणाः सौधर्म्मदेवास्तेभ्यस्तद्देव्यो द्वात्रिंशद्गुणाः, ताभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणा भवनपतयस्तेभ्योऽपि तद्देव्यो द्वात्रिंशद्गुणा इति गाथार्थः ॥६८॥

(मलय०)—सम्मूर्च्छिममनुष्येभ्य ईशानकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति, तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाण ईशानगतदेवदेवीसमुदायः, तद्गतैकरूपहीनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाश्च ईशानदेवास्ततो भवति सम्मूर्च्छिममनुष्येभ्योऽसंख्यातगुणाः, तेभ्योऽपि तद्वासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात्। तथा चाह—'सव्वत्थवी'त्यादि। सर्वत्रापि सौधर्मकल्पज्योतिष्कादौ द्वात्रिंशद्गुणा देव्यो भवन्ति, तु शब्दोऽधिकार्थसंसूचकः, ततो द्वात्रिंशद्रूपाधिका इति द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तं जीवाभिगमे—"तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरूवाहियाओ। तथा मणुस्सपुरिसेहिंतो मणुस्सीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरूवाहियाओ य। देवपुरिसेहिंतो देवीओ बत्तीसगुणाओ बत्तीसरूवुत्तराओ यइ ति।" ईशानदेवीभ्योऽपि सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः, तत्र विमानबाहुल्यात्। तथाहि—अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमानानामीशानकल्पे, द्वात्रिंशत्सौधर्मकल्पे, अपि च दक्षिणदिग्वर्त्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्वर्त्ती, दक्षिणस्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते, तत ईशानदेवीभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः।

नन्वियं युक्तिर्माहेन्द्रसनत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः, तदेतत्कथं ? उच्यते–प्रज्ञापनाया महादण्डके तथादर्शनात् । महादण्डकश्च प्रागेवोक्तः । सौधर्मदेवेभ्योऽपि तन्निवासिन्यो देव्यो द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाः "सव्वत्थवि बत्तीसगुणाओ हुंति देवीओ" इति वचनात् । ततस्ताभ्यः सौधर्मदेवीभ्योऽसंख्या असंख्येयगुणा भवनवासिनो देवाः, तथाहि–अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति, तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणीषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवनपतिदेवदेवीसमुदायः, तद्गतैकरूपहीनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाश्च भवनपतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसंख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि तन्निकायवासिन्यो देव्यो द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाः ॥६८॥

रयणप्पभिया खहयरपणिंदिसंखेज्ज तत्तिरिक्खीओ । सव्वत्थ तओ थलयरजलयरवणजोइसा चेवं ॥६९॥

(स्वो०)—भुवनपतिदेवीभ्योऽपि रत्नप्रभानारका असंख्येयगुणाः, यतः सर्वेऽपि भुवनपतयस्तेभ्य असंख्येयभागमात्रा इति, तेभ्योऽपि खेचराः–पक्षिविशेषाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः पुरुषवेदोदयिनः असंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तद्युवत्यस्त्रिगुणाः, ताभ्यः स्थलचराः सरभादयोऽसंख्येयगुणाः, तद्युवत्यः तेभ्योऽपि त्रिगुणाः, ताभ्योऽपि जलचरा असंख्येयगुणाः मत्स्यमकरादयः, तेभ्यस्तद्युवत्यस्त्रिगुणाः, ताभ्योऽपि व्यन्तरदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तद्देव्यो द्वात्रिंशद्गुणाः, ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तद्देव्यो द्वात्रिंशद्गुणाः इति गाथार्थः ॥६९॥

(मलय०)—भवनवासिदेवीभ्योऽसंख्येयगुणा रत्नप्रभिका-रत्नप्रभाभाविनो नारकाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ प्रथमवर्गमूलेन गु-
णिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति, तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः खचरपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिमानत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽपि तत्तिरश्च्यः खचरपञ्चेन्द्रियं-
तिर्यग्योनिक्यो युवतयः संख्येयगुणास्त्रिगुणास्त्रिरूपाधिका इत्यर्थः। एवं सर्वत्रापि स्वजातिषु पुरुषापेक्षया तिरश्च्यः संख्येयगुणा वक्त-
व्याः, तथैव वक्ष्यन्ते। ततस्ताभ्यः खचरपञ्चेन्द्रिययुवतिभ्यः संख्येयगुणाः पुंवेदोदयिनः स्थलचराः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्ये-
यश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम्। तेभ्योऽपि तद्युवतयस्त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकाः। ताभ्योऽपि पुंवेदोदयिनो जलचरा मत्स्यमकरा-
दयः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तेभ्यस्तद्युवतयस्त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकाः।
ताभ्योऽपि व्यन्तराः पुंवेदोदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणानि सूचिरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे
भवन्ति, तावन्तः सामान्यतो व्यन्तराः, केवलमिह पुरुषा विवक्षिता इति, ते सकलसमुदायसंख्यापेक्षया एकरूपहीनद्वात्रिंशत्तमभाग-
कल्पा वेदितव्याः, ततो घटन्ते जलचरयुवतिभ्यो व्यन्तराः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि व्यन्तर्यो द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाः।
तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कदेवा हि सामान्यतः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचिरूपाणि
खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः, केवलमिह पुरुषरूपा ज्योतिष्का विवक्षिताः, ततस्ते सकलसमुदायसंख्यापेक्षया
एकरूपहीनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा द्रष्टव्याः, ततो भवन्ति व्यन्तरीभ्यो ज्योतिष्कपुरुषाः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेव्यो द्वा-
त्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाः "सव्वत्थवि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ" इति वचनप्रामाण्यात् ॥६९॥

तत्तो नपुंसखहयर संखेज्जा थलयरजलयरनपुंसा । चउरिंदि तओ पणबितिइंदियपज्जत्त किंचि(च)हिया ॥

(स्वो०)—असंख्येयग्रहणेऽनुवर्त्तमाने यत्पुनः करोति तत्संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तान्नपुंसकान् ताभ्योऽसंख्येयान् खेचरान् ख्यापयति, तेभ्यः संख्येयाः स्थलचराः नपुंसकाः, तेभ्योऽपि जलचरनपुंसकाः, ततश्चतुरिन्द्रियका (संख्येयगुणाः) अपि । ततः पञ्चेन्द्रियाः सर्वे संज्ञ्यसंज्ञिनः पर्याप्तास्त्रिवेदाः, तेभ्यो द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः किञ्चिदधिकाः, तेभ्यस्त्रीन्द्रियाः (पर्याप्ता) विशेषाधिका इति गाथार्थः ॥७०॥

(मलय०)—ताभ्यो ज्योतिष्कदेवीभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नपुंसकाः संख्येयाः संख्येयगुणाः । क्वचित्तु 'तत्तो य संख' इति पाठः, तत्र च शब्दः समुच्चयार्थो व्याख्येयः । ये तु व्याख्यानयन्ति ज्योदिष्कदेवीभ्यः खचरनपुंसका असंख्येयगुणा इति, तन्नावगच्छामः, यत इत ऊर्ध्वं ये पर्याप्तचतुरिन्द्रिया वक्ष्यन्ते, तेऽपि ज्योतिष्कदेवापेक्षया संख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते । तथाहि—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः । तथा च प्रागुक्तं—"छप्पन्नदोसयंगुलसूइपएसेहिं भाइओ पयरो । जोइसिएहि हीरइ" इति । अङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि च सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणाः पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः, तथा च प्रागेवोक्तं—"पज्जत्तापज्जत्ता वितिचउ असन्निणो अवहरंति । अंगुलसंखासंखप्पएसभइयं पुढो पयरं ॥१॥" इति । अङ्गुलसंख्येयभागापेक्षया षट्पञ्चाशदधिकमङ्गुलशतद्वयं संख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परिभाव्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि संख्येयगुणा एव घटन्ते, किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया संख्येयभागमात्राः खचरपञ्चेन्द्रियनपुंसका इति ? । अथोच्येत—सामान्यतो ज्योतिष्कापेक्षया चिन्त्यमानाः खचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणा घटन्ते,

१ 'असंख खहयर' इति मूलटीकायां.

केवलं ज्योतिष्कदेव्यपेक्षया तु ते असंख्येयगुणा एव, तदयुक्तं, शून्यप्रलापमात्रत्वात्। तथाहि—यदि देव्यपेक्षया देवाः असंख्येयगुणा भवेयुस्ततो देवापनयने केवलदेव्यपेक्षया खचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकानामसंख्येयगुणत्वमुपपद्येत, यावता देव्यपेक्षया द्वात्रिंशत्तमभागकल्पा एव देवाः, ततस्तदपनयनेऽपि संख्येयगुणत्वमेव, नासंख्येयगुणत्वमिति। खचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रिया नपुंसकाः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तसंज्यसंज्ञिभेदभिन्नाः पञ्चेन्द्रियाः किञ्चिदधिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः। यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्तानां प्रत्येकमङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणत्वमविशेषेण वर्ण्यते, तथाप्यङ्गुलसंख्येयभागस्य संख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरुध्यते ॥७०॥

असंखा पण किंचि(च)हिय सेस कमसो अपज्ज उभयओ। पंचेंदिय विसेसहिया चउतियबेइंदिया तत्तो ॥

(स्वो०)—'असंख्येयाः पञ्चेन्द्रियाः किञ्चिदधिकाः शेषाः क्रमशः अपर्याप्ता इति, अतः पञ्चेन्द्रिया उभये विशेषाधिकाश्चतुस्त्रिद्वीन्द्रियास्तेभ्यः' इति पदानि। उभयशब्दः छन्दोवशादस्थाने प्रयुक्तः। पर्याप्तत्रीन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्तका असंज्ञिनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि अपर्याप्ताः त्रीन्द्रियाः विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि पञ्चेन्द्रिया 'उभये' इति पर्याप्तापर्याप्ताः सर्वे विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रिया उभये, तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया उभये, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया उभये, विशेषाधिका इति सर्वत्र सम्बन्धनीयमिति गाथार्थः ॥७१॥

(मलय०)–तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियेभ्योऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपर्याप्तद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्तपञ्चेन्द्रियादयोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः प्रागविशेषेणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्य विचित्रत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरोधमास्कन्दति। उक्तंच–"एएसिणं भंते! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पचेंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचेदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, पंचेंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया" इत्यादि। तत उभये पर्याप्तापर्याप्तरूपाः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तापर्याप्तचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तापर्याप्तत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः। उक्तं च पर्याप्तापर्याप्तपञ्चेन्द्रियाद्यल्पबहुत्वावसरे–"पचेंदिया य थोवा विवज्जएण वियला विसेसाहिया" इति ॥७१॥

पज्जत्तबायरपत्तेयतरू असंखेज्ज इति निगोयाओ। पुढवी आऊवाउ बायरअपज्जत्ततेउ तओ ॥७२॥

(स्वो०)—द्वीन्द्रियोभयेभ्यः वनस्पतिकायिकाः प्रत्येकाः पर्याप्ता बादरा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि एवंविधा एव बादरा पर्याप्ताः 'निगोदा' अनन्तजीवनिकायकायाः असंख्येयगुणा इत्यर्थः, तेभ्योऽपि पृथिव्यम्बुवायुकायिका बादराः पर्याप्ताः यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, वायुकायिकेभ्योऽग्निकायिका अपर्याप्ता बादरा असंख्येयगुणा इति गाथार्थः ॥७२॥

(मलय०)—'तत्तो' इति पूर्वगाथापर्यन्तोक्तमिह संबध्यते, ततः पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियेभ्यः पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, यद्यपि च प्रागपर्याप्तद्वीन्द्रियादिवद्बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिका अपि अङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरुपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा उक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वाद्बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायिकपरिमाणचिन्तायामङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्, प्रज्ञापनायामपि महादण्डकेऽपर्याप्तद्वीन्द्रियानन्तरं बादरपर्याप्तप्रत्येकतरूणामसंख्येयगुणतयाभिधानात्। ननु युक्तं तत्र बादरपर्याप्तप्रत्येकतरूणामसंख्येयगुणत्वमपर्याप्तद्वीन्द्रियेभ्योऽनन्तरं चिन्त्यमानत्वात्, इह त्वपर्याप्तद्वीन्द्रियानन्तरं पूर्वं पर्याप्तापर्याप्तरूपाः पञ्चेन्द्रियाश्चिन्तिताः, ततश्चतुरिन्द्रियास्ततस्त्रीन्द्रियास्ततो द्वीन्द्रियास्तेभ्यश्चानन्तरं पर्याप्तबादरप्रत्येकतरवः, ततः कथं तेषामसंख्येयगुणत्वमिति? नैष दोषः, यतो यद्यप्यपान्तराले पर्याप्तापर्याप्तपञ्चेन्द्रियादय उक्ताः, तथापि ते विशेषाधिका एवोक्ताः, विशेषाधिकाश्च विशेषेण किञ्चिन्मात्रेणाधिका उच्यन्ते, न संख्येयादिगुणाधिकाः। ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियापेक्षया बादरपर्याप्तप्रत्येकतरवोऽसंख्येयगुणा उक्ताः सन्तः पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रीयापेक्षयाप्यसंख्येयगुणा एवोक्ता द्रष्टव्या इति। तेभ्योऽपि 'इतीति' बादरपर्याप्तरूपा निगोदा अनन्तजीवशरीराणि असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराऽप्कायिका असंख्येयगुणाः, इह यद्यपि पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिपृथिवीकायिकाप्कायिका अङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा अविशेषेणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयभेदभिन्नः, ततोऽङ्गुलासंख्येयभागस्य क्रमेणासंख्येयगुणहीनतया गृह्यमाणत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वाभिधाने न कश्चिद्दोषः। इतश्च न दोषः, महादण्डकेऽप्यसंख्येयगुणतयाऽभिधानात्। महादण्डकश्च प्रागेव दर्शितः। बाद

रपर्याप्ताप्कायिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः बादरपर्याप्ता वायुकायिकाः, घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽप्यपर्याप्तबादरतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ॥७२॥

बादरतरूनिगोया पुढवीजलवाउ तेउ तो सुहुमा। तत्तो विसेसअहिया पुढवीजलपवणकाया उ ॥७३॥

(स्वो०)—अपर्याप्ता इति अनुवर्त्तते, अग्निकायिकेभ्यः प्रत्येकास्तरवोऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेभ्यो निगोदा बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पृथिवीजलवायुकायिका अपर्याप्ता बादरा यथोत्तरं असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मा अपर्याप्तास्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पृथिव्यम्बुवायुकायिकाः सूक्ष्मा अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः, तुशब्दाद्विशेषासंख्येयसंख्येयतच्छब्दाः प्रत्येकं सम्बन्धनीयाः इति गाथार्थः ॥७३॥

(मलय०)—अपर्याप्ता इति वर्त्तते। अपर्याप्तबादरतेजस्कायिकेभ्योऽपर्याप्तप्रत्येकबादरतरवोऽसंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तबादरनिगोदा असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तबादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तबादराऽप्कायिका असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः। 'तत्तो विसेमअहिया' इत्यादि तेभ्योऽप्यपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तसूक्ष्माऽप्कायिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः। तुः समुच्चयार्थः ॥७३॥

संखेज्ज सुहुमपज्जत्त तेउ किंचि(च)हिय भुजलसमीरा। तत्तो असंखगुणिया सुहुमनिगोया अपज्जत्ता ॥७४॥

(स्वो०)—सूक्ष्मापर्याप्तकवायुभ्यः संख्येयगुणाः पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायिकाः, तेभ्योऽपि पृथ्वीजलवायुकायिकाः सूक्ष्मापर्याप्ता यथो-

त्तरं विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः अपर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदा इति गाथार्थः ॥७४॥

(मलय०)—अपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायिकेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायिकाः सख्येयगुणाः, अपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्माणां सदैव प्राचुर्येण भावात्। तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकाः किञ्चिदधिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्माप्कायिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः। तेभ्योऽप्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः ॥७४॥

संखेज्जगुणा तत्तोऽपज्जत्ताणंतया तओऽभव्वा। पडिवाडियसम्मसिद्धा वणबायरजीवपज्जत्ता ॥७५॥

(स्वो०)—अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्ता निगोदाः सङ्ख्येयगुणा भवन्ति, तेभ्योऽप्यनन्तगुणा अभव्याः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः सिद्धाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिकायिका बादराः पर्याप्तका अनन्तगुणा इति गाथार्थः ॥७५॥

(मलय०)—तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः। इह यद्यप्यपर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता अविशेषेणान्यत्रासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः पठ्यन्ते, तथापि लोकासंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमल्पबहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम्। इतश्च द्रष्टव्यं, महादण्डके तथापाठादिति। पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्योऽप्यनन्तगुणा अभव्याः, तेषां जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात्। तथा चोक्तमनुयोगद्वारसूत्रे—"उक्कोसपए परित्ताणंतए रूवे पक्खित्ते जहन्नयं जुत्ताणंतयं होइ, अभव्वसिद्धियावि तत्तिया चेव" इति। तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः प्रतिपतितसम्यक्त्वाः। तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः सिद्धाः। तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पर्याप्तबादरवनस्पतिजीवाः ॥७५॥

किंचि(च)हिया सामन्ना एए उ असंख वण अपज्जत्ता। एए सामन्नेणं विसेसअहिया अपज्जत्ता ॥७६॥

(स्वो०)—पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकेभ्य एकेन्द्रियाः पर्याप्ता बादरा विशेषाधिकाः, एत इति तुशब्दादेत एव बादरा वनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अनन्तरेभ्योऽसंख्येयगुणाः, एत एव अपर्याप्ता बादराः सामान्येनैकेन्द्रिया विशेषाधिकाः पूर्वेभ्यः इति गाथार्थः ॥

(मलय०)—पर्याप्तबादरवनस्पतिजीवेभ्यः पर्याप्तबादराः सामान्या एकेन्द्रियाः किञ्चिदधिका विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि एते बादराः 'वण'त्ति–वनस्पतयोऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि एते बादराः सामान्येन वनस्पत्यादिविशेषणाभावेन, किमुक्तं भवति ? सामान्येनैकेन्द्रिया बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ॥७६॥

सुहुमा वणा असंखा विसेसअहिया इमे उ सामन्ना। सुहुमवणा संखेज्जा पज्जत्ता सव्व किंचि(च)हिया ॥

(स्वो०)—अपर्याप्ता इत्यनुवर्त्तमाने भूयः प्रागपर्याप्तकग्रहणं सूक्ष्मवनस्पतीनां प्रत्येकत्वाभावं ज्ञापयति, ततस्ते सूक्ष्मा(अपर्याप्ताः) वनस्पतिकायिका नियमतः साधारणा अनन्तरेभ्योऽसंख्येयगुणा , एत एव सूक्ष्मा अपर्याप्ता एकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, अनन्तरेभ्यः सूक्ष्मा वनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः,अनन्तरेभ्यस्त एव सूक्ष्माः पर्याप्ता एकेन्द्रियाः सर्वेऽपि पूर्वेभ्यो विशेषाधिका इति गाथार्थः॥

(मलय०)—अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेभ्यः सूक्ष्मा अपर्याप्ताः 'वणा' इति–वनस्पतयोऽसंख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि इमेऽपर्याप्तसूक्ष्माः सामान्या विशेषाधिकाः, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मवनस्पतयः संख्येयगुणाः, पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावतः सदैव संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसोपलब्धेः । तेभ्योऽपि सर्वे सूक्ष्माः पर्याप्ता

विशेषाधिकाः, पर्याप्तपृथिवीकायादिसूक्ष्माणामपि तत्र प्रक्षेपात् । न चैवमसंख्येयादिगुणताप्रसङ्गः, पर्याप्तसूक्ष्मवनस्पतिकायापेक्षया सूक्ष्मपर्याप्तपृथिव्यादीनां सर्वेषामपि किंचिन्मात्रत्वात्, अनन्तानन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा हि पर्याप्तसूक्ष्मवनस्पतयोऽसंख्येयलोकाकाशदेशप्रमाणाश्च सर्वेऽपि सूक्ष्मपर्याप्ताः पृथिव्यादय इति ॥७७॥

पज्जत्तपज्जता सुहुमा किंचि(च)हिया भव्वसिद्धीया । तत्तो बायरसुहुमा निगोयवणस्सइ जिया तत्तो ॥७८॥

(स्वो०)—पर्याप्ताऽपर्याप्ताः सर्वेऽपि सूक्ष्माः पूर्वोक्तेभ्यो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि भव्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि बादरसूक्ष्मसकलनिगोदजीवाः जीवाशब्दस्योभयसम्बन्धात् विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि सामान्यवनस्पतिकायिका विशेषाधिका इति गाथार्थः ॥७८॥

(मलय०)—सर्वपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेभ्यः पर्याप्तापर्याप्ताः सर्वेऽपि सूक्ष्माः किञ्चिदधिकाः । तेभ्योऽपि भवसिद्धिका भव्या विशेषाधिकाः, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभव्यपरिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् । तेभ्योऽपि बादरसूक्ष्मनिगोदजीवा विशेषाधिकाः । कथमिति चेत्, उच्यते-इह भव्या अभव्यपरिहारेण चिन्तिताः, अभव्याश्च युक्तानन्तकसंख्यामात्रपरिमाणाः, बादरसूक्ष्मनिगोदजीवरहिताश्च शेषजीवाः सर्वेऽपि मिलिता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमात्रप्रमाणाः, ततो भव्या अभव्याश्चातिप्राचुर्येण बादरसूक्ष्मनिगोदजीवराशावेव प्राप्यन्ते नान्यत्र, अभव्याश्च भव्यापेक्षया किंचिन्मात्राः, ततो भव्यराश्यपेक्षया सामान्यतो बादरसूक्ष्मनिगोदजीवाश्चिन्त्यमाना विशेषाधिका एव लभ्यन्ते । तेभ्योऽपि सामान्यतो वनस्पतिजीवा विशेषाधिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि वनस्पतिजीवानां तत्र पक्षेपात् ॥७८॥

एगिंदिया तिरिक्खा चउगइमिच्छा य अविरइजुया य । सकसाया छउमत्था सजोगसंसारि सव्वेवि ॥७९॥

(स्वो०)—वनस्पतिकायिकेभ्य एकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, एकेन्द्रियेभ्यस्तिर्यञ्चो विशेषाधिकाः, तिर्यग्भ्योऽपि चतुर्गतिमिथ्यादृ-

ष्टयो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यविरताः, तेभ्योऽपि सकषायाः, तेभ्योऽपि छद्मस्थाः, तेभ्योऽपि सयोगिनः, तेभ्योऽपि संसारस्थाः, (तेभ्योऽपि सामान्येन सर्वेऽपि जीवाः) जीवाः प्रतिपदं वक्तव्याः, किञ्चिदधिकत्वं च क्षपकश्रेण्यादिषु यथासम्भवं सकषायादीनां भावनीयमिति गाथार्थः ॥७९॥

(मलय०)—वनस्पतिकायजीवेभ्यः सामान्यत एकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, बादरसूक्ष्मपृथिव्यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सामान्यतस्तिर्यञ्चो विशेषाधिकाः पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियव्यतिरेकेण शेषाः सर्वेऽपि तिर्यञ्चो मिथ्यादृष्टयः, चतुर्गतिकमिथ्यादृष्टिचिन्तायां चासंख्येया नारकादयो मिथ्यादृष्टयस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, अतस्तिर्यग्जीवराश्यपेक्षया चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयश्चिन्त्यमाना विशेषाधिकाः प्राप्यन्ते । तेभ्योऽप्यविरतियुता विरतिहीना विशेषाधिकाः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि सकषाया विशेषाधिकाः, देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायाणामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि छद्मस्था विशेषाधिकाः, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोरपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि सयोगा योगसहिता विशेषाधिकाः, सयोगिकेवलिनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि संसारिणो विशेषाधिकाः, अयोगिकेवलिनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽपि सर्वे जीवा विशेषाधिकाः, सिद्धानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥७९॥

उवसंतखवगजोगी अपमत्तपमत्तदेससासाणा । मीसा विरया चउ चउ जहुत्तरं संखसंखगुणा ॥८०॥

(स्वो०)—उपशान्तेभ्यः क्षपकाः सयोगिनोऽप्रमत्ताः प्रमात्ताश्चत्वारोऽपि यथोत्तरं संख्येयगुणाः उत्कृष्टसम्भवे, प्रमत्तेभ्यो देशविरताः सास्वादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टय एते चत्वारोऽपि यथोत्तरमसंख्येयगुणा इति गाथार्थः ॥८०॥

(मलय०)—तदेवं सामान्यतः सर्वजीवानामल्पबहुत्वमभिहितम्। सम्प्रति गुणस्थानकान्यधिकृत्य तदाह—इहोपशान्तग्रहणेनोपशमका उपशान्ताश्च गृह्यन्ते, क्षपकग्रहणेन क्षपकाः क्षीणमोहाश्च। उपशान्ताच्च परे चत्वारो यथोत्तरं संख्येयगुणा वक्तव्याः, तेभ्यश्च परे चत्वारोऽसंख्येयगुणाः। तद्यथा—सर्वस्तोका उपशमकोपशान्तमोहाः, सकलमपि श्रेणिकालमधिकृत्योत्कृष्टपदेऽपि तेषामेकद्वित्र्यादिसंख्यया प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्यः संख्येयगुणाः क्षपकक्षीणमोहाः, सकलं श्रेणिकालमधिकृत्योत्कृष्टपदे तेषां शतपृथक्त्वसंख्यया प्राप्यमाणत्वात्। एतच्च द्वयानामप्युत्कृष्टपदे सत्तायां लभ्यमानानामल्पबहुत्वमवसेयम्। अन्यदा तु कदाचिदमी द्वयेऽपि भवन्ति, कदाचिन्न भवन्त्यपि, कदाचिदुपशमकाः स्तोकाः बहवः क्षपकाः, कदाचित्पुनः स्तोकाः क्षपकाः बहव उपशमका इति। क्षपकेभ्योऽपि योगिनः सयोगिकेवलिनः संख्येयगुणाः, तेषां जघन्यपदेऽपि कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्योऽप्यप्रमत्तयतयः संख्येयगुणाः, तेषामेव द्विकोटीसहस्रसंख्यया प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्योऽपि प्रमत्तयतयः संख्येयगुणाः, कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्योऽपि देशविरता असंख्येयगुणाः, असंख्येयानां तिरश्चां देशविरतिसम्भवात्। तथापि कियदसंख्येयत्वमानमिति चेत्, उच्यते—क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागः। तेभ्योऽपि सासादना असंख्येयगुणाः, एतच्चोत्कृष्टपदे सत्त्वमधिकृत्य प्रोच्यते, ते हि कदाचित्सर्वथैव न प्राप्यन्ते, यदा तु प्राप्यन्ते तदा जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो देशविरतपरिमाणहेतुक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागापेक्षयाऽसंख्येयगुणक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा इति। तेभ्योऽपि मिश्रा असंख्येयगुणाः, तेषां सासादनपरिमाणहेतुक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागापेक्षयाऽसंख्येयगुणक्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्। एतेऽपि कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, तत्र यदा भवन्ति तदा जघन्यपदे एको द्वौ वा उत्कृष्टपदे यथोक्तप्रमाणा इति। तेभ्योऽविरतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः, मिश्रापेक्षया तेषाम-

संख्येयगुणक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिमानत्वात् ॥८०॥

उक्कासपए संता मिच्छा तिसु गईसु होंतसंखगुणा । तिरिए सणंतगुणिया सन्निसु मणुएसु संखगुणा ॥८१॥

(स्वो०)—उत्कृष्टपदभाविन एव यदा सन्तो–भवन्ति तदा तेभ्योऽपि तिसृषु गतिषु मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणा भवन्ति, तिर्यग्गतौ अनन्तगुणाः । संज्ञिषु मनुष्येषु संख्येयगुणाः स्वजातीयाविरतेभ्यो, न सर्वाविरतेभ्य इति गाथार्थः ॥८१॥

(मलय०)—तेभ्योऽविरतसम्यग्दृष्टिभ्योऽसंख्येयगुणास्तिसृषु नारकमनुष्यदेवरूपासु गतिषूत्कृष्टपदे वर्त्तमाना मिथ्यादृष्टयः । तेभ्योऽपि तिर्यग्गतौ मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, तथा संज्ञिषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु मनुष्येषु सजातीयाऽविरतसम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । ये तु भवस्थायोगिकेवलिनस्ते क्षपकतुल्याः, तेषामप्युत्कृष्टपदे शतपृथक्त्वसंख्यया लभ्यमानत्वात् । अभवस्थायोगिकेवलिनस्त्वविरतसम्यग्दृष्टिभ्योऽप्यनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वादिति ॥८१॥

एगिंदियसुहुमियरा सन्नियर पणिंदिया सबितिचऊ । पज्जत्तापज्जत्ताभेएणं चोद्दसग्गामा ॥८२॥

(स्वो०)—एकेन्द्रियाः सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयाद् 'इतरे' तद्विपक्षभूताः बादरा बादरकर्मोदयिनः, 'संज्ञिनः' समनस्का 'इतरे' असंज्ञिनः अमनस्का उभयेऽपि पञ्चेन्द्रियाः, द्वित्रिचतुरिन्द्रिया स्वस्वनामकर्मोदयिनः एते सप्त पर्याप्तकाः, एत एव सप्त अपर्याप्तकाः, अपर्याप्तनामकर्मोदयाल्लब्ध्यपर्याप्तकाः, पर्याप्तनामकर्मोदयिनो यद्यपि करणापर्याप्तकास्तथापि पर्याप्तकवद्द्रष्टव्याः, एतानि चतुर्दश स्थानान्यखिलजीवसङ्ग्राहकाणीति गाथार्थः ॥८२॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमल्पबहुत्वं, तदभिधानाच्च कृता सत्पदादिप्ररूपणा। अतीवगहनाप्येषा, सत्पदादिप्ररूपणा। प्रज्ञापनाप्रसादेन, विवृता लेशतो मया ॥१॥ यद्वदितमल्पमतिना, किमपि विरुद्धं जिनागमवचोभिः। विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥२॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'चउदसविहावि जीवा' इति, तच्चतुर्दशत्वं जीवानां प्रतिपादयन्नाह—सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयिनः, इतरे बादरा बादरनामकर्मोदयिनः एकेन्द्रियाः, तथा संज्ञ्यसंज्ञिभेदभिन्नाः पञ्चेन्द्रियाः 'सबितिचऊ' सद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, एवं सप्त जीवसङ्घाता भवन्ति। एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तभेदेन भिद्यमाना द्विधा, ततः सर्वसंख्यया चतुर्दशग्रामाः प्राणिसङ्घाता भवन्ति। एते च प्रागेव सप्रपञ्चं प्ररूपिताः, इति नेह भूयः प्ररूप्यन्ते ॥८२॥

संज्ञिपर्याप्तकस्य भूयश्चतुर्दश भेदानाह—

मिच्छा सासणमिस्सा अविरयदेसा पमत्तअपमत्ता। अपुव्वबायरसुहुमोवसंतखीणा सजोगियरा ॥८३॥

(स्वो०)—मिथ्यादृष्टिः सास्वादनः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, अविरतसम्यग्दृष्टिः, देशविरतः, प्रमत्तयतिः, अप्रमत्तयतिः, निवृत्तिः अपूर्वकरणो वा, अनिवृत्तिबादरो [वा], सूक्ष्मकषायः, उपशान्तकषायः, क्षीणकषायः, सयोगी, अयोगी, कषायशब्दलोपादिति समासार्थः। "जीवाइपयत्थेसुं, जिणोवदिट्ठेसु जा असद्दहणा। सद्दहणाऽविय मिच्छा, विवरीयपरूवणा जा य ॥१॥ संसयकरणं जंपि य, जो तेसु अणायरो पयत्थेसु। तं पञ्चविहं मिच्छं तद्दंसी मिच्छादिट्ठीओ ॥२॥ उवसमअद्धाएँ ठिओ मिच्छमपत्तो तमेव गंतुमणो। सम्मं आसायन्तो सासायणगो मुणेयव्वो ॥३॥ जह गुडदहीणि विसयायभावरहियाणि होंति मीसाणि। भुञ्जन्तस्स तहोभयदिट्ठीए मीसदिट्ठीउ ॥४॥ तिविहेवि हु सम्मत्ते, थोवावि ण विरति जस्स कम्मवसा। सो अविरओ त्ति भण्णइ, देसो पुण देसविरईए ॥५॥ विगहाकसाय-

निद्दासद्दाइरओ भवे पमत्तोत्ति। पञ्चसमिओ तिगुत्तो अपमत्तजई मुणेयव्वो ॥६॥ अप्पुव्वं, अप्पुव्वं जहुत्तरं जो करेइ ठिइखण्डम्। रसखण्डं तग्घायं च सो खलु अपूव्वकरणोत्ति ॥७॥ त्रिणियट्टन्ति विसुद्धिं, समयपविट्ठावि जत्थ अण्णोण्णं। तं तु णियट्टिट्ठाणं विवरीयमओ य अनियट्टी ॥८॥ थूलाण लोभखंडाण वेयंतो बायरो मुणेयव्वो। सुहुमाण होति सुहुमो, उवसंतेहिं तु उवसंतो ॥९॥ खीणंमि मोहणीए खीणकसाओ सजोगि जोगाणं। होइ पउत्तो तत्थ उ, अपउत्तो होति उ अजोगी ॥१०॥ इति गाथार्थः ॥८३॥

(मलय०)—सम्प्रत्यन्तिमभेदस्य पर्याप्तसंज्ञिलक्षणस्य चतुर्दशभेदानाह—अमून्यपि गुणस्थानकानि प्रागेव सप्रपञ्चं व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते ॥८३॥

तेरसवि बंधगा ते अट्ठविहं बंधियव्वयं कम्मं। मूलुत्तरभेयं ते साहिमो ते निसामेह ॥८४॥

(स्वो०)—अत एतेभ्यो गुणस्थानविशेषेभ्यः त्रयोदश 'विबन्धका' विविधमनेकप्रकारं विशेषेण वा बन्धका विबन्धकाः, अयोगी तु बन्धहेत्वभावादबन्धक इति। बन्धव्यं पुनरष्टविधं कर्म, तस्य कर्मणो मूलभेदानुत्तरभेदांश्च साधयामः तान् 'शृणुत' निशामयत, हे लोका! इति गाथार्थः ॥८४॥

॥ समाप्तं द्वितीयं द्वारम् ॥ ७००

(मलय०)—एतेषु च गुणस्थानकेषु वर्त्तमाना ये जीवा बन्धकास्तानुपदर्शयति—ते गुणस्थानकवर्त्तिनो जीवास्त्रयोदश त्रयोदशगुणस्थानकवर्त्तिनो मिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगिकेवलिपर्यन्ता इत्यर्थः। किं? विविधं यथायोगं सप्तविधाष्टविधादिरूपतयाऽनेकप्रकारं बन्धका

विबन्धकाः। अयोगिकेवली तु हेत्वभावादबन्धकः। बन्धकाश्च बन्धव्यमन्तरेण न कथञ्चनापि भवन्ति। ततो बन्धव्यमाह-क्रियते इति कर्म, वक्ष्यमाणस्वरूपं, मूलोत्तरभेदं मूलभेदोत्तरभेदभिन्नं बन्धव्यं बन्धनीयं, मूलभेदसंख्यां विशेषणद्वारेणाह-अष्टविधमष्टप्रकारं मूलभेदसंख्यापेक्षया, उत्तरभेदसंख्यापेक्षया अष्टपञ्चाशच्छतप्रकारम्। तांश्च मूलभेदानुत्तरभेदांश्च क्रमेण साधयामः कथयामः, तांश्च कथ्यमानान् निशमयत आकर्णयत ॥८४॥

॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसङ्ग्रहटीकायां द्वितीयं बन्धकप्ररूपणाभिधं द्वारं समाप्तम् ॥

समाप्तमिदं पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धकमार्गणाभिधानं द्वितीयं द्वारं।

॥ अर्हम् ॥

अथ तृतीयं द्वारम्

उक्तं द्वितीयं बन्धकद्वारम्। अधुना तृतीयं बन्धव्यद्वारमभिधातुकाम आह—

नाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं। आउ य नामं गोयं तहंतरायं च पयडीओ ॥१॥

(स्वो०)—'ज्ञानस्य दर्शनस्य चावरणं वेदनीयं मोहनीयं। आयुष्कं नाम गोत्रं तथान्तरायं च प्रकृतयः' इति पदानि। पदार्थस्तु—ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं, तस्यावरणं ज्ञानावरणं, त एव दृश्यन्तेऽवलोक्यन्ते येन तद्दर्शनं तस्यावरणं दर्शनावरणं, ज्ञानदर्शनयोर्विशेषसामान्यरूपो विशेषः, विद्यतेऽस्ति सर्वसंसारिणां अनेकार्थत्वाद्धातूनां संसारिभिरनुभूयते चेति वेदनीयं, मोहयति सदसद्विवेकविकलान् प्राणिनः करोतीति मोहनीयम्, चतुर्गतिसमापन्नः प्राणी स्थानात् स्थानान्तरमेति यद्वशात् तदायुः आयुरेव आयुष्कम्, नामयत्यधममध्यमोत्तमासु गतिषु प्राणिनं प्रह्वीकरोतीति नाम, गां त्रायत इति गोत्रं, शुभाशुभां वाचमुच्चारणकालानन्तरार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्पालयतीतियावद्, गूयते शुभाशुभता प्राणिनां यद्वशात्तद्वा गोत्रम्, अन्तरं व्याघातं तस्यायः हेतुर्यत्तदन्तरायं, दानाद्यनुभवतो विघातरूपतयोपतिष्ठते यत्तदन्तरायम्। प्रथमः चकारः समुच्चये द्वितीयस्त्वेवकारार्थः, एवमष्टौ प्रकृतयः इत्युक्तं भवति, तथाशब्दः पूर्वाचार्योक्तक्रमोपन्यासप्रदर्शनार्थः, उत्तरत्रोत्तरप्रकृतिभणनादिह मूलप्रकृतयो मन्तव्या इति गाथार्थः ॥१॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं बन्धकप्ररूपणाभिधं द्वारम्। सम्प्रति तृतीयं बन्धव्यप्ररूपणाभिधं द्वारं वक्तव्यं, तत्र च मूलोत्तरभेदा वक्त-

मुपक्रान्ताः, मूलभेदेषु ज्ञातेषु सत्सूत्तरभेदाः सुखेन ज्ञातुं शक्यन्ते, ततः प्रथमतो मूलभेदानुपदर्शयति–ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानं, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधस्तस्य, तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, उक्तं च—जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेव कट्टुआगारं। अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिइ वुच्चए समए ॥१॥इति तस्य, चः समुच्चये, आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणं, मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः। तथा वेद्यते आह्लादादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयं 'कर्मण्यनीयः', यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते, तथापि पंकजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात्सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते, न शेषम्। तथा मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीय 'कृद्बहुलं'इति वचनात्कर्त्तर्यनीयः। तथा एति आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिगतिनिःक्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः, अथवा आसमन्तादेति गच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायुः, उभयत्राप्यौणादिक उसुप्रत्ययः। तथा नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम। तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद्गोत्रं, उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं कारणे कार्योपचारात्, यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा, गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयप्राप्तात्तद्गोत्रम्। तथाशब्दः क्रमसंसूचनार्थः। जीवं दानादिकं चान्तराव्यवधानापादनाय एति गच्छतीत्यन्तरायं, जीवस्य दानादिकं कर्त्तुं न ददातीत्यर्थः। च शब्दोऽवधारणे एता एवाष्टौ प्रकृतयो मूलप्रकृतयः। प्रकृतिशब्दश्चेह भेदपर्यायः, व्यवहियते च प्रकृतिशब्दो भेदवाची। यदाह भाष्यकृत्—"अहवा पयडी भेओ इति।" ततोऽयमर्थः, एते एवाष्टौ मूलभेदाः। अत्राह—नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किंचिदस्ति प्रयोजनं? उत यथाकथंचिदेष प्रवृत्तः? अस्तीति ब्रूमः। किं तदिति चेत्, उच्यते–इह ज्ञानं दर्शनं च

जीवस्य स्वतत्वभूतं, तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात्, चेतनालक्षणो हि जीवः, ततः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत्?। ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानं, तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविषयविचारसंततिप्रवृत्तेः। अपि च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायन्ते, न दर्शनोपयोगयुक्तस्य "सव्वा उ लद्धीओ सागरोवओगोवउत्तस्स, न अणागारोवओगोवउत्तस्स" इति वचनप्रामाण्यात्। अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तस्वरूपो जीवः संपद्यते, तस्मिन् समये स ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव भवति, न दर्शनोपयोगयुक्तः, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भावात्। ततो ज्ञानं प्रधानं, तदावारकं च ज्ञानावरणं कर्म, ततस्तत्प्रथममुक्तम्। ततस्तदनन्तरं दर्शनावरणं, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात्। एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोग्यमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयविपाकोदयनिमित्ते भवतः। तथाहि—ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षमधिरूढं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिशो लोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया भिन्दानो बहुज्ञानातिशायिनमात्मानं पश्यन् वेदयते सुखम्। तथा निबिडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखमद्भुतं, दर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद्वस्तूनि पश्यन् वेदयते प्रमोदं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणम्। वेदनीयं च सुखदुःखे जनयत्यभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धात्, अभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणम्। मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भपरिग्रहाद्यासक्ता नरकाद्यायुष्कमाबध्नन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम्। नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, ततश्चायुष्कानन्तरं नामग्रहणम्। नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्म विपाकोदयेन भवितव्यं, अतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणम्।

गोत्रोदये चोच्चैः कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयोपशमो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्, नीचैः-कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयः, अन्त्यजादीनां तथा दर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणम् ॥१॥

उत्तरप्रकृतिसङ्ख्यामाह—

पंच नव दोन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला। दोन्नि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥२॥

(स्वो०)—'पञ्च नव द्व्यष्टाविंशतिश्चत्वारः तथैव द्वौ चत्वारिंशत् द्वौ च पञ्च, च भणिताः प्रकृतय उत्तराश्चैवेति' पदानि। पदार्थस्तु–यथासंख्येन ज्ञानावरणीयस्य पञ्चोत्तरभेदाः, दर्शनावरणीयस्य नव, वेदनीयस्य द्वौ, मोहनीयस्य अष्टाविंशतिर्भेदाः, आयुष्कस्य चत्वारः, नाम्नो द्वाचत्वारिंशद्, गोत्रस्य द्वौ, अन्तरायस्य पञ्च, तथैव भणिता उत्तरप्रकृतयो येन क्रमेणाभिहिता मूलप्रकृतय इति योजना, पथमचकारः सर्वप्रकृतीनां प्रत्येकमसंख्येयव्यक्तिख्यापकः, द्वितीयचकारो नामकर्मण उत्तरभेदानामप्युत्तरभेदसंसूचकः, तृतीयचकारः समुच्चयार्थः। ततश्च एवमेवैताः प्रकृतयो भणिताः, नान्यथेति गाथार्थः ॥२॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता मूलप्रकृतयः। साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीः संख्याद्वारेणाह—इह यथासंख्येन ज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतिसंख्या, सा चैवं—पञ्च ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः, नव दर्शनावरणस्य, द्वे वेदनीयस्य, अष्टाविंशतिर्मोहनीयस्य, चतस्र आयुषः, तथैवेति क्रमेण यथासंख्यसूचने नाम्नो द्विचत्वारिंशत्, द्वे च गोत्रस्य, पञ्च पुनरन्तरायस्य, भणिताः प्रतिपादिताः, पूर्वसूरिभिरुत्तराः प्रकृतयः ॥

तानेवोत्तरभेदान् वक्तुकाम आह—

मइसुयओहीमणकेवलाण आवरणयं भवे पढमं। तह दाणलाभभोगोवभोगविरियंतरायय चरिमं ॥३॥

(स्वो०)—'मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानामावरणकं भवेत् प्रथमं, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायकं चरममिति पदानि। पदार्थस्तु–आवरणशब्दः प्रतिभेदं सम्बन्धनीयः, प्रथममिति च ज्ञानावरणशब्दार्थः, ततश्चायमर्थो–मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणं एवं पञ्चप्रकारं 'प्रथम' मिति, ज्ञानावरणं कर्मेति। यथाऽऽवरणशब्दस्तथाऽन्तरायशब्दोऽपि प्रतिभेदं योजनीयः, 'चरिम' मिति अन्तरायशब्दार्थः, ततश्चायमर्थः–दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायं उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायम्। दीयते इति दानं, लभ्यत इति लाभः, भुज्यत इति भोगः, उपभुज्यत इत्युपभोगः प्राणिनेति गम्यते, विविधमनेकप्रकारमीरयति प्रवर्त्तयति यत्प्राणिनं क्रियासु तस्यान्तरायं वीर्यान्तरायं, एवं पञ्चप्रकारं चरममित्यन्तरायम्। ज्ञानावरणीयानन्तरं कस्मादन्तरायं प्रतिपाद्यते इति? उच्यते–अस्यानेनैव सह सत्तोदयोदीरणाबन्धाः तुल्यप्रकृतिस्थितित्वं चास्यार्थस्य ख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥३॥

(मलय०)—तत्र 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्प्रथमतो ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतीर्व्याख्यानयति–प्रथमं ज्ञानावरणं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानामावरणम्। किमुक्तं भवति? प्रथमं ज्ञानावरणं पञ्चप्रकारं, तद्यथा–मतिज्ञानावरणं, श्रुतज्ञानावरणं, अवधिज्ञानावरणं, मनःपर्यायज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणं चेति, मतिश्रुतादिस्वरूपं च प्रागेव सप्रपञ्चमभिहितम्।

तदेवं ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतीरभिधाय, सम्प्रति तुल्यभेदतया तुल्यस्थितिकतया चान्तरायस्योत्तरप्रकृतीरभिधत्ते–चरिमसष्टममन्तरायकर्म दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायकं, अन्तरायशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तद्यथा–दानान्तरायं लाभान्तरायं, भोगान्तरायं, उपभोगान्तरायं, वीर्यान्तरायं च, एवं चेदं पञ्चप्रकारं भवति। तत्र यदुदयवशात्सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै

महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायम्। तथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायम्। तथा यदुदयवशात्सत्यामपि विशिष्टाहारादिप्राप्तावसति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा, केवलकार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायम्। एवमुपभोगान्तरायमपि भावनीयम्। नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः—सकृद्भुज्यते इति भोगः, पुनः पुनर्भुज्यते इत्युपभोगः। उक्तं च—"सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहार पुप्फमाइओ। उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ वत्थवणियाई ॥१॥"। तथा यदुदयवशात्सत्यपि नीरुजि शरीरे, यौवनिकायामपि वर्त्तमानोऽल्पप्राणो भवति, यद्वा बलवत्यपि शरीरे, साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्त्तते तद्वीर्यान्तरायम्॥३॥

दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरभिधातुकाम आह—

नयणेयरोहिकेवल दंसण आवरणयं भवे चउहा। निद्दापयलाहिं छहा निद्दाइदुरुत्तथीणद्धी ॥४॥

(स्वो०)—'नयनेतरावधिकेवलदर्शनावरणकं भवेच्चतुर्द्धा। निद्राप्रचलाभ्यां षोढा निद्रादिद्विरुक्तस्त्यानर्द्ध्य, इति पदानि। पदार्थस्तु—दर्शनशब्दः प्रथमार्धभेदेषु प्रत्येकं सम्बन्धनीयः, नयनाभ्यां दर्शनं नयनदर्शनं तस्यावरणं नयनदर्शनावरणम्, 'इतरत्' शेषेन्द्रियैर्दर्शनं अनयनदर्शनं तस्यावरणं अनयनदर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणमितियावत्, एवमवधिदर्शनावरणीयं केवलदर्शनावरणीयं, एवं दर्शनावरणीयं 'चतुर्द्धा' चतुष्प्रकारं भवति, चतुःसंख्यदर्शनावरणग्रहणेऽन्यत्राप्यासामेव ग्रहणं प्रतिपत्तव्यम्। निद्राप्रचलाभ्यां सहिता एव चतस्रः षड् भवन्ति, षड् ग्रहणे एता एव षड् प्रतिपत्तव्याः, निद्रादिद्विरुक्तप्रकृती च स्त्यानर्द्धिश्च निद्रादिद्विरुक्तस्त्यानर्द्धयः, किमुक्तं भवति?—निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धिरेवं स्त्यानर्द्ध्युपलक्षितं त्रिकमिति मन्तव्यम्, सामान्यनिद्राग्रहणात् निद्रापञ्चकं

वा प्रतिपत्तव्यम् , सामान्यदर्शनावरणग्रहणे अविशेषेण नवविधमपि ग्राह्यं, इत्यभिहिते कश्चिदाह–निद्राः पञ्चापि दर्शनावरणमभिहितं भवता, यच्च ताभिराव्रियते दर्शनं तच्च नास्ति, एवं ताः कथं दर्शनावरणमिति? अत्रोच्यते–चक्षुरचक्षुरवधीनां यद्दर्शनं त्रिविधमपि क्षायोपशमिकत्वादनेकव्यक्तिव्यक्तं, तत्प्रबोधः–तद्विकाशस्तद्वैमल्यमितियावत् स यासामुदये नितराम्–अतिशयेन द्राति–कुत्सितो भवति असद्रूपः तत्त्वतः स्वभावात्सर्वथा च्युतो भवति ताः निद्राः, क्षयोपशमिकदर्शनाविर्भूतवैमल्यस्य सर्वथा विघातिकाः, नतु क्षायोपशमिकोपयोगस्य, यतोऽसावन्यकर्मक्षयोपशमज इति भावः। अन्यैरप्युक्तम्–'छउमत्थकालिएहिं जं दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं । वीरो (बुद्धो) तंपि न पासति केवलनाणे समुप्पन्ने ॥३.।" यस्याः सुखेनैव व्यपगमो भवति प्रतिबोधाविर्भवनेन सा निद्रा, एवं यस्या दुःखेन व्यपगमो भवति सा निद्रानिद्रा, या स्थितस्याप्येति प्रतिबोधविघातेन सा प्रचला, एवं या भ्रमतोऽप्येति सा प्रचलाप्रचला, यस्यास्तूदये दिनचिन्तितमपि व्यापारं प्रतिबोधरहितो जन्तुः करोति सा स्त्यानर्द्धिः, उक्तं च–"सुहपडिबोहा निद्दा दुहपडिबोहा य निद्दनिद्दा य । पयला होइ ठियस्स य पयलापयला य चंकमतो ॥१॥" इति गाथार्थः ॥४॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता अन्तरायप्रकृतयः। सम्प्रति समानस्थितिकतया घातिकर्मतया च प्रत्यासन्नत्वाद्दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीः प्रतिपादयति–इह दर्शनावरणं बन्धे उदये सत्तायां च त्रिधा प्राप्यते, तद्यथा–कदाचिच्चतुर्धा, कदाचित् षोढा, कदाचिच्च नवधा। तत्र कथं चतुर्धा? कथं षोढा? कथं नवधा? इति त्रीनपि प्रकारान् दर्शयन् प्रथमतश्चतुर्धा दर्शयति–दर्शनावरणं चतुर्धा चतुष्प्रकारं भवति, कथमित्याह–नयनेतरावधिकेवलेषु, नयनेतरावधिकेवलविषयं सत् , सूत्रे तु सप्तम्या अदर्शनं लोपात् , लोपश्च प्राकृतत्वात्। एष चात्र भावार्थः—दर्शनावरणं यदा चतुर्धा बन्धे उदये सत्तायां वा विवक्ष्यते, तदेवंरूपं तदावगन्तव्यम्, यथा–नयनदर्शनावरणमितरदर्शनावरणमवधि-

दर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं चेति। तत्र नयनाभ्यां दर्शनं नयनदर्शनं, तस्यावरणं नयनदर्शनावरणम्। इतरैर्नयनवर्जैरिन्द्रियैर्मनसा च
दर्शनमितरदर्शनं, तस्यावरणं इतरदर्शनावरणं, अचक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः। अवधिरेव दर्शनमवधिदर्शनं, तस्यावरणमवधिदर्शना-
वरणम्। केवलमेव दर्शनं केवलदर्शनं ,तस्याव`णं केवलदर्शनावरणम्। तथा तदेव दर्शनावरणचतुष्टयं निद्राप्रचलाभ्यां सह षोढा भवति,
तत्र द्रा कुत्सायां, नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां स्वापावस्थायां सा निद्रा, नखच्छोटिकामात्रेण यस्यां प्रबोध
उपजायते, सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात्। तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति
घूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला। दर्शनावरणषट्कग्रहणे च सर्वत्रापीदमेव दर्शनावरण-
षट्कं ग्राह्यम्। एतदेव दर्शनावरणषट्कं निद्रादिद्विरुक्तप्रकृतिस्त्यानर्द्धिभिः सहितं नवधा द्रष्टव्यमिति शेषः, सूत्रे च विभक्तिलोप आर्ष-
त्वात्, निद्रादीति निद्राप्रचलाशब्दौ द्विरुक्तौ वाचकत्वेन ययोस्ते निद्रादिद्विरुक्ते निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला चेत्यर्थः। तत्र निद्रातोऽ-
तिशायिनी निंद्रा निद्रानिद्रा, मध्यमपदलोपीसमासः, तस्यां हि चैतन्यस्यात्यंतमस्फुटीभूतत्वाद्बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवति,
ततः सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वं, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा, उपचारात्। तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला
प्रचलाप्रचला, सा हि चंक्रमणादिकमपि कुर्वत उदयमधिगच्छति, ततःस्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्। तथा
स्त्याना पिंडीभूता शुद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिरु-
पजायते। तथा च श्रूयते प्रवचने–क्वचित्प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततस्तस्मिन्
द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानद्ध्युदये वर्त्तमानः समुत्थाय तद्दंतयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः प्रसुप्तवानित्यादि।

उक्तं च—"सुहपडिवोहो निद्दा दुहपडिबोहो य निद्दनिद्दा य । पयला होइ ठियस्स उ पयलापयला य चंकमतो ॥१॥ थीणद्धी पुण अइसंकिलिट्ठकम्मस्स वेयणे होइ । महनिद्दा दिणचिंतिय, वावारपसाहणी पायं ॥२॥" इति। स्त्यानर्द्धिविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, कारणे कार्योपचारात् । इदं च निद्रापंचकं प्राप्तायाः दर्शनलब्धेरुपघातकृत् , दर्शनावरणचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धेरिति ॥

मोहनीयादीनामुत्तरप्रकृतीरभिधातुकाम आह—

सोलस कसाय नव नोकसाय दंसणतिगं च मोहणीयं । सुरनरतिरिनिरयाऊ सायासायं च नीउच्चं ॥५॥

(स्वो०)–षोडश कषायाः नव नोकषायाः दर्शनत्रिकं च मोहनीयम् । सुरनरतिर्यग्नरकायूंषि सातासातं च नीचोच्चं' इति पदानि । अर्थघटना त्वेवम्–षोडश कषायाः कषायमोहनीयं, नव नोकषाया–नोकषायमोहनीयं, द्वितीयार्द्धे चकारः समुच्चये, कषाया नोकषायाश्च चारित्रमोहनीयमिति वाक्यशेषः, प्रथमार्द्धे चकारः पुनःशब्दार्थः, दर्शनत्रिकं पुनः दर्शनमोहनीयं भवति। कषः–संसारः तस्यायाः–प्राप्तयः कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्याः, ते च प्रत्येकं चतुर्द्धा भवन्ति, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनाख्याः, अनन्तकालमतिप्रभूतं कालमनुबन्धमुदिताः कुर्वन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः, न विद्यते प्रत्याख्यानं यदुदये तेऽप्रत्याख्यानकषायाः, प्रत्याख्यानं मर्यादयाऽऽवृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणाः ते सर्वविरतिं आवृण्वन्ति, न तु देशविरतिमिति भावः। सम्यक् सर्वविरतिरूपचारित्रप्रयात्रिनाशेन ज्वलन्तीति सञ्ज्वलनाः, अविशेषितकषायग्रहणे चत्वारो मूलभेदा वा पञ्चविंशतिर्वा सर्वत्र मन्तव्याः, नोशब्दो देशप्रतिषेधे, ततः सम्पूर्णकषायकार्यकरणक्षमा न भवन्तीति नोकषायाः । चकारोऽनुक्तार्थसूचकः, नोकषाया द्विविधाः–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इति हास्यादिषट्कम्, पुंस्त्रीनपुंसका इति वेदत्रयं, एतच्च पञ्चविंशतिभेदं चारित्रमोहनीयमिति। मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वमेवं

त्रिविधं दर्शनमोहनीयम्, एवमष्टाविंशतिविधं मोहनीयं भवति। एवं व्याख्याते कश्चिदाह–प्रथमं दर्शनमोहनीयस्यैवोपशमः क्षयो वा पश्चाच्चारित्रमोहनीयस्येतिकृत्वा तेनैव क्रमेणोपन्यासो घटते, नान्यथा, इत्यत्रोच्यते–चारित्रमोहनीयप्रकृतयः प्रतिपद्यमानचारित्राणां प्रतिपतितचारित्राणां वाऽप्राप्तचारित्राणां वा सर्वजीवानां सर्वा अपि अभिहितप्रमाणा भवन्ति, दर्शनत्रयं तु नैवम्, यतोऽनवाप्तसम्यक्त्वानां प्रतिपतितसम्यक्त्वानां च केषाञ्चिन्मिथ्यात्वमेवैकं भवति, न नित्यं दर्शनत्रयमिति, अस्यार्थस्य ख्यापनार्थमित्थमुपन्यासः। अन्यच्च–क्षायोपशमिकसम्यक्त्वचारित्रयोस्तु केषाञ्चिज्जीवानां युगपत् प्राप्तिश्चेष्यते, अतो न दोषः। षड्विंशतिविधं मोहनीयं ज्ञापितं चैवं भवति। आयुष्कशब्दः प्रत्येकं सम्बन्धनीयः, ततश्च सुरायुष्कं नरायुष्कं तिर्यगायुष्कं नारकायुष्कमेवं चायुःकर्म चतुर्भेदं भवति, अस्य चैवं क्रमोपन्यासोऽभिमतः प्राधान्याद्, अन्यथा भणने प्रयोजनं वाच्यम्। 'सातं' सुखं आल्हादरूपम्, असातं' तदेव विपर्यस्तं दुःखरूपमेवं वेदनीय द्विभेदं। आह–यद्येवं ततः सातासातयोरभावेन तत्परमाणुक्षये सिद्धानां सुखदुःखाभावः, तेषां चात्यन्तिकं सुखमिष्यते, तच्च पाषाणकल्पानां न घटते, अत्रोच्यते–ननु तेषामेव सुखं, यतस्तदपौद्गलिकं, यत्तु पौद्गलिकं तत्परमार्थतो न सुखं सुखाभासमेव तत्, यतो यदेव दुःखशमकं तदेव सुखं प्रतिभाति, न च तत्सुखं परमार्थतो, दुःखशमनहेतुत्वात्। एतदेव भाव्यते–यथा कश्चित् क्षुद्वेदनार्त्तो मोदकादिभिर्द्रव्यैः तदुपशमं कर्त्तुमारभते, तस्य च तैर्मोदकादिभिः स्तोकैः रसनोपकृतं दुःखं प्रभवति, किञ्चिच्च क्षुद्वेदनोपशमो, न च तत्सुखं, प्रभूतैश्च तैः क्षुद्वेदनोपशमः स्यात् न च तत्सुखं, तद्विसूचिकादिकृतं दुखं तु भवत्येव, क्षुद्वेदनोपशमप्रमाणैरपि तैस्तदुपशमो भवति, न च तत्सुखं, तद्भक्षणायासकृतं तु दुःखं भवत्येव, क्षुद्वेदनोपशमसमयाश्च सततं क्रमेण व्यवस्थिताः, प्रायः प्रकोपममयश्चोत्तरकाले, अतोऽत्र संसारे दुःखमेवानुबद्धं, न सुखं, ततः सुखाभासमेव तत्परमार्थतः। अन्यैरप्युक्तम्–"सायासायाभावे न सुही सिद्धत्ति केइ मन्नंति। तं

नो जं पोग्गलियं विवक्खपडिगारहेउमयं ॥१॥ अकयमकारियजायं, सातिअपज्जवसियं अनिच्छियय्यं। जं सिद्धाणं सरूवं तमेव सुहमाहु आयरिया ॥२॥ "ग्राम्यसुखे सुखसंज्ञा, येषामपि भवति मन्दबुद्धीनाम्। तदपि बुधैः परिकथितं, दुःखप्रतिघातमात्रमिति ॥१॥" दुक्खाभावो न सुहं ताइवि ण सुहाइ जाइं सोक्खाति। भोत्तूणऽसुहाइं (दुहाइं) सुहाइं जाइं ताइं चिय सुहाइं ॥१॥"। उत्तमजातित्वं प्रशस्यता पूज्यत्वं चोच्चैर्गोत्रं, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रं, आह-'यद्येवं ततः संगमकादिभिरप्रशंसाद्यपमानैः क्रियमाणैरपि वर्द्धमानतीर्थाधिपतेः कथं नीचैर्गोत्रोदयो न भवति ? उत्तमजातिसंपन्नानामपि सिंहहंसादीनां कथमुच्चैर्गोत्रोदयो न भवतीति ? अत्रोच्यते-यदि गुरुकर्मोदयवशगैरधोगामिभिरप्रशंसादि क्रियते 'जे जत्तिया उ हेऊ भवस्स' इत्यादि सूत्रं सफलं कुर्वद्भिः भगवतः कोऽत्र नीचैर्गोत्रोदय इति ? सिंहादीनामुत्तमजातित्वेऽपि हीनगतित्वान्नीचैर्गोत्रोदय इष्यते नारकाणामिव, देवानां तु सर्वेषामपीष्यते उच्चैर्गोत्रं, उत्तमगतित्वात्, मनुजानामुभयोरप्युदयो भवति, मध्यमगतित्वादसाधारणक्रियाविशेषाच्च, प्रकृतिव्यत्यासोऽपि घटत एवात्रेति। आह-स्वस्थानप्राप्तं वेदनीयं विहाय कस्मान्मोहनीयस्योपन्यासः क्रियते ? अत्रोच्यते-मोहनीयभणने घातिकर्मचतुष्कमव्यवच्छिन्नमुक्तं भवति, तत्क्षये च केवलज्ञानदर्शनप्राप्तिरेतद् ज्ञापितं भवति। यद्येवं ततस्तदनन्तरं वेदनीयं किमिति नाभिधीयते ? अत्रोच्यते-तत्प्रकृत्या सहोपान्त्यसमये गोत्रप्रकृतिः क्षयमुपयाति, चरमसमये वेदनीयेन सह गोत्रं सामस्त्येन तुल्यप्रकृतित्वाद् क्षयं यात्यतः स्वस्थानं विहायैकत्राभिहिते वेद्यगोत्रे। पुनरप्याह-यथा सातं शुभमादावुक्तं तथोच्चैर्गोत्रमपि किमिति नोक्तं ? इत्युच्यते-उपान्त्यसमये नीचैर्गोत्रस्यैव क्षयः, अतस्तदेव प्रथममुक्तं, सातासातयोस्त्वनियमः, अतः शुभमादावुक्तम्, एवमन्येऽप्यर्था बन्धोदयादिगताः स्वबुद्ध्योत्क्रमभणने वाच्याः, अलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुत्तरप्रकृतयः । ज्ञानावरणादीनि च घातिकर्माणि, ततो घातिकर्मप्रस्तावात्संप्रति मोहनीयस्योत्तरप्रकृतीरुपदर्शयति—इह मोहनीयं द्विधा—दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च । तत्र बहुवक्तव्यत्वात्प्रथमतश्चारित्रमोहनीयं निर्दिशति--षोडश कषाया नव नोकषायाः । कषायाः प्राग्निरूपितशब्दार्थाः क्रोधमानमायालोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदाच्चतुर्धा, ततः षोडश । तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । उक्तं च "–अनंतान्यनुबध्नन्ति, यतो जन्मानि भूतये । ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्याः, क्रोधा(संज्ञा)द्येषु नियोजिताः ॥१॥" एषां च संयोजना इति द्वितीयं नाम, तत्रायमन्वर्थः—संयोज्यन्ते सम्बध्यन्तेऽसंख्यैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते संयोजनाः । उक्तं च—"संयोजयंति यन्नरमनंतसंख्यैर्भवैः कषायास्ते । संयोजनतानन्तानुबन्धिता चार्थ(थ्य)तस्तेषां ॥१॥" । तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्ते अप्रत्याख्यानाः । उक्तं च—"नाल्पमप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥१॥" । तथा प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणाः । आह च—"सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमुदाहृतं । तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥१॥" । तथा परीषहोपसर्गसन्निपाते सति चारित्रिणमपि सम् ईषत् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः । उक्तं च—"संज्वलयंति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि । तस्मात्संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते (निरूप्यन्ते) ॥१॥", अन्यत्राप्युक्तं—शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलन्ति यतो मुहुः । अतः संज्वलनाह्वानं चतुर्थानामिहोच्यते ॥१॥" । तथा नोकषाया इति, नोशब्दः साहचर्ये, ततः कषायैः सहचारिणः सहवर्त्तिनो ये ते नोकषायाः । कैः कषायैः सहचारिणः ? इति चेद्, उच्यते—आद्यैर्द्वादशभिः । तथाहि—नाद्येषु द्वादशसु कषायेषु क्षीणेषु नोकषायाणामवस्थानसम्भवः, तदनन्तरमेव तेषामपि क्षपणाय क्षपकस्य प्रवृत्तेः । अथवा एते प्रादुर्भवन्तोऽवश्यं कषायानुदीपयन्ति, ततः कषायसहचारिणः ।

उक्तं च—"कषायसहवर्त्तित्वात्कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥१॥"। ते च नोकषाया नव, तद्यथा–वेदत्रिकं हास्यादिषट्कं च । तत्र वेदत्रिकं स्त्रीवेदः, पुरुषवेदो, नपुंसकवेदश्च । तत्र यदुदये स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः, पित्तोदये मधुराभिलाषवत् , स स्त्रीवेदः । यदुदयवशात्पुंसः स्त्रियामभिलाषः, श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स पुरुषवेदः । यदुदयवशात्पुनः स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः, पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत् , स नपुंसकवेदः । हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सालक्षणं, तत्र यदुदयवशात्सनिमित्तं अनिमित्तं वा हसति स्मयते वा तद् हास्यमोहनीयम् । यदुदयाद्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु विषये प्रमोदमाधत्ते तत् रतिमोहनीयम् । यदुदयवशात्पुनर्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वप्रीतिमाधत्ते तत् अरतिमोहनीयम् । यदुदयात्प्रियविप्रयोगादौ स्वोरस्ताडमाक्रन्दति, भूपीठे च लुठति, दीर्घं निःश्वसिति तत् शोकमोहनीयम् । यदुदयवशात्सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसंकल्पतो बिभेति तद् भयमोहनीयम् । यदुदयवशात्पुनः शुभमशुभं वा वस्तु जुगुप्सते तद् जुगुप्सामोहनीयम् । दर्शनमोहनीयं दर्शनत्रिकं, तद्यथा–मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च । तत्र यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम् । यदुदयवशात्पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते, नापि निन्दति तत्सम्यग्मिथ्यात्वम् । यदुदयवशात्पुनर्जिनप्रणीततत्त्वं सम्यक् श्रद्धत्ते तत्सम्यक्त्वम् । तदेवमुक्ता मोहनीयोत्तरप्रकृतयः । संप्रति मूलक्रमप्रामाण्यानुसरणादायुष्कस्योत्तरप्रकृतीर्दर्शयति—'सुरनरतिरिनिरयाऊ' इति–आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः, तद्यथा–सुरायुर्नरायुस्तिर्यगायुर्निरयायुरिति । सांप्रतमल्पवक्तव्यत्वाद्वेदनीयगोत्रयोरुत्तरप्रकृतीराह–'सायासायं च नीउच्चं' । वेदनीयस्य द्वे प्रकृती, तद्यथा–सातमसातं च, सातवेदनीयमसातवेदनीयं चेत्यर्थः । तत्र यदुदयवशादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाल्हादरूपं सातं सुखं वेदयते तत्सातवेदनीयं, तद्विपरीतं चासातवेदनीयम् । गोत्रस्यापि द्वे उत्तरप्रकृती इमे, तद्यथा–उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च । तत्र यदुदयवशादुत्तमजातिकुल-

बलतपोरूपैश्वर्यश्रुतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानांजलिप्रग्रहादिसंभवस्तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयवशात्पुनर्ज्ञानादिसंपन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसंभवं च तन्नीचैर्गोत्रम् ॥५॥

नामोत्तरप्रकृतीरभिधातुकाम आह—

गइजाइसरीरंगं बंधणसंघायणं च संघयणं । संठाणवन्नगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥६॥

(स्वो०)—गतिजातिशरीराङ्गं बन्धनं सङ्घातनं च संहननं संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शानुपूर्वीविहायोगतयः, एता गत्यादयः चतुर्दश पिण्डप्रकृतयो नाम्नोऽभिहिता इति गाथार्थः ॥६॥

(मलय०)—साम्प्रतं गोत्रेण सह समानस्थितिकत्वादेतदनन्तरं नामकर्मणः प्रकृतयः प्ररूपयितव्याः, ताश्च द्विधा–पिण्डप्रकृतयः प्रत्येकप्रकृतयश्च । तत्र प्रथमतः पिण्डप्रकृतीः प्ररूपयति–गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः, नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः, सा चतुर्धा, तद्यथा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सापि चतुर्धा । तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणामलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः, तद्विकपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः । इदमत्र तात्पर्यं–द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गनामेन्द्रियपर्याप्तिनामसामर्थ्यात् सिद्धम्, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात्, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणीति वचनात् । यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदनन्यसाध्यत्वाज्जातिनामनिबन्धनमिति । उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति, तन्निमित्तं जातिनाम, तच्च पञ्चधा । तद्यथा–एकेन्द्रियजातिः, द्वीन्द्रियजातिः, त्रीन्द्रियजातिः, चतुरिन्द्रियजातिः, पञ्चेन्द्रियजातिरिति । तथा शीर्यते इति

शरीरम्। तच्च पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकं, वैक्रियं, आहारकं, तैजसं, कार्मणं च। एतानि च प्रागेव व्याख्यातानि। एतद्विपाकवेद्यं कर्मापि शरीरनाम पञ्चधा। तत्र यदुदयवशादौदारिकशरीरप्रायोग्यान्पुद्गलानादायौदारिकशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तदौदारिकशरीरनाम। एवं शेषशरीरनामस्वपि भावना कार्या। तथा 'अंग'त्ति—पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादङ्गोपाङ्गम्। तत्राङ्गानि अष्टौ शिरःप्रभृतीनि। उक्तं च—' सीस्मुरोयरपिट्ठी दो वाहू ऊरुया य अट्ठंगा। " तदवयवभूतान्यङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतानि अङ्गुलिपर्वरेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि। अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि। "स्यादावसंख्येय" इत्येकशेषः, तन्निमित्तं नामकर्म अङ्गोपाङ्गम्। तत्रिधा—औदारिकाङ्गोपाङ्गं, वैक्रियाङ्गोपाङ्गं, आहारकाङ्गोपाङ्गं च। तत्र यदुदयवशादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम। एवं वैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि भावनीये। तैजसकार्मणशरीरयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वान्नास्त्यङ्गोपाङ्गसंभवः। तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्। यदुदयवशादौदारिकादिपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च यः परस्परं संबन्ध उपजायते। आह च प्रज्ञापनामूलटीकाकारः—विद्यते तत्कर्म, यन्निमित्ताद् द्व्यादिसंयोगापत्तिराविर्भवति, यथा काष्ठद्वयैकत्वकरणे जतु कारणमिति। तच्च पञ्चप्रकारं वक्ष्यमाणस्वरूपम्। तथा सङ्घात्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातनम्। यदुदयवशादौदारिकादिपुद्गला औदारिकादिशरीररचनानुकारिसङ्घातरूपा जायन्ते। तच्च पञ्चधा वक्ष्यमाणस्वरूपम्। तथा 'संघयण'ति—संहननं नाम अस्थिरचनाविशेषः, स चौदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वात्। तच्च षोढा—वज्रर्षभनाराचं, ऋषभनाराचं, नाराचं, अर्द्धनाराचं, कीलिका, सेवार्त्तं च। तत्र वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः, ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः, पट्टा-

कृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रर्षभनाराचसंज्ञकं प्रथमं संहननम्। यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तदृषभनाराचं द्वितीयं संहननम्। तथा यत्र अस्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसंज्ञं तृतीयं संहननम्। यत्र पुनरेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे च कीलिकाबन्धस्तदर्द्धनाराचसंज्ञं चतुर्थं संहननम्। तथा यत्र अस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति, तत्कीलिकाख्यं पञ्चमं संहननम्। यत्र पुनः परस्परं पर्यन्तमात्रसंस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति, नित्यमेव च स्नेहाभ्यङ्गादिपरिशीलनामाकांक्षन्ति, तत्सेवार्त्ताख्यं षष्ठं संहननम्। एतन्निबन्धनं संहनननामापि षोढा, तद्यथा—वज्रर्षभनाराचसंहनननाम, ऋषभनाराचनाम, नाराचनाम, अर्द्धनाराचनाम, कीलिकानाम सेवार्त्तनाम च। तत्र यदुदयवशाद्वज्रर्षभनाराचसंहननं भवति, तद्वज्रर्षभनाराचसंहनननाम। एवं शेषसंहनननामस्वपि भावनीयम्। तथा संस्थानमाकारविशेषः। तेष्वेव गृहीतसङ्घातितबद्धेष्वौदारिकादिषु पुद्गलेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयात्प्रादुर्भवति तत्संस्थाननाम। तच्च षोढा, तद्यथा—समचतुरस्रं, न्यग्रोधपरिमण्डलं, सादि, कुब्जं, वामनं, हुण्डं चेति। तत्र यदुदयादसुमतां समचतुरस्रं संस्थानमुपजायते, तत्समचतुरस्रसंस्थाननाम। यदुदयान्न्यग्रोधपरिमण्डलं संस्थानं तन्न्यग्रोधपरिमण्डलनाम। एवं शेषाण्यपि वाच्यानि। तत्र समचतुरस्रमिति समाः सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयश्चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रं संस्थानं, 'समासान्तोऽत्प्रत्ययः' न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तन्नयग्रोधपरिमण्डलम्। यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः, तथा यत्संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणं, अधस्तु न तथा, तन्नयग्रोधपरिमण्डलम्। तथा आदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते, ततः सह आदिना नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्त्तत इति सादि। यद्यपि च सर्वमपि शरीरमादिना सह वर्त्तते, तथापि सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या

विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न आदिरिह लभ्यते, तत उक्तं यथोक्तप्रमाणलक्षणेनेति। इदमुक्तं भवति–यत्संस्थानं नाभेरधः प्रमाणोपपन्नं, उपरि च हीनं तत्सादीति। अपरे तु साचीति पठन्ति। तत्र साचीति प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचि। यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टमुपरि च न तदनुरूपा महाविशालता, तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति, उपरितनभागस्तु नेति भावः। तथा यत्र शिरोग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं, उरउदरादि च मडभं तत्कुब्जसंस्थानम्। यत्र पुनरुरउदरादि प्रमाणलक्षणोपेतं, हस्तपादादिकं च हीनं, तद्वामनं संस्थानम्। यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तत् हुण्डं संस्थानम्। तथा वर्ण्यते अलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः, स च पञ्चप्रकारः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णभेदात्, तन्निबन्धनं वर्णनामापि पञ्चधा। तत्र यदुदयवशाज्जन्तुशरीरे श्वेतवर्णप्रादुर्भावो, यथा बलाकादीनां, तत् श्वेतवर्णनाम। एवं शेषाण्यपि वर्णनामानि भावनीयानि। तथा 'वस्तगन्ध अर्दने' गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः। स च द्विधा, सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च, तन्निबन्धनं गन्धनामापि द्विधा। तत्र यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते, यथा शतपत्रमालतीकुसुमादीनां, तत्सुरभिगन्धनाम। एवमेतद्विपरीतं दुरभिगन्धनामापि भावनीयम्। तथा 'रस आस्वादनस्नेहनयोः' रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। स च पञ्चधा–तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात्। तन्निबन्धनं रसनामापि पञ्चधा। तत्र यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति, यथा मरिचादीनां, तत्तिक्तरसनाम। एवं शेषाण्यपि रसनामानि भावनीयानि। तथा 'स्पृश संस्पर्शे' स्पृश्यते इति स्पर्शः। स च कर्कशमृदुलघुगुरुस्निग्धरूक्षशीतोष्णभेदादष्टप्रकारः, तन्निबन्धनं स्पर्शनामाप्यष्टभेदम्। तत्र यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु कर्कशस्पर्शो भवति, यथा पाषाणविशेषादीनां, तत्कर्कशस्पर्शनाम। एवं शेषाण्यपि स्पर्शनामानि भावनीयानि। तथा कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण

कूर्पर

भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियतागमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् आनुपूर्वी। सा च चतुर्धा, तद्यथा—नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी च। तथा विहायसा गतिर्गमनं विहायोगतिः। ननु सर्वगतत्वाद्विहायसस्ततोऽन्यत्र गतिर्न सम्भवतीति किमर्थं विहायसा विशेषणं? व्यवच्छेद्याऽभावात्। सत्यमेतत्, किन्तु यदि गतिरित्येवोच्यते ततो नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विहायसा विशेषणम्। विहायसा गतिर्न तु नारकत्वादिपरिणतिरूपेति विहायोगतिः। सा द्विधा, प्रशस्ता अप्रशस्ता च। तत्र प्रशस्ता हंसगजवृषभादीनां, अप्रशस्ता खरोष्ट्रमहिषादीनां। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि द्विप्रकारा विहायोगतिः ॥६॥

अगुरुयलहु उवघायं परघाउस्सास आयवुज्जोयं। निम्माणतित्थनामं चोद्दस अड पिंडपत्तेया ॥७॥

(स्वो०)—अगुरुलघूपघातं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतं निर्माण तीर्थनाम, चतुर्दशाष्टौ पिण्डप्रत्येकाः, यथासंख्येनैता आद्याश्चतुर्दश पिण्डप्रकृतयोऽष्टौ प्रत्येकमवस्थिता इति गाथार्थः ॥७॥

(मलय०)—तदेवमुक्ताः पिण्डप्रकृतयः एतासां चावान्तरभेदाः सर्वसंख्यया पञ्चषष्टिः, संप्रति प्रत्येकप्रकृतयो वक्तव्याः, ताश्च द्विधा, सप्रतिपक्षा अप्रतिपक्षाश्च। तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतोऽप्रतिपक्षप्रत्येकप्रकृतीरुपदर्शयति—अगुरुलघुनाम—यदुदयवशादसुमतां शरीराणि न गुरुणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति। 'उवघायं' ति—यदुदयवशात्स्वशरीरावयवैरेव शरीरान्तः परिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्वागलवृन्दलकचोरदन्तादिभिरुपहन्यते, यद्वा स्वयंकृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिस्तदुपघातनाम। तथा यदुदयवशादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभायामपि गतः, सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति, प्रतिवादिनश्च प्रतिभाविघातं

करोति तत्पराघातनाम । तथा यदुदयवशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम । तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम, तद्विपाकश्च भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वेव न वह्नौ, प्रवचनप्रतिषेधात्, तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति । तथा यदुदयवशाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति, यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रताराविमानरत्नौषधयः तदुद्योतनाम । तथा यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु स्वजात्यनुसारेणाङ्गप्रत्यङ्गाना प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्माणनाम, तच्च सूत्रधारकल्पं, तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्त्तितानामपि शिरउदरादीनां स्थानवृत्तेरनियमो भवेत् । तथा यदुदयवशादष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुष्षन्ति तत्तीर्थकरनाम । 'चोद्दस अड पिंडपत्तेया' इति–अत्र यथासंख्येन योजना, प्रागुक्तगाथानिर्दिष्टाश्चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः, अवान्तरभेदपिण्डात्मिकाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृतयः इति व्युत्पत्तेः । इमास्त्वष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः ॥७॥

तसबायरपज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च नायव्वं। सुस्सरसुभगाइज्जं जसकित्ती सेयरा वीसं ॥८॥

(स्वो०)—त्रसबादरपर्याप्तकं प्रत्येकं स्थिरं शुभं च ज्ञातव्यम् । सुस्वरसुभगादेयं यशःकीर्त्तिः सेतरा विंशतिः । त्रसादयो दश इतरा विपक्षभूता अपि दशैवं विंशतिः ॥८॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता अप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतयः । संप्रति परस्परप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतीरभिधत्ते–त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुस्वरसुभगादेययशःकीर्त्तयः सप्रतिप्रक्षप्रकृतिसहिताः सर्वसंख्यया विंशतिप्रकृतयो भवन्ति । तत्र त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि

त्रसनाम । तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयवशादुष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा जायन्ते । तथा बादरनाम, यदुदयाज्जीवा बादरा भवन्ति, बादरत्वं परिणामविशेषः, यद्वशात्पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वा-भावेऽपि बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति। तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद्बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति । पर्याप्तकनाम—यदुदयवशात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो भवति । तद्विपरीतमपर्याप्तनाम, यदुदयवशात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्व-र्त्तनसमर्थो न भवति। तथा यदुदयाज्जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरमुपजायते तत्प्रत्येकनाम, तस्योदयः प्रत्येकशरीरिणां प्रत्येकशरीरिणश्च नारकामरमनुष्यद्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयः कपित्थादितरवश्च । ननु यदि प्रत्येकनाम्न उदयः कपित्थादिवृक्षादीनामिष्यते तर्हि तेषां जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरं भवेत्, न च तद्भवति । यतः कपित्थाश्वत्थपीलुसेल्वादीनां मूलस्कन्धत्वक्शाखादयः प्रत्येकमसंख्येयजीवा इष्यन्ते । यत उक्तं प्रज्ञापनायां एकास्थिकबहुबीजवृक्षप्ररूपणावसरे—"एएसिं मूला असंखिज्जजीविया कन्दा वि खंधा वि तया वि साला वि पवाला वि पत्ता पत्तेयजीविया" इत्यादि । मूलादयश्च फलपर्यन्ताः सर्वेऽप्येकशरीराकारा उपलभ्यन्ते, देवदत्तशरीरवत् । यथा हि—देवदत्तशरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते, तद्वन्मूलादयोऽपि, तत एकशरीरात्मकाः कपित्थादयः, ते चासंख्येयजीवाः, ततः कथं ते प्रत्येकशरीरिणः ? उच्यते—प्रत्येकशरीरिण एव ते, तेषां मूलादिष्वसंख्येयानामपि जीवानां भिन्नभिन्नशरीरसंभवात्, केवलं श्लेपद्रव्यविमिश्रितसकलसर्षपवर्त्तेरिव प्रबलरागद्वेषोपचिततथारूपप्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयतस्ते तथा परस्परविमिश्रशरीरा जायन्ते । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायामेव—"जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साणवट्टिया वट्टी। पत्तेयसरीराणं तह हुति सरीरसंघाया ॥२॥ जह वा तिलपप्पडिया, बहुएहिं तिलेहिं मीसिया संती। पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया ॥२॥"। गाथाद्वयस्याप्ययमक्षरार्थः—यथा सकलसर्ष-

पाणां श्लेषद्रव्येण मिश्रीकृतानां वर्त्तिता वलिता वर्त्तिः यथा वा बहुभिस्तिलैर्विमिश्रिता सती तिलपर्पटिका भवति, तथा प्रत्येकशरीरिणां शरीरसङ्घाताः। इयमत्र भावना—यथा तस्यां वर्त्तौ सकलसर्षपाः परस्परं भिन्नाः नान्योऽन्यानुवेधभाजस्तथाऽदर्शनात्, अत एव सकलग्रहणं येन स्पष्टमेवान्योन्यानुवेधाभावःप्रतीयते। एवं वृक्षादावपि मूलादिषु प्रत्येकमसंख्येया अपि जीवाः परस्परं विभिन्नशरीराः, यथा च ते सर्षपाः श्लेषद्रव्यसम्पर्कमाहात्म्यात्परस्परं विमिश्रा जातास्तथा प्रत्येकशरीरिणोऽपि तथारूपप्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयतः परस्परसंहता जाता इति। तथा यदुदयवशादनन्तानां जीवानामेकं शरीरं भवति तत्साधारणनाम। ननु कथमनन्तानां जीवानामेकं शरीरमुत्पद्यते ? तथाहि—य एव प्रथममुत्पत्तिमागतस्तेन तच्छरीरं निष्पादितं, अन्योऽन्यानुगमनेन च सर्वात्मना क्रोडीकृतं, ततः कथं तत्रान्येषां जीवानामवकाशः ? न खलु देवदत्तशरीरे देवदत्त इव सकलशरीरेण सहान्योन्यानुगमपुरस्सरमन्येऽपि जीवाः प्रादुष्षन्ति, तथाऽदर्शनात्। अपि च सत्यप्यवकाशे येनैव तच्छरीरं निष्पाद्यान्योन्यानुगमेन क्रोडीकृतं स एव तत्र प्रधान इति तस्यैव पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्था प्राणापानादियोग्यपुद्गलोपादानं वा भवेत्, न शेषाणामिति। तदेतदसम्यक्, जिनवचनपरिज्ञानाभावात्। ते ह्यनन्ता अपि जीवास्तथाविधकर्मोदयसामर्थ्यतः समकमेवोत्पत्तिदेशमधितिष्ठन्ति, समकमेव तच्छरीराश्रिताः पर्याप्तीर्निर्वर्त्तयितुमारभन्ते, समकमेव च पर्याप्ता भवन्ति, समकमेव च प्राणापानादियोग्यान्पुद्गलानाददते। यच्चैकस्य पुद्गलाभ्यवहरणं तदन्येषामनन्तानामपि साधारणं, यच्चानन्तानां तद्विवक्षितस्यापि जीवस्य, ततो न काचिदनुपपत्तिरिति। उक्तं च प्रज्ञापनायां—"समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीरनिप्फत्ती। समयं आणुग्गहण समयं उस्सासनिस्सासा ॥१॥ एगस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाणं तं चेव। जं बहुयाणं गहणं समासओ तंपि एगस्स ॥२॥ साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥३॥" इति। तथा यदुदयात् शरीरावयवानां शिरोऽस्थिदन्तानां स्थिरता

भवति तत्स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयवशाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता । यदुदयवशान्नाभेरुपरितना अवयवाः शुभा जायन्ते तत् शुभनाम । तद्विपरीतमशुभनाम, यदुदयवशान्नाभेरधस्तनाः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति । तथाहि–शिरसा स्पृष्टस्तुष्यति, पादेन तु रुष्यति । कामिन्याः पादेनापि स्पृष्टस्तुष्यति, ततो व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य परितोषस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते, ततोऽदोषः । तथा यदुदयवशाज्जीवस्य स्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुरुपजायते तत्सुस्वरनाम । तद्विपरीतं दुःस्वरनाम, यदुदयवशात्स्वरः श्रोतॄणामप्रीतिहेतुर्भवति । तथा यदुदयवशादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम । तद्विपरीतं दुर्भगनाम, यदुदयवशादुपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति । उक्तं च–"अणुवकए वि बहूणं जो हु पिओ तस्स सुभगनामुदयो। उवगारकारगो वि हु न रुच्चए दूभगस्सुदए ॥१॥ सुभगुदए वि हु कोई कंची आसज्ज दुभगो जइ वि। जायइ तद्दोसाओ जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥२॥"। तथा यदुदयवशात् यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव च जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम । तद्विपरीतमनादेयनाम, यदुदयवशादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याभ्युत्थानादि समाचरति । 'जसकित्ति' त्ति–तपःशौर्यत्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्त्तनं संशब्दनं यशःकीर्त्तिः, यद्वा यशः सामान्येन ख्यातिः, कीर्त्तिर्गुणोत्कीर्त्तनरूपा प्रशंसा, अथवा सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्त्तनीयगुणता यशः, एकदिग्गामिनी दानपुण्यकृता वा कीर्त्तिः, ते यदुदयाद्भवतस्तद्यशःकीर्त्तिनाम । तद्विपरीतमयशःकीर्त्तिनाम, यदुदयवशान्मध्यस्थस्यापि जनस्याप्रशस्यो भवति । उक्ताः सप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतयः, आसां च सप्रतिपक्षाणां त्रसादिप्रकृतीनामित्थं यन्निदर्शनं तदमूषां संज्ञादिद्विकमपि ध्वनयति । तद्यथा–त्रसादयो दशप्रकृतयस्त्रसादिदशकं, स्थावरादयो दश स्थावरादिदशकमिति । तेनान्यत्र त्रसादिग्रहणे एता एव त्रसा-

दयो दश प्रकृतयः प्रतिपत्तव्याः, स्थावरादिदशकग्रहणे च त्रसादिप्रतिपक्षभूताः स्थावरादयो दश ॥८॥

उक्ता नामोत्तरप्रकृतयो द्विचत्वारिंशत् , पिण्डप्रकृतिप्रभेदानाह—

गइयाइयाणं भेया चउ पण पण ति पण पंच छ छक्कं । पण दुग पणट्ठ चउ दुग पिंडुत्तरभेय पणसट्ठी ॥९॥

(स्वो०)—'गत्यादिकानां भेदाश्चतुष्पञ्च पञ्च त्रिःपञ्च पञ्च षट् षट्कं । पञ्च द्विकं पञ्चाष्टौ चतुर्द्विकं पिण्डोत्तरभेदाः पञ्चषष्टि'—रिति पदानि । पदार्थस्तु गाथाचतुष्टयस्यापि (उच्यते)—गतिरेवादिर्यासां चतुर्दशानां पिण्डप्रकृतीनां ता गत्यादयस्तासां यथासंख्येनैते प्रभेदा द्रष्टव्याः । गतिनाम चतुर्विधं सुरनरतिर्यग्नरकगतिभेदाद् , गमनं गतिः । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातिभेदात् पञ्चधा जातिः, जननं जातिः । औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात् पञ्चधा शरीरं, शीर्यत इति शरीरम् । औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं आहारकाङ्गोपाङ्गमिति त्रिधा अङ्गोपाङ्गम् । औदारिकौदारिकबन्धनं वैक्रियवैक्रियबन्धनं आहारकाहारकबन्धनं तैजसतैजसबन्धनं कार्मणकार्मणबन्धनं, औदारिकशरीरपुद्गलानां औदारिकैः पुद्गलैः सह संश्लेषः पाषाणयोर्वज्रलेपेनेवेति पञ्चधा बन्धनम् । एवमौदारिकपुद्गलानां औदारिकपुद्गलैः सह सुश्लिष्टसन्धिसञ्चयकरणं यतः काष्ठयोरिव स सङ्घातः, स च शरीरभेदात् पञ्चधा द्रष्टव्यः । संहननं षड्विधं, वज्रऋषभनाराचं प्रथमं, ऋषभनाराचं द्वितीयं, नाराचं तृतीयं, आर्द्धनाराचं चतुर्थं, कीलिका पञ्चमं, छिन्नानि—अन्तरितानि पुष्टानि—अस्थीनि येन प्रभवता तच्छिन्नपुष्टं षष्ठं संहननं, तानि चास्थिविन्यासविशेषतो भवन्ति, 'रिसहो य होइ पट्टो' इत्यादिप्रतिपादितत्वाद् । आह—यद्येवं विकलेन्द्रियाणां संहननोदयोऽस्थ्यभावेऽपि कथं भवति? इत्युच्यते—योऽयमस्थिविन्यासविशेषोऽभिहितोऽसौ बलप्रकर्षख्यापको भवति, अन्यथोभयग्रहपट्टकीलिकास्थियन्त्रे सति गात्रसङ्कोचविकाशाभावः सम्भाव्यते, अतः पिपीलिकादीनां क्षुद्रसत्त्वानां यद्यप्य-

स्थीनि न सम्भाव्यन्ते तथापि कायबलमधिकृत्य संहननमुच्यते, यथाऽस्थिसद्भावेऽपि अल्पबलः पुरुषोऽसंहननः, अथवा शङ्खादीनां द्वीन्द्रियाणामपि दृश्यन्त एव, पिपीलिकादीनां तु सूक्ष्मत्वात्केवलिगम्यानीत्यलं प्रसङ्गेनेति। संस्थानमपि षड्विधमेव, समचतुरस्रं प्रथमं, न्यग्रोधमण्डलं द्वितीयं, स्वाति तृतीयं, वामनं चतुर्थं, कुब्जं पञ्चमं, हुण्डं षष्ठं, चकारोऽन्यमतसूचकः, केचिद्वामनसंस्थानं पञ्चमस्थानेऽभिदधति, एषां लक्षणं 'तुल्लं वित्थरबहुलं' इत्यादिना प्रतिपादितम्, सम्यक् स्थीयन्ते येषु प्राणिभिस्तानि संस्थानानि। वर्णः पञ्चप्रकारः-श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णाख्यः। गन्धो द्विधा-सुगन्धो दुर्गन्धश्च। रसः पञ्चधा-मधुराम्लकषायकटुकतिक्ताख्यः। स्पर्शोऽष्टधा-गुरुलघुमृदुकर्कशस्निग्धरूक्षशीतोष्णलक्षणः। भवाद् भवं नयत्यानुपूर्व्या यया साऽनुपूर्वी वृषभाकर्षणरज्जुकल्पा, सा च चतुर्द्धा, गतिवत्। विहायसा गतिर्विहायोगतिः, सा द्विविधा प्रशस्ता अप्रशस्ता च, गजहंसादीनां प्रशस्ता, खरकरभादीनामप्रशस्ता। एवं चतुर्दशस्वपि पिण्डप्रकृतिषु पञ्चषष्टिरुत्तरभेदा भवन्ति। अगुरुलघुनामकर्मोदयात् स्वशरीरं न गुरु नापि लघु प्रतिभाति। स्वशरीरोपहननमित्युपघातः। स्वशरीरबलप्रतापादिभिः परस्याभिभवनं पराघातः। ऊर्ध्वं वातोद्गमो यः स उच्छ्वासः। एतच्च अगुरुलघुचतुष्कं। एवं वर्णगन्धरसस्पर्शा अपि वर्णादिचतुष्कं तज्जातिग्रहणात्। सूर्यविमानरत्नपृथिवीजीवजनितदाहो यस्तदातपनाम। शशितारकमणिजलकाष्ठादिविमलत्वप्रकर्षो यस्तदुद्योतनाम। आह-आतपोद्योतयोः परस्परविरुद्धयोरप्यग्निकायिकेषु युगपदुदयो दृश्यत इति कथम्? इत्युच्यते-तेषां यदुष्णत्वं तत्तैजसशरीरस्योदयप्रबलत्वात् प्रभूतजीवत्वाच्चैष्ट्यम्, नातपोदय इति, यच्च प्रकाशकत्वं तद्रक्तवर्णस्यातिस्फुटत्वान्नैवोद्योतनामकर्मोदयः, अग्निवायुकायिकेषूभयोरप्यागमे निषिद्धत्वादिति। यदुदयात् स्वजात्यनुरूपाण्यङ्गोपाङ्गानि निष्पद्यन्ते तन्निर्माणनाम। यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्ययुक्ताश्चतुस्त्रिंशदतिशया अनुभूयन्ते तत्तीर्थकरनाम, एता गाथायुग्मोपन्यस्ताः त्रिसप्ततिः नामप्रकृतय इति। 'त्रसी उद्वेजने'

त्रसनामकर्मोदयात्त्रसाः, तद्विपक्षनामोदयात् स्थावराः, बादरनामकर्मोदयाद्बादराः, न स्थूरत्वविवक्षयैव, यतः पृथिव्युदककायिका(दी)-नामसंख्येयजीवानां शरीरपिण्डो दृष्टिगोचरमायात्यतो बादरनामोदयिन एव बादराः, तद्विपक्षनामोदयात् सूक्ष्माः, स्वजात्युचितपर्याप्ति-लब्धियोग्याः पर्याप्तकाः, तद्विपक्षनामोदयादपर्याप्तकाः, स्वप्रदेशैरेकं शरीरमौदारिकवैक्रियाहारकान्यतरद् व्याप्तं यदुदयाज्जीवेन तत्प्रत्ये-कनाम, यदुदयात्पुनरनन्तजीवैरप्येकमेवौदारिकं शरीरं व्याप्तं तत्साधारणनाम, स्थिरनामकर्मोदयात् स्थिररूपाणि जीवानामङ्गोपाङ्गानि भवन्ति, अस्थिरनामोदयादस्थिराणि, शुभनामोदयात् शुभान्यङ्गोपाङ्गानि शिरोहस्तकल्पानि, अशुभनामकर्मोदयादशुभान्यङ्गोपाङ्गानि बस्तिपादकल्पानि, सुस्वरनामकर्मोदयाज्जीवानां हंसस्वरकल्पः स्वरो भवति, दुःस्वरनामकर्मोदयात् काकोलूकस्वरकल्पः स्वरो भवति, सुभगनामकर्मोदयादुपकारक्रियारहितोऽपि जनप्रियो भवति, दुर्भगनामकर्मोदयादुपकारं कुर्वन्नपि जनाप्रियो भवति। आह चोदकः–'सुभ-गदुभगाण कम्मा–णुदयेऽवि न विज्जए (विसेसोसिं) तह विसेसो। जमुइण्णेऽवि हु सुभगे न सव्वजणवल्लहो होइ ॥१॥" उच्यते– "संखाईया भेया उदयविसेसेण सव्वपगईणं। तक्कालुदयविसेसा होंति पिओ अप्पिओ वाऽवि ॥१॥ अणुवकएवि बहूणं जो हु पिओ तस्स सुभगनामुदओ। उवगारकारगोऽविहु न रुच्चए दुब्भगस्सुदए ॥२॥ सुभगुदयेऽवि कोई किंची आसज्ज दुब्भगो जइवि। जायइ तद्दोसाओ जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥३॥"। आदेयनामकर्मोदयाद् ग्राह्यवाक्यो भवति, अनादेयकर्मोदयादग्राह्यवाक्यो भवति। आह–चोदकः–"दोण्हवि एयाणुदओ जुगवं पच्चक्खसिद्धिओ सिद्धो। जं तुल्लंपि हु भणियं, करोति एको न उण अण्णो ॥१॥" उच्यते– "एगो करेइ रागा बीओ न करेइ दोसबाहुल्ला। को तस्स वक्कवंतस्साएज्जणाएज्जयाणुदओ ॥१॥" पगरिसपत्ताएज्जे हियमियफुडस-च्चवक्कया होइ। विवरीए एयं चिय विवरीयं अनयवाइत्तं ॥२॥। यशःकीर्त्तिनामोदयादुदासजनप्रशस्यो भवति, अयशःकीर्त्तिनामोद-

यादुदास्यजनैर्निन्दितस्वभावो भवति। आह चोदकः—"तस्सेव केइ जसकित्तिकित्तया अजसकित्तया अण्णे। पायो राईणं बेंति अतिएसं इंदयाईणं ॥१॥" उच्यते—"जइ कहवि धाउवेसम्मयाइ दुद्धंपि जायए कडुयं। निंबो महुरो कस्सइ न पमाणं तहवि तं होइ ॥२॥ विवरीयदव्वगुणभासणाए अपमाणया उ तस्सेव। सग्गुण विसयं तम्हा जाणे जसकित्तिनामं तु ॥३॥" एता विंशतिर्यतस्त्रसादयो दश दश स्थावरादयश्च, त्रसादिचतुष्कं स्थिरादिषट्कं सूक्ष्मादित्रिकं एवमादयोऽन्तर्गणास्तु उभयत्रावगन्तव्याः, एवं च त्रिनवतिर्नामोत्तरप्रकृतयो भवन्ति। तृतीयगाथाचकारोऽन्याचार्यमते त्र्युत्तरनामप्रकृतिशतख्यापकः, तच्च पञ्चदशभेदबन्धनतो भवति, इति गाथार्थः ॥९॥

(मलय०)—तदेवमभिहिता नामकर्मण उत्तरप्रकृतयः। सम्प्रति पूर्वोक्तास्वेव गत्यादिषु पिण्डप्रकृतिषु यत्र यावन्तो भेदाः प्रत्येकं वर्त्तन्ते, सर्वसङ्कलनया च यावन्तो भवन्ति तावतः प्रतिपिपादयिषुराह—गत्यादीनां गतिजातिप्रभृतीनां चतुर्दशसंख्यानां पिण्डप्रकृतीनां यथाक्रमं चतुरादयो द्विकपर्यन्ता उत्तरभेदा अवान्तरभेदा भवन्ति। तद्यथा—गतेश्चत्वारः, जातेः पञ्च, शरीरस्य पञ्च, अङ्गोपाङ्गस्य त्रयः, बन्धननाम्नः पञ्च, सङ्घातनाम्नः पञ्च, संहननस्य षट्, संस्थानस्य षट्, वर्णस्य पञ्च, गन्धस्य द्वौ, रसस्य पञ्च, स्पर्शस्याष्टौ, आनुपूर्व्याश्चत्वारो, विहायोगतेर्द्वाविति। एते च गत्यादीनां पिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदाः सर्वेऽपि प्रागेव गत्यादिस्वरूपनिरूपणावसरे यथाक्रमं प्रपञ्चेनाभिहिताः इति न भूयोऽभिधीयन्ते। सर्वसंख्यया च पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिः पञ्चषष्टिसंख्या भवन्ति, प्रत्येकप्रकृतयः सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिः, सर्वमीलने च त्रिनवतिनामोत्तरप्रकृतयः ॥९॥

बन्धोदयसत्प्रकृतिसंख्याजनितसम्मोहापनोदायाह—

ससरीरंतरभूया बंधणसंघायणा उ बंधुदए। वण्णाइविगप्पावि हु बंधे नो सम्ममीसाइं ॥१०॥

(स्वो०)—'स्वशरीरान्तर्भूता बन्धनसङ्घातास्तु बन्धोदये वर्णादिविकल्पा अपि हु बन्धे नो सम्यक्त्वमिश्रे' इति पदानि। पदार्थस्तु-'स्वशरीरान्तर्भूताः' स्वशरीरान्तर्गता बन्धनसङ्घातनप्रकृतयो द्रष्टव्याः, किमुक्तं भवति ?–औदारिकशरीरग्रहणे औदारिकबन्धनसङ्घातनप्रकृतयोऽपि गृहीता एवाविनाभावित्वाद् द्रष्टव्याः, एवं सर्वशरीराणाम्। बन्धश्चोदयश्च बन्धोदयस्तस्मिन्, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?–तेषां स्थित्युदयबन्धकालाः स्वशरीरतुल्या ज्ञेयाः। वर्णादीनां विकल्पाः वर्णविकल्पाः वर्णगन्धरसस्पर्शविकल्पास्तत्प्रतिभेदाः षोडश बन्धोदयं प्रति ध्रुवत्वाद् वर्णगन्धरसस्पर्शग्रहणे गृहीता एव द्रष्टव्याः,अतो द्वाविंशत्यधिकं शतमुदये भवति, बन्धे तु सम्यक्त्वमिश्रे अपि नो भवतः, यतः परिणामपरिणत्या तदेव मिथ्यात्वं त्रिधा परिणमयति बन्धेऽतो विंशत्यधिकं शतं, शेषप्रकृतीनां निरर्थकत्वादुच्चारणं न क्रियते, हुरिति निपातः स चाधिकार्थसूचकः, शुभाशुभप्रकृतिविवक्षायां चतुर्विंशत्यधिकं शतं भवति, तच्चाव्यक्तवर्णादिचतुष्टयस्य शुभाशुभत्वद्वैविध्यकरणेन भवति इति गाथार्थः ॥१०॥

(मलय०)—इह बन्धे प्रकृतीनां विंशत्युत्तरं शतमधिक्रियते, उदये द्वाविंशं, सत्तायामष्टचत्वारिंशदधिकमष्टपञ्चाशदधिकं वा। तत्र यतो विवक्षातः कारणान्तरतो वा बन्धादावित्थं प्रकृत्युपादानवैचित्र्यं तत्प्रतिपादनार्थमाह–बन्धे उदये च चिन्त्यमाने यानि बन्धनानि सङ्घातनामानि वा, तानि सर्वाण्यपि स्वशरीरान्तर्भूतानि स्वशरीरान्तर्गतानि विवक्ष्यन्ते। तद्यथा–औदारिकबन्धनसङ्घातनाम्नी औदारिकशरीरेऽन्तःप्रविष्टे विवक्ष्येते, वैक्रियबन्धनसङ्घातनाम्नी वैक्रियशरीरे, आहारकबन्धनसङ्घातनाम्नी आहारकशरीरे, तैजसबन्धनसङ्घातनाम्नी तैजसशरीरे, कार्मणबन्धनसङ्घातनाम्नी कार्मणशरीरे। तथा ये वर्णादीनां वर्णगन्धरसस्पर्शानां विकल्पा उत्तरभेदा यथाक्रमं पञ्चद्विपञ्चाष्टसंख्याः, तेऽपि हुर्निश्चितं बन्धे उदये च न विवक्ष्यन्ते, किं तु वर्णादय एव चत्वारः। तथा बन्धे चिन्त्यमाने ये दर्शन-

मोहनीयोत्तरप्रकृती सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे, ते अपि न गृह्येते, तयोर्बन्धासम्भवात्। तथाहि–मिथ्यात्वपुद्गला एव मदनकोद्रवस्थानीया गोमयाद्यौषधविशेपकल्पेन सम्यक्त्वानुगुणविशोधिविशेषेण त्रिधा क्रियन्ते। तद्यथा–शुद्धा अर्द्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च। तत्र ये सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणां शुद्धिमापादितास्ते शुद्धाः, ते च सम्यक्त्वमिति व्यवह्रियन्ते। ये त्वीषद्विशुद्धिमापादितास्ते अर्द्धविशुद्धाः, ते च सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाजः। येषां तु मनागपि न शुद्धिरापादिता किं तु मिथ्यात्वरूपतयैव स्थितास्ते अविशुद्धाः। उक्तं च–"सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत्स मिथ्यात्वं। यद्वत्सकृतप्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥१॥ यत्सर्वथापि तद्विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वं। मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२॥" ततो न भवति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्बन्धः। तथा च सति बन्धचिन्तायां बन्धनपञ्चकं, सङ्घातपञ्चकं, वर्णादिषोडशकं च नाम्नस्त्रिनवतेरपनीय शेषा सप्तषष्टिः परिगृह्यते, मोहनीयप्रकृतयश्च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वहीनाः शेषाः षड्विंशतिः, ततः सर्वप्रकृतिसंख्यामीलने बन्धे विंशत्युत्तरं प्रकृतीनां शतं भवति। उदये च चिन्त्यमाने सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे अप्युदयमायात इति ते अपि परिगृह्येते, तत उदये द्वाविंशं प्रकृतिशतम्। सत्तायां चिन्त्यमानायां बन्धनपञ्चकं सङ्घातपञ्चकं वर्णादिषोडशकं च पूर्वापनीतं परिगृह्यते, ततः सर्वसंख्यया प्रकृतीनामष्टचत्वारिंशं शतं भवति। उक्तं च कर्मस्तवे–"अडयालं पयडिसयं खविय जिण निव्वुयं वंदे।" यदा पुनर्गर्गर्षिशिवशर्मप्रभृत्याचार्यान्तरमतेनाष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतिशतं सत्तायामधिक्रियते, तदा बन्धनानि पञ्चदश विवक्ष्यन्ते, ततोऽष्टचत्वारिंशदधिकस्य प्रकृतिशतस्य पूर्वोक्तस्योपरि बन्धनगता दश प्रकृतयोऽधिकाः प्राप्यन्ते, इति भवत्यष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतिशतम् ॥१०॥

वेउव्वाहारोरालियाण सगतेयकम्मजुत्ताणं। नव बंधणाणि इयर दुजुत्ताणं तिण्णि तेसिं च ॥११॥

(स्वो०)—'वैक्रियाहारकौदारिकाणां स्वकतैजसकार्मणयुक्तानां नव बन्धनानि, इतरद्वियुक्तानां त्रीणि तेषु चेति पदानि। अर्थघटना त्वेवम्–वैक्रियशरीरपुद्गलाः स्वकैरिति वैक्रियशरीरपुद्गलैरेव सहानुबद्धा यतो भवन्ति तत्प्रथमं बन्धनं, त एव वैक्रियशरीरपुद्गलाः तैजसशरीरपुद्गलैः सहानुबद्धाः द्वितीयं बन्धनं, त एव वैक्रियशरीरपुद्गलाः कार्मणशरीरपुद्गलैः सहानुबद्धाः तृतीयं बन्धनं, एवमाहारकशरीरेऽपि बन्धनत्रयं, औदारिकेऽपि, एवं नव बन्धनानि भवन्ति, इतरद्विशरीरपुद्गलानां संश्लेषो यस्तत्तेषां बन्धनं, औदारिकतैजसकार्मणबन्धनम् , एवं वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनं आहारकतैजमकार्मणबन्धनं, एवमेतत्त्रिकसहितानि नव द्वादश, तयोश्च तैजसकार्मणयोः त्रीणि, तैजसशरीरपुद्गलैः सह संश्लेषो यस्तत्तैजसतैजसबन्धनं, एवं कार्मणकार्मणबन्धनं, तैजसकार्मणबन्धनं, एवमेतत्त्रिकेण सह पञ्चदश। आह–पञ्चानां शरीराणां द्विकादिषड्विंशतिसंयोगा भवन्ति, तत्तुल्यबंधनानि च कस्मान्न भवन्ति? इत्यत्रोच्यते–वैक्रियाहारकौदारिकाणां परस्परविरुद्धानामन्योऽन्यं सम्बन्धाभावात् पञ्चदशैवेति। आह–यदि पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति, अतोऽनेनैव क्रमेण संघाता अपि कस्मान्नाभिधीयन्ते, यथा पाषाणयुग्मस्यापि कृतसंघातस्योत्तरकालं वज्रलेपादिना बन्धनं क्रियते, अत्रोच्यते–स्वशरीरपुद्गलानां स्वशरीरपुद्गलैः सह यानि बन्धनानि तानि शुभानि, लोकेऽपि स्वजातौ संयोगाः शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव सङ्घाता अभिहिताः, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥११॥

(मलय०)—अथ कथं बन्धनानि पञ्चदश भवन्तीति शिष्यप्रश्नावकाशमाशङ्क्य बन्धनपञ्चदशकप्ररूपणार्थमाह–वैक्रियाहारकौदारिकाणां प्रत्येकं स्वकतैजसकार्मणयुक्तानां, स्वकमात्मीयं, किमात्मीयमिति चेत् ,उच्यते–वैक्रियस्य वैक्रियं, आहारकस्याहारकं, औदारिकस्यौदारिकं, तेन स्वकेन तैजसेन कार्मणेन च प्रत्येकं सहितानां बन्धनानि चिन्त्यमानानि नवसंख्यानि भवन्ति। तद्यथा–वैक्रियवैक्रि-

यबन्धनं, वैक्रियतैजसबन्धनं, वैक्रियकार्मणबन्धनं, आहारकाहारकबन्धनं, आहारकतैजसबन्धनं, आहारककार्मणबन्धनं, औदारिकौदारिकबन्धनं, औदारिकतैजसबन्धनं, औदारिककार्मणबन्धनं चेति। तत्र पूर्वगृहीतवैक्रियपुद्गलानां स्वैरेव वैक्रियपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह सम्बन्धो वैक्रियवैक्रियबन्धनम्। तेषामेव वैक्रियपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धो वैक्रियतैजसबन्धनम्। तथा तेषामेव वैक्रियपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धो वैक्रियकार्मणबन्धनम्। तथा पूर्वगृहीतानामाहारकपुद्गलानां स्वैरेवाहारकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः सम्बन्धः स आहारकाहारकबन्धनम्। तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध आहारकतैजसबन्धनम्। तथा तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध आहारककार्मणबन्धनम्। तथा पूर्वगृहीतानामौदारिकपुद्गलानां स्वैरेवौदारिकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः सम्बन्धः स औदारिकौदारिकबन्धनम्। तेषामेवौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध औदारिकतैजसबन्धनम्। तथा तेषामेवौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध औदारिककार्मणबन्धनम्। तथा 'इयर दुजुत्ताणं तिण्णि' त्ति–इतराभ्यां तैजसकार्मणाभ्यां द्वाभ्यां समुदिताभ्यां युक्तानां वैक्रियाहारकौदारिकाणां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति। तद्यथा–वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनं, आहारकतैजसकार्मणबन्धनं, औदारिकतैजसकार्मणबन्धनम्। तत्र वैक्रियपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानां च पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां वा यः परस्परसम्बन्धस्तद्वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनम्। एवमाहारकतैजसकार्मणबन्धनौदारिकतैजसकार्मणबन्धनयोरपि भावनाऽनुसर्त्तव्या। अनेन च बन्धनत्रिकेण सह पूर्वोक्तानि नव बन्धनानि द्वादश भवन्ति। तथा 'तेसिं च' त्ति -तयोश्च

तैजसकार्मणयोः स्वस्थाने परस्परं च बन्धनचिन्तायां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तद्यथा–तैजसतैजसबन्धनं, तैजसकार्मणबन्धनं, कार्मणकार्मणबन्धनम् । तत्र तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां स्वैरेव तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः परस्परसंबन्धस्तत्तैजसतैजसबन्धनम् । तेषामेव तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धस्तैजसकार्मणबन्धनम् । तथा कार्मणपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां स्वैरेव कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह सम्बन्धः कार्मणकार्मणबन्धनम् । एतैश्च त्रिभिर्बन्धनैः सहितानि पूर्वोक्तानि द्वादश बन्धनानि पञ्चदश भवन्ति । एतन्निमित्तभूतानि च यानि बन्धननामकर्माणि, तान्यपि पञ्चदश ॥११॥

संघातसाम्यद्वारेणाभिहितबन्धनान्तर्गतबन्धनभेदप्राधान्यख्यापनायाह–

ओरालियाइयाणं संघाया बंधणाणि य सजोगे । बंधसुभसंतउदया आसज्ज अणेगहा नामं ॥१२॥

(स्वो०)—औदारिकादीनां संघाताः बन्धनानि च स्वयोगे बन्धशुभसदुदयानाश्रित्यानेकधा नामेति पदानि । पदार्थस्तु औदारिकादीनां शरीराणां स्वसंयोगात् पञ्च संघाता बन्धनानि च भवन्ति, तानि च प्रागभिहितान्येव, संघाताः बन्धनवद् द्रष्टव्या इति हृदयम् । बन्धमाश्रित्य विंशत्यधिकं प्रकृतिशतं, शुभाशुभत्वमाश्रित्य चतुर्विंशत्यधिकं शतं, सत्कर्म समाश्रित्याष्टचत्वारिंशदुत्तरं शतं अष्टपञ्चाशदधिकं वा, उदयमाश्रित्य द्वाविंशत्यधिकं प्रकृतिशतं भवति, तच्च प्राग्गाथायां भावितमेव यथा भवति । नामयतीति नामकर्मेति गाथार्थः ॥१२॥

(मलय०)—ये तु पञ्चदशबन्धनानि न विवक्षन्ते, किन्तु पञ्चैव, तन्मतेन संप्रति बन्धनपञ्चकं, तत्समानवक्तव्यत्वात्संघातपञ्चकं च व्याख्यानयन्नाह–औदारिकादीनामौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानां स्वयोगे स्वैः स्वैः पुद्गलैर्योगे संघाता बन्धनानि च भवन्ति

न परपुद्गलयोगे, तस्याविवक्षणात् । इयमत्र भावना–यद्यप्यौदारिकादिपुद्गलानां परपुद्गलैरपि तैजसादिसंबन्धिभिः सह संयोगो भवति, संयोगश्चात्र बन्धनमुच्यते, बन्धनं च न संघातमन्तरेण, "नासंहतस्य बंधनमिति" न्यायात् । तथापि स परपुद्गलैः सह संयोगः सन्नपि न विवक्ष्यते, तेन पञ्चैव संघाताः पञ्चैव च बन्धनानि भवन्ति । आह–ननु ये पञ्चदश बन्धनानि मन्यन्ते, तन्मतेन "नासंहतस्य बंधनमिति" न्यायात्संघातनामान्यपि पञ्चदश प्राप्नुवन्ति, तत्कथं न तेषां पूर्वापरव्याहतिः ? नैष दोषः, तैः संघातनाम्नोऽन्यथालक्षणकरणात् ।[ग्रन्थाग्रम् ४०००]। तथाहि–ते व्यावर्णयन्ति–न पुद्गलसंहतिमात्रनिमित्तं संघातनामकर्म, पुद्गलसंहतिमात्रस्य ग्रहणमात्रादेव सिद्धत्वात् । किं त्वौदारिकादिशरीररचनानुकारिसंघातविशेषनिमित्तं, तेन पञ्चैव संघातनामानि भवन्ति । तद्यथा–औदारिकसंघातनाम, वैक्रियसंघातनाम, आहारकसंघातनाम, तैजससंघातनाम, कार्मणसंघातनाम । तत्र यदौदारिकशरीररचनानुकारिसंघातविशेपनिमित्तं तदौदारिकशरीरसंघातनाम । एवं वैक्रियसंघातनामादीन्यपि भावनीयानि। युक्तं चैतल्लक्षणं ततो न कश्चिद्दोषः । तदेवं नामकर्मवक्तव्यतामभिधाय सम्प्रति तदुपसंहारमाह–बन्धं प्रागुक्तस्वरूपम् । 'सुभ' त्ति–पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् शुभाशुभत्वम् , सन्तमिति सत्तां, उदयं चाश्रित्य विभज्यमानं नामकर्म अनेकधा भवति। तथाहि–बन्धं उदयं चाश्रित्य वर्णादिषोडशकबन्धनपञ्चकसंघातपञ्चकापनयनात्सप्तषष्ठ्युत्तरप्रकृतिसंख्यम् । तथा शुभाशुभत्वचिन्तायां द्विधा वर्णादिचतुष्कं प्राप्यते, तद्यथा–शुभमशुभं च । ततः शुभप्रकृतिचिन्तायामशुभप्रकृतिचिन्तायां च प्रत्येकं वर्णादिचतुष्कं प्रक्षिप्यते, इति सर्वशुभाशुभप्रकृतिमीलने एकसप्तत्युत्तरप्रकृतिसंख्यम् । सत्तायां च चिन्त्यमानायां वर्णादिविंशतेः संघातपञ्चकस्य बन्धनपञ्चकस्य च परिग्रहात्त्रिनवत्युत्तरप्रकृतिसंख्यम् । अत इत्थं संख्याभेदमधिकृत्यानेकप्रकारं नाम भवति ॥१२॥

वर्णादिचतुष्कस्य द्विधोपन्यस्तस्योत्तरभेदानां शुभाशुभाभिधित्सयाऽऽह–

नीलकसीणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं । सीयं च असुभनवगं एगारसगं सुभं सेसं ॥१३॥

(स्वो०)—नीलं कृष्णं दुर्गन्धं तिक्तं कटुकं गुरु कर्कशं रूक्षं शीतं चाशुभनवकं एकादशकं शुभं शेषं' पदानि । पदार्थस्तु–नील-कृष्णवर्णावशुभौ दुर्गन्धः तिक्तकटुकरसौ गुरुकर्कशरूक्षशीतस्पर्शाश्चाशुभनवकं, 'शेष' मिति शुक्लपीतरक्तवर्णाः सुगन्धो मधुराम्लकषायरसाः लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इत्येकादशकं शुभं, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥१३॥

(मलय०)—इह वर्णादिचतुष्कं शुभप्रकृतिचिन्तायामशुभप्रकृतिचिन्तायां चावतरति, एतच्चानन्तरमेवाभिहितम् । न च येनैव रूपेण शुभं तेनैवाशुभं भवितुमर्हति, विरोधात् , किन्तूत्तरविभागापेक्षया, ततस्तानेवोत्तरभेदान् विभागतः शुभाशुभान् प्ररूपयति–वर्णनाममध्ये- नीलं नीलवर्णनाम, कृष्णं कृष्णवर्णनाम । गन्धनाममध्ये दुरभिगन्धनाम । रसनाममध्ये तिक्तं तिक्तरसनाम, कटुकं कटुकरसनाम । स्पर्शनाममध्ये गुरु गुरुस्पर्शनाम, खरं कर्कशस्पर्शनामेत्यर्थः, रूक्षं रूक्षस्पर्शनाम, शीतं शीतस्पर्शनाम, चः समुच्चये, एतत् , अशुभनवकं अशुभवर्णादिनवकं, शेषं शुक्लपीतरक्तवर्णनाम, सुरभिगन्धनाम, मधुराम्लकषायरसनाम, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शनामलक्षणमेकादशकं शुभं शुभरूपं द्रष्टव्यम् ॥१३॥

सर्वप्रकृतीनां स्वरूपप्रतिपादिकां द्वारगाथामाह–

धुवबंधिधुवोदयसव्वघाइपरियत्तमाणअसुभाओ । पंच य सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥१४॥

(स्वो०)—ध्रुवबन्धिध्रुवोदयसर्वघातिपरावर्त्तमानाशुभाः पञ्चापि सप्रतिपक्षाः प्रकृतयो विपाकतश्च चतुर्धेति पदानि, पदार्थस्तु–

प्रतिपदं सूत्रकार एव वक्ष्यति ॥१४॥

(मलय०)—तदेवमुक्ताः सर्वकर्मणामुत्तरप्रकृतयः, सम्प्रति तासामेव ध्रुवाध्रुवबन्धित्वादिविभागप्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह—इह प्रकृतयः सामान्यतो भेदसंख्यया चिन्त्यमाना दशविधा भवन्ति । तद्यथा—ध्रुवबन्धिन्यो, ध्रुवोदयाः, सर्वघातिन्यः, परावर्त्तमाना, अशुभाश्च, एताश्च पञ्चापि सप्रतिपक्षा अध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतिसहिताः, ततो भेदसंख्यया परिभाव्यमाना दशविधा भवन्ति । 'पंच य' इत्यत्र चशब्दात् ध्रुवसत्ताका अपि सप्रतिपक्षा वेदितव्याः । तत्र ध्रुव आ बन्धकालव्यवच्छेदादर्वाक् सर्वकालावस्थायी बन्ध उक्तस्वरूपः, ततो विशेषणसमासः, स ध्रुवबन्धो विद्यते यासां ता ध्रुवबन्धिन्यः, तद्विपरीता अध्रुवबन्धिन्यः । तथा ध्रुव आ उदयकालव्यवच्छेदादर्वाक् सर्वकालावस्थायी उदयो विपाकानुभवनलक्षणो यासां ता ध्रुवोदयाः, तद्विपरीता अध्रुवोदयाः । तथा सर्वमात्मघात्यं ज्ञानादिरूपं गुणं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यः, तत्प्रतिपक्षभूता देशघातिन्यः सर्वघातिप्रतिभागा[१] वा । तत्रात्मघात्यस्य ज्ञानादेर्गुणस्य देशं घातयन्तीत्येवंशीला देशघातिन्यः, तथा सर्वघातिप्रकृतिसम्पर्कतः सर्वघातिप्रकृतीनां प्रतिभागः सादृश्यं भवति यासां ताः सर्वघातिप्रतिभागाः । किमुक्तं भवति ? स्वरूपेणाघातिन्योऽपि याः सर्वघातिप्रकृतिसंपर्कतः स्वविपाकमतीव दारुणमादर्शयन्ति, ताः सर्वघातिभिः सह दारुणविपाकतया सादृश्यं भजन्ते इति सर्वघातिप्रतिभागाः । तथा यासां प्रकृतीनां बन्ध उदयो वा अन्यया प्रकृत्या बध्यमानया वेद्यमानया वा निरुध्यते, प्रकाशेनेव तमः, तास्तदा तदा प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धोदयसम्भवे यथायोगं स्वबन्धोदयहेतुसंनिधानतो बन्धमुदयं वाऽऽश्रित्य परावर्त्तन्ते भूयो भवन्तीति परावर्त्तमानाः, तद्विपरीता अपरावर्त्तमानाः । तथा न विद्यते शुभो विपाको यासां ता अशुभाः,

१ 'सर्वघातिप्रतिभागाः, अघातिन्यः इत्यर्थः ।

ध्रुवाध्रुव बन्धित्वादिविभागः

तद्विपरीताः शुभाः । तथा ध्रुवा आ व्यवच्छेदकालादर्वाक् सकलकालभाविनी सत्ता यासां ता ध्रुवसत्ताकाः, तद्विपरीता अध्रुवसत्ताकाः। एताः सर्वा अपि यथायोगमुत्तरत्र वक्तव्याः । तथा विपाकतो विपाकमधिकृत्य चतुर्धा चतुष्प्रकाराः, तद्यथा-पुद्गलविपाकिन्यो भवविपाकिन्यः क्षेत्रविपाकिन्यो जीवविपाकिन्यश्च । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥१४॥

ध्रुवबन्धिप्रकृतिप्रतिपादनायाह-

नाणंतरायदंसण धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा । अगुरुलघु निमिण तेयं उवघायं वण्णचउ कम्मं ॥१५॥

(स्वो०)—'ज्ञानान्तरायदर्शनकषायमिथ्यात्वभयजुगुप्साः ध्रुवबन्धिन्यः अगुरुलघु निर्माणं तैजसं उपघातं वर्णचतुः कार्मणं' इति पदानि, प्राकृतत्वाच्छन्दोवशाच्चैवं द्रष्टव्यानि । पदार्थस्तु आवरणशब्दलोपात् 'ज्ञाने'ति-ज्ञानावरणं, सामान्यभणनात् पञ्चप्रकारं, एवमन्तरायमपि । दर्शनावरणं नवप्रकारं, कषायाः षोडशप्रकाराः, आह-एतेऽपि सामान्यग्रहणात् पञ्चविंशतिविधाः कथं न गृह्यन्ते ?, ननु भयजुगुप्सयोरुत्तरग्रहणानर्थक्यादत्र षोडशप्रकारा एव ते ग्राह्याः, तथा मिथ्यात्वभयजुगुप्साः, एता अष्टत्रिंशद् घातिकर्मप्रकृतयः, अगुरुलघुनाम निर्माणनाम तैजसनाम उपघातनाम वर्णगन्धरसस्पर्शनाम कार्मणनामेति नवाघातिकर्मप्रकृतयः, एवं सर्वा अपि सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, बन्धमाश्रित्य ध्रुवाध्रुवत्वं अतो विंशत्युत्तरशतमत्राधिकृतमुत्तरभेदास्तु प्राग्वत्तदन्तर्गता एव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥

(मलय०)—संप्रत्येनामेव विवरीतुकामः प्रथमतो 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायाद् ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीराह-ध्रुवबन्धिन्यः प्रागुक्तशब्दार्थाः प्रकृतयः सप्तचत्वारिंशद्भवन्ति, तद्यथा-'नाण' त्ति-ज्ञानावरणं, तच्च सामान्यनिर्देशात्पञ्चप्रकारमपि गृह्यते, एवमन्तरायं पञ्चप्रकारं, 'दंसण'त्ति-दर्शनावरणं नवप्रकारं, षोडश कषायाः, मिथ्यात्वं, भयं, जुगुप्सा, एता अष्टत्रिंशत्संख्या घातिप्रकृतयो ध्रुव-

बन्धिन्यः। संप्रति नामकर्मणो ध्रुवबन्धिनीः पृथग् निर्दिशति–'अगुरुलघु' इत्यादि, अगुरुलघु निर्माणं तैजसं उपघातं वर्णादिचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं कार्मणं च, एताः सर्वसंख्यया नव, एतासां च पृथग् निर्देशो यत्र कुत्रापि सामान्यतो नामध्रुवबन्धिन्य उपादीयन्ते, तत्र सुखेनासां परिग्रहो यथा स्यादित्येवमर्थः। सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्य०। अथ का ध्रुवबन्धिनी प्रकृतिः किं गुणस्थानं यावन्निरंतरं बध्यमाना प्राप्यते? उच्यते–मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं यावत् ध्रुवबन्धि, परतो मिथ्यात्वोदयाऽभावतस्तद्बन्धाभावात्। मिथ्यात्वं हि यावद्वेद्यते तावद्बन्धमायाति "जे वेयइ से बज्झइ" इति वचनप्रामाण्यात्। न च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात्परतो मिथ्यात्वस्य वेदनमतो बन्धाऽभावः। अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं स्त्यानर्द्धित्रिकं च सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं यावत्, परतोऽनन्तानुबन्धिनामुदयाऽभावतस्तद्बन्धाऽभावात्। अप्रत्याख्याना अविरतसम्यग्दृष्टिं यावत्, परतस्तेषामुदयाभावतो बन्धाभावात्। एवं प्रत्याख्यानावरणा देशविरतिं यावत्, निद्राप्रचले अपूर्वकरणस्य प्रथमभागं यावत्, परतस्तद्बन्धयोग्याऽध्यवसायासम्भवात्। एवमगुरुलघ्वादयो नव नामध्रुवबन्धिन्योऽपूर्वकरणचरमसमयं, सञ्ज्वलनक्रोधमानमायालोभा अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं, परतो बादरकषायोदयाभावतस्तद्बन्धासंभवात्। ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काणि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं, परतः कषायोदयाभावेन तद्बन्धाभावात्। शेषास्तु त्रिसप्ततिप्रकृतयो गतिचतुष्टयाऽनुपूर्वीचतुष्टयजातिपञ्चकविहायोगतिद्विकसंस्थानषट्कसंहननषट्कवैक्रियद्विकाहारकद्विकौदारिकद्विकत्रसादिविंशतितीर्थकरातपोद्योतपराघातोच्छ्वाससातासातोच्चनीचैर्गोत्रहास्यादिचतुष्कवेदत्रयायुश्चतुष्टयरूपा अध्रुवबन्धिन्यः, तासां स्वबन्धहेतुसंभवेऽपि भवादिप्रत्ययतः कदाचिद्बन्धाऽसंभवात् ॥१५॥

ध्रुवोदयद्वारमधिकृत्याह–

निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइअगुरुसुहमसुहं । नाणंतरायदसगं दंसणचउमिच्छ निच्चुदया ॥१६॥

(स्वो०)—निर्माणस्थिरास्थिरतैजसकार्मणवर्णाद्यगुरुलघुशुभाशुभं द्वन्द्वसमासः, ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनचतुःमिथ्यात्वं अनुस्वारलोपान्नित्योदया' इति पदानि। पदार्थस्तु-प्रथमार्द्धाभिहिता द्वादशाऽघातिकर्मप्रकृतयो वर्णादिचतुष्कस्य सुगमत्वात् सुगमाः । ज्ञानान्तरायदशकमपि सुगमम्, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनमिथ्यात्वमिति पञ्चदश घातिकर्मप्रकृतयः, एवं सप्तविंशतिः 'नित्योदया' ध्रुवोदयाः। उक्तशेषा अध्रुवोदयास्त्रिनवतिः प्रकृतयः, ताश्च सुगमाः । आह-उदयमाश्रित्य द्वाविंशत्युत्तरं शतमभिहितम्, कस्माच्छेषाः पञ्चनवतिः प्रकृतयो न भवन्तीति? अत्रोच्यते-सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रभूतजीवेषूदयाभावात्मिथ्यात्वमधिकृतं, तयोश्च मिथ्यात्वावयवभूतयोरप्रधानतात्र विवक्षिता ततस्त्रिनवतिरेव शेषाः इति गाथार्थः ॥१६॥

(मलय०)—तदेवमुक्ताः सप्रतिपक्षा ध्रुवबन्धिन्यः । सम्प्रति ध्रुवोदया आह-नित्यमुदयकालव्यवच्छेदादर्वाक् सदैवोदयो यासां ता नित्योदया ध्रुवोदया इत्यर्थः, ता इमाः, तद्यथा-निर्माणं स्थिरमस्थिरं तैजसं कार्मणं वर्णादिचतुष्कमगुरुलघु शुभमशुभं, एता द्वादशसंख्या नामकर्मणो ध्रुवोदयाः, एतासां च पृथग्निर्देशोऽभिसंधिपूर्वकः, स च सामान्यतोऽन्यत्र नामध्रुवोदयग्रहणे सुखेनासां परिग्रहार्थः । घातिप्रकृतीनां ध्रुवोदया आह-'नाणंतराय' इत्यादि, ज्ञानान्तरायदशकं, ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं चेत्यर्थः, दर्शनचतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणचतुष्टयं मिथ्यात्वं चेति पञ्चदश, सर्वसंख्यया सप्तविंशतिप्रकृतयो ध्रुवोदया भवन्ति । शेषास्तु पञ्चनवतिसंख्याः प्रकृतयोऽध्रुवोदयाः, ताश्च सुगमा इति नोपदर्श्यन्ते । अथ का ध्रुवोदया प्रकृतिः किं गुणस्थानकं यावद् ध्रुवोदयत्वेन प्राप्यते ? उच्यते-मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं यावत्, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकानि क्षीणमोहचरमसमयं,

अगुरुलघ्वादयो नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः सयोगिकेवलिचरमसमयम् ॥१६॥

सर्वघातिप्रकृतीरधिकृत्याह–

केवलियनाणदंसणआवरणं बारसाइमकसाया । मिच्छत्तं निद्दाओ इय वीसं सव्वघाईओ ॥१७॥

(स्वो०)—'कैवलिकज्ञानदर्शनावरणं द्वादशाद्यकषाया मिथ्यात्वं निद्रा इति विंशतिः सर्वघातिन्य' इति पदानि । पदार्थस्तु–केवलज्ञानदर्शनयोरावरणे, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाख्या आद्या द्वादश कषायाः, मिथ्यात्वं, निद्राः सामान्यग्रहणाद् बहुवचननिर्देशाद्विंशतिसंख्यानिर्देशाच्च पञ्चेति, घातिकर्मचतुष्कान्तर्गता विंशत्युत्तरप्रकृतयः सर्वघातिस्वरूपा मन्तव्याः, इत्यनेन प्रकारेण वक्ष्यमाणेनेति गाथार्थः ॥१७॥

(मलय०)—सम्प्रति सर्वघातिप्रकृतीरुपदिशति–सर्वघातिन्य उक्तशब्दार्थाः प्रकृतय इति एवमनुना प्रकारेण विंशतिर्विंशतिसंख्या भवन्ति । तद्यथा–कैवलिकज्ञानदर्शनावरणमिति केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं, तथा आदिमा आद्या अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपा द्वादश कषायाः, मिथ्यात्वं, निद्राश्च निद्राप्रचलादयः पञ्चसंख्याः । शेषास्तु घातिकर्मप्रकृत्यन्तर्गताः प्रकृतयो देशघातिन्यो, वेदनीयनामगोत्रायुरन्तास्त्वघातिन्यः ॥१७॥

सर्वघातिनाम्नः प्रयोजनमाह—

सम्मत्तनाणदंसणचरित्तघाइत्तणा उ घाईओ । तस्सेस देसघाइत्तणा उ पुण देसघाईओ ॥१८॥

(स्वो०)—'सम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारित्रघातित्वाद् घातिन्यः तच्छेषा देशघातित्वात्पुनर्देशघातिन्य' इति पदानि । अर्थघटना त्वेवम्–

मिथ्यात्वं प्रथमकषायाः सम्यक्त्वोदयस्य सर्वघातं कुर्वन्तीति सर्वघातिन्यः, एवं केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च तदावरणे, क्षायोपशमिकदर्शनप्रकर्षस्य निद्राः, देशचारित्रस्य द्वितीयकषायाः, सर्वविरतिरूपचारित्रस्य तृतीयकषायाः सर्वघातिनः, अत एता विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिन्यः । तासां शेषाः तच्छेषाः, घातिकर्मचतुष्टयप्रकृतिभेदानां पञ्चचत्वारिंशत्प्रमाणानामुक्तशेषाः पञ्चविंशतिभेदाः देशघातित्वाद्देशघातिनो भवन्ति । पुनःशब्दस्त्वघातिकर्मप्रकृतीनां हन्तव्याभावात् स्वरूपतया अघातित्वाद् घातिद्वारं त्रिधा सूचयति, अथवा द्वितीयार्धस्यान्यथा व्याख्या—तेषां सम्यक्त्वादीनां प्राप्तव्यापेक्षया शेषलक्षणस्य घातिन्यः तद्भावाद्देशघातिन्यो भवन्ति, किमुक्तं भवति ?–मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिचारित्राणां पुनःशब्दाधिक्याद्दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां च देशघातं कुर्वन्तीति देशघातिन्य इति गाथार्थः ॥१८॥

(मलय०)—अथ कथमुक्तरूपाणां प्रकृतीनां सर्वघातित्वं शेषाणां देशघातित्वं चेति प्रश्नावकाशमाशंक्य तत्प्ररूपणार्थमाह—उक्तरूपाः केवलज्ञानावरणादयः प्रकृतयो यथायोगमात्मघात्यं सम्यक्त्वं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा गुणं सर्वात्मना घातयन्ति । तद्यथा—मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनः सम्यक्त्वं, केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणे यथाक्रमं केवलज्ञानकेवलदर्शने, निद्राः पञ्चापि प्राप्तां दर्शनलब्धिं, देशतोऽपि चारित्रमप्रत्याख्यानावरणाः, सर्वविरतिरूपं चारित्रं प्रत्याख्यानावरणाः, अत एताः सर्वात्मना सम्यक्त्वादिगुणघातित्वात्सर्वघातिन्यः । 'तस्सेस' इत्यादि, तासामुक्तरूपाणां विंशतिसंख्यानां सर्वघातिप्रकृतीनां याः शेषा घातिकर्मचतुष्टयप्रतिभेदरूपा मतिज्ञानावरणीयादिप्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्याः, ता देशघातित्वाद् ज्ञानादिगुणैकदेशघातित्वाद्देशघातिन्यः । इयमत्र भावना—इह केवलज्ञानावरणीयं कर्म ज्ञानलक्षणं गुणं सर्वात्मना हन्तुं प्रवर्त्तते, तथापि न तेन स समूलघातं हन्तुं शक्यते, तथास्वभावत्वात् । यथा-

ऽतिबहलेनापि जीमूतपटलेन दिनकररजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि सर्वथा तत्प्रभा नावरीतुं शक्यते, अन्यथा प्रतिप्राणिप्रसिद्धादिनरजनीविभागाऽभावप्रसंगात् । उक्तं च–"सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणं ।" ततः केवलज्ञानावरणीयेनावृतेऽपि सर्वात्मना केवलज्ञाने यः कोऽपि तद्गतमन्दविशिष्टविशिष्टतरप्रभारूपो ज्ञानैकदेशो मतिज्ञानादिसंज्ञितः, तं यथायोगं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणानि घ्नन्ति, ततस्तानि देशघातीनि, एवं केवलदर्शनावरणेनावृतेऽपि सर्वात्मना केवलदर्शने या तद्गता मन्दमन्दतमविशिष्टादिरूपा प्रभा चक्षुर्दर्शनादिसंज्ञा तां यथायोगं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्यावृण्वन्ति, ततस्तान्यपि दर्शनैकदेशघातित्वाद्देशघातीनि, निद्रादयस्तु पञ्च प्रकृतयो यद्यपि केवलदर्शनावरणाऽनावृतकेवलदर्शनगतप्रभामात्रं दर्शनैकदेशमुपघ्नन्ति, तथापि ताश्चक्षुर्दर्शनावरणादिकर्मक्षयोपशमसमुत्थां दर्शनलब्धिं समूलकाषं कषन्तीति सर्वघातिन्य उक्ताः । तथा सञ्ज्वलनकषाया नोकषायाश्चाद्यद्वादशकषायक्षयोपशमसमुत्थां चारित्रलब्धिं देशतो घ्नन्ति, तेषामतीचारमात्रसम्पादनसमर्थत्वात् । उक्तं च–"सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति । मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्ह कसायाणं ॥१॥" ततस्तेऽपि देशघातिनः, तथा इह यद्वस्तु जीवो ग्रहणधारणयोग्यं न ददाति, न लभते, न भुंक्ते वा, तद्दानान्तरायादिविषयः, तच्च सर्वद्रव्याणामनन्ततमो भागः, ततस्तथारूपसर्वद्रव्यैकदेशविषयदानादिविघातकारित्वात् देशघातिदानान्तरायादीनि, तुशब्दस्याऽधिकार्थसंसूचनार्थत्वान्नामगोत्रवेदनीयायुरन्तर्गताः प्रकृतयो हन्तव्याऽभावात् न किमपि घ्नन्ति, ता अघातिन्य इति द्रष्टव्यम् ॥१८॥

अतस्ता एव वक्तुकाम आह–

नाणावरणचउक्कं दंसणतिगनोकसायविग्घपणं । संजलण देसघाई तइयविगप्पो इमो अन्नो ॥१९॥

(स्वो०)—'ज्ञानावरणचतुष्कं दर्शनत्रिकं नोकषाया विघ्नपञ्चकं सञ्ज्वलना देशघातिनस्तृतीयविकल्पोऽयमन्य' इति पदानि। पदार्थस्तु ज्ञानावरणप्रकृतिभिः स्वोदयप्राप्ताभिः ज्ञानचतुष्कस्य विद्यमानस्य देशविघातः क्रियते, एवं स्वस्वविषयबाधकप्रकृत्युदयेन दर्शनत्रिकदानादिपञ्चकस्य, नोकषायसंज्वलनैः सम्यक्त्वदेशसर्वविरतिचारित्राणि देशखण्डितानि क्रियन्ते, सर्वघात्यघातिभिन्नोऽयं तृतीयविकल्पोऽन्य इति गाथार्थः ॥१९॥

(मलय०)—संप्रति देशघातिनीरेव प्रकृतीर्नामत उत्कीर्त्तयति—ज्ञानावरणचतुष्कं मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणं, 'दंसणतिगं' ति—पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् दर्शनावरणत्रिकं, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणलक्षणं, नोकषाया वेदत्रिकहास्यादिषट्करूपाः, विघ्नपञ्चकं—अन्तरायपञ्चकं दानान्तरायादि, सञ्ज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः, एताः सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिप्रकृतयो देशघातिन्यः, देशघातिता चामूषां प्रागेव भाविता। 'तइय विगप्पो इमो अन्नो' त्ति—सर्वघात्यघातिनीनामयमन्यो देशघातिलक्षणस्तृतीयः प्रकारः ॥१९॥

परावर्त्तमानद्वारमधिकृत्याह—

नाणंतरायदंसणचउक्कं परघायतित्थउस्सासं। मिच्छभयकुच्छ धुवबंधिणीउ नामस्स अपरियत्ता ॥२०॥

(स्वो०)—ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्कं पराघाततीर्थोच्छ्वासं मिथ्यात्वभयजुगुप्सा ध्रुवबन्धिन्यो नाम्नोऽपरावर्त्ता इति पदानि'। पदार्थस्तु—ज्ञानान्तराययोः सामान्यग्रहणात्पञ्च पञ्च, 'दर्शनचतुष्कं' चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपं, पराघाततीर्थङ्करनामोच्छ्वासप्रकृतयः, तथा- मिथ्यात्वभयजुगुप्सा नामध्रुवबन्धिन्यो नव पूर्वोक्ताः, एवमेकोनत्रिंशत्सङ्ख्यास्त्वपरावर्त्तमानाः, शेषा एकनवतिसंख्या उदयं बन्धं

चाधिकृत्य परावर्त्तमानस्वरूपा इति गाथार्थः ॥२०॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं सर्वघातिद्वारं, इदानीं परावर्त्तमानद्वारमाह–'नाण' त्ति–ज्ञानावरणपञ्चकं, अन्तरायपञ्चकं, 'दंसणचउक्कं' ति–दर्शनावरणचतुष्कं, पराघातनाम, तीर्थकरनाम, उच्छ्वासनाम, मिथ्यात्वं, भयं, जुगुप्सा, नाम्नो ध्रुवबन्धिन्योऽगुरुलघुनिर्माणतैजसोपघातवर्णचतुष्ककार्मणलक्षणा नव प्रकृतयः, एताः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत्प्रकृतयो बन्धमुदयं चाश्रित्याऽपरावर्तमानाः, आसां बन्धस्योदयस्य वा शेषप्रकृतिभिर्बध्यमानाभिर्वेद्यमानाभिर्वा विहन्तुमशक्यत्वात्, शेषा बन्धमधिकृत्यैकनवतिसंख्याः, उदयमधिकृत्य ता एव सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वसहितास्त्रिनवतिसंख्याः परावर्त्तमानाः ॥२०॥

पञ्चममशुभद्वारमधिकृत्याह–

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुयंगं । विहगइवण्णाइसुभं तसाइदसतित्थनिम्माणं ॥२१॥
चउरंसउसभआयवपराघायपणिंदिअगुरुसाउच्चं । उज्जोयं च पसत्था सेसा बासीइ अपसत्था ॥२२॥

(स्वो०)—'मनुष्यत्रिकं देवत्रिकं तिर्यगायुरुच्छ्वासाष्टतन्वङ्गं विहायोगतिवर्णादिशुभं त्रसादिदश तीर्थनिर्माणम् ॥ चतुरस्रर्षभातपपराघातपञ्चेन्द्रियागुरुलघुसातोच्चं उद्योतं च प्रशस्ताः शेषा द्व्यशीतिरप्रशस्ता' इति पदानि । पदार्थस्तु–गत्यानुपूर्व्यायुरिति त्रिकं, तच्च मनुष्योपलक्षितं देवोपलक्षितं च, तिर्यगायुरुच्छ्वासोऽष्टौ–शरीरपञ्चकं तदङ्गोपाङ्गत्रिकमिति, विहायोगतिवर्णादिचतुष्कं शुभं, त्रसादयो दश, 'तस बायर' इत्याद्यभिहिता एव, तीर्थङ्करनाम निर्माणनामेति प्रथमगाथोक्ताः त्रयस्त्रिंशत् । चतुरस्रं संस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं,

आतपनाम, पराघातपञ्चेन्द्रियजात्यगुरुलघुसातवेदनीयं उच्चैर्गोत्रमुद्योतं चैता नव, सर्वा अपि द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः शुभसंज्ञाः। शेषाः द्व्यशीतिप्रकृतयो अशुभाः, वर्णादिचतुष्कं शुभविशेषणादशुभं च ग्राह्यम्, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥२१-२२॥

(मलय०)—उक्तं परावर्त्तमानद्वारं, सांप्रतमशुभद्वारमधिकृत्याह-मनुष्यत्रिकं-मनुष्यगतिमनुष्यायुर्मनुष्यानुपूर्वीलक्षणं, देवत्रिकं-देवगतिदेवानुपूर्वीदेवायुर्लक्षणं, तिर्यगायुरुच्छ्वासनाम 'अट्ठतणुयंग'ति-औदारिकादिशरीरपञ्चकमङ्गोपाङ्गत्रयं, तथा शुभा विहायोगतिः, शुभं वर्णादिचतुष्कं-वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं, त्रसादिदशकं-त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तिलक्षणं, तीर्थकरनाम, निर्माणं, समचतुरस्रसंस्थानं, वज्रर्षभनाराचसंहननं, आतपनाम, पराघातनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, अगुरुलघु, सातवेदनीयं, उच्चैर्गोत्रं, उद्योतनाम च, एता द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः प्रशस्ताः शुभाः शुभसंज्ञा इत्यर्थः। वर्णादिचतुष्कं हि शुभप्रकृतिसंख्यायामशुभप्रकृतिसंख्यायां च परिगृह्यते, तस्य द्विधा सम्भवात्, अतः शेषा द्व्यशीतिसंख्या अशुभाः, ये तु सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे, ते उदयमेव केवलमाश्रित्याऽशुभे, न बन्धमपि, तयोर्बन्धाऽसम्भवात्। अतस्ते पृथगेव पुरस्तात्कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारेऽनुभागोदीरणाऽवसरेऽभिधारयेते ॥

उक्तानि पञ्चापि द्वाराणि सप्रतिपक्षाणि। विपाकमधिकृत्य हेतुविपाकिन्यश्चतुर्विधास्ता अभिधातुकाम आह—

आयावं संठाणं संघयणसरीरअंगउज्जोयं। नामधुवोदयउवपरघायं पत्तेयसाहारं ॥२३॥

उदइयभावा पोग्गलविवागिणो आउ भवविवागीणि। खेत्तविवागणुपुव्वी जीवविवागा उ सेसाओ ॥२४॥

(स्वो०)—'आतपं संस्थानानि संहननशरीराङ्गोद्योतं नामध्रुवोदयोपघातपराघातं प्रत्येकसाधारणं। औदयिकभावाः, पुद्गलविपाकिन्यः,

आयूंषि भवविपाकीनि, क्षेत्रविपाकिन्य आनुपूर्व्यः, जीवविपाकिन्यः शेषा' इति पदानि। पदार्थस्तु—आतपनाम, संस्थानसामान्यग्रहणात् षट्संस्थानानि, एवं संहननानि षडेव, ध्रुवोदयान्तर्गततैजसकार्मणवर्ज्जानि त्रीणि शरीराणि, तदङ्गोपाङ्गानि च, उद्योतनाम, नाम्नो ध्रुवोदयाः पूर्वोक्ता द्वादश, 'निम्माणथिराथिर'इत्यादि, उपघातनाम, पराघातनाम, प्रत्येकसाधारणनामेति षट्त्रिंशन्नामप्रकृतय औदयिकभावानुगताः पुद्गलविपाकिन्यश्च द्रष्टव्याः। आयुषश्चतस्रोऽपि प्रकृतयो भवविपाकिन्यः। क्षेत्रविपाकिन्यश्चतस्रोऽप्यानुपूर्व्यः। शेषा विंशत्युत्तरशतमधिकृत्य षट्सप्ततिप्रकृतयो भवन्ति, कथं? पञ्चचत्वारिंशत् घातिकर्मोत्तरप्रकृतयः, सातासाते, उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं, त्रसादित्रिकं स्थावरादित्रिकं सुस्वरचतुष्कं दुःस्वरचतुष्कं गतिचतुष्कं जातिपञ्चकं विहायोगतिद्विकं उच्छ्वासनाम तीर्थङ्करनामेति जीवविपाकिन्य इति गाथाद्वयार्थः ॥२३–२४॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमशुभं द्वारं, सम्प्रति यदुक्तं 'विवागओ चउह' त्ति। तद्विवरीषुः प्रथमतः पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीर्निरूपयति —इह विपाकमधिकृत्य प्रकृतयश्चतुर्विधाः, तद्यथा—पुद्गलविपाकिन्यो, भवविपाकिन्यः, क्षेत्रविपाकिन्यो, जीवविपाकिन्यश्च। एतच्च प्रागेवोक्तम्। तत्र पुद्गलेषु पुद्गलविषये विपाकः फलदानाभिमुख्यं पुद्गलविपाकः, स विद्यते यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, ताश्च षट्त्रिंशत्संख्याः, तद्यथा—आतपनाम, षट् संस्थानानि, षट् संहननानि, तैजसकार्मणवर्जानि त्रीणि शरीराणि, तैजसकार्मणे हि नामध्रुवोदयग्रहणेन ग्रहीष्येते, तत इह शरीरग्रहणे तद्वर्जनं, त्रीणि अङ्गोपांगानि, उद्योतं, नामध्रुवोदया निर्माणस्थिराऽस्थिरतैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुशुभाशुभलक्षणा द्वादश प्रकृतयः, उपघातं, पराघातं, प्रत्येकं, साधारणमिति एता हि स्वविपाकं पुद्गलेषु दर्शयन्ति, तथा स्पष्टं लक्ष्यमाणत्वात्, अतः पुद्गलविपाकिन्यः, एताश्च भावे चिन्त्यमाना औदयिकभावाः, उदय एवौदयिकः, स भावः स्वभावो

यासां ता औदयिकभावाः, इदं च विशेषणं स्वरूपमात्रख्यापनपरं, विपाकचिन्तायामौदयिकभावस्योपयुज्यमानत्वात्, उदयमन्तरेण विपाकाऽयोगात्, न पुनरवधारणपरं, यथा औदयिकभावा एवैता इति, क्षायिकपारिणामिकयोरपि भावयोरासां वक्ष्यमाणत्वात्। उक्ता पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः। सम्प्रति भवविपाकिनीराह—आयूंषि चत्वार्यपि भवविपाकीनि, भवे नारकादिरूपे स्वस्वयोग्ये विपाकः फलदानाभिमुखता भवविपाकः, स विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि, तथाहि—बद्धमप्यायुर्यावन्नाद्यापि पूर्वभवक्षयेण स्वयोग्यो भवः प्रत्यासन्नो भवति, तावन्नोदयमायाति, ततो भवविपाकीनि। सम्प्रति क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह—आनुपूर्व्यो नरकानुपूर्व्यादयश्चतस्रोऽपि क्षेत्रविपाकाः, क्षेत्रे गत्यन्तरसंक्रमणहेतौ नभःपथे विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ताः क्षेत्रविपाकाः, एता हि पूर्वस्या गतेरुद्धृत्य गत्यन्तरे संक्रामतो अपान्तराले उदयमायान्ति, न शेषं कालं, अतः क्षेत्रविपाकाः। सांप्रतं जीवविपाकाः प्रकृतीर्निर्दिशति—शेषा उक्तव्यतिरिक्ता विंशत्युत्तरशतमधिकृत्य षट्सप्ततिसंख्याः प्रकृतयो जीवविपाकाः, जीवे जीवगते ज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे विपाकस्तदुपघातादिसम्पादनाभिमुखतालक्षणो यासां ता जीवविपाकाः, ताश्चेमास्तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं, साताऽसातवेदनीये, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्ववर्जाः शेषाः षड्विंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, अन्तरायपञ्चकं, गतिचतुष्टयं, जातिपञ्चकं, विहायोगतिद्विकं, त्रसादित्रिकं, स्थावरादित्रिकं, सुस्वरदुःस्वरसुभगदुर्भगादेयाऽनादेययशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तितीर्थंकरनामोच्छ्वासनामानि, नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रं च एता हि जीव एव स्वविपाकमादर्शयन्ति, नान्यत्र। तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चकं जीवे ज्ञानगुणमुपहन्ति, दर्शनावरणनवकं दर्शनगुणं, मिथ्यात्वमोहनीयं सम्यक्त्वगुणं, चारित्रमोहनीयप्रकृतयश्चारित्रगुणं, दानान्तरायादयः पञ्चप्रकृतयो दानलाभादिलब्धीः, साताऽसातवेदनीये यथाक्रमं सुखदुःखे जनयतः, गतिचतुष्टयादिकास्तु प्रकृतयो गत्यादिपर्यायानिति। आह—ननु भवविपाकादयोऽपि प्रकृतयः परमार्थ-

तश्चिन्त्यमाना जीवविपाका एव, यत आयूंषि स्वस्वयोग्ये भवे विपाकं दर्शयन्ति तद्भवधारणलक्षणं, तच्च तस्मिन् भवे धारणं जीवस्यैव न तद्व्यतिरिक्तस्य, आनुपूर्व्योऽपि क्षेत्रे विपाकं दर्शयन्त्यो जीवस्यानुश्रेणिगमनविषयं स्वभावमादधति, पुद्गलविपाकिन्योऽप्यातपसंस्थाननामादय उदयप्राप्तास्तथारूपां जीवस्य शक्तिमुपजनयन्ति, येन जीवस्तथारूपानेव पुद्गलान् गृह्णाति, गृहीतानां वा तं तं रचनाविशेषं विदधाति, ततः सर्वा अपि जीवविपाका एव, सत्यमेतत्, केवलं भवादिप्राधान्यविवक्षया तथा व्यपदिश्यन्ते इत्यदोषः ॥२३-२४॥

नामप्रकृतीनां पुद्गलविपाकित्वेनाधिकृतानां प्रसङ्गेनौदयिकभावत्वमभिहितं, अतोऽनेनैवाधिकारेण सर्वप्रकृतीनां यथासम्भवं भावानभिधातुकाम आह—

मोहस्सेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं । खयपरिणामियउदया अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥२५॥

(स्वो०)—'मोहस्यैवोपशमः, क्षयोपशमश्चतुर्णां घातिनां, क्षयपारिणामिकोदयाः अष्टानामपि भवन्ति कर्मणा'मिति पदानि । पदार्थस्तु—मोहनीयस्यैवोपशमभावो, नान्येषां कर्मणाम्, क्षायोपशमिकभावश्चतुर्णां घातिकर्मणामेव, नाघातिकर्मणाम् । क्षयपारिणामिकौदयिकभावाः अष्टानामपि भवन्ति, मूलप्रकृतिग्रहणे बाहुल्येन तदुत्तरप्रकृतयो गृहीता एवेति गाथार्थः ॥२५॥

(मलय०)—इह पुद्गलविपाकिनीनामौदयिकभावत्वमुक्तं, ततस्तत्प्रसङ्गेन शेषप्रकृतीनामपि यथासम्भवं भावानभिधित्सुराह—अष्टानां कर्मणां मध्ये मोहस्यैव मोहनीयस्यैवोपशमो विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं नान्येषां, उपशमश्चेह सर्वोपशमो विवक्षितो, न देशोपशमः, तस्य सर्वेषामपि कर्मणां सम्भवात् । तथा उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण, अनुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदयनिरोधलक्षणेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः, स च चतुर्णामेव घातिकर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तराय-

रूपाणां भवति, न शेषकर्मणां, चतुर्णामपि च केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितानां, तयोर्विपाकोदयविष्कम्भाभावतः क्षयोपशमाऽसम्भवात् । क्षय(क्षायिक)पारिणामिकौदयिकभावा अष्टानामपि कर्मणां भवन्ति, तत्र क्षय आत्यन्तिकोच्छेदः, स च मोहनीयस्य, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये, शेषाणां तु त्रयाणां घातिकर्मणां क्षीणकषायगुणस्थानस्य, अघातिकर्मणामयोगिकेवलिनः । तथा परिणमनं परिणामः, परिणाम एव पारिणामिकः,जीवप्रदेशैः सह संबद्धतया मिश्रीभवनमिति भावः, यद्वा तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालाध्यवसायापेक्षया तथातथा संक्रमादिरूपतया यत्परिणमनं स पारिणामिको भावः । उदयस्तु प्रतीत एव,सर्वेषामपि संसारिजीवानामष्टानामपि कर्मणामुदयदर्शनात् । एष चात्र तात्पर्यार्थः–मोहनीयस्य क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकौदयिकपारिणामिकलक्षणाः पञ्चापि भावाः सम्भवन्ति, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामौपशमिकवर्जाः शेषाश्चत्वारः, नामगोत्रवेदनीयायुषां क्षायिकौदयिकपारिणामिकलक्षणास्त्रय इति ॥२५॥

अमी भावा यथा भवन्ति तथा भावयितुकाम आह–

सम्मत्ताइ उवसमे खाओवसमे गुणा चरित्ताई । खइए केवलमाई तव्ववएसो उ उदईए ॥२६॥

(स्वो०)—'सम्यक्त्वाद्युपशमे क्षयोपशमे गुणाश्चारित्रादयः क्षायिके केवलादयः तद्व्यपदेशस्त्वौदयिके' इति पदानि । पदार्थस्तु–मोहनीयस्योपशमभावे सति औपशमिकसम्यक्त्वसर्वविरतिरूपौ गुणौ जीवस्य प्रादुर्भवतः, घातिकर्मणां क्षयोपशमभावे सति चारित्रादयो गुणाः प्रादुर्भवन्ति । आह–ज्ञानदर्शने परित्यज्य चारित्रादयो गुणाः किमित्यभिधीयन्ते ? उच्यते–ज्ञानदर्शनयोस्तद्भावेऽवश्यंभावित्वज्ञापनार्थं, घातिकर्मप्रकृतिषु च कासुचिदपि क्षयोपशमभावाभावज्ञापनार्थं च चारित्रादयो गुणा अभिहिताः, तत्र मतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमे सति मत्यादीनि चत्वारि ज्ञानानि, चक्षुर्दर्शनावरणादीनां क्षयोपशमे सति दर्शनत्रयमेवमन्तरायक्षयोपशमे सति दानादि-

पञ्चलब्धयो भवन्ति। मिथ्यात्वप्रथमकषायक्षयोपशमे वेदकसम्यक्त्वं, द्वितीयकषायक्षयोपशमे देशविरतिचारित्रं, तृतीयकषायक्षयोपशमे
सर्वविरतिचारित्रमिति चारित्रादयो गुणाः। तुशब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशेषयति–एतासां त्रयोदशानां प्रकृतीनामुपशमेन क्षयेण वा
औपशमिकाः क्षायिका वा सम्यक्त्वादयो गुणास्तद्भावविशिष्टा भवन्ति, तत्प्राधान्याच्छेषप्रकृतीनां तद्भावानुगामित्वमप्रधानतां च विशे-
षयति, केवलज्ञानदर्शनावरणनिद्रासु क्षायोपशमिकभाव एव नास्तीति च, क्षायिकभावे सति केवलज्ञानादयो गुणा भवन्ति, ज्ञानवरण-
क्षये केवलज्ञानं, दर्शनावरणक्षये केवलदर्शनं, मोहनीयक्षये क्षायिकचारित्रं, अन्तरायक्षये दानादिपञ्चलब्धयो भवन्ति, अघातिकर्मक्षयेऽ-
पगतसर्वव्यपदेशो भवति, वर्णादिगुणरहित इत्यर्थः। औदयिकभावे सति तासु तासु प्रकृतिषु उदयप्राप्तासु तद्व्यपदेशः औदयिकभावा-
भिव्यक्तिर्भवति, यथा प्रबलज्ञानावरणोदये अज्ञानी वेदनीयोदये सुखी दुःखी वा नामोदये नरकपञ्चेन्द्रियत्रसबादरपर्याप्तादीनि अभि-
धानानि, एवं मोहनीयोदये क्रोधी मानीत्यादय पुरुषाभिव्यक्तयो भवन्तीति गाथार्थः ॥२६॥

(मलय०)—सम्प्रति यस्मिन् भावे ये गुणाः प्रादुःषन्ति, तत्र तानुपदर्शयन्नाह–उपशमे मोहनीयस्यौपशमिके भावे जाते सति सम्य-
क्त्वादि, सम्यक्त्वमौपशमिकं, आदिशब्दाच्चारित्रं च सर्वविरतिरूपमौशमिकं भवति। चतुर्णां घातिकर्मणां क्षायोपशमिके भावे वर्त्तमाने
गुणाश्चारित्रादयो ज्ञानदर्शनदानलाभादयः(च) प्रादुष्षन्ति, तत्र चारित्रं देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूपं वा, सर्वविरतिरूपमपि सामायिकं
छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं वा, न यथाख्यातं, तस्योपशमे क्षये वा सम्भवात्। ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणं,
न केवलज्ञानं, तस्य क्षायिकत्वात्। दर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपं त्रिभेदं, न केवलदर्शनमपि, तस्य क्षायिकत्वात्। सम्यक्त्वं क्षायो-
पशमिकं सुप्रतीतं, दानलाभादयो दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि। आह–ज्ञानदर्शने परित्यज्य किमिति चारित्रादयो गुणा इत्यभिहितं?

उच्यते—चारित्रसद्भावे ज्ञानदर्शनयोरवश्यं भाव इति ज्ञापनार्थम्। तथा क्षायिके भावे जाते सति केवलादयः केवलज्ञानकेवलदर्शनचारित्रदानलब्ध्यादयः। तत्र ज्ञानावरणक्षये केवलज्ञानं, दर्शनावरणक्षये केवलदर्शनं, मोहनीयक्षये चारित्रं, अंतरायक्षये दानादिलब्धयः, सकलकर्मक्षये परिनिर्वृतत्वमिति। औदयिके पुनर्भावे विजृंभमाणे तेन तेनौदयिकेन भावेन व्यपदेशो भवति। यथा प्रबलज्ञानावरणोदयेऽज्ञानी, प्रबलदर्शनावरणोदयेऽन्धो बधिर एकाङ्गचेतनाविकल इत्यादि, वेदनीयोदये सुखी दुःखी वा, क्रोधाद्युदये क्रोधी मानी मायी लोभीत्यादि, नामोदये नारकस्तिर्यङ् मनुष्यो देव एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियस्त्रसो बादरः पर्याप्त इत्यादि, उच्चैर्गोत्रोदये क्षत्रियपुत्रोऽयं श्रेष्ठिसुतोऽयमित्येवमुच्चैःकारं प्रशंसागर्भो व्यपदेशः, नीचैर्गोत्रोदये वेश्यासुतोऽयं श्वपाकोऽयमित्यादिरूपतया निन्दागर्भो व्यपदेशः, अन्तरायोदयेऽदाताऽलाभ्यभोगीत्यादि ॥२६॥

पारिणामिकभावभावनायाह—

नाणंतरायदंसणवेयणियाणं तु भंगया दोन्नि। साइसपज्जवसाणोवि होइ सेसाण परिणामो ॥२७॥

(व्या०)—ज्ञानान्तरायदर्शनवेदनीयानां तु भङ्गकौ द्वौ सादिसपर्यवसानोऽपि भवति शेषाणां पारिणामिक' इति पदानि। पदार्थस्तु—परिणतिः परिणामः परिणामे भवः पारिणामिको जीवप्रदेशकर्मपुद्गलानां मिश्रीभवनमिति भावः, तत्र ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां द्वौ भङ्गकौ, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, अभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसान इति भङ्गद्वयम्, सादिसपर्यवसान इत्यन्योऽपि तृतीयभङ्गको भवति शेषकर्मणां, तुशब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशेषयति—एषां मोहनीयायुर्नामगोत्राणां काश्चिदुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य ये भङ्गकाः, मूलप्रकृतिविषये पूर्वोक्तमेव। यतः—पञ्चेन्द्रियप्राप्तौ वैक्रियषट्कस्य प्राप्तिः, सम्यक्त्वप्राप्तौ तीर्थकरनाम्नः, संयमप्राप्तौ आहार-

कद्विकस्य, औपशमिकभावप्राप्तौ सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रस्याप्युद्वलितस्य, आयुःप्रकृतीनां च पर्यायभाविनीनां भवत्येवायं भङ्गकः, ध्रुवायुर्बन्धाभावाच्च पर्यायभावित्वमिति गाथार्थः ॥२७॥

(मलय०)—संप्रति पारिणामिकभावगतं विशेषप्रतिपादनार्थमाह—ज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणवेदनीयानां प्रवाहापेक्षया सामान्यतः पारिणामिके भावे चिन्त्यमाने द्वौ भङ्गौ लभ्येते। तद्यथा—अनाद्यपर्यवसानोऽनादिसपर्यवसानश्च। तत्र भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, तथाहि—जीवकर्मणोरनादिः संबन्धः, इत्यादेरभावादनादिः, मुक्तिगमनसमये च व्यवच्छेदात्सपर्यवसानः। अभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानः, तत्रानादित्वभावना प्राग्वत्, अपर्यवसानत्वं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्। शेषकर्मणां मोहनीयायुर्नामगोत्राणां परिणामः सादिसपर्यवसानोऽपि भवति, आस्तामनाद्यपर्यवसानोऽनादिसपर्यवसानरूप इत्यपि शब्दार्थः। इह गाथापूर्वार्द्धे तुशब्दो भिन्नक्रमत्वादुत्तरार्द्धे 'सेसाण' इत्यत्र योज्यते, स च विशेषार्थसंसूचकत्वादमुं विशेषं सूचयति—मोहनीयायुर्नामगोत्राणां काश्चिदेवोत्तरप्रकृतीरधिकृत्यायं सादिसपर्यवसानलक्षणस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते, काश्चित्पुनरधिकृत्य पूर्वोक्तावेव द्वौ भङ्गौ। तथाहि—औपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तौ सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः सम्भवः, पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ वैक्रियषट्कस्य, सम्यक्त्वप्राप्तौ तीर्थकरत्वनाम्नः, संयमावाप्तावाहारकद्विकस्य, इति सादिसपर्यवसानता। अनन्तानुबन्धिमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रादीनामुद्वलितानामपि भूयोऽपि बन्धसम्भवात्, आयुःप्रकृतीनां च पर्यायेण भवनात् स्फुटैव सादिसपर्यवसानता। अप्रत्याख्यानक्रोधाद्यौदारिकशरीरादिनीचैर्गोत्रलक्षणाः पुनरुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भव्यानामनादिसपर्यवसानोऽभव्यानामनाद्यपर्यवसान इति द्वावेव भङ्गौ, यदापि मूलप्रकृतिविषया प्रत्येकं चिन्ता, तदाप्येतावेव द्वौ भङ्गाविति ॥२७॥

उदये कर्मप्रकृतीनां क्षयोपशमः सम्मोहजनको मन्दबुद्धीनां तदपनोदायाह-

उदये च्चिय अविरुद्धो खाओवसमो अणेगभेओ त्ति । जइ भवति तिण्ह एसो पएसउदयंमि मोहस्स ॥२८॥

(स्वो०)—'उदय एवाविरुद्धः क्षायोपशमिकोऽनेकभेद इति, यदि भवति त्रयाणां एष प्रदेशोदये मोहनीयस्ये'ति पदानि । पदार्थस्तु-उदयप्राप्तानामेव क्षयोपशमो भवति, यदि भवति, नावश्यंतया स सर्वप्रकृतिषु भवति, त्रयाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायाणां एष क्षयोपशमः, स चानेकभेदः असंख्येयव्यक्तिभिर्व्यक्तः स्फुट इत्यर्थः, कर्मत्रयस्य ध्रुवोदयित्वादविरोधः, तदुदयाभावे क्षायोपशमिकभावाच्चाविरोधः । मोहनीयस्य तु क्षयोपशमः प्रदेशोदये भवति, यतोऽनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वानां प्रदेशोदये दर्शनमोहनीयस्य क्षयोपशमः,द्वितीयकशायप्रदेशोदये देशविरतिचारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमः, तृतीयकषायप्रदेशोदये सर्वविरतिचारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमः, विपाकोदये तु तदभावात् । इतिशब्दाधिक्याच्छेषप्रकृतीनां विपाकोदये प्रदेशोदये च क्षयोपशमो भवति अयमत्र विशेषः, अध्रुवोदयित्वात् प्रदेशोदये क्षयोपशमे तद्देशविघातित्वं न भवति, विपाकोदयक्षयोपशमे तु तद्देशविघातिन्यो मालिन्यकृतो भवन्तीति गाथार्थः ॥२८॥

(मलय०)—आह-क्षायोपशमिको भावः कर्मणामुदये सति भवत्यनुदये वा ? न तावदुदये, विरोधात् । तथाहि-क्षायोपशमिको भाव उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सत्यनुदितस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भलक्षणे प्रादुर्भवति नान्यथा, ततो यद्युदयः कथं क्षयोपशमः ? क्षयोपशमश्चेत् कथमुदयः ? इति । अथानुदय इति पक्षः-तथा सति किं तेन क्षायोपशमिकेन भावेन ? उदयाभावादेव विवक्षितफलसिद्धेः । तथाहि-मतिज्ञानादीनि मतिज्ञानावरणाद्युदयाभावादेव सेत्स्यन्ति, किं क्षायोपशमिकभावपरिकल्पनेन ? उच्यते-उदये क्षायोपशमिको भावः, न च तत्र विरोधः, यत आह-इह ज्ञानावरणीयादीनि कर्माण्यासर्वक्षयात् ध्रुवोदयानि, ततस्तेषामुदये एव

क्षयोपशमो घटते नानुदये, उदयाभावे तेषामेवासम्भवात्, तत उदय एवाविरुद्धः क्षायोपशमिको भावः। यदपि विरोधोद्भावनं कृतं "यद्युदयः कथं क्षयोपशमः ?" इत्यादि, तदप्ययुक्तं, देशघातिस्पर्द्धकानामुदयेऽपि कतिपयदेशघातिस्पर्द्धकापेक्षया यथोक्तक्षयोपशमाविरोधात्, स च क्षयोपशमोऽनेकभेदः, तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालादिसामग्रीतो वैचित्र्यसम्भवादनेकप्रकारः। उदय एव चाविरुद्ध एष क्षायोपशमिको भावो यदि भवति तर्हि न सर्वप्रकृतीनां, किन्तु त्रयाणामेव कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणाम्। मोहनीयस्य तर्हि का वार्त्ता ? इति चेत्, अत आह–मोहस्य मोहनीयस्य प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावोऽविरुद्धः, न विपाकोदये, यतोऽनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतयः सर्वघातिन्यः, सर्वघातिनीनां च रसस्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि सर्वघातीन्येव न देशघातीनि, सर्वघातीनि च रसस्पर्द्धकानि स्वघात्यं गुणं सर्वात्मना घ्नन्ति न देशतः, ततस्तेषां विपाकोदये न क्षयोपशमसम्भवः, किन्तु प्रदेशोदये। ननु प्रदेशोदयेऽपि कथं क्षायोपशमिकभावसम्भवः ? सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशानां सर्वस्वघात्यगुणघातनस्वभावत्वात्, तदयुक्तं, वस्तुतत्वापरिज्ञानात्, ते हि सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशास्तथाविधाध्यवसायविशेषतो मनाग्मन्दानुभावीकृत्य विरलविरलतया वेद्यमानदेशघातिरसस्पर्द्धकेष्वन्तःप्रवेशिता न यथावस्थितमात्ममाहात्म्यं प्रकटयितुं समर्थाः, ततो न ते क्षयोपशमहन्तारः, इति न विरुध्यते प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावः। 'अणेगभेदो'त्ति इत्यत्रेतिशब्दस्याधिकस्याधिकार्थसंसूचनान्मिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायरहितानां शेषमोहनीयप्रकृतीनां प्रदेशोदये विपाकोदये वा क्षयोपशमोऽविरुद्ध इति द्रष्टव्यं, तासां देशघातित्वात्। तत्राप्ययं विशेषः–ताः शेषा मोहनीयप्रकृतयोऽध्रुवोदयाः, ततो विपाकोदयाभावे क्षायोपशमिके भावे विजृम्भमाणे प्रदेशोदयसम्भवेऽपि न ता मनागपि देशविघातिन्यो भवन्ति। विपाकोदये तु प्रवर्त्तमाने क्षायोपशमिकभावे मनाग्मालिन्यमात्रकारित्वाद्देशघातिन्यो भवन्ति ॥२८॥

प्रकृतीनामौदयिकभावो द्विधा भवति-शुद्धः क्षायोपशमिकभावानुगतश्च, तद्व्यक्तीकरणाय स्पर्द्धकप्ररूपणामाह-

चउतिट्ठाणरसाइं सव्वघाईणि होंति फड्डाइं । दुट्ठाणियाणि मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥२९॥

(स्वो०)—'चतुस्त्रिस्थानरसानि सर्वविघातीनि भवन्ति स्पर्द्धकानि द्विस्थानकानि मिश्राणि देशघातीनि शेषाणी'ति पदानि । पदार्थस्तु-चतुःस्थानिकत्रिस्थानिकरसाभ्यां यानि निर्वृत्तानि स्पर्द्धकानि तान्युदयप्राप्तानि स्वहन्तव्यसर्वघातीनि भवन्ति, द्विस्थानिकरसस्पर्द्धकानि मिश्राणि, कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि भवन्ति, शेषाण्येकस्थानिकरसस्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि देशघातीनीति गाथार्थः।

(मलय०)—इह प्रकृतीनामौदायिको भावो द्विधा भवति, तद्यथा-शुद्धः, क्षायोपशमिकानुविद्धश्च । तत एतद्व्यक्तिकरणाय प्रथमतः स्पर्द्धकप्ररूपणामाह-रसस्पर्द्धकानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणेऽनुभागबन्धावसरे स्वरूपतोऽभिधास्यन्ते । तानि चतुर्धा, तद्यथा -एकस्थानकानि, द्विस्थानकानि त्रिस्थानकानि, चतुःस्थानकानि च । अथ किमिदं रसस्यैकस्थानकत्वद्विस्थानकत्वादि ? उच्यते-इह शुभप्रकृतीनां रसः क्षीरखण्डादिरसोपमः, अशुभप्रकृतीनां तु निम्बघोषातक्यादिरसोपमः । वक्ष्यति च-"घोसाडइनिम्बुवमो, असुभाण सुभाण खीरखण्डुवमो ।" क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानक उच्यते, द्वयोस्तु कर्षयोरावर्त्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विस्थानकः, त्रयाणां कर्षाणामावर्त्तने कृते सति य एकः कर्षोऽवशिष्टः स त्रिस्थानकः, चतुर्णां कर्षाणामावर्त्तने कृते सत्युद्धरितो य एकः कर्षः स चतुःस्थानकः । एकस्थानकोऽपि च रसो जललवबिन्दुचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिप्रक्षेपान्मन्दमन्दतरादिभेदत्वं प्रतिपद्यते, एवं द्विस्थानकादयोऽपि । तथा कर्मणामपि चतुःस्थानकादयो रसा भावनीयाः, प्रत्येकमनन्तभेदभिन्नाश्च। कर्मणां चैकस्थानकरसाद् द्विस्थानकादयो रसा यथोत्तरमनन्तगुणाः । वक्ष्यति च-"अनंतगुणिया कमेणियरे"। तत्र सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां वा

प्रकृतीनां यानि चतुःस्थानकरसानि त्रिस्थानकद्विस्थानकरसानि वा स्पर्द्धकानि, तानि सर्वघातिनीनां सर्वघातीन्येव, देशघातिनीनां तु मिश्राणि, कानिचित्सर्वघातीनि, कानिचिद्देशघातीनि, शेषाणि त्वेकस्थानकरसानि स्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि देशघातीन्येव। तानि च देशघातिनीनां सम्भवन्ति, न सर्वघातिनीनाम् ॥२९॥

निहएसु सव्वघाईरसेसु फड्डेसु देसघाईणं। जीवस्स गुणा जायंति ओहीमणचक्खुमाईया ॥३०॥

(स्वो०)—"'निहतेषु सर्वघातिरसेषु स्पर्द्धकेषु' देशघातिनां जीवस्य गुणा जायन्ते अवधिमनश्चक्षुरादय" इति पदानि। पदार्थस्तु—शुभपरिणामशस्त्रेण 'निहतेषु सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु, देशघातिरसत्त्वेन व्यवस्थापितेष्विति भावः। देशोपघातकानामपि क्षणे क्षणे समयादुत्तरसमये संख्यातीताशुभरसविभागैर्विमुच्यमानस्येति वाक्यशेषः, एवंभूतस्य जीवस्यावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनादयो गुणाः 'जायन्ते' क्षयोपशमजाः प्रादुर्भवन्ति। किमुक्तं भवति ? यदा अवधिज्ञानस्य सर्वघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तद्विषय औदयिक एव शुद्धो भावो भवति, यदा तु देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तदुदयादौदयिकभावो भवति, तथा 'देशावरणोदये सत्यपि यो हन्तव्यविषयस्य देशप्रादुर्भावः स क्षायोपशमिको भावः। आह—यद्येवं ततः सर्वघातिप्रदेशोदये मोहनीयस्य कथं क्षायोपशमिको भाव इति ? उच्यते—ते हि प्रदेशा रसभावेनाप्रधाना यथासम्भवं देशघातिवेद्यमानरसान्तर्गताः स्वरूपमप्रकटयन्तो देशघातिरसप्राधान्यात् क्षायोपशमिकभावं जनयन्ति, एवं मनःपर्यायज्ञानचक्षुरवधिदर्शनानामपि भावना कार्या, मतिश्रुतज्ञानाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां सदैवोदयं प्रति देशघातिरसस्पर्द्धकानामेवोदयस्ततो भावद्वयं भावितमेव,बन्धं प्रति चतुर्विधानामपि सम्भवोऽस्तीति गाथार्थः ॥३०॥

(मलय०)—कृता स्पर्द्धकप्ररूपणा, संप्रति यथौदयिको भावः शुद्धो भवति, यथा च क्षयोपशमानुविद्धस्तथोपदर्शयति—अवधिज्ञाना-

वरणप्रभृतीनां देशघातिनां कर्मणां सम्बन्धिषु सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु तथाविधविशुद्धाध्यवसायविशेषबलेन निहतेषु देशघातिरूपतया परिणमितेषु देशघातिरसस्पर्द्धकेष्वपि चातिस्निग्धेष्वल्परसीकृतेषु, तेषां मध्ये कतिपयरसस्पर्द्धकगतस्योदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये, शेषस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे सति जीवस्यावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनादयो गुणाः क्षायोपशमिका जायन्ते प्रादुर्भवन्ति। किमुक्तं भवति ? यदा अवधिज्ञानावरणीयादीनां देशघातिनां कर्मणां सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि विपाकोदयमागतानि वर्त्तन्ते तदा तद्विषय औदयिक एक एव भावः केवलो भवति, यदा तु देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तदुदयादौदयिको भावः कतिपयानां च देशघातिरसस्पर्द्धकानां संबन्धिन उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये, शेषस्य चानुदितस्योपशमे, क्षायोपशमिक इति क्षयोपशमानुविद्ध औदयिकभावः। मतिश्रुतावरणाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां तु सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयः, न सर्वघातिनां, तेन सर्वदापि तासामौदयिकक्षायोपशमिकौ भावो संमिश्रौ प्राप्येते, न केवल औदयिकः ॥३०॥

बन्धं प्रति सर्वप्रकृतीनां रसस्थानान्यभिधातुकाम आह–

आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ। चउट्ठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥३१॥

(स्वो०)—'आवरणमसर्व्वघ्नं पुंसंज्वलनान्तरायप्रकृतयः, चतुःस्थानपरिणता द्वित्रिचतुःस्थानाः शेषा' इति पदानि। पदार्थस्तु 'आवरणं' ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च 'असर्वघ्नं' असर्वघाति मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणाख्याः सप्त प्रकृतयः, पुरुषवेदसञ्ज्वलनकषायदानाद्यन्तरायप्रकृतयश्चैताः सप्तदशापि 'चतुःस्थानपरिणताः' एकद्वित्रिचतुःस्थानिकरसपरिणामपरिणताः–तत्स्वरूपापन्ना इति, शेषप्रकृतयस्त्रिस्थानपरिणता द्वित्रिचतुःस्थानिकरसपरिणामपरिणताः, शेषनोकषायाणां द्विस्थानिकरसोदयेनैव देशघातित्वं

नैकस्थानिकेनेति गाथार्थः ॥३१॥

(मलय०)—इह प्राक् प्रकृतीनां रसश्चतुरादिस्थानक उक्तः, तत्प्रसंगेन सम्प्रति यासां प्रकृतीनां यावन्ति बन्धमधिकृत्य रसस्पर्द्धकानि सम्भवन्ति, तासां तावन्ति निर्दिदिक्षुराह—आवरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च, तत् कथंभूतमित्याह—असर्वघ्नं, सर्वं ज्ञानं दर्शनं वा हन्तीति सर्वघ्नं सर्वघाति, तच्चेह प्रक्रमात्केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च, न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तदसर्वघ्नं केवलज्ञानावरण—केवलदर्शनावरणरहितमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—केवलज्ञानावरणवर्जानि शेषाणि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणानि चत्वारि ज्ञानावरणानि, केवलदर्शनावरणवर्जानि शेषाणि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपाणि त्रीणि दर्शनावरणानि, तथा 'पुंसंजलणंतराय' त्ति—पुरुषवेदः, चत्वारः संज्वलनाः क्रोधादयः, पञ्चविधमन्तरायं दानान्तरायादि, सर्वसंख्यया सप्तदश प्रकृतयश्चतुःस्थानपरिणताः—एकद्वित्रिचतुःस्थानकरसपरिणताः प्राप्यन्ते, बन्धमधिकृत्यासामेकस्थानको द्विस्थानकस्त्रिस्थानकश्चतुःस्थानको वा रसः प्राप्यते इति भावः। तत्र यावन्नाद्यापि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते जन्तवस्तावदासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनां यथाध्यवसायसम्भवं द्विस्थानकं त्रिस्थानकं चतुःस्थानकं वा रसं बध्नन्ति, श्रेणिं तु प्रतिपन्ना अनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु, ततः प्रभृत्येतासां प्रकृतीनामशुभत्वादत्यन्तं विशुद्धाध्यवसाययोगत एकस्थानकं रसं बध्नन्ति, तत एव बन्धमधिकृत्य चतुःस्थानपरिणताः प्राप्यन्ते। शेषास्तु सप्तदशव्यतिरिक्ताः शुभा अशुभा वा 'दुतिचउट्ठाणाउ' त्ति—बन्धमधिकृत्य द्विस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसाश्चतुःस्थानकरसाश्च, न तु कदाचनाप्येकस्थानरसाः। कथमेतदवसेयमिति चेत्, इह द्विधा प्रकृतयस्तद्यथा—शुभा अशुभाश्च। तत्राशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धसम्भवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः, नार्वाक्, तद्योग्याध्यवसायस्थानासम्भवात्, परतोऽप्युक्तरूपाः सप्तदशप्रकृतीर्व्य-

तिरिच्य शेषा अशुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति, तद्बन्धहेतुव्यवच्छेदात् । ये अपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणे बन्धमायातः, तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानक एव रसो बन्धमागच्छति, नैकस्थानकः, सर्वघातिनीनां जघन्यपदेऽपि द्विस्थानकरसबन्धसम्भवात् । यास्तु शुभाः प्रकृतयस्तासामत्यन्तविशुद्धौ वर्त्तमानश्चतुःस्थानकमेव रसं बध्नाति, न त्रिस्थानकं द्विस्थानकं वा । मन्दमन्दतरविशुद्धौ तु वर्त्तमानस्त्रिस्थानकं वा बध्नाति द्विस्थानकं वा, यदात्यन्ताविशुद्धसंक्लेशाद्धायां वर्त्तते, तदा तस्य शुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति, कुतस्तद्गतरसस्थानचिन्ता? या अपि नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽतिसंक्लिष्टस्यापि वैक्रियतैजसादिकाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति, तासामपि तथास्वाभाव्यात् द्विस्थानकस्यैव रसस्य बन्धः, नैकस्थानकस्य, एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति, परमिह प्रस्तावादुक्तम् । तत इत्थं शेषप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धासम्भवात्समीचीनमुक्तं द्वित्रिचतुःस्थानपरिणताः शेषाः प्रकृतय इति ॥३१॥

रसहेतूनां विभागमभिधातुकाम आह—

उप्पलभूमीवालुयजलरेहासरिससंपराएसु । चउट्ठाणाई असुभाणं सेसयाणं तु वच्चासा ॥३२॥

(स्वो०)—'उपलभूमीवालुकाजलरेखासदृशसम्परायैश्चतुःस्थानादयोऽशुभानां शेषकाणां तु व्यत्यासादिति' पदानि । पदार्थस्तु—रेखाशब्दः प्रत्येकं सम्बन्धनीयः, उपलरेखेति पाषाणरेखा, तया प्रभूतकालोदयव्यपदेशेनातितीव्रत्वं कषायाणां प्रतिपाद्यते, पाषाणरेखासदृशैः कषायैः सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति, आतपशुष्कतडागभूरेखासदृशैः कषायैर्मनाग्मन्दोदयैः त्रिस्थानिकरसबन्धोऽशुभप्रकृतीनां भवति, वालुकारेखासदृशैः कषायैः मन्दोदयैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धो भवति, जलरेखासदृशैः कषायैरतिमन्दोदयैरेकस्थानिकरसबन्धः, तुशब्देन विशेषितत्वात् पूर्वोक्तानामेव सप्तदशाशुभप्रकृतीनां भवति, न शेषशुभाशुभप्रकृतीनामिति ।

शुभप्रकृतीनां पाषाणरेखासमकषायैः द्विस्थानिको रसः भूरेखातुल्यैस्त्रिस्थानिकः, वालुकाजलरेखातुल्यैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसस्पर्द्धकानां बन्धो भवति, व्यत्यासादिति वचनादिति गाथार्थः ॥३२॥

(मलय०)—तदेवमुक्तानि विभागशः प्रकृतीनां रसस्थानानि। सम्प्रति यानि रसस्थानानि येभ्यः कषायेभ्य उपजायन्ते तानि तथोपदर्शयति–अशुभानां–अशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकादिश्चतुःस्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च रसो बन्धमायाति यथाक्रममुपलभूमिवालुकाजलरेखासदृशेषु सम्परायेषु कषायेषु। इयमत्र भावना–उपलः पाषाणस्तद्रेखासदृशैरनन्तानुबन्धिसंज्ञैः सम्परायैः सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकरसबन्धः क्रियते। दिनकरातपशोषिततडागभूरेखासदृशैरप्रत्याख्यानसंज्ञैस्त्रिस्थानकरसबन्धः। सिकताकणसंहतिगतरेखासदृशैः प्रत्याख्यानावरणसंज्ञैर्द्विस्थानकरसबन्धः। जलगतरेखासदृशैः संज्वलनसंज्ञैरेकस्थानकरसबन्धः संभवति। चतुर्थपादे तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात् पूर्वोक्तानामेव सप्तदशसंख्यानामवसेयः, न सर्वाशुभप्रकृतीनाम्। 'सेसयाणं तु वच्चासा' इति। शेषाणां शुभप्रकृतीनां व्यत्यासो विपर्यासो बोद्धव्यः। स चैवं–उपलरेखासदृशैः सम्परायैर्द्विस्थानकरसबन्धः, दिनकरातपभूरेखासदृशैस्त्रिस्थानकरसबन्धः, सिकताजलरेखासदृशैश्चतुःस्थानकरसबन्धः ॥३२॥

तस्यैव रसस्योपमामाह–

घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो। एगट्ठाणो उ रसो अणंतगुणिया कमेणियरा ॥३३॥

(स्वो०)—'घोषातकीनिम्बोपमोऽशुभानां शुभानां क्षीरखण्डोपमः, एकस्थानस्तु रसोऽनन्तगुणिताः क्रमेणेतरे' इति पदानि। पदार्थस्त्वयम्–घोषातनिम्बरसोपमोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसः तुशब्दविशेषितत्वाद् ज्ञापयत्येकस्थानिकरसस्पर्द्धकानि असंख्येयव्यक्ति-

व्यक्तानि, सर्वजघन्यस्पर्द्धकस्येयमुपमा, अनन्तासु रसव्यक्तिव्यतीतासु तदुत्तरस्पर्द्धकः, एवं द्वित्रिचतुःस्थानिकान्यप्यसंख्येयव्यक्तीनि स्पर्द्धकानि, परस्परमनन्तगुणत्वमतो भावनीयम् । शुभप्रकृतीनां एकस्थानिकरसस्यैवाभावाद् द्विस्थानिकसर्व्वघातिसर्वजघन्यरसस्पर्द्धकस्य क्षीरखण्डमित्युपमा, भूयः स्पर्धकवृद्धावुत्तरस्पर्द्धकेष्वनन्तगुणा वृद्धिरिति गाथार्थः ॥३३॥

(मलय०)—सम्प्रति रसस्वरूपमेव शुभाशुभप्रकृतीनामुपमाद्वारेण प्ररूपयति–अशुभानां–अशुभप्रकृतीनामेकस्थानको रसो घोपातकीनिम्बोपमो घोषातकीनिम्बरसोपमोऽतीवविपाककटुक इति भावः । शुभानां–शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसः–एकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानकरसः, शुभप्रकृतीनां ह्येकस्थानकरसबन्धो न भवति, एतच्च प्रागेव भावितम् । अतो यद्यप्येकस्थानको रस इत्युभयत्रापि सामान्येनोक्तं, तथापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानक एकस्थानकशब्देनोक्तो वेदितव्यः । स क्षीरखण्डोपमः क्षीरखण्डरसोपमः, परममनःप्रह्लादहेतुरिति यावत् । तस्माच्च एकस्थानकात् रसादितरे द्विस्थानकादयो रसाः क्रमेण अनन्तगुणिता अवगन्तव्याः, तद्यथा–एकस्थानकाद् द्विस्थानकोऽनन्तगुणः, तस्मादपि त्रिस्थानकोऽनन्तगुणः, ततोऽपि चतुःस्थानकोऽनन्तगुणः । इयमत्र भावना–इहैकस्थानकोऽपि रसो मन्दमन्दतरादिभेदादनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते, एवं प्रत्येकं द्विस्थानकादयोऽपि, एतच्च प्रागपि सप्रपञ्चमुदितम् । तत्राशुभप्रकृतीनां यः सर्वजघन्य एकस्थानको रसः, स निंबघोषातकीरसोपमः, यश्च शुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यो द्विस्थानकरसः स क्षीरखण्डादिरसोपमः, शेषाणि त्वशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसोपेतानि, शुभप्रकृतीनां तु द्विस्थानकरसोपेतानि स्पर्द्धकाणि यथोत्तरमनन्तगुणान्यवसेयानि । ततोऽप्यशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकानि,शुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकचतुःस्थानकानि रससपर्द्धकानि क्रमेणानन्तगुणानि भावनीयानि ॥३३॥

द्वारगाथाचकारसूचितं सत्प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवत्वमभिधातुकाम आह—

उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि। मणुदुगआहारदुगं अट्ठारस अधुवसंताओ ॥३४॥

ध्रुवाध्रुवबन्धित्वादिविभागः

(स्वो०)—'उच्चैर्गोत्रं तीर्थं सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं वैक्रियषट्कं आयूंषि मनुजद्विकाहारकद्विकं अष्टादशाध्रुवसत्य' इति पदानि। पदार्थस्तु सुगमत्वाय विव्रियते—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चाभव्यानां प्रभूतभव्यानां च न भवति, सम्यक्त्वे हेतौ सत्यपि तीर्थकरनाम संयमे सत्यप्याहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं च कस्यचिद् भवति, कस्यचिन्नेति, उच्चैर्गोत्रं 'वैक्रियषट्कमिति वैक्रियशरीरं तदङ्गोपाङ्गं देवनारकगत्यानुपूर्व्यः, एताः सप्त प्रकृतयोऽसम्प्राप्तत्रसत्वस्य न भवन्ति, स्थावरभावगतस्य तु उद्वलनप्रयोगेण स्थितिक्षयेण वा असत्यो भवन्ति, मनुष्यद्विकयुक्ता एता वाय्वग्निकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्त्त(ल)ना प्रयोगेणासत्यो भवन्ति, देवनारकायुष्काणि तु तेषां न सम्भवन्त्येव, तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्रदेवानाम्, एवमध्रुवसत्यो, अष्टादश भावनीयाः, शेषं चतुरधिकं शतं ध्रुवसत्प्रकृतीनां, बन्धनसंघातादिका एतदन्तर्गता एव द्रष्टव्याः, ध्रुवत्वं चासां सम्यक्त्वलाभात् परतः(प्राक्)सर्वजीवेषु सदैव सम्भवादिति गाथार्थः ॥३४॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं सकलमपि प्रसक्तानुप्रसक्तं, संप्रति द्वारगाथाचशब्दसूचितं यत्प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्ताकत्वं, तदभिधित्सुराह—उच्चैर्गोत्रं, तीर्थकरनाम, सम्यक्त्वं, सम्यग्मिथ्यात्वं, देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियांगोपांगलक्षणं वैक्रियषट्कं, नरकायुःप्रभृतीनि चत्वर्यायूंषि, मनुष्यद्विकं—मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणं, आहारकद्विकं—आहारकशरीराहारकांगोपांगरूपं, इत्येता अष्टादश प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका अध्रुवाः, कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्ति, इत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः। तथाहि—उच्चैर्गोत्रं वैक्रियषट्कमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽप्राप्तत्रसत्वावस्थायां न भवन्ति, त्रसत्वे तु प्राप्ते भवन्ति, यदि वा त्रसत्वावस्थायां लब्धा

अपि स्थावरभावं गतेनावस्थाविशेषं प्राप्योद्वल्यन्ते, ततोऽध्रुवसत्ताकाः। तथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च यावन्नाद्यापि तथाभव्यत्वं परिपाकमायाति तावन्न भवति, तथाभव्यत्वपरिपाकसम्भवे च भवति, प्राप्तं वा सत् मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्युद्वल्यते, अभव्यानां च तत्सर्वथा न भवति, ततस्तदप्यध्रुवसत्ताकम्। तीर्थकरनाम सम्यक्त्वे तथाविधविशुद्धिविशेषसमन्विते भवति। आहारकद्विकमपि तथारूपे संयमे सति बन्धमायाति, न तदभावे, अपि च बद्धमपि तदविरतिप्रत्ययतो भूयोऽप्युद्वल्यते। मनुष्यद्विकमपि तेजोभवं वायुभवं वा गतेनोद्वल्यते, ततस्तीर्थकरनामादीन्यप्यध्रुवसत्ताकानि। देवभवे नारकायुः, नारकभवे देवायुः, आनतादिदेवानां तिर्यगायुः, तेजोवायुभवे सप्तमपृथिवीनारकभवे वा मनुष्यायुर्न सत्तायामिति चत्वार्यप्यायूंपि अध्रुवसत्ताकानि। शेषास्तु त्रिंशदुत्तरशतसंख्याकाः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताकाः। आह–अनन्तानुबन्धिनामपि कषायाणामुद्वलनासम्भवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते, कथमुक्ता ध्रुवसत्ताकता? तदेतदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। इह यानि कर्माणि प्रतिनियतामेवावस्थामधिकृत्य बन्धमायान्ति, न सर्वकालं, यानि च विशिष्टगुणावाप्तिमन्तरेण तथाविधभवप्रत्ययादिकारणवशत उद्वलनयोग्यानि भवन्ति, तान्यध्रुवसत्ताकान्यभिप्रेतानि, विशिष्टगुणाप्रतिपत्तितः सत्ताक्षयात्। विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या सर्वेषामपि कर्मणां सत्तोच्छेदसम्भवात्। अनन्तानुबन्धिनश्चानवाप्तसम्यक्त्वादिगुणानां सर्वजीवानामप्यविशेषेण सकलकालं विद्यन्ते, उद्वलना च तेषां विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणप्रतिपत्तिनिबन्धना न सामान्यभवादिप्रत्यया, ततो न ते अध्रुवसत्ताकाः। इहोच्चैर्गोत्रादीनि कर्माणि विशिष्टावस्थाप्रतिपत्तौ बन्धसम्भवात्, तथाविधविशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण चोद्वलनयोगादध्रुवसत्ताकानि भवन्ति, नान्यथा ॥२४॥

उद्वर्त्त(ल)नप्रकृतिप्रमाणमभिधातुकाम आह–

पढमकसायसमेया एयाओ आउतित्थवज्जाओ। सत्तरसुव्वलणाओ तिगेसु गतिआणुपुव्वाऊ॥३५॥

(स्वो०)—प्रथमकषायसमेता एता आयुस्तीर्थवर्जाः सप्तदशोद्वर्त्तिन्यस्त्रिकेषु गत्यानुपूर्व्यायूंषि इति पदानि। पदार्थस्तु-'प्रथमकपाया' अनन्तानुबन्धिनः तैः समेताः पूर्वोक्ता अष्टादश आयुष्कतीर्थकरनामवर्ज्जा सप्तदशसंख्या उद्वर्त्त(ल)न स्वभावा भवन्ति। देवत्रिकादयोऽत्रोच्यते,तत्र तद्गतिरानुपूर्व्यायुरितित्रिकं मन्तव्यमिति गाथार्थः ॥३५॥

(मलय०)—तत एतत्प्रसङ्गतः श्रेण्यारोहाभावे या उद्वलनयोग्याः प्रकृतयस्तासां परिमाणमाह–एता एवानन्तरोक्ता अष्टादश प्रकृतय आयुश्चतुष्टयतीर्थकरनामवर्जाः प्रथमकषायसमेता अनन्तानुबन्धिचतुष्टयसहिताः सप्तदशोद्वलनयोग्या वेदितव्याः, यास्तु शेषाः पट्त्रिंशत्प्रकृतय उद्वलनयोग्यास्ताः श्रेण्यारोह एव नान्यत्र, ततो नेह प्रतिपादिताः, किंत्वग्रे प्रदेशसंक्रमाधिकारे वक्ष्यन्ते। तथा यत्र कुत्रापि देवत्रिकं मनुष्यत्रिकमित्येवं त्रिकमुपादीयते, तत्र तद्गतिस्तदानुपूर्वी तदायुरिति त्रिकमवगन्तव्यम् ॥३५॥

द्वारगाथोक्तपदानामर्थं स्पष्टयन्नाह–

नियहेउसंभवे वि हु भयणिज्जो होइ जाण पयडीणं। बंधो ता अधुवाओ धुवा अभयणीयबंधाओ॥३६॥

(स्वो०)—"निजहेतुसम्भवेऽपि हु भजनीयो भवति यासां प्रकृतीनां बन्धस्ता अध्रुवाः, ध्रुवा अभजनीयबन्धा" इति पदानि। पदार्थस्तु 'निज' आत्मीयो यो 'हेतुः' कारणं तत्सम्भवेऽपि–तत्सन्निधानेऽपि 'भजनीयो' विकल्प्यो बन्धो यासां ताः प्रकृतयोऽध्रुवबन्धिन्यो, यास्तु हेतौ सत्यभजनीयबन्धास्ता ध्रुवबन्धिन्य इति। आह–यद्येवमविरतिप्रत्यये सत्यपि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानजीवाः स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिकषायप्रकृतीश्च कस्मान्न बध्नन्तीति, अत्रोच्यते–हेतवो ह्यत्र त्रिविधा अभिहिताः–सामा-

न्योक्ताः सामान्यविशेषोक्ता विशेषविशेषोक्ताश्च, ते हि यथोत्तरं बलवन्तो भवन्ति। प्रत्येकं च ते बन्ध्यबन्धकभेदाद् द्वेधा। तत्र 'ब-न्धस्स मिच्छअविरइ' इत्याद्यविशेषितस्य सामान्यस्य कर्मणोऽभिहिताः बन्धकहेतुनिरपेक्षाः बन्ध्यसामान्योक्ताः, बन्धकानां त्वमी सामान्येनोक्ताः, 'चउपच्चइओ मिच्छे'त्यादि ! ये तु 'सोलस मिच्छनिमित्ता' इत्यादि, ते प्रकृतिबन्धं प्रति सामान्यविशेषोक्ताः, यत एकपक्षावधारणेन हेतुत्वं कथमुच्यते, मिथ्यात्वप्राधान्येनैव षोडश बध्यन्ते, नतु तासामेव मिथ्यात्वं हेतुः सामान्यहेतुत्वेन सर्वासां भणितत्वात्, एवमविरतिहेतुप्राधान्यनैव पञ्चत्रिंशतां बन्धः, न तु पञ्चत्रिंशतामेव, अष्टषष्टिः कषायप्राधान्येनैव बध्यन्ते, नतु अष्टषष्टीनामेव कषायहेतुत्वं, योगप्राधान्येनैव सातस्य बन्धो, नतु सातस्यैव योगैर्बन्धः, एवमेते बन्धव्यं प्रतीत्य सामान्यविशेषोक्ताः, ये तु 'पणपन्न' इत्याद्यभिहितास्ते बन्धकानां सामान्यविशेषोक्ताः, यतो नैककालं प्रादुर्भवन्ति सम्पूर्णाः, ये तु जीवगुणस्थानेषु, तद्गुणाधिष्ठिता यौगपद्येन प्रादुर्भवन्ति, ते 'दस दस नव नव' इत्यादिनाऽभिहिताः, तैश्च विशेषविशेषोक्तैः विशेषविशेषोक्तानां 'मिच्छे सोलस पणुवीस सासाणो' इत्यादीनां बन्धो भवत्येव, अतोऽनन्तानुबन्धिनां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य चाऽनन्तानुबन्धिनोऽविरत्यादिसहकारिकारणसापेक्षहेतव इति। एवं हेत्वभावे बन्धाभाव इत्यंजसैव सिद्धम्। आह—यद्येवं ततोऽनन्तानुबन्ध्युदयं विनाऽपि पीठमहापीठयोस्तपस्विनोः निर्हेतुकः कथं स्त्रीवेदस्य बन्धः संवृत्तः ? यत्फलं ब्राह्मीसुन्दरीभाव इति, उच्यते—"बाहुसुबाह्वोः साध्वोर्गुणकीर्त्तनजनिततीव्रसंक्लेशात्। जाता तयोर्गुरुं प्रति लेश्या कृष्णा तदा तीव्रा ॥१॥ सा चागमेऽपि सिद्धा प्रमत्तगुणवर्त्तिनां न दोषोऽत्र। तस्या निगूहनात्तन्मायावित्वं तयोर्व्यक्तम् ॥२॥ सञ्ज्वलनाऽपि च माया पूर्वनिबद्धस्य युवतिवेदस्य। स्थितिरसवृद्धिं तीव्रां करोति बन्धं विनाऽप्युदिता ॥३॥ यस्मात् स्थितिरसघातः कथितस्तस्या विशुद्धितः समये। तस्मादवश्यवेद्यं करोति तीव्रं रसं तस्य ॥४॥ नास्ति च त्रिविष्टपाग्रे स्त्रीवेदस्योदयो

वरविमाने। तस्मान्निकाचितत्वादभूत्तयोर्मानवे स भवे ॥५॥ लोकेऽपि सिद्धमेतन्निगूढदोषस्तथाविधं प्राप्य ?। प्रोद्वलनकरं द्रव्यं यात्युदयं नास्त्यतो दोषः ॥६॥ अन्यच्च तयोः समये न क्षायिकदृष्टिता नियमिताऽतः। आकर्षसम्भवाद् गुणपाते बन्धोऽपि न हु दुष्टः ॥७॥ इति। आह—यद्येवमपूर्वकरणगुणस्थानाद्यविभागे कतरहेत्वभावान्निद्राप्रचलयोर्बन्धाभावो नामध्रुवाध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तु तस्यैव मध्यविभागे हास्यरतिभयजुगुप्सानां तदन्तभागे बन्धाभावो भवतीति, अत्रोच्यते—हुशब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशिनष्टि ?—हेतोस्तद्योग्योदयविशेषाणामप्यभावे प्रकृतिबन्धाभावो भवतीत्येतद्विशेषयति, अत्र च गुणस्थानके हास्यरत्युदयविशेषाः प्राधान्येन बन्धहेतवः प्रतिपत्तव्याः, यतोऽध्रुवप्रकृतिबन्धे बन्धहेतव उदयविशेषाः भिन्नाः न सामान्यहेतवो, अन्यच्च अनुभागबन्धेऽपि रसस्थानानि चतुःस्थानिकादीनि कषायोदयविशेषतोऽभिहितानि, तीर्थंकराहारकायुषामपि स्वहेतूनां केचिदुदयविशेषा हेतवो न सर्वेऽपीति न्यायान्न दोषोऽयमथवा योगानां मोहनीयोदयविशेषाणां च प्राधान्यं बन्धहेतुत्वे नत्वविरतेः, तस्या अपि मोहनीयोदयहेतुत्वात्, उक्तं च—'पयडीपएसबन्धा' इत्यादिनेति गाथार्थः ॥३६॥

(मलय०)—तदेवमुक्ताः सप्रतिपक्षा ध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयः। सम्प्रति द्वारगाथोपन्यस्तानां ध्रुवबन्ध्यादिपदानामर्थं स्पष्टयितुकाम आह—यासां प्रकृतीनां निजबन्धहेतुसम्भवेऽपि बन्धो भजनीयो विकल्पनीयो भवति, यथा कदाचिद्भवति कदाचिन्न, ता अध्रुवा अध्रुवबन्धिन्यः, ताश्चेमास्तद्यथा—औदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, आहारकद्विकं, गतिचतुष्टयं, जातिपञ्चकं विहायोगतिद्विकं, आनुपूर्वीचतुष्टयं, संस्थानषट्कं, संहननषट्कं, त्रसादिविंशतिः, उच्छ्वासनाम, तीर्थकरनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, पराघातनाम, सातासातवेदनीये, आयुश्चतुष्टयं, द्विविधं गोत्रं, हास्यरत्यरतिशोकाः वेदत्रयमिति। एता हि त्रिसप्ततिसंख्याकाः प्रकृतयो निजबन्धहेतुसम्भवेऽपि नावश्यं

बन्धमायान्ति। तथाहि–पराघातोच्छ्वासनाम्नोरविरत्यादिनिजबन्धहेतुसम्भवेऽपि यदा पर्याप्तकनाम बध्यते, तदा बन्धमायातः, नापर्याप्तकनामबन्धकाले। आतपनामाप्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धे बन्धमागच्छति, न शेषकालम्। तीर्थकरस्याहारकद्विकस्य च यथाक्रमं सम्यक्त्वे संयमे च सामान्यतो निजबन्धहेतौ विद्यमानेऽपि कदाचिदेव बन्धः। शेषाणामप्यौदारिकद्विकादीनां सप्तषष्टिप्रकृतीनां स्वबन्धहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावः सुप्रतीत एव। तदेताः सर्वा अप्यध्रुवबन्धिन्यः। याः पुनर्निजबन्धहेतुसद्भावे सत्यभजनीयबन्धा अवश्यंभाविबन्धास्ता ध्रुवबन्धिन्यो मतिज्ञानावरणीयादयः, ताश्च प्रागेव प्रतिपादिताः ॥२६॥

उदयं प्रति प्रकृतीनां हेतून् व्याख्यानयन्नाह–

दव्वं खेत्तं कालो भवो य भावो य हेयवो पंच। हेउसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईणं ॥२७॥

(स्वो०)—'द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवश्च भावश्च हेतवः पञ्च हेतुसमासेनोदयो जायते सर्वासां प्रकृतीना'मिति पदानि। पदार्थस्त्वयम्–द्रव्यक्षेत्रकालभवभावा उदयं प्रत्येते हेतवः, चशब्दात्प्रकृतीनां क्षयक्षयोपशमोपशमभावांश्चाङ्गीकृत्य एत एव हेतवः, अन्यच्च यद्यपि कालं विना चत्वारो हेतवः प्रकृतीनां पृथक्पृथगवस्थितानां प्राधान्येन निर्दिष्टाः, तथापि समुदितास्तथाविधसंयोगप्राप्तावेव हेतुत्वमर्हन्ति। एतदेव भावयति–यतो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानेऽपि पिण्डप्रकृतयः परावर्त्तमानाश्च नैककालमुदयं प्राप्नुवन्ति, न चोदयप्राप्तानामपि तीव्रमन्दादयो विशेषाः, अतस्ते तद्विशिष्टहेतुसम्बन्धेनैव भवन्ति, यच्च प्रतिगुणं प्रकृतयो व्यवच्छिन्नाः सत्यो नोदयमर्हन्ति, तदपि जीवस्यान्यथाभवनात्, कालस्य चाभिनवत्वादप्राप्तपूर्वकत्वं हेतोः प्रसह्य गम्यते, अतस्तथाविधहेतुयोग्यानामेवोदयो भवति, अतोऽशेषाणामपि प्रकृतीनां समुदितास्तथाविधसंयोगमुपगता एवोदयहेतवो नान्यथेति। एवं हि हेतुसमासेन–सम्बन्धेन सर्वासां प्रकृतीनामुदयो,

द्वितीयः चकारः समुच्चये, इति गाथार्थः ॥३७॥

(मलय०)—सम्प्रति ध्रुवोदयानां प्रकृतीनामर्थमाचिख्यासुः प्रथमत उदयहेतूनुपदर्शयति–इह सर्वासां प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्चोदयहेतवः, तद्यथा–द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवश्च भावश्च । तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं, यदि वा बाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं, यथा श्रूयमाणं दुर्भाषितभाषापुद्गलद्रव्यं क्रोधोदयस्य, क्षेत्रमाकाशं, कालः समयादिरूपः, भवो मनुष्यादिभवः, भावो जीवस्य परिणामविशेषः । एते च नैकैकश उदयहेतवः, किन्तु समुदिताः । तथा चाह–हेतुसमासेन–उक्तस्वरूपाणां द्रव्यादीनां हेतूनां समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामुदयः, केवलं कापि द्रव्यादिसामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरिति न हेतुत्वव्यभिचारः ॥३७॥

उदयविषयं प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवत्वं दर्शयन्नाह–

अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया। वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ ॥३८॥

(स्वो०)—'अव्यवच्छिन्न उदयो यासां प्रकृतीनां ता ध्रुवोदयाः व्यवच्छिन्नोऽपि हु सम्भवति यासा 'मध्रुवोदयास्ता' इति पदानि। पदार्थस्त्वयं–जीवकर्मसम्बन्धादव्यवच्छिन्नोऽनुसन्ततो यासामुचितकालं यावदुदयस्ता ध्रुवोदयाः, प्रतिनिवृत्तो न भवतीति भावः । यासां तु व्यवच्छिन्नोऽपि–विनाशमुपगतोऽपि भूयः प्रादुर्भवति तथाविधहेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाख्याः । हु शब्दो विशेषणार्थः, किमत्र विशिनष्टि ?–एतदप्राप्तोत्तरगुणानां गृह्यते, अथवा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयता अप्राप्तोपशमसम्यक्त्वस्यैवेति विशेषयति, यत उपशमसम्यक्त्वचारित्रप्राप्तावसाधारणगुणहेतोरनुदयोऽपीष्यते, तदपगमे भूयोऽपि ध्रुवता तथैव स्थिता, न क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वाभ्यां विहन्यते, यतस्तदुदये तस्यैवान्यथापरिणामपरिणतस्योदयो, यतस्ते प्रतिपतितपरिणामास्तदुदयमेव गच्छन्ति, तयोश्च

तदवयवत्वादिति गाथार्थः ॥३८॥

(मलय०)—उक्ता उदयहेतवः, सम्प्रति ध्रुवाध्रुवत्वमुदयमधिकृत्य चिन्तयन्नाह—यासां प्रकृतीनां स्वोदयकालव्यवच्छेदादर्वागव्यवच्छिन्नोऽनुसंतत उदयस्ता ध्रुवोदया मतिज्ञानावरणादयः, यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि हु निश्चितं तथाविधद्रव्यादिसामग्रीविशेषरूपं हेतुं संप्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते, ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः ॥३८॥

सर्वघात्यशुभशुभद्वाराण्यधिकृत्याह—

असुभसुभत्तणघाइत्तणाइं रसभेयओ मुणिज्जाहि। सविसयघायणभेएण वा वि घाइत्तणं नेयं ॥३९॥

(स्वो०)—अशुभशुभत्वघातित्वानि रसभेदतो मन्वीथाः, स्वविषयघातनभेदेन वापि घातित्वं ज्ञेयमिति पदानि। पदार्थस्तु—शुभत्वमशुभत्वं च रसविशेषतो जानीहि, अशुभविपाकाः कटुरसा अशुभा भवन्ति, शुभविपाका जीवाल्हादप्राधान्यजनकाः शुभा भवन्ति, सर्वघातिरसाः सर्वघातिन्यो भवन्ति, देशघातिरसेन देशघातिन्यो भवन्ति, स्वविषयघातनभेदेन वा घातित्वं ज्ञेयम्, याः स्वविषयं सर्वं निघ्नन्ति ताः सर्वघातिन्यो भवन्ति, याः स्वविषयस्य देशं विघ्नन्ति ताः देशघातिन्यो भवन्ति। स च स्वविषयः प्रागेवाभिहित इति गाथार्थः ॥३९॥

(मलय०)—साम्प्रतं सर्वघात्यसर्वघातिशुभाशुभलक्षणमाह—अशुभत्वं शुभत्वं घातित्वं च सर्वदेशभेदभिन्नं प्रकृतीनां रसभेदतो मन्वीथाः, तथाहि—या विपाकदारुणकटुकरसाः प्रकृतयस्ता अशुभाः, यास्तु जीवप्रमोदहेतुरसोपेतास्ताः शुभाः। तथा याः सर्वथा सर्वघातिरसस्पर्द्धकान्वितास्ताः सर्वघातिन्यः, यास्तु देशघातिरसस्पर्द्धकान्वितास्ता देशघातिन्यः, प्रकारान्तरेण सर्वघातित्वं देशघातित्वं

च प्रतिपादयति-स्वविषयो ज्ञानादिलक्षणो गुणः तस्य यद् घातनं, तस्य यो भेदो देशकात्स्न्र्यविषयस्तेन घातित्वं-सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयम् । वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने, अपिः समुच्चये, सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः, स्वविषयैकदेशघातिन्यो देशघातिन्यः । एतच्च प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते ॥३९॥

तदेव रसस्वरूपं वक्तुकाम आह-

जो घाएइ सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो। सो निच्छिद्दो निद्धो तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥४०॥

(स्वो०)—'यो घातयति स्वविषयं सकलं स भवति सर्वघातिरसः, सुगमम‌र्द्धम् , स निच्छिद्रः स्निग्धः तनुकः स्फटिकाभ्रहार विमल' इति पदानि। पदार्थस्तु-सर्वघातिरसो 'निच्छिद्रो भवति स्फटिकवत् , स्निग्धो हारवत् , तनुकः सूक्ष्माऽभ्रपटलवत् , स्फटिकाभ्रहारवद्विमलो वेति गाथार्थः ॥४०॥

(मलय०)—इह रसभेदतः प्रकृतीनां सर्वदेशघातित्वमुक्तं, अतो रसमेव सर्वदेशघातित्वेन प्ररूपयति-यः स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति,स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति, स रसः सर्वघाती भवति। स च ताम्रभाजनवन्निश्छिद्रो, घृतमिवातिशयेन स्निग्धः, द्राक्षावत्तनुकस्तनुप्रदेशोपचितः, स्फटिकाभ्रहारवच्चातीवनिर्मलः। इह रसः केवलो न भवति, ततो रससपर्द्धकसंघात एवंरूपो द्रष्टव्यः ॥

देशघातिरसस्वरूपमाह-

देसविघाइत्तणओ इयरो कडकंबलंसुसंकासो। विविहबहुछिद्दभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो य ॥४१॥

(स्वो०)—'देशघातित्वादितरः कटकम्बलांशुकसङ्काशः विविधबहुच्छिद्रभृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्चे'ति पदानि। पदार्थस्तु देशघातित्वाद्धेतोरितरो देशघातिरसः कटसदृशो बृहच्छिद्रविवक्षया, कम्बलसदृशो मध्यमच्छिद्रविवक्षया, अंशुकसदृशोऽतिसूक्ष्मच्छिद्रविवक्षया, एवं स्थूरत्वादिविवक्षया छिद्रसंख्याविवक्षया वा व्याख्या कार्या, अल्पस्नेहो वैमल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥४१॥

(मलय०)—देशघातिरसस्वरूपमाह—इतरो देशघाती देशघातित्वात्स्वविषयैकदेशघातित्वाद्भवति, स च विविधबहुच्छिद्रभृतः, तद्यथा—कश्चिद्वंशदलनिर्मापितकट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसंकुलः, कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलः, कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीवसूक्ष्मविवरसंवृतः। 'कडकंबलंसुसंकासो' इति, कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः, अंशुकं वस्त्रं, तत्संकाशः। तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहाविभागसमुदायरूपः, अविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥४१॥

अघातिरसस्वरूपमाह—

जाण न विसओ घाइत्तणंमि ताणंपि सव्वघाइरसो। जायइ घाइसगासेण चोरया वेह चोराणं ॥४२॥

(स्वो०)—'यासां न विषयो घातित्वे तासामपि सर्वघातिरसो जायते घातिसमासेन, चौरता वेहाचौराणामि'ति पदानि। पदार्थस्तु—यासामघातिकर्मप्रकृतीनां हन्तव्यविषयो नास्ति तासामपि सर्वघातिरसो भवति, रसस्थानस्पर्द्धकान्यधिकृत्य घातिकर्मसंयोगात् हेतोः, यथा चौरता भवति चौरसङ्गेनेह लोके—अस्मिन् जने, तद्वियोगेऽसर्वघातित्वं संजातमेवेति गाथार्थः ॥४२॥

(मलय०)—अघातिरसस्वरूपमाह—यासां प्रकृतीनां घातित्वे घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयः, न किमपि याः प्रकृतयो ज्ञानादिकं गुणं घातयन्तीत्यर्थः, तासामपि घातिसकाशेन सर्वघातिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघाती रसः। अत्रैव निदर्शनमाह—यथा स्वयम-

चौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता ॥४२॥

देशघातिविषयं प्रदर्शयन्नाह—

घाइखओवसमेणं सम्मचरित्ताइं जाइं जीवस्स । ताणं हणंति देसं संजलणा नोकसाया य ॥४३॥

(स्वो०)—'घातिक्षयोपशमेन सम्यक्त्वचारित्रे ये जीवस्य । तयोर्घ्नन्ति देशं संज्वलना नोकषायाश्चे'ति पदानि । पदार्थस्तु—सर्वघातिमोहनीयस्य क्षयोपशमेन सम्यक्त्वचारित्रे ये जीवस्य तयोर्मालिन्यं कुर्वन्ति संज्वलना नोकषायाश्चोदयप्राप्ता विपाकानुभवनेनानुभूयमाना इति गाथार्थः ॥४३॥

(मलय०)—संप्रति यदुक्तं प्राग् देशघातित्वं, तत्संज्वलननोकषायाणां विभावयन्नाह—मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यादीनां क्षयोपशमेन ये जाते जीवस्य सम्यक्त्वचारित्रे, तयोर्देशमेकदेशं विपाकोदयप्राप्ताः संतः संज्वलनाः क्रोधादयो नोकषाया हास्यादयो घ्नन्ति, मालिन्यमात्रमुत्पादयन्तीति भावः । ततः संज्वलना नोकषायाश्च देशघातिनः । एवं ज्ञानदर्शनदानादिलब्ध्यैकदेशघातित्वान्मतिज्ञानावरणीयादयोऽपि प्रकृतयो देशघातिन्यो भावनीयाः ॥४३॥

परावर्त्तनद्वारमधिकृत्याह—

विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए । सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥४४॥

(स्वो०)—'विनिवार्य या गच्छति बन्धमुदयं वाऽन्यप्रकृतेः, सा हु परावर्त्तमाना, अनिवारयन्ती अपरावर्त्ता'इति पदानि । पदार्थ-

स्तु-बन्धमुदयं वा हुशब्दाधिक्यादुभयं या विनिवार्य-विनिवर्त्त्यान्यस्याः प्रकृतेर्या स्वतो बन्धमुदयमुभयं वा याति सा परावर्त्तमाना, या तु बन्धोदयोभयं प्रति नान्यस्या उपघातं करोति सा अपरावर्त्तमाना। एतदेव भाव्यते-एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः पूर्वोक्ता बन्धोदयोभयकालेषु नान्यप्रकृतेः निरोधं कुर्वन्ति, अतोऽपरावर्त्तमाना इति। षोडश कषायाः पञ्चनिद्राः, ध्रुवबन्धित्वात् यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो बन्धं प्रति परोपरोधं न कुर्वन्ति, तथापि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात्परावर्त्तमाना भवन्ति। स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयस्तु यद्यप्युदये न विरुद्धाः तथापि बन्धं प्रति परावर्त्तमानाः। शेषा गतीन्द्रियौदारिकादिशरीराङ्गोपाङ्गसंहननसंस्थानानुपूर्व्यातपोद्योतविहायोगतित्रसादिवेदहास्यरतिसातोच्चायूंषि एताः सेतराः षट्षष्ठिप्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धाः अतः परावर्त्तमाना इति गाथार्थः ॥४४॥

(मलय०)—सम्प्रति परावर्त्तमानप्रकृतीनां लक्षणमाह-या प्रकृतिरन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयं वा निवार्य स्वयं बन्धमुदयं वा गच्छति, सा हु निश्चितं परावर्त्तमानाः, ताश्च सर्वसंख्ययैकनवतिः, तद्यथा-निद्रापञ्चकं, सातासातवेदनीये, षोडश कषायाः, वेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकाः, आयुश्चतुष्टयं, गतिचतुष्टयं, जातिपञ्चकं, औदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, आहारकद्विकं, षट् संहननानि, षट् संस्थानानि, चतस्र आनुपूर्व्यः, विहायोगतिद्विकं, आतपनाम, उद्योतनाम, त्रसादिविंशतिः उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च। कथमेताः परावर्त्तमानाः? इति चेत्, उच्यते-इह यद्यपि षोडशकषायाः पञ्चनिद्राश्च ध्रुवबन्धित्वाद्युगपदपि बन्धमायान्ति, न परस्परसजातीयप्रकृतिबन्धनिरोधपुरस्सरं, तथापि यदोदयमयन्ते तदा सजातीयप्रकृत्युदयं विनिवार्यैव नान्यथा, तत एता एकविंशतिरपि प्रकृतय उदयमधिकृत्य परावर्त्तमानाः। स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयो युगपदप्युदयमश्नुवते, परं स्थिरशुभे अस्थिराशुभबन्धं, अस्थिराशुभे स्थिरशुभबन्धं निरुध्य, तमपेक्ष्यैताः

परावर्त्तमानाः । शेषास्तु गत्यादयो बन्धमुदयं वा सजातीयप्रकृतिबन्धोदयनिरोधतः प्रपद्यन्ते, ततस्ता उभयथापि परावर्त्तमानाः ॥४४॥

विपाक इति व्याख्यानयन्नाह—

दुविहा विवगओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ । एक्केक्का वि य चउहा जओ च सद्दो विगप्पेणं ॥४५॥

(स्वो०)—'द्विविधा विपाकतः पुनः हेतुविपाकतो रसविपाकतो, एकैका अपि च चतुर्धा, यतश्चशब्दो विकल्पेने'ति पदानि । पदार्थस्तु—विपाकमधिकृत्य प्रकृतयो द्विधा भवन्ति—हेतुविपाका रसविपाकाश्च । हेतुप्राधान्येन विपाकनिर्देशो यासां तास्तथा, रसप्राधान्येन विपाकनिर्देशो यासां तास्तथा । पुनः भूय एकैकाः चतुर्विधा भवन्ति, तत्र हेतुविपाकाः पुद्गलक्षेत्रभवभावभेदाच्चतुर्विधाः, रसविपाका अपि चतुस्त्रिद्व्येकरसस्थानभेदाच्चतुर्विधा एव । कुत एतदवसीयते ? यतो द्वारगाथायां चशब्दो विकल्पेन कर्त्राभिप्रेत इति गाथार्थः ॥४५॥

(मलय०)—संप्रति विपाकतश्चतुर्धेति यदुक्तं, तद्व्याख्यानयन्नाह—विपाकतो विपाकमाश्रित्य प्रकृतयो द्विविधा द्विप्रकारा भवन्ति, तद्यथा—हेतुविपाका रसविपाकाश्च । तत्र हेतुतो हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता हेतुविपाकाः, रसतो रसमुररीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता रसविपाकाः । अपि पुनश्चतुर्धा चतुष्प्रकाराः, तत्र पुद्गलक्षेत्रभवजीवहेतुभेदाच्चतुर्विधा हेतुविपाकाः, तद्यथा—पुद्गलविपाकाः, क्षेत्रविपाकाः, भवविपाकाः, जीवविपाकाश्च, ताश्च प्रागेवोक्ताः । तथा चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसभेदाच्चतुर्विधा रसविपाकाः, तद्यथा—चतुःस्थानकरसाः, त्रिस्थानकरसाः, द्विस्थानकरसाः, एकस्थानकरसाश्च । एकस्थानकादिभेदभिन्नश्च रसः प्रागेवोक्तः । ननु विपाकतो द्विधा प्रकृतयो भवन्तीति द्वारगाथायां नोपात्तं, तत्कथमिदानीं विव्रियते ? तदयुक्तमनुपात्तत्वासिद्धेः । तथा चाह—यतश्चशब्दोऽपि विकल्पेन, यतो यस्माद् द्वारगाथायां प्रकृतयश्चेत्यत्र चशब्दो विकल्पेन विकल्पलक्षणेनार्थेन बोद्धव्यः, ततोऽयमर्थः—

विपाकतश्चतुर्धा भवन्त्यन्यथा वा, तत्रान्यथात्वं हेतुरसभेदाद् द्वैविध्यरूपं द्रष्टव्यमिति ॥४५॥

हेतुविपाकमधिकृत्याह–

जा जं समेच्च हेउं विवागउदयं उवेंति पगईओ । ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइं सुगमाइं ॥४६॥

(स्वो०)—'या यं समेत्य हेतुं विपाकोदयमुपयान्ति प्रकृतयः, तास्तद्विपाकसंज्ञाः, शेषाभिधानानि सुगमानी'ति पदानि। पदार्थस्तु– द्रव्यक्षेत्रकालभवभावाख्याः पञ्च हेतवः प्राग् येऽभिहिताः उदयं प्रति ते एव प्राधान्येन व्यवस्थाप्य निर्दिश्यन्ते, कर्मपुद्गलद्रव्योदये यासामकर्मपुद्गलास्तथाविधपरिणामाः तद्भावे तद्भावमुपेत्योपचयहेतुत्वेन वर्त्तन्ते ताः पुद्गलविपाकिन्यः। किमुक्तं भवति–अकर्मपुद्गलसाहचर्येण कर्मद्रव्यस्य व्यक्तेः स्फुटता भवतीति भावः, शरीरादीनां यथाहारौषधपानादिभिर्दृश्यते सा प्रसभमिति। क्षेत्रप्राधान्यादुचितक्षेत्रप्राप्तावेव विपाको यासां तास्तथा, एवमुचितभवप्राप्तावेव विपाको यासां तास्तथा, भवनं भावो जीवस्यावस्थान्तरभावित्वं तद्धेतुर्यासां तास्तथा, जीवावस्थान्तरविशेषात्तासामुदयोपलब्धिर्भवतीति भावः। शेषाभिधानानि ध्रुवसत्कर्माध्रुवसत्कर्मोद्वलनकर्मेत्यादीनि सुगमानि इति गाथार्थः ॥४६॥

(मलय०)—सम्प्रति हेतुविपाकत्वमेव भावयन्नाह–याः प्रकृतयः संस्थाननामादिका यं पुद्गलादिलक्षणं हेतुं कारणं समेत्य संप्राप्य विपाकोदयमुपयान्ति, तास्तद्विपाकसंज्ञाः, पुद्गलादिविपाकसंज्ञाः। यथा संस्थाननामादिकाः प्रकृतय औदारिकादीन् पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमधिश्रयन्ते, ततस्ताः पुद्गलविपाकाः। आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽपि क्षेत्रं सम्प्राप्य विपाकोदयं गच्छन्तीति क्षेत्रविपाका इत्यादि। शेषाभिधानानि तु ध्रुवसत्कर्माध्रुवसत्कर्मोद्वलनादीनि सुगमानि, ततो न विशेषतो विभाव्यते ॥४६॥

एवमुक्ते कश्चिदाह—

अरइरईणं उदओ किन्न भवे पोग्गलाणि संपप्प। अप्पुट्ठेहि वि किन्नो एवं कोहाइयाणंपि ॥४७॥

(स्वो०)—'अरतिरत्योरुदयः किं न भवेत् पुद्गलान् सम्प्राप्य। अस्पृष्टैरपि किं नो एवं क्रोधादीनामपि' पदानि। पदार्थस्तु—कण्टकादिद्रव्यं प्राप्यारतेः स्रक्चन्दनादि प्राप्य रतेः कस्माद्विपाकोदयो न भवति? शरीरसंस्थानादीनां पुद्गलविपाकिनीनामिव। अत्रोच्यते—अस्पृष्टैरपि पुद्गलैः किं तयोरुदयो न भवति? अपि तु भवत्येव, यतः प्रियाप्रियकथासम्बन्धेनापि तदुदयो भवति, तथाविध जीवस्य संवेदनमित्यतो जीवविपाकित्वमेव। अन्यच्च तदुदये शुभाशुभपुद्गलैः साहाय्यं कर्त्तव्यमेव, नैष नियमो, यथा पुद्गलविपाकिनीनां, एवं क्रोधादयोऽपि भावनीया इति गाथार्थः ॥४७॥

(मलय०)—एवमुक्ते सति पुद्गलविपाकत्वमधिकृत्य यत्परस्य वक्तव्यं तदनूद्य दूषयति—ननु यदि याः प्रकृतयः पुद्गलान् सम्प्राप्य विपाकोदयमधिश्रयन्ति ताः पुद्गलविपाकाः, तर्हि रत्यरत्योरप्युदयः किं न पुद्गलान् सम्प्राप्य भवति? तयोरपि पुद्गलानेव सम्प्राप्योदयो भवतीति भावः। तथाहि—कण्टकादिसंस्पर्शादरतेर्विपाकोदयः, स्रक्चन्दनादिसंस्पर्शात्तु रतेः, ततस्ते अपि पुद्गलविपाकिन्यौ युक्ते, न जीवविपाकिन्याविति। एवं परेण काक्का प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽपि काक्का प्रत्युत्तरमाह—'अप्पुट्ठेहि वि किन्नो' अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेषु किं तयोः रत्यरत्योर्विपाकोदयो न भवति? भवत्येवेति भावः। तथाहि—कण्टकादिस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियाप्रियदर्शनस्मरणादिना दृश्यते रत्यरत्योर्विपाकोदयः, ततः पुद्गलव्यभिचारान्न ते पुद्गलविपाकिन्यौ, किं तु जीवविपाकिन्यौ। एवं परोपन्यस्तपूर्वपक्षव्युदासेन क्रोधादीनामपि जीवविपाकित्वं भावनीयम् ॥४७॥

भवविपाकमाश्रित्याह–

आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जह्मा। नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि ॥४८॥

(स्वो०)—'आयुरिव भवविपाकिन्यो गतयः, नायुषः परभवे यस्मान्नो सर्वथाप्युदयः तस्याः पुनः संक्रमेणाऽस्ती'ति पदानि। पदार्थस्तु यथायुषां देवादिभवे अवश्यं विपाकोदयो भवति, तथा गतीनामपि, अतो भवविपाकिन्य इत्यभिप्रायः। उच्यते–न–नैवमेतत्, आयुषः परभवे यस्मात् सर्वथा नोदयः, स्वभावाविष्टत्वात्, गतयस्त्वस्मिन्नेव भवे सर्वाः संक्रमेण संवेद्यन्त इति, यतो मोक्षगामिनः शेषाः अपि मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो जीवविपाकिन्य एवेति गाथार्थः ॥४८॥

(मलय०)—सम्प्रति भवविपाकित्वमधिकृत्य परो ब्रूते–नन्वायुषां यथा स्वस्वभव एव विपाकोदयो भवति नान्यत्र, तथा गतीनामपि, न खलु गतयोऽपि स्वस्वभवव्यतिरेकेणान्यत्र विपाकोदयमधिश्रयन्तीति सुप्रतीतमेतज्जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनां, ततो गतयोऽप्यायुर्वद्भवविपाकाः किं नाभिधीयन्ते ?, एवं परेणोक्ते सति सूरिः परोक्तमनूद्य प्रतिषेधयति–आयुर्वद्गतयोऽपि भवविपाका न भवन्ति, यस्मादायुषः परभवे सर्वथापि संक्रमेणाप्युदयो न भवति, ततः सर्वथा स्वभवव्यभिचाराभावादायूंषि भवविपाकानि व्यपदिश्यन्ते, गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमेणोदयोऽस्ति, ततः स्वभवव्यभिचारान्न ता भवविपाकिन्यः ॥४८॥

क्षेत्रविपाकमाश्रित्याह–

अणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संते वि। जह खेत्त हेउओ ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥४९॥

(स्वो०)—आनुपूर्वीणामुदयः किं संक्रमणेन नास्ति ? येन ताः क्षेत्रविपाकित्वेनोपदिश्यन्ते, न जीवविपाकित्वेन गतिवत्। अत्रोच्यते–

विद्यमानेऽपि संक्रमे यथा तासां नियतक्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एव इति गाथार्थः ॥४९॥

(मलय०)—सम्प्रति क्षेत्रविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्त्तुमाह–ननु यदि गतीनां स्वस्वभवव्यतिरेकेणाप्यन्यत्र भवान्तरे संक्रमेणोदयोऽस्तीति कृत्वा स्वभवव्यभिचारान्न ता भवविपाकिन्य उच्यन्ते, किन्तु जीवविपाकिन्यः, तर्ह्यानुपूर्वीणां स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र किमुदयः संक्रमेण नास्ति ? न विद्यते ? येन ता नियमतः क्षेत्रविपाकिन्यो व्यवह्रियन्ते, अन्यत्राप्यस्ति संक्रमेणोदयः, ततः स्वक्षेत्रव्यभिचारान्न ताः क्षेत्रविपाकिन्यो वक्तुमुचिताः, किन्तु जीवविपाकिन्य एवेति परस्याभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह–'सन्ते वि' इत्यादि, सत्यपि स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र संक्रमोदये यथा तासां क्षेत्रहेतुकः स्वविपाकः स्वविपाकोदयप्रादुर्भावः, तथा नान्यासां प्रकृतीनामित्यसाधारणक्षेत्रलक्षणहेतुख्यापनार्थं क्षेत्रविपाकिन्य उच्यन्ते ॥४९॥

जीवविपाकत्वमधिकृत्याह–

संपप्प जीवकाला काओ उदयं न जंति पगईओ। एवमिणमोहहेउं आसज्ज विसेसयं नत्थि ॥५०॥

(स्वो०)—'सम्प्राप्य जीवकालौ काः उदयं न यान्ति प्रकृतयः ?। एवमेतत् ओघहेतुं आश्रित्य विशेषितं नास्तीति,' पदानि। पदार्थः–जीवकालौ हेतुत्वेन प्राप्य कास्ताः प्रकृतयो या उदयं न यान्ति ? ताभ्यां विना उदयाभावात्, सर्वदा तयोरव्यवच्छेदादिति भावः, तस्मात् सर्वा जीवविपाकिन्यो भवन्त्विति काकुः ? उच्यते–एवमेतद्धेतुसामान्यग्रहणे, विशेषहेतुग्रहणे त्वासां यथा विशिष्टाः द्रव्यक्षेत्रभावाः पुद्गलादिविपाकिप्रकृतिहेतवः, एवं जीवकालयोरपि विशेषमधिकृत्य जीवविपाकिनीनामेव हेतुत्वमवसेयम्, यतस्तद्भावेऽपि सर्वासामनुदयादिति गाथार्थः ॥५०॥

(मलय०)—जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह—ननु कास्ताः कर्मप्रकृतयः या जीवं कालं चाश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति ? सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्योदयमधिगच्छन्तीति भावः। जीवकालावन्तरेणोदयासम्भवात्, ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः। अत्राचार्य आह—'एममिणं'इत्यादि, ओघतः सामान्येन हेतुं हेतुत्वमात्रमाश्रित्य एवमेतत्, यथा त्वयोक्तं तथैव, विशेषितं त्वसाधारणं तु हेतुमाश्रित्यैतन्न भवति। जीवः कालो वा सर्वासामपि प्रकृतीनामुदयं प्रति साधारणः, ततस्तदपेक्षया चेत्प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते, तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव कालविपाका एव वा, नास्त्यत्र संदेहः। परं कासाञ्चित्प्रकृतीनां क्षेत्रादिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति, ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकित्वादिव्यपदेश इत्यदोषः ॥५०॥

रसविपाकमधिकृत्य कश्चिदाह—

केवलदुगस्स सुहुमो हासाइसु कह न कुणइ अपुव्वो। सुभगाईणं मिच्छो किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥५१॥

(स्वो०)—'केवलद्विकस्य सूक्ष्मः, हास्यादिषु कथं न करोत्यपूर्वः। सुभगादीनां मिथ्यादृष्टिः क्लिष्ट एकस्थानिकरसमिति' पदानि। पदार्थस्तु केवलज्ञानदर्शनावरणयोः सूक्ष्मो, हास्यादिचतुष्कस्यापूर्वकरणः, 'सुभगादीनां' शुभानां मिथ्यादृष्टिः स चातिक्लिष्टः किमिति बन्धकाले एकस्थानिकरसं न करोति न विदधाति ? इति गाथार्थः ॥५१॥

(मलय०)—सम्प्रति रसमधिकृत्य परः पूर्वपक्षयति—ननु यथा श्रेण्यारोहेऽनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु परतोऽतिविशुद्धिसम्भवान्मतिज्ञानावरणीयादीनामशुभप्रकृतीनामेकस्थानकं रसं बध्नाति, तथा क्षपकश्रेण्यारोहे सूक्ष्मसंपरायश्चरमद्विचरमादिषु समयेषु वर्त्तमानोऽतीव विशुद्धत्वात्केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्य किं नैकस्थानकं रसं निर्वर्त्तयति ?

केवलद्विकं ह्यशुभमतिविशुद्धकश्च बन्धकेषु क्षपकश्रेण्यारूढः सूक्ष्मसम्परायः, ततो मतिज्ञानावरणीयादेरिव सम्भवति केवलद्विकस्याप्येकस्थानकरसबन्धः, स किं नोक्तः ? इति प्रष्टुरभिप्रायः। तथा हास्यादिषु 'षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्' हास्यादीनां-हास्यरतिभयजुगुप्सानामशुभत्वात् अपूर्वोऽपूर्वकरणो, हास्यादिबन्धकानां मध्ये तस्यातिविशुद्धिप्रकर्षप्राप्तत्वात्। शुभादीनां च शुभप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टः, संक्लेशप्रकर्षसम्भवे हि शुभप्रकृतीनामेकस्थानकोऽपि रसबन्धः सम्भाव्यते, इति कथमेकस्थानकं रसं न बध्नाति ? येन पूर्वोक्ता एव सप्तदश प्रकृतयश्चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसा उच्यन्ते, न शेषाः प्रकृतयः ? ॥५१॥

अत्रोच्यते-

जलरेहसमकसाए वि एगठाणी न केवलदुगस्स। जं अणुयंपि हु भणियं आवरणं सव्वघाई से ॥५२॥

(स्वो०)—'जलरेखासमकषायैरपि एकस्थानिको न केवलद्विकस्य, यतस्तनुकमपि हु भणितं आवरणं सर्वघाति तयोरि'ति पदानि। पदार्थस्तु-जलरेखातुल्येऽपि कषायोदये एकस्थानिकरसो न भवति केवलद्विकस्य, यतस्तस्यातितनुकोऽपि निकृष्टोऽपि सर्वघात्येव रसः प्रतिपादितः, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वादिति गाथार्थः ॥५२॥

(मलय०)—अत्र सूरिराह-जलरेखासमेऽपि जलरेखातुल्येऽपि कषाये संज्वलनलक्षण उदयमागते न केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्यैकस्थानिको रसो भवति, कुत ? इत्याह-यत् यस्मात् 'से' तस्य केवलद्विकस्य तनुकमपि सर्वजघन्यमप्यावरणं रसलक्षणं हु निश्चितं सर्वघाति भणितं तीर्थकरगणधरैः, सर्वजघन्योऽपि रसस्तस्य सर्वघाती भणित इति भावार्थः। सर्वघाती च रसो जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव भवति नैकस्थानकः, ततो न केवलद्विकस्यैकस्थानरसबन्धसम्भवः ॥५२॥

पुनरप्याह–

सेसासुभाण वि न जं खवगियराणं न तारिसा सुद्धी। न सुभाणंपि हु जम्हा ताणं बंधो विसुज्झंति[1] ॥५३॥

(स्वो०)—'शेषाशुभानामपि न, यतः क्षपकेतराणां न तादृक् शुद्धिः, न शुभानामपि हु, यस्मात् तासां बन्धो विशुद्ध्यमान' इति पदानि। पदार्थस्तु–ज्ञानदर्शनावरणसप्तकान्तरायपञ्चकपुरुषसंज्वलनेभ्यः अन्यासां शेषाशुभानामपि नैवैक (स्थानिक) रसबन्धः, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, यतो–यस्मात्क्षपकेतराणां प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां संज्वलनोदयेऽपि तादृशा शुद्धिर्नास्ति, यतः एकस्थानिकरसकरणसामर्थ्यं स्यात्, अतो द्विस्थानिक एव रसः, शुभानामपि स एव भवति जघन्यो नान्यो, यस्मात् शुभप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टौ विशुध्यमाने बन्धो भवति, अतिसंक्लिष्टे त्वशुभानामिति गाथार्थः ॥५३॥

(मलय०)—सम्प्रति हास्यादिप्रकृतीरधिकृत्योत्तरमाह–शेषाशुभानामपि प्रागुक्तमतिज्ञानावरणीयादिसप्तदशप्रकृतिव्यतिरिक्तानामशुभप्रकृतीनां नैकस्थानकरसबन्धसम्भवो, यत् यस्मात् कारणात् क्षपकेतरेषां क्षपकस्यापूर्वकरणस्येतरयोरप्रमत्तप्रमत्तसंयतयोर्न तादृशी शुद्धिर्यत एकस्थानकरसबन्धो, यदा त्वेकस्थानकरसबन्धयोग्या परमप्रकर्षप्राप्ता विशुद्धिरनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो जायते, तदा बन्धमेव न ता आयान्तीति न तासामेकस्थानको रसः। तथा शुभानामपि मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टो हु निश्चितं नैकस्थानकं रसं बध्नाति, यस्मात्तासां शुभप्रकृतीनामतिसंक्लिष्टे मिथ्यादृष्टौ बन्धो न भवति किंतु मनाग् विशुध्यमाने, संक्लेशोत्कर्षे च शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धसम्भवो, न तदभावे, ततस्तासामपि जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव रसः, नैकस्थानकः, यावस्त्वति-

१ विसुज्झते, इति प्रत्यन्तरे। विसुज्झंतो इत्यपि प्रत्यन्तरे।

संक्लिष्टेऽपि मिथ्यादृष्टौ नरकगतिप्रायोग्या वैक्रियतैजसादिकाः शुभप्रकृतयो बन्धमायान्ति, तासामपि तथास्वाभाव्याज्जघन्यतोऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमधिगच्छति नैकस्थानकः ॥५३॥

आह परः–

उक्कोसठिईअज्झवसाणेहिं एगठाणिओ होही। सुभियाण तन्न जं ठिइअसंखगुणिया उ अणुभागा॥

(स्वो०)—'उत्कृष्टस्थित्यध्यवसायैरेकस्थानिको भविष्यति शुभानां, तन्न, यतः स्थित्यसंख्येयगुणा त्वनुभागा इति पदानि' पदार्थः– यैरध्यवसायविशेषैः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति, तत्संक्लेशेन एकस्थानिको रसो भविष्यतीति पराभिप्रायः, शुभानां तन्न भवति, कस्माद्–यतः स्थित्यध्यवसायेभ्योऽसंख्येयगुणा अनुभागबन्धाध्यवसायाः, तुशब्दविशेषणादसंख्येयाध्यवसायैरप्येका स्थितिः, समयवृद्धावसंख्येयाः स्थितिविशेषाः, एकैकस्थितौ असंख्येया रसस्पर्द्धकविशेषाः, एवं हि द्विस्थानिकरसस्यैवासंख्येया विशेषा भवन्ति उत्कृष्टस्थितौ, न त्वेकस्थानिकरस इति गाथार्थः ॥५४॥

(मलय०)—अत्र परः प्रश्नयति–ननु सर्वासामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमानस्य भवति, नान्यथा। उक्तं च–"सव्वठिईणमुक्कोसगो उक्कोससंकिलेसेणं।" ततो यैरेवाध्यवसायैः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति, तैरेवाध्यवसायैरेकस्थानकोऽपि रसो भविष्यति, ततः कथमुच्यते न शुभानामपि प्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धः? अत्रोत्तरमाह–'तन्न' इत्यादि, यदेतदुक्तं तन्न, यस्मात्स्थितेरसंख्येयगुणा एवानुभागाः, तुरेवकारार्थः, कात्र भावना? इति चेत्, उच्यते–इह प्रथमस्थितेरारभ्य समयसमय वृद्ध्या सर्वसंकलनेन परिभाव्यमाना असंख्येयाः स्थितिविशेषाः, एकैकस्यां च स्थितावसंख्येया रसस्पर्द्धकसंघातविशेषाः, तत

उत्कृष्टस्थितौ वद्ध्यमानायां प्रतिस्थितिविशेषमसंख्येया ये रसस्पर्द्धकसंघातविशेषाः, ते तावन्तो द्विस्थानकस्यैव घटन्ते, नैकस्थानकस्य, इति न शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धेऽप्येकस्थानकरसबन्धः ॥५४॥

सत्कर्मणः सम्बन्धमाह–

दुविहमिह संतकम्मं धुवाधुवं सूइयं च सद्देण । धुवसंतं चिय पढमा जओ न नियमा विसंजोगो ॥५५

(स्वो०)—'द्विविधमत्र सत्कर्म, ध्रुवाध्रुवं सूचितं चशब्देन, ध्रुवसन्त एव प्रथमाः यतो न नियमात् विसंयोग' इति पदानि । पदार्थः– द्विविकल्पं सत्कर्म, ध्रुवमध्रुवं च, यत्सर्वसंसारिणामप्राप्तोत्तरगुणानां सातत्येन भवति, तद् ध्रुवं, यत्कादाचित्कभावि तदध्रुवं चशब्देन सूचितम् । अनन्तानुबन्धिन उद्वलितान् असद्भूतान् मत्वा तानप्यध्रुवान् यः कल्पयति तं प्रत्याह–ध्रुवा एव ते, यतस्तेषामुद्वर्त्तनमपि विसंयोगोऽपि उत्तरगुणाविर्भूतो न सर्वजीवानामतो ध्रुवाः, उत्तरगुणकृतं तु सर्वासामप्यध्रुवत्वं, न तेषामेव, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतीर्थकराहारकाणामुत्तरगुणप्राप्तौ सत्ताऽत एव प्राप्तगुणानामध्रुवा इति गाथार्थः ॥५५॥

(मलय०)—संप्रति सत्कर्माधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह–द्वारगाथोपन्यस्तेन चशब्देनेह सत्कर्म द्विविधं, द्विप्रकारं सूचितम् । तद्यथा –ध्रुवमध्रुवं च । तत्र यत्सर्वसंसारिणामनवाप्तोत्तरगुणानां सातत्येन भवति तद् ध्रुवसत्कर्म, एतच्च प्रागेवोक्तं । ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयश्च चतुरुत्तरशतसंख्याकाः, ताश्चेमास्तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, सातासातवेदनीये, मिथ्यात्वं, षोडशकषायाः, नवनोकषायाः, तिर्यग्द्विकं, जातिपञ्चकं, औदारिकद्विकं, तैजसकार्मणे, संस्थानषट्कं, संहननषट्कं, वर्णादिचतुष्कं, विहायोगतिद्विकं, पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातनामानि, त्रसादिविंशतिर्नीचैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति । यत्पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद्भवति कदा-

चिन्न, तदध्रुवसत्कर्म । एवं च सति यत्परेणोच्यते, नन्वनन्तानुबन्धिनामप्युद्वलना संभवतीति कथं तेषामध्रुवसत्कर्मता नाभिधीयते ? इति तदपास्तमवगन्तव्यम् । तथा चाह–'धुवसंतं' इत्यादि, यतो यस्मात्कारणान्न प्रथमानामनन्तानुबन्धिनां कषायाणां नियमाद्गुणप्राप्तिमन्तरेणावश्यम्भावितया विसंयोगो विसंयोजना भवति, किन्तूत्तरगुणप्राप्तिवशात् । न चोत्तरगुणप्राप्तिवशतः सत्तोपरमः प्रकृतीनामध्रुवसत्कर्मव्यपदेशहेतुः, अन्यथा सर्वासामपि कर्मप्रकृतीनां तत्तदुत्तरगुणयोगतः सत्तोपरमोऽस्तीति सर्वा अप्यध्रुवसत्कर्मव्यपदेशयोग्या भवेयुः, न चैतदस्ति, तस्मात्प्रथमा अनन्तानुबन्धिनः कषाया ध्रुवसंत एव । सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतीर्थकराहारकद्विकानि तूत्तरगुणप्राप्तावेव सत्तां लभन्ते, अतस्तानि सुप्रतीतान्येवाध्रुवसत्ताकानि ॥५५॥

अणुदयउदओभयबंधणी उ उभबंधउदयवोच्छया । संतरउभयनिरंतरबंधा उदसंकमुक्कोसा ॥१॥

अणुदयसंकमजेट्ठा उदएणुदए य बंधउक्कोसा । उदयाणुदयवइओ तितितिचउदुहाउ सव्वाओ ॥२॥

(मलय०)—इह वक्ष्यमाणप्रकृतिस्वरूपप्रतिपादकमन्यकर्तृकं द्वारगाथाद्वयमस्ति, तच्च मन्दमतीनां सुखावबोधहेतुरतस्तदपि लिख्यते–इह प्रकृतयस्त्रिधा, तद्यथा–स्वानुदयबन्धिन्यः, स्वोदयबन्धिन्यः, उभयबन्धिन्यश्च । तत्र स्वस्यानुदय एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वानुदयबन्धिन्यः, स्वस्योदये एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वोदयबन्धिन्यः, तथोभयस्मिन्नुदयेऽनुदये वा बन्धोऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः । पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयः, तद्यथा–समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः, क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः, उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाश्च । तत्र समकमेककालं व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः, ताश्च 'उभ' इत्यनेन

पदेन गृहीताः । तथा क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः, ताश्च 'बंध' इत्यनेनांशेन परिगृहीताः । तथोत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्ध इत्येवंलक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः, ताश्च 'उदय' इत्यनेनावयवेन संगृहीताः । पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा—'संतरउभयनिरंतरबंधा' त्ति–सांतरबंधाः, उभयबंधा इति सांतरनिरन्तरबन्धाः, निरन्तरबन्धाश्च । एतासां च लक्षणं स्वयमेवाचार्योऽग्रे वक्ष्यतीति नाभिधीयते । पुनरन्यथा चतुर्धा प्रकृतयस्तथा चाह—'उदसंकमुक्कोसा' इत्यादि, उदयसंक्रमोत्कृष्टा, 'अणुदयसंकमजेट्ठा' इति, अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः, 'उदएणुदए य बंधउक्कोसा' इति, उदयबंधोत्कृष्टा अनुदयबंधोत्कृष्टाश्च। तथा पुनरन्यथा द्विधा प्रकृतयस्तद्यथा—उदयवत्योऽनुदयवत्यश्च। 'तिति' इत्यादि, एताः सर्वा अपि प्रकृतयो यथाक्रमं त्रित्रित्रिचतुर्द्विधा भवन्ति। ताश्च तथैव पूर्वमुद्दिष्टाः ॥१–२॥

स्वानुदये स्वोदये उभयस्मिंश्च बन्धः यतोऽतस्त्रिविधाः प्रकृतयो भवन्ति, ता अभिधातुकाम आह—

देवनिरयाउवेउव्विछक्कआहारजुयलतित्थाणं । बंधो अणुदयकाले धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥५६॥

(स्वो०)—'देवनरकायुःवैक्रियषट्काहारयुगलतीर्थानां बन्धोऽनुदयकाले ध्रुवोदयानां तूदये' इति पदानि। पदार्थस्तु—देवत्रिकस्य देवगतौ नरकत्रिकस्य नरकगतौ वैक्रियद्विकस्योभयत्र तत्रोदयो न बन्धस्तासां, केवलप्राप्तौ तीर्थङ्करनामोदयो न तत्र बन्धः, आहारककरणव्यापृतस्य न बन्धोऽतः एकादशानामनुदये बन्धः। ध्रुवोदयानामुदये बन्धो ध्रुवत्वादेव भावितम् । तुशब्दविशेषणाच्छेषाणां त्र्यशीतिप्रकृतीनामुदये वानुदये वा बन्धो भवति। पञ्च निद्राः, पञ्चजातयः, षट् संहननानि, षट् संस्थानानि, पञ्चविंशतिः कषायाः, उपघातत्रिकातपोद्योतवेदनीयगोत्रयुग्मानि ४, मनुष्यतिर्यक्त्रिके ६, औदारिकविहायोगतियुग्मे ४, त्रसादिचतुष्कसुस्वरादिचतुष्कयुग्मानि

१६, एतासां तिर्यग्मनुष्यगतिस्थजीवानां ध्रुवबन्धिनीनामुदयपरावर्त्तनादुभयं, शेषाणां स्वभवयोग्यानां बन्धे परभवयोग्यानामबन्धे उदयो भावनीय इति गाथार्थः ॥५६॥

(मलय०)—सम्प्रत्येताः सर्वा अपि क्रमेण वक्तव्याः, तत्र प्रथमतः स्वानुदयोदयोभयबन्धिनीः प्रकृतीर्निर्दिदिक्षुराह—देवायुर्नरकायुर्देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कं, आहारकद्विकं—आहारकशरीरमाहारकाङ्गोपाङ्गरूपं तीर्थकरनामेत्येतासामेकादशप्रकृतीनां बन्धः स्वस्वानुदयकाल एव । तथाहि—देवत्रिकस्य देवगतौ वर्त्तमानस्योदयो, नरकत्रिकस्य नरकगतौ, वैक्रियद्विकस्योभयत्र, न च देवा नारका वैताः प्रकृतीर्बध्नन्ति तथाभवस्वाभाव्यात् । तीर्थकरनामापि च केवलज्ञानप्राप्तावुदयमागच्छति, न च तदानीं तस्य बन्धः, अपूर्वकरणगुणस्थानक एव तस्य बन्धव्यवच्छेदात् । आहारककरणव्यापृतश्च लब्ध्युपजीवनेन प्रमादभावतः, तदुत्तरकालवर्त्ती तु तथाविधविशुद्ध्यभावतो मन्दसंयमस्थानवर्त्तित्वान्नाहारकद्विकबन्धमारभते, तत एताः सर्वा अपि स्वानुदयबन्धिन्यः । ध्रुवोदयानां पुनर्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकमिथ्यात्वनिर्माणतैजसकार्मणस्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभलक्षणानां सप्तविंशतिप्रकृतीनामुदय एव सति बन्ध उपजायते, ध्रुवोदयतया तासां सर्वदोदयभावात् , अतो ध्रुवोदयाः स्वोदयबन्धिन्यः । शेषास्तु निद्रापञ्चकजातिपञ्चकसंस्थानषट्कसंहननषट्कषायषोडशकनवनोकषायपराघातोपघातातपोद्योतोच्छ्वाससातासातवेदनीयोच्चनीचैर्गोत्रमनुष्यत्रिकतिर्यक्त्रिकौदारिकद्विकप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणसुस्वरसुभगादेययशःकीर्त्तिदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपा ह्यशीतिसंख्याः स्वोदयानुदयबन्धिन्यः । तथाहि—एताः प्रकृतयस्तिरश्चां मनुष्याणां वा यथायोगमुदयेऽनुदये वा बन्धमायान्ति, ततः स्वोदयानुदयबन्धिन्य उच्यन्ते ॥५६॥

बन्धोदयव्यवच्छेदः कासाञ्चित्समकं, प्रथमं बन्धस्य पश्चादुदयस्य अन्यासां, प्रथमं उदयस्य पश्चात्तु बन्धस्येति व्यत्ययेनापरासामिति त्रैविध्यं प्रकृतीनामभिधातुकाम आह—

गयचरमलोभधुवबंधि मोहहासरतिमणुयपुव्विणं। सुहमतिगआयवाणं सपुरिसवेयाण बंधुदया॥५७॥

वोच्छिज्जंति समंचिय कमसो सेसाण उक्कमेणं तु। अट्ठण्हमजससुरतिग वेउव्वाहारजुयलाणं ॥५८॥

(स्वो०)—'गतचरमलोभध्रुवबन्धिमोहहास्यरतिमनुजानुपूर्वीणां सूक्ष्मत्रिकातपानां सपुरुषवेदानां बन्धोदयौ, व्यवच्छिद्येते सममेवे'त्युत्तरगाथायामितिपदानि। पदार्थस्तुः सञ्ज्वलनलोभवर्जा अष्टादश मोहनीयध्रुवा हास्यरतिपुंवेदैः सहैकविंशतिः २१ मनुजानुपूर्विसूक्ष्मत्रिकातपैः षड्विंशतिः २६। आसां बन्धोदयौ समकं तिष्ठतः, कथं? सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टौ, अनन्तानुबन्धिनां सास्वादने मनुजानुपूर्वीद्वितीयकषायाणां अविरते, तृतीयकषायाणां देशविरते, हास्यरतिभयजुगुप्सानामपूर्वकरणे, संज्वलनत्रिकपुंवेदयोः बादरे, समं बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते इति गाथार्थः। 'व्यवच्छिद्यन्ते सममेव क्रमशः शेषाणामुत्क्रमेण तु अष्टानामयशःसुरत्रिकवैक्रियाहारकयुगलानामि'ति पदानि। पदार्थस्तु—शेषाणां षडशीतिप्रकृतीनां बन्धोदययोः क्रमेण व्यवच्छेदः, अष्टानामुत्क्रमेण प्रथममुदयस्य पश्चाद् बन्धस्येत्यर्थः। भावना—ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनषट्कं, संस्थानषट्कं, नामध्रुवोदया द्वादश, सुस्वरदुःस्वरविहायोगत्यौदारिकयुग्मे, प्रत्येकं वज्रऋषभनाराचं, उपघातत्रिकं, मनुजायुः, सातासातोच्चायोगिनवकानां प्रकृतीनां अष्टपञ्चाशतां, बन्धकातीतेषु क्षीणकषायसयोगायोगिगुणेषु उदयः, अतो भाविता एव। स्थावरनरकत्रिकजातिचतुष्कान्त्यसंहनननपुंसकानां दशानामपि मिथ्यादृष्टौ बन्धः सास्वादनादि-

पूदयः, दुर्भगोद्योतानादेयतिर्यक्स्त्यानर्द्धित्रिकनीचस्त्रीमध्यमसंहननचतुष्कानां पञ्चदशानां सास्वादनो बन्धकः अविरतादिषूदयः, अरतिशोकसंज्वलनलोभाः भाविता एव, एषा शेषा षडशीतिः। उत्क्रमेणाष्टानामिति सुरत्रिकवैक्रियद्विकायशसां प्रमत्तादिषु बन्ध उदयस्त्वविरते, आहारकद्विकस्यापूर्वकरणे बन्धः प्रमत्ते उदयः, एवं भाव्यमिति गाथार्थः ॥५७-५८॥

(मलय०)—संप्रति समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयादिप्रकृतीरभिधित्सुराह—गतोऽपनीतश्चरमो लोभः संज्वलनरूपो यस्य स गतचरमलोभः, स चासौ ध्रुवबन्धिप्रकृत्यात्मको मोहश्च गतचरमलोभध्रुवबन्धिमोहः, मोहनीयसत्काः संज्वलनलोभहीनाः पञ्चदशकषायमिथ्यात्वभयजुगुप्सारूपा अष्टादश ध्रुवबन्धिन्य इत्यर्थः तासां, तथा हास्यरतिमनुजानुपूर्वीणां, तथा सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकातपनाम्नोः सपुरुषवेदयोः पुरुषवेदसहितयोः सर्वसंख्यया षड्विंशतिप्रकृतीनां सममेव समकालमेव बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते। तथाहि—सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टौ, अनन्तानुबन्धिनां सासादने, मनुष्यानुपूर्वीद्वितीयकषायाणामविरते, प्रत्याख्यानावरणकषायाणां देशविरते, हास्यरतिभयजुगुप्सानामपूर्वकरणे, संज्वलनत्रिकपुंवेदयोरनिवृत्तिबादरसम्पराये बन्धोदयौ समकमेव व्यवच्छेदमाप्नुतः, तत एताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। शेषाणां तूक्तवक्ष्यमाणव्यतिरिक्तानां षडशीतिप्रकृतीनां क्रमेण बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते। तद्यथा—पूर्वं बन्धस्य व्यवच्छेदः, पश्चादुदयस्य। तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानां सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायचरमसमये। निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणप्रथमभागे, उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायद्विचरमसमये। तथाऽसातवेदनीयस्य प्रमत्ते, सातवेदनीयस्य सयोगिचरमसमये बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदः पुनरुभयोरपि सयोगिकेवलिचरमसमयेऽयोगिकेवलिचरमसमये वा। तथा चरमसंस्थानस्य मिथ्यादृष्टौ, मध्यसंस्थानचतुष्टयाप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नां

सासादने, औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोरविरतसम्यग्दृष्टौ, अस्थिराशुभयोः प्रमत्तसंयते, तैजसकार्मणसमचतुरस्रसंस्थानवर्णादिचतुष्काગुरुलघुचतुष्टयप्रत्येकस्थिरशुभसुस्वरनिर्माणानामपूर्वकरणषष्ठे भागे बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदः पुनरासां सर्वासामपि प्रकृतीनामष्टाविंशतिसंख्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये। तथा मनुष्यत्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदोऽविरतसम्यग्दृष्टौ, पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेयतीर्थकरनाम्नामपूर्वकरणषष्ठभागे, यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये, उदयव्यवच्छेदः पुनरासां द्वादशानामपि प्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये। तथा स्थावरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां नरकत्रिकस्यान्तिमसंहननस्य नपुंसकवेदस्य मिथ्यादृष्टौ बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथाक्रमं सासादने, अविरतसम्यग्दृष्टौ, अप्रमत्तसंयते, अनिवृत्तिबादरसम्पराये। तथा स्त्रीवेदस्य सासादने बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदः पुनरनिवृत्तिबादरे। तथा तिर्यगानुपूर्वीदुर्भगानादेयानां तिर्यग्गतितिर्यगायुरुद्योतनीचैर्गोत्राणां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य चतुर्थपञ्चमसंहननयोर्द्वितीयतृतीयसंहननयोश्च बन्धव्यवच्छेदः सासादनसम्यग्दृष्टौ, उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथासंख्यमविरते, देशविरते, प्रमत्तसंयते, अप्रमत्तसंयते, उपशान्तमोहे। तथा अरतिशोकयोर्बन्धव्यवच्छेदः प्रमत्तसंयते, उदयव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणे। संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये, उदयव्यवच्छेदः सूक्ष्मसम्परायान्तिमसमये। तत एता षडशीतिरपि प्रकृतयः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। तथाष्टानामयशःकीर्तिसुरत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामुत्क्रमेण प्रागुदयस्य व्यवच्छेदः, पश्चाद्बन्धस्येत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्येते बन्धोदयौ। तथाहि—अयशःकीर्तेः प्रमत्ते, देवायुषोऽप्रमत्ते, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपूकरणे बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदस्तु षण्णामप्यविरतसम्यग्दृष्टौ। आहारकद्विकस्य पुनरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेदः, उदयव्यवच्छेदोऽप्रमत्तसंयते। तत एता अष्टावपि उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः ॥५७–५८॥

सान्तरास्सान्तरनिरन्तरा निरन्तरा इति प्रकृतीनां त्रैविध्यमाह–

धुवबंधिणी उ तित्थगरनाम आउ य चउक्क बावन्ना । एया निरंतराओ सगवीसुभ संतरा सेसा ॥५९॥

(स्वो०)—'ध्रुवबन्धिन्यः तीर्थङ्करनाम आयुःचतुष्कं द्वापञ्चाशत् एता निरंतराः, सप्तविंशतिरुभयाः, सान्तरा शेषा' इति पदानि। पदार्थः–ध्रुवबन्धिन्यः सप्तचत्वारिंशत्पूर्वोक्तास्तीर्थङ्करनाम आयुश्चतुष्कयुक्ता द्वापञ्चाशदेता निरन्तराः प्रकृतयः, सप्तविंशतिरुभया वक्ष्यमाणाः, शेषाः सान्तराः अरति२ हास्य २ नारकाहारकद्विकान्यसाताशुभविहायोगतिस्त्रीनपुंसकातपोद्योतैकेन्द्रियविकलजातयः, आद्यरहितानि संहननसंस्थानानि, स्थिरशुभयशःस्थावरादिदशकं एता एकचत्वारिंशच्छेषा इति गाथार्थः ॥५९॥

(मलय०)—साम्प्रतं सान्तरादिप्रकृतीः प्ररूपयति–ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्साऽगुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयरूपाः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, तीर्थकरनामायुश्चतुष्टयमिति द्विपञ्चाशत्संख्याः प्रकृतयो निरन्तरा वक्ष्यमाणशब्दार्था वेदितव्याः, तथा वक्ष्यमाणाः सप्तविंशतिप्रकृतय 'उभ' इति–उभयाः सांतरनिरन्तरा इत्यर्थः, शेषास्त्वेकचत्वारिंशत्प्रकृतयः सान्तराः ॥५९॥

पूर्वोद्दिष्टाः सप्तविंशतिप्रकृतीराह–

चउरंसउसभपरघाउसासपुंसगलसायसुभखगई । वेउव्विउरलसुरनरातिरिगोयदु सुसरतस तिचऊ ॥६०॥

(स्वो०)—'चतुरस्रर्षभपराघातोच्छ्वासपुंसकलसातशुभखगतयः। वैक्रियौदारिकसुरनरतिर्यग्गोत्रद्विकसुस्वरत्रसत्रिकचतुः' पदानि।

पदार्थस्तु–चतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननपराघातोच्छ्वासपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिसातशुभविहायोगतिरित्यष्टौ, वैक्रियौदारिकदेवनरतिर्यग्गोत्रद्विकैर्द्वादशं, सुस्वरसुभगादेयत्रसादिचतुष्कं एताः सप्तविंशतिरुभयाः सान्तरनिरन्तरा इति गाथार्थः ॥६०॥

(मलय०)—अधुना पूर्वोद्दिष्टाः सप्तविंशतिप्रकृतीरुपदर्शयति–समचतुरस्रसंस्थानं, वज्रर्षभनाराचसंहननं, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम पुरुषवेदः, पञ्चेन्द्रियजातिः, सातवेदनीयं, शुभविहायोगतिः, वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकं, सुरद्विकं, मनुष्यद्विकं, तिर्यग्द्विकं, गोत्रद्विकं, 'सुसरतस तिचउ' त्ति–यथाक्रममत्र संख्यासंख्येययोजना । सुस्वरत्रिकं सुस्वरसुभगादेयरूपं, त्रसचतुष्कं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकलक्षणं इत्येताः सप्तविंशतिः प्रकृतयः सान्तरनिरन्तराः ॥६०॥

अभिधानकारणमाह–

समयाओ अंतमुहू उक्कोसो जाण संतरा ताओ । बंधेहियंमि उभया निरंतरा तम्मि उ जहन्ने ॥६१॥

(स्वो०)—'समयादन्तर्मुहूर्त्तं उत्कृष्टो यासां सान्तरास्ताः, बन्धेऽधिके उभयाः, निरंतरास्तस्मिंस्तु जघन्ये' इति पदानि । पदार्थस्तु–समयः कालविशेषः तस्मादारभ्य यासां नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्त्तं यावद् बन्धो न तत्परतः उत्कृष्टेनापि, ताः सान्तराभिधानाः । समयादारभ्याभ्यधिकमसंख्येयकालेनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं नैरन्तर्येण या बध्यन्ते ता उभयाः सान्तरनिरन्तरा इति । जघन्येनापि या अन्तर्मुहूर्त्तं यावद् बध्यन्ते नैरन्तर्येण तुशब्दात् ध्रुवबन्धिन्यश्च ता निरन्तरा इति गाथार्थः ॥६१॥

(मलय०)—सांप्रतं सांतरनिरन्तरादिव्यपदेशनिबन्धनमाह–यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्त्तं न परतः, ताः सान्तराभिधाना बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्त्तमध्येऽपि सहान्तरेण व्यवधानेन व्यवच्छेदलक्षणेन वर्त्तन्ते यास्ताः

सांतरा इति व्युत्पत्तिबलात्। ताश्चेमास्तद्यथा–असातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकाद्यरहितसंस्थानपञ्चकाद्यरहितसंहननपञ्चकाद्यजातिचतुष्टयातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभयशःकीर्त्तयः स्थावरादिदशकं च। एता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, परतस्तु निजबन्धहेतुसद्भावेऽपि तथास्वाभाव्यतस्तद्योग्याध्यवसायपरावर्तनेन नियमतः प्रतिपक्षप्रकृतीर्बध्नाति, ततः सान्तरा अभिधीयन्ते। तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतः समयादारभ्य नैरंतर्येणान्तर्मुहूर्त्तस्योपर्यप्यसंख्येयं कालं यावत् ता उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः। बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्त्तमध्ये सांतराश्च निरन्तराश्चेति कृत्वा, ताश्च प्रागुक्ताः समचतुरस्रादयः सप्तविंशतिप्रकृतयः, ता हि जघन्यत समयमात्रं बध्यन्ते, ततः सान्तराः, उत्कर्षतोऽनुत्तरसुरादिभिरसंख्येयमपि कालं, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमध्ये व्यवच्छेदाभावान्निरन्तराः। 'तंमि उ जहन्ने' इति–जघन्ये इति जघन्येनापि याः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावन्नैरन्तर्येण बध्यन्ते ता निरन्तराः, निर्गतं बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्त्तमध्येऽन्तरं व्यवधानं व्यवच्छेदो यकाभ्यस्ता निरन्तरा इति व्युत्पत्तेः, ताश्च प्रागुक्ता ध्रुवबन्धिन्यादयः, ता हि जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावदवश्यं नैरन्तर्येण बध्यन्ते इति ॥६१॥

अथ प्रकृतीनां यथार्थमभिधानचतुष्टयमाह–

उदए व अणुदए वा बंधाओ अन्नसंकमाओ वा। ठिइसंतं जाण भवे उक्कोसं ता तयक्खाओ ॥६२॥

(स्वो०)—'उदये वाऽनुदये वा बन्धादन्यसंक्रमाद्वा स्थितिसत्कर्म यासां भवेदुत्कृष्टं तास्तदाख्या' इति पदानि। पदार्थस्तु–उदयकालेऽनुभूयमानानां स्वबन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः, एवमनुदये बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः, उदयेऽन्याभ्यः संक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः, अनुदये संक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म

यासां ताः अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा इति गाथार्थः ॥६२॥

(मलय०)-तदेवमुक्ता निरन्तरादिप्रकृतयः। संप्रत्युदयबन्धोत्कृष्टादिप्रकृतीर्विवक्षुः प्रथमतोऽभिधानकारणमाह-यासां प्रकृतीनामुदये वानुदये वा बन्धादन्यप्रकृतिदलिकसंक्रमतो वा स्थितिसत्कर्मोत्कृष्टं भवति, तास्तदाख्यास्तदनुरूपसंज्ञका वेदितव्याः। तद्यथा-यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः, यासां तु विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः, यासां पुनर्विपाकोदये प्रवर्त्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म लभ्यते, न बन्धतस्ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभिधानाः, यासां पुनरनुदये संक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाख्याः ॥६२॥

ता एवाह-

मणुगइ सायं सम्मं थिरहासाइछ वेयसुभखगई। रिसहचउरंसगाई पणुच्च उदसंकमुक्कोसा ॥६३॥

(स्वो०)—मनुष्यगतिः सातं सम्यक्त्वं स्थिरादिषट् हास्यादिषट् वेदत्रयं शुभविहायोगतिः, ऋषभादिपञ्चसंहननानि, चतुरस्रादिपञ्चसंस्थानानि, उच्चैर्गोत्रं, एतास्त्रिंशत्प्रकृतयः उदयसंक्रमोत्कृष्टाः। कथं ? आसां प्रागुपन्यस्तानां उदयप्राप्तानां विपक्षभूता नरकगत्यसातमिथ्यात्वादि(दयः तासामु)घृत्कृष्टस्थितिं विधाय भूय उदयप्राप्तानामेव बन्धं करोति, बध्यमानासु तासु विपक्षदलं संक्रमयति, यतः शुभानां स्वबन्धेन स्तोका भवति, अशुभानामुत्कृष्टा स्थितिः, अतः संक्रमादेवोत्कृष्टा स्थितिरासामत एव तन्नाम इति गाथार्थः ॥६३॥

(मलय०)—तत्रानानुपूर्व्यप्यस्तीति ख्यापनाय प्रथमत उदयसंक्रमोत्कृष्टाः प्रकृतीः कथयति-मनुष्यगतिः, सातवेदनीयं, सम्यक्त्वं, स्थिरादिषट्कं स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तिलक्षणं, हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं, वेदत्रिकं स्त्रीपुन्नपुंसक-

वेदरूपं, शुभविहायोगतिः, वज्रर्षभनाराचादीनि पञ्च संहननानि, समचतुरस्रादीनि पञ्च संस्थानानि, उच्चैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशत्प्रकृतय उदयसंक्रमोत्कृष्टाः। आसां हि प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां या विपक्षभूता नरकगत्यसातवेदनीयमिथ्यात्वादयः प्रकृतयस्तासामुत्कृष्टां स्थितिं बध्ध्वा भूय आसामेवोदयप्राप्तानां बन्धमारभते, बध्यमानासु चैतास्वनन्तरबद्धनरकगत्यादिविपक्षप्रकृतिदलिकं संक्रमयति, शुभप्रकृतीनां च स्थितिः स्वबन्धेन स्तोकैव भवति, अशुभानां तूत्कृष्टा, ततः संक्रमत आसामुत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते, इत्येता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभिधानाः ॥६३॥

मणुयाणुपुव्विमीसगआहारगदेवजुगलविगलाणि। सुहुमाइतिगं तित्थं अणुदयसंकमण उक्कोसा ॥६४॥

(स्वो०)—मनुजानुपूर्वी सम्यग्मिथ्यात्वं आहारकयुगलं देवयुगलं विगलेन्द्रियजातित्रिकं सूक्ष्मादित्रिकं तीर्थङ्करनाम एताः त्रयोदशानुदयसंक्रमोत्कृष्टाः। कथं ? इत्युच्यते–मिथ्यादृष्टिमनुष्यस्य एता अनुदयप्राप्ता, मिथ्यात्वे नामोत्कृष्टस्थितिकाः प्रकृतीश्च बद्धा प्राग्वत्तथाविधो भूत्वा तद्बन्धक इति भावः, ततोऽनुदये संक्रमयति, अतोऽनुदयसंक्रमोत्कृष्टा इति गाथार्थः ॥६४॥

(मलय०)—साम्प्रतमनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः प्रतिपादयति–मनुष्यानुपूर्वी, सम्यग्मिथ्यात्वमाहारकयुगलं–आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं, देवयुगलं–देवगतिदेवानुपूर्वीलक्षणं, विकलत्रिकं–त्रिकलेन्द्रियजातित्रिकं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपं, सूक्ष्मत्रिकं–सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणं, तीर्थकरनाम, एतास्त्रयोदश प्रकृतयोऽनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः। यत एतासामुत्कृष्टा स्थितिः स्वबन्धतो नावाप्यते, किन्तु संक्रमतः, संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिस्तदावाप्यते, यदा एतद्विपक्षप्रकृतीरुत्कृष्टस्थितीर्बध्ध्वा तदनन्तरमेतासु बध्यमानासु तद्दलिकं संक्रमयति। एतद्विपक्षप्रकृतीनां चोत्कृष्टस्थितिबन्धकः प्रायो मिथ्यादृष्ट्यादिर्मनुष्यः, न च तदानीमासामुदयोऽस्तीत्यनुदय-

संक्रमोत्कृष्टाः ॥६४॥

नारयतिरिउरलदुगं छेवट्ठेगिंदिथावरायावं। निद्दा अणुदयजेट्ठा उदयउक्कोसा पराणाऊ ॥६५॥

(स्वो०)—नारकतिर्यगौदारिकद्विकानि अन्त्यसंहननमेकेन्द्रियस्थावरातपः निद्रापञ्चकं एताः पञ्चदश अनुदयबन्धोत्कृष्टाः, आयुश्चतुष्कवर्जिताः शेषाः षष्टिप्रकृतयः उदयबन्धोत्कृष्टा इति। कथं ? इत्युच्यते–मनुष्यादिः[१] यथायोगं मिथ्यादृष्टिरनुदये पञ्चदशानां उत्कृष्टस्थितिं बन्धेनैव करोति, अनुदयबन्धोत्कृष्टा इति। शेषाः पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं, हुण्डसंस्थानं, पराघातोच्छ्वासोद्योताशुभविहायोगतिनाम, ध्रुवबन्धिन्यो नवास्थिरादिषट्कं, त्रसादिचतुष्कं, नीचासातं, षोडश कषाया, मिथ्यात्वं, ज्ञानान्तरायदशकं, दर्शनचतुष्कं, एताः षष्टिरुदयबन्धोत्कृष्टाः, विशेषतः प्रतिप्रकृति कर्म्मप्रकृतौ भावनीयम्। आयुषां परस्परसंक्रमणं नास्ति, तद् बद्धमप्यायुर्दलं न पूर्वबद्धस्योपचयाय भवति, पृथगवतिष्ठते, अतो नैकेनापि प्रकारेणोत्कृष्टा स्थितिसत्कर्मता भवति, अतः संज्ञाचतुष्टयातीतानीति गाथार्थः ॥

(मलय०)—सम्प्रत्यनुदयबन्धोत्कृष्टोदयबन्धोत्कृष्टप्रकृतीराह–नरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकसेवार्त्तसंहननैकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामानि पञ्चनिद्राः, इत्येताः पञ्चदश प्रकृतयोऽनुदयबन्धोत्कृष्टाः, शेषाः पुनरनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः, पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योत(अशुभ)विहायोगतयोऽगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्काणि (अ)स्थिरादिषट्कं त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं षोडशकषाया मिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टिः प्रकृतय उदयबन्धोत्कृष्टाः, एतासां ह्युदयप्राप्तानां स्वबन्धनत उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते, तत एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः। आयुषां तु न परस्परसं-

---

१ मनुष्यो मिथ्यादृष्टिरनिद्रोदये द्वादशानां, अन्त्यसंहननौदारिकाणां नारको अनुदये उत्कृष्टस्थितिं बंधेनैव करोति, इति प्रत्यन्तरे

क्रमो नापि बध्यमानमायुर्दलिकं पूर्वबद्धस्यायुष उपचयाय प्रभवति, तत एकेनापि प्रकारेण तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टा स्थितिर्नावाप्यत इति ते अनुदयबन्धोत्कृष्टादिसंज्ञाचतुष्टयातीते, देवनरकायुषी तु यद्यपि परमार्थतोऽनुदयबन्धोत्कृष्टे, तथापि प्रयोजनाभावतः पूर्वसूरिभिः संज्ञाचतुष्टयातीते विवक्षिते, इति तयोरपि प्रतिषेधः ॥६५॥

क्षपकश्रेण्युपयोग्यभिधानद्वयमभिधातुकाम आह—

चरिमसमयंमि दलियं जासिं अन्नत्थसंकमे ताओ। अणुदयवइ इयरीओ उदयवई होंति पगईओ ॥६६॥

(स्वो०)—'चरमसमये' अन्त्यसमये, दलं यद् व्यवस्थितं तत् यासामन्यत्र अन्यासु प्रकृतिषु संक्रमयेज्जीवः परिणामविशेषेण नयेत्, अन्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत् न स्वोदयेनेति भावः ता अनुदयवत्यः। इतरा याः स्वोदयेन चरमसमये जीवोऽनुभवति ता उदयवत्य इत्यभिधानद्वयलक्षणमिति गाथार्थः ॥६६॥

(मलय०)—सम्प्रत्युदयवत्यनुदयवतीप्रकृतिलक्षणमाह—यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्तसमयेऽन्यत्रान्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयेत्, संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत्, न स्वोदयेन, ता अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः, इतरास्तु प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति, यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेद्यते ॥६६॥

ता एवाभिधातुकाम आह—

नाणंतरायआउगदंसणचउवेयणीयमपुमित्थी। चरिमुदयउच्चवेयग उदयवई चरिमलोभो य ॥६७॥

(स्वो०)—'ज्ञानान्तरायायुष्कदर्शनचतुर्वेदनीयापुंस्त्रियः चरमोदयोच्चवेदका उदयवत्यश्चरमलोभश्चे'ति पदानि। पदार्थो—यथावसरं स्वभवान्तसमये आयुषां, ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्कस्य(करूपाणां) चतुर्दशानां क्षीणकषायान्तसमये, चरमोदयाः—नामनवकं—मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रससुभगादित्रितये तीर्थङ्करं चेति, उच्चैर्गोत्रं सातमसातं चैतासां द्वादशानां अयोग्यन्तसमये, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसम्परायान्ते, वेदकस्य स्वक्षयान्तसमये, स्त्रीनपुंसकयोः क्षपकश्रेण्यां बादरकषायस्य संख्येयेषु भागेष्वतीतेषु तदुदयान्तसमये स्वविपाकानुभवनं यतोऽन्त्यसमयेऽपि भवत्यतः एता उदयवत्यः। यद्यपि सातासातयोः स्त्रीनपुंसकयोश्च अनुदयवतीत्वमपि सम्भवति, तथाऽप्युत्तमगुणाश्रयणादुदयवतीत्वं ग्राह्यम्। शेषं तु चतुर्दशोत्तरशतमनुदयवतीनां, कथं? नाम्नो नवकत्रयोदशकवर्जिता एकसप्ततिः सुज्ञाना नीचैर्गोत्रं च, एता उदयगतासु स्वजातीयासु प्रक्षिप्य परानुभावेनोपान्त्यसमयेऽनुभवत्ययोगीति, एवं क्षीणकषायो निद्राद्वयं, मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे तदपि सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सप्तकक्षपकोऽनुभवति, अनन्तानुबन्धिनस्तु सप्तकक्षपकः तेषां क्षपणसमये तद्दलं बध्यमानासु चारित्रमोहनीयप्रकृतिषु गुणसंक्रमेण सङ्क्षिपति तदनुभावं विधाय, उदयावलिकागतं उदयगतासु संक्रमयति तदनुभावेनानुभवति, तेष्वयं क्षपणविधिः, स्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतैकेन्द्रियविकलेन्द्रियनारकद्विकातिर्यग्द्विकप्रकृतयः त्रयोदश बध्यमानायां यशःकीर्त्तौ, ता अनुदयवतीः, तदनुभावात्–तद्रसविपाकविधायिगुणसंक्रमेण संक्रमयति, तासामुदयावलिकागतं दलं नाम्न उदयगतासु च प्रक्षिप्य तद्व्यपदेशेनानुभवति, स्त्यानर्द्धित्रिकमप्येवं दर्शनावरणचतुष्के प्रक्षिपति, उदयागतं तदनुभावेनानुभवति, एवमुक्तशेषा अष्टौ कषायास्तथा हास्यादिषट्कं पुरुषवेदं संज्वलना उत्तरोत्तरप्रक्षेपेणानुभवति, अतोऽनुदयवत्य इति गाथार्थः ॥६७॥

समाप्तं तृतीयद्वारं ग्रन्थशतैः सप्तभिः ७००

(मलय०)—सम्प्रति ता एवोदयवतीः प्रकृतीरभिधातुकाम आह—ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदया नामनवकरूपाः, ताश्चेमाः—मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनामपर्याप्तकनामशुभनामसुस्वरनामादेयनामतीर्थकरनाम, तथोच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभः—सञ्ज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतय उदयवत्यः। तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये, चरमोदयानां च नामनवकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसङ्ख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसम्परायान्त्यसमये, वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये, स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्त्यसमये, आयुषां च स्वस्वभवचरमसमये स्ववेदनमस्ति, तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते। यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि सम्भवति, तथापि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेशं प्रयच्छन्तीत्युदयवत्यः पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः। शेषास्तु चतुर्दशोत्तरशतसङ्ख्या अनुदयवत्यः, तासां दलिकस्य चरमसमयेऽन्यत्र संक्रमणतः स्वविपाकवेदनाभावात्। तथाहि—चरमोदयसंज्ञनामनवकनरकद्विकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतवर्जाः शेषा नाम्न एकसप्ततिप्रकृतयो नीचैर्गोत्रं चेत्येता द्विसप्ततिप्रकृतीः सजातीयासु परप्रकृतिषूदयमागतासु चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य परप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवत्ययोगिकेवली। एवं निद्राप्रचले क्षीणकषायः। तथा मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे, तदपि सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सप्तकक्षयकालेऽनुभवति, अनन्तानुबन्धिनां क्षपणसमये तद्दलिकं बध्यमानासु चारित्रमोहनीयप्रकृतिषु गुणसंक्रमेण संक्रमय्योदयावलिकागतमुदयवतीषु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति। स्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकरूपा नामत्रयोदशप्रकृतीर्बध्यमानायां

यशःकीर्तौ गुणसंक्रमेण संक्रमय्य, तासामुदयावलिकागतं दलिकं नाम्न उदयमागतासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य तद्व्यपदेशेनानुभवति। स्त्यानर्द्धित्रिकमपि दर्शनावरणचतुष्टये प्रथमतो गुणसंक्रमेण संक्रमयति, तत उदयावलिकागतं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति। एवमष्टौ कषायान् हास्यादिषट्कं पुरुषवेदं संज्वलनक्रोधादित्रिकमुत्तरोत्तरप्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति, तत एताः सर्वा अपि चतुर्दशोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतयोऽनुदयवत्यः ॥६७॥

॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसङ्ग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं तृतीयं द्वारं समाप्तम् ॥

समाप्तमिदं पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं तृतीयं द्वारं ।

॥ अर्हम् ॥

अथ चतुर्थं द्वारं प्रारभ्यते ॥

उक्तं बन्धव्यद्वारम् । अधुना चतुर्थं हेतुद्वारमुच्यते—

बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोगा य हेयवो भणिया । ते पंच दुवालस पन्नवीस पन्नरस भेइल्ला ॥१॥

(स्वो०)—'बन्धस्य मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाश्च हेतवोभणिताः, ते पञ्चद्वादशपञ्चविंशतिपञ्चदशभेदवन्त' इति पदानि । पदार्थस्तु–जीवकर्मपुद्गलसंश्लेषो बन्धः, तस्य मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाश्चत्वारो मूलहेतवो भणिताः, चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, 'पडिणीय अंतरातिय' इत्यादि प्रतिकर्म विशेषहेतवोऽशेषाः सङ्गृहीताः, तेषां मूलहेतूनां उत्तरभेदसङ्ख्या यथासङ्ख्येन पञ्च द्वादश पञ्चविंशतिः पञ्चदशेति गाथार्थः ॥१॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं बन्धव्यद्वारं, सम्प्रति बन्धहेतुलक्षणं चतुर्थं द्वारमभिधित्सुराह–बन्धस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य हेतवः सामान्येन भणितास्तीर्थकरगणधरैश्चत्वारः, तद्यथा–मिथ्यात्वमविरतिः कषाया योगाश्च । अत्र च शब्दः "पडिणीयमन्तराइय" इत्यादिरूपप्रतिकर्मविशेषहेतुसूचकः। ते च मिथ्यात्वादयोऽवान्तरभेदैश्चिन्त्यमाना यथाक्रमं पञ्चद्वादशपञ्चविंशतिपञ्चदशभेदवन्तः। पञ्चभेदं मिथ्यात्वं, द्वादशभेदाऽविरतिः, पञ्चविंशतिभेदाः कषायाः, पञ्चदशभेदा योगाः । "भेइल्ला" इत्यत्र इल्लशब्दो मत्वर्थे प्राकृतलक्षणवशादवसेयः,

उक्तं च—"मतुअत्थम्मि मुणेज्जह, आलं इल्लं मणं तह य" ॥१॥

तानेव भेदानभिधातुकाम आह—

आभिग्गहियमणाभिग्गहं च अभिनिवेसियं चेव । संसइयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा होइ ॥२॥

(स्वो०)—'अभिगृहीतं अनभिगृहीतं च आभिनिवेशिकं च एव सांशयिकमनाभोगं मिथ्यात्वं पञ्चधा भवति' इति पदानि । पदार्थस्तु–अभि–आभिमुख्येन तत्त्वबुद्धया गृहीतं यथा भौतभागवतबौद्धादिभिः, न अभिगृहीतं अनभिगृहीतं यथैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियैर्भद्रकैश्च, अभिनिवेशे भवं आभिनिवेशिकं अर्हत्प्ररूपितपदार्थप्रोद्दलनं गोष्ठामाहिलस्येव, संशये भवं सांशयिकं जीवादिपदार्थेष्वेकदेशाश्रद्धानम्, अथ (इदं) सर्वज्ञप्ररूपितं नवेति, आभोगनमाभोगो नाभोगः अनाभोगः–आगमस्यापर्यालोचोऽ[1]ज्ञानमेव श्रेय इति भावः । प्रथमः चकारः समुच्चये द्वितीयचकारोऽनुक्तसूचकः, 'तेसट्ठा तिन्नि सया' इत्यादि, अथवा 'जावइया वयणपहा' इत्यादि । एवकारोऽवधारणे, बन्धहेतुत्वे पञ्चैव नाभ्यधिकानि, शेषा विशेषास्तदन्तर्गता एव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥२॥

(मलय)–तत्र प्रथमतो मिथ्यात्वस्य पञ्चभेदानभिधित्सुराह–मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपं पंचधा पञ्चप्रकारं भवति, तद्यथा–आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकमाभिनिवेशिकं सांशयिकमनाभोगमिति । तत्राभिग्रहेणेदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकं, यद्वशाद्बोटिकादिकुदर्शनानामन्यतमं कुदर्शनं गृह्णाति । तद्विपरीतमनाभिग्रहिकं, न विद्यते यथोक्तरूपोऽभिग्रहो यत्र तदनाभिग्रहिकं यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमिषन्माध्यस्थ्यमवलम्बते। तथाऽभिनिवेशेन निर्वृत्तमाभिनिवेशिकं, यथा गोष्ठा-

---

१ अज्ञानमेवाऽयं इतिभावः इति प्रत्यन्तरे

माहिलादीनाम्। तथा सांशयिकं, यद्वशाद्भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवादितत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा न जाने किमिदं भगवदुक्तं धर्मास्तिकायादि सत्यमुतान्यथेति। तथा न विद्यत आभोगः परिभावनं यत्र तदनाभोगं तच्चैकेन्द्रियादीनामिति ॥२॥

शेषोत्तरभेदानाह—

छक्कायवहो मणइंदियाण अजमो असंजमो भणिओ। इइ बारसहा सुगमो कसायजोगा य पुव्वुत्ता ॥३॥

(स्वो०)—'पट्कायवधो मनइन्द्रियाणामयमोऽसंयमो भणित इति द्वादशधा, सुगमाः कषाययोगास्तु पूर्वोक्ता' इति पदानि। पदार्थः–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसवधभेदात् षड्भेदोऽसंयमः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां स्वविषयगृद्धावनिवारणं, मनसश्च सत्यादिचतुर्भेदावस्थितस्यैव यदभ्यधिकं भोगादिष्वसन्तोषः, तुशब्दाद्वाक्काययोरप्ययमः इत्यनेन प्रकारेण द्वादशविधोऽसंयमो भणितः। षोडश कषायाः नव नोकषायाः सुज्ञाताः, योगास्तु पुनः पूर्वोक्ता नोच्यन्त इति गाथार्थः ॥३॥

(मलय०)—संप्रत्यविरत्यादिगतान् द्वादशादिभेदान् प्रदर्शयति–षण्णां कायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणानां वधो हिंसा, तथा मनसोऽन्तःकरणस्येन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां पञ्चानां स्वस्वविषये यथेच्छं प्रवर्त्तमानानामयमोऽनियन्त्रणमिति, एवममुना प्रकारेण द्वादशधा द्वादशप्रकारोऽसंयमोऽविरतिरूपो भणितस्तीर्थकरगणधरैः, एतेन स्वमनीषिकाशंकाव्युदासः कृतः, स च द्वादशप्रकारोऽसंयमः सुगमः, प्रतिपदव्याख्यामन्तरेणापि स्वयं सुखेन गम्यते, ततो न प्रतिपदं व्याख्यायते। कषाया योगाश्च यथाक्रमं पञ्चविंशतिपञ्चदशभेदाः पूर्वोक्ताः पूर्वमेव प्रतिपादिताः, अतस्तेऽपीह भूयो नाभिधीयन्ते ॥३॥

मूलहेतून् गुणस्थानेषु योजयितुकाम आह—

चउपच्चइओ मिच्छे तिपच्चओ मीससासणाविरए । दुगपच्चओ पमत्ता उवसंता जोगपच्चइओ ॥४॥

(स्वो०)—मिथ्यादृष्टौ चतुष्प्रत्ययः—चतुर्हेतुको बन्धः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरतेष्वविरतिकषाययोगप्रत्ययो बन्धो, गुणप्रत्ययोच्चारणात् त्रयोदशजीवस्थानेष्वपि चत्वारो हेतवः, संज्ञिनि करणापर्याप्तके त्रयो वा, देशविरतस्य किञ्चिन्न्यूनास्त्रय एव, यतस्त्रसैकदेशादविरतिपरिणामाच्चासौ निवृत्तः, प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत्कषाययोगप्रत्ययो बन्धः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिनां योगहेतुको बन्धः, अयोगिनो बन्धाभावो हेत्वभावादिति गाथार्थः ॥४॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता मिथ्यात्वादीनामवान्तरभेदाः । संप्रत्येतानेव मिथ्यात्वादीन् मूलभेदान् गुणस्थानकेष्वभिधित्सुराह—मिथ्यादृष्टौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके चतुष्प्रत्ययको मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणचतुर्हेतुको बंधः प्रागुक्तस्वरूपः । तथा मिश्रे सासादनेऽविरतसम्यग्दृष्टौ च मिथ्यात्वाभावादविरतिकषाययोगलक्षणत्रिप्रत्ययकः, देशविरते किञ्चिन्न्यूनत्रिप्रत्ययकः, तस्य त्रसासंयमाभावात्, एतच्च गाथानुपात्तमपि सामर्थ्यादवसीयते । तथा प्रमत्तात्प्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं तावद् द्विकप्रत्ययकः, कषाययोगहेतुक इत्यर्थः, प्रमत्तादीनां मिथ्यात्वाविरत्यभावात् । तथा उपशान्तादुपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य यावत्सयोगिकेवलिगुणस्थानं तावद् योगप्रत्ययकः, केवलयोगहेतुक इत्यर्थः, उपशान्तमोहादिषु कषायाणामप्यसम्भवात् । अयोगी त्वबन्धको बन्धहेत्वभावादिति ॥४॥

गुणेष्वेवोत्तरहेतुसम्भवमाह—

पणपन्न पन्न तियछहियचत्त गुणचत्त छक्कचउसहिया । दुजुया य वीस सोलस दस नव नव सत्त हेऊय ॥५॥

(स्वो०)—'पञ्चपञ्चाशत् पञ्चाशत्त्रिकषट्काभ्यां अभ्यधिका चत्वारिंशत् एकोनचत्वारिंशत् षट्चतुःसहिता द्वियुता च विंशतिः षोडश दश नव नव सप्त हेतवस्त्विति पदानि। पदार्थः–आहारकशरीरद्विकवर्जाः सर्वोत्तरहेतवो मिथ्यादृष्टौ भवन्ति, त एवापगतपञ्चमिथ्यात्वाः पञ्चाशत्सास्वादने भवति, त एवानन्तानुबन्धिकषायकार्मणौदारिकवैक्रियमिश्रसप्तकवर्जास्त्रिचत्वारिंशत्सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति, एत एव पूर्वोक्ताः पञ्चाशदनन्तानुबन्धिरहिताः षट्चत्वारिंशदविरतस्य भवन्ति, त एव पूर्वोक्तास्त्रिचत्वारिंशत् त्रसकायाविरत्यप्रत्याख्यानकषाय-रहिता वैक्रियमिश्रशरीरयुक्ता एकोनचत्वारिंशद्धेतवो देशविरते भवन्ति, एत एव एकोनचत्वारिंशत् एकादशाविरतिप्रत्याख्यानावरण-चतुष्करहिता आहारकशरीरद्वययुक्ताः प्रमत्ते षड्विंशतिर्भवन्ति, त एव षड्विंशतिः वैक्रियाहारकमिश्राभ्यां रहिताश्चतुर्विंशतिरप्रमत्ते, त एवाहारकवैक्रियाभ्यां रहिताः द्वाविंशतिः अपूर्वकरणे, त एव हास्यादिषट्करहिताः षोडशानिवृत्तिबादरे, त एव वेदत्रयसंज्वलनत्रय-रहिता दश सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति, औदारिकमनोवाक्चतुष्कयोगा नवोपशान्तक्षीणमोहयोर्बन्धहेतवो भवन्ति, मनोवागौदारिकद्विकानि कार्मणं चैते सप्त सयोगिनि हेतवो भवन्ति, शरीरस्थस्याप्ययोगिनो बन्धाभावः क्रियाभावादिति। तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशेषयति ? पर्याप्तसंज्ञिजीवस्थानस्यैते विशेषाः, शेषाणामेकमनभिगृहीतं मिथ्यात्वं एवं शेषहेतवोऽपि सम्भविनो भावनीया इति गाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—उक्ता मिथ्यात्वादयो मूलभेदरूपा गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः, संप्रति गुणस्थानकेष्वेव मिथ्यात्वाद्यवान्तरभेदसंभवमाह– इह मिथ्यात्वाद्यवान्तरभेदानामेकत्रमीलने सप्तपञ्चाशद्भवन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके आहारकाहारकमिश्ररहिताः शेषाः पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवः सम्भवन्ति, आहारकद्विकं तु तत्र न घटते, संयमवतां तदुदयभावात्। तथा सास्वादने पञ्चाशद्बन्धहेतवो, मिथ्यात्वस्य पञ्चप्रकारस्यापीहासम्भवेनापनयनात्। सम्यग्मिथ्यादृष्टौ त्रिचत्वारिंशत्, यतोऽत्र "न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनान्न पर-

लोकगमनं, तदभावे च न कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रसम्भवः, तथाऽनन्तानुबन्धिनामप्यत्रोदयो न भवति, ततोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयकार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रेषु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। अविरतसम्यग्दृष्टौ षट्चत्वारिंशत्, यतोऽस्य परलोकगमनमपि भवति, ततः प्रागपनीतं कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्ररूपं त्रिकं सम्भवादस्येति तस्मिन् त्रिचत्वारिंशति प्रक्षिप्ते षट्चत्वारिंशद्भवन्ति। देशविरतावेकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः, यस्मान्नास्याप्रत्याख्यानकषायोदयः, न च त्रसासंयमः, नापि कार्मणौदारिकमिश्रसम्भवः, ते हि कार्मणौदारिकमिश्रे यथाक्रमं भवापान्तरालगतौ परभवोत्पादकाले च लभ्येते, न च तदानीं देशविरतिसम्भवः, तत एतेष्वप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयकार्मणौदारिकमिश्रत्रसासंयमरूपेषु सप्तसु बन्धहेतुषु पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीतेषु शेषा एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। आह—ननु देशविरतस्त्रसासंयमात्सङ्कल्पजादेव निवृत्तः, नत्वारम्भजात्, तत्कथमेषोऽत्रापनीयते? नैष दोषः, आरम्भेऽपि यतनया प्रवर्त्तमानत्वेन तन्निमित्तस्य त्रसासंयमस्य सतोऽप्यविवक्षणात्। तथा प्रमत्तसंयतगुणस्थानके षड्विंशतिबन्धहेतवः। कथं? इति चेत्, उच्यते—इहाविरतिः सर्वथा न भवति प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं च, आहारकद्विकं तु "संयमवतां तदुदय" इति वचनप्रामाण्यात् सम्भवति, तत एकादशरूपाया अविरतेः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्य च पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतोऽपनयनादाहारकद्विकस्य च तत्र प्रक्षेपात् षड्विंशतिर्बन्धहेतवो भवन्ति। तथाऽप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाहारकवैक्रियानारम्भादाहारकमिश्रवैक्रियमिश्रे तत्र न घटेते, इति प्रागुक्तायाः षड्विंशतेस्तयोरपनीतयोः शेषाश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवः। तथाऽपूर्वकरणे वैक्रियाहारकेऽपि न भवतः, इति द्वाविंशतिः। हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणे व्यवच्छेदादनिवृत्तिबादरसम्पराये षोडश बन्धहेतवः। वेदत्रयस्य क्रोधादित्रयस्यानिवृत्तिबादरसम्पराये व्यवच्छेदात् सूक्ष्मसम्पराये दश। उपशान्तमोहे संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसम्पराये व्यव-

च्छेदाच्छेषा नव। एत एव नव बन्धहेतवः क्षीणमोहेऽपि। सयोगिकेवलिनि सप्त, तत्र द्वौ सत्याऽसत्यामृषारूपौ मनोयोगौ, द्वौ सत्याऽसत्याऽमृषारूपौ वाग्योगौ, कार्मणमौदारिकमौदारिकमिश्रं च। तत्र कार्मणौदारिकमिश्रे समुद्घातावस्थायां वेदितव्ये। अयोगिकेवलिनि पुनः शरीरस्थेऽपि सर्वथा मनोवाक्काययोगानामपि निरोधान्नैकोऽपि बन्धहेतुरिति ॥५॥

सत्तामात्रहेतवोऽभिहिताः, युगपत्कालभाविनो जघन्यमध्यमोत्कृष्टानाह—

दस दस नव नव अड पंच जइतिगे दु दुग सेसयाणेगो। अड सत्त सत्त सत्तग छ दो दो दो इगि जुया वा ॥६॥

(स्वो०)—'दश दश नव नवाष्टौ पञ्च यतित्रिके द्विद्विकं शेषकाणां एकः। अष्ट सप्त सप्त सप्तक षट् द्वि द्वि द्वि एकयुता वेति' पदानि। पदार्थस्तु-युगपत्कालभाविनो मिथ्यादृष्टौ जघन्याद्दशोत्कृष्टतोऽष्टादश तदन्तर्गता मध्यमा बन्धहेतवो भवन्ति, एवं सास्वादने जघन्या दशोत्कृष्टाः सप्तदश, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ जघन्या नवोत्कृष्टाः षोडश, अविरते च, देशविरते जघन्या अष्टावुत्कृष्टतः चतुर्दश, प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु जघन्याः पञ्चोत्कृष्टाः सप्त, अनिवृत्तिबादरे जघन्येन द्वौ त्रय उत्कृष्टतः, सूक्ष्मसम्परायादीनां गाथापूर्वार्द्धोक्ता एव द्व्येकसङ्ख्या भवन्ति, द्वितीयार्द्धोक्तानां तेषामसम्भवात्, शेषाणां पूर्वार्द्धोक्ता जघन्या, उभयोक्ता यथासंख्येन उत्कृष्टास्तदन्तर्भाविनो मध्यमा हेतवो भवन्तीति गाथार्थः ॥६॥

१०–१०–९–९–८–५–५–५–२–२–१–१–१

युगपत्कालभाविहेतुसमुदायानां प्ररूपणाय यन्त्रकमाह—

८–७–७–७–६–२–२–२–१

(मलय०)—तदेवं सम्भवतः सत्तामात्रेण मिथ्यात्वाद्यवान्तरभेदरूपाः पञ्चपञ्चाशदादयो गुणस्थानकेषु बन्धहेतव उक्ताः, सम्प्रत्येतानेव यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो जघन्यमध्यमोत्कृष्टपदेष्वेककालं प्राप्यन्ते, तस्मिन् तावत आह—इह पूर्वार्द्धेन मिथ्यादृष्ट्यादिगु-

णस्थानकेषु क्रमेण जघन्यपदे युगपदेककालभाविनो बन्धहेतव उक्ताः, उत्तरार्द्धेनोत्कृष्टपदपूरणायाधिकाः प्रक्षेपणीयाः। ततोऽयं संक्षेपार्थः–मिथ्यादृष्ट्यादिषु जघन्यतो दशादयो बन्धहेतवः उत्कर्षतस्त एवाष्टादिभिरधिका अष्टादशादयः। इयमत्र भावना–मिथ्यादृष्टौ जघन्यपदे युगपद्भाविनो दशबन्धहेतवः, उत्कृष्टपदेऽष्टादश, मध्यमास्त्वेतदन्तर्गता एकादशादयः, एवमुत्तरत्रापि मध्यमाः स्वयमेव भावनीयाः। सासादने जघन्यपदे दश, उत्कृष्टपदे सप्तदश। मिश्रगुणस्थानके जघन्यतो नव, उत्कर्षतः षोडश। एवमविरतेऽपि। देशविरते जघन्यपदेऽष्टौ, उत्कृष्टपदे चतुर्दश। तथा 'पञ्च जइतिगे त्ति' यतित्रिके प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणलक्षणे जघन्यतः प्रत्येकं पञ्च पञ्च, उत्कर्षतः सप्त सप्त। अनिवृत्तिबादरे जघन्यतो द्वावुत्कर्षतस्त्रयः। सूक्ष्मसम्परायेऽजघन्योत्कृष्टौ द्वौ। शेषाणामुपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनामजघन्योत्कृष्टः प्रत्येकमेकैकः। सूक्ष्मसम्परायादीनां गाथापूर्वार्द्धोक्ता एव क्रमेण बन्धहेतवोऽवगन्तव्याः, उत्तरार्द्धेन तद्योग्याधिकप्रक्षेपणीयाप्रतिपादनात् ॥६॥

मिच्छत्तएक्ककायादिघायअन्नयरअक्खजुयलुदओ। वेयस्स कसायाण य जोगस्सणभयदुगंछा वा ॥७॥

(स्वो०)—'मिथ्यात्वं एककायादिघातोऽन्यतराक्षयुगलोदयः, वेदस्य कषायाणां च योगस्य अनन्तानुबन्धिभयजुगुप्सा वे'ति पदानि। पदार्थस्तु–मिथ्यादृष्टिहेतुदशकसमुदायस्यावयवाभिधानानि, प्रथमं मिथ्यात्वं, द्वितीयः षट्कायान्यतरस्य वधः, तृतीयः पञ्चेन्द्रियान्यतरस्य स्वविषयाविरतित्वेन व्यापार इति वाक्यशेषः, हास्यरतिअरतिशोकयुगलान्यतरोदयात् पञ्च, षष्ठो वेदान्यतरोदयः, अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनानां क्रोधाद्यन्यतरत्रिकं एवं नव, योगस्य त्रयोदशान्यतरस्य दशान्यतरस्य वा व्यापार इति वाक्यशेष इति दश, अनन्तानुबन्ध्युदये त्रयोदश भवन्ति, न दश योगाः, यतः समुद्दलितानन्तानुबन्धिनः सम्यग्दृष्टिः प्राप्तमिथ्यात्वोदयस्यापि सतामपि

न संक्रमावलिकां यावदनन्तानुबन्धिनामुदयस्तदुदयाभावे च मरणाभावाच्च न भवान्तरभाविनो वैक्रियौदारिकमिश्रकार्मणा भवन्ति। अनन्तानुबन्धिभयजुगुप्साविकल्पितोदयाः चत्वार उत्तरगुणेषु प्रागुपन्यस्तहेतूनामभावं सूचयतीति गाथार्थः ॥७॥

(मलय०)—सम्प्रति मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके ये जघन्यपदे दश बन्धहेतव उक्तास्तान् दर्शयति—पञ्चानां भेदानां मध्ये एकतमं मिथ्यात्वं, षण्णां च कायानां ये एककद्विकादिघातभेदात् षड् घातभेदास्तद्यथा–षण्णां कायानां मध्ये यदैकमन्यतमं कायं हंति तदैककायघातः, यदा तु द्वावन्यतमौ कायौ हंति तदा द्विककायघातः, यदा पुनस्त्रीनन्यतमान् कायान् हंति तदा त्रिकघातः, एवं चतुष्कघातः पञ्चकघातः षट्कघातश्च भावनीयः, तेषां षण्णां घातभेदानां मध्ये एकोऽन्यतमो घातभेदः। तथा पञ्चानामक्षाणां श्रोत्रादीनामन्यतमस्याक्षस्यासंयमः। तथा हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरस्य युगलस्योदयः। तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमस्यैकस्य वेदस्योदयः। त्रयाणामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनरूपाणां कषायाणां सम्बन्धिनोऽन्यतमस्य क्रोधादित्रिकस्य, इह क्रोधमानमायालोभा युगपन्नोदयमायान्ति, किं तु क्रमेण, तथाहि–यदा क्रोध उदेति न तदा मानो नापि माया न चापि लोभः, यदापि मान उदयमधिगच्छति न तदा क्रोधो नापि माया इत्यादि, केवलमेकस्मिन्नप्रत्याख्यानादिके क्रोध उदयमाने शेषा अपि क्रोधादयो यथायथमुदयमायान्ति, एवं मानादौ मानादयोऽपि, ततोऽप्रत्याख्यानादिकषायाणां सम्बन्धिनोऽन्यतमस्य क्रोधादित्रिकस्य ग्रहणम्। तथा दशानां योगानामन्यतमो योगः। आह–ननु योगाः पञ्चदश भवन्ति, एतच्च प्रागेवानेकश उक्तं, ततः पञ्चदशानां योगानामन्यतमो योग इति वक्तव्यं, कथमुक्तं दशानां योगानामन्यतम इति ? उच्यते–इह मिथ्यादृष्टावाहारकद्विकहीनाः शेषास्त्रयोदश योगाः संभवन्ति, "आहारकद्विकं तु संयमवतां तदुदये" इति वचनप्रामाण्यान्मिथ्यादृष्टावसंभवि, एतच्च प्रागेवोक्तं, तत्रापि यदानन्तानुबन्धिनामुदयो न

भवति तदा दशैव सम्भवन्ति । अनन्तानुबन्ध्युदयाभावोऽपि मिथ्यादृष्टेः कथं सम्भवेत्? इति चेत्, उच्यते–इह सम्यग्दृष्टिना सता केनापि प्रथमतोऽनन्ता—(ग्रन्थाग्रम् ५०००) नुबन्धिन उद्वलिताः, एतावता च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयायोद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात्, ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् स भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययतोऽनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तेषु चोपचीयमानेषु प्रतिसमयं शेषचारित्रमोहनीयप्रकृतिदलिकं संक्रमयति, संक्रमय्य चानन्तानुबन्धिरूपतया परिणमयति, ततो यावन्नाद्यापि संक्रमावलिकातिक्रामति, तावन्न तस्य मिथ्यादृष्टेरपि सतोऽनन्तानुबन्धिनामुदयः, तदभावाच्च न मरणं, मिथ्यादृष्टेरनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य सत्कर्मादिग्रन्थेषु मरणप्रतिषेधात्, ततो भवान्तरगमनसंभविनो ये वैक्रियमिश्रौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगास्तेऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे न भवन्तीति दशानां योगानामन्यतमो योग इत्युक्तम् । याश्चानन्तानुबन्धिभयजुगुप्सास्ता विकल्पितोदयाः, कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न, ततो यदैता नोदयन्ते तदा तु जघन्यपदे यथोक्तस्वरूपा दश बन्धहेतवः ॥७॥

प्रकृतिव्यत्यासादनेके दशका भवन्ति, तत्प्रयोगमाह–

इच्चेसिमेगगहणे तस्संखा भंगया उ कायाणं । जुयलस्स जुयं चउरो सया ठवेज्जा कसायाणं ॥८॥

(स्वो०)—'इत्येषामेकग्रहणे तत्संख्याभङ्गकास्तु कायानां । युगलस्य युगं चत्वारः सदा स्थापयेत् कषायाणामि'ति पदानि । पदार्थस्तु–मिथ्यात्वमित्येकग्रहणे तत्संख्यापञ्चकाङ्कं स्थापयेत्, कायानां त्वेककद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चषट्संयोगान् यथाप्राप्तान् स्थापयेत्, एकग्रहणे च षट् । अन्यतरैकेन्द्रियग्रहणेन तत्संख्या पञ्च, युगलस्य ग्रहणे युगमिति द्वौ, वेदस्येत्येकग्रहणे तत्संख्या त्रीणि, कषायाणां क्रोधसंज्वलनसम्भवेऽपि बहुवचननिर्देशाच्चत्वारः स्थापयेद्, योगस्येत्येकपदनिर्देशात् तत्संख्या दशात्र, एषा अङ्करचना–५–६–५–

२-३-४-१० इति गाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता जघन्यपदभाविनो दश बन्धहेतवः, एतेषां च मिथ्यात्वकायघातादिभेदसंचारणे बहवो भङ्गाः संभवन्ति, ततस्तत्परिज्ञानार्थमुपायमाह–इत्येवमुक्तेन प्रकारेणैषां मिथ्यात्वादीनां मिथ्यात्वकायघातेन्द्रियासंयमयुगलवेदकषाययोगाणामेकग्रहणे एकैकभेदग्रहणे, तथाहि–प्राक् पञ्चानां मिथ्यात्वानामेकमन्यतमं मिथ्यात्वं गृहीतं, षण्णां कायघातानामेकतमः कायघातः, पञ्चानामिन्द्रियासंयमानामेकतम इन्द्रियासंयमो, द्वयोर्युगलयोरेकमन्यतरद् युगलं, त्रयाणां वेदानामेकोऽन्यतमो वेदः, चतुर्णां क्रोधादीनामेकोऽन्यतमः क्रोधादिकः कषायः, दशानां योगानामेकोऽन्यतमो योगः। एवं मिथ्यात्वादीनामेकैकभेदग्रहणे भङ्गसंख्याऽऽनयनाय तत्संख्या मिथ्यात्वादिभेदसंख्या स्थापनीया, तत्र मिथ्यात्वं पञ्चधेति प्रथमतस्तत्स्थाने पञ्च स्थाप्यन्ते। ततस्तेषामुपरि 'भंगया उ कायाणं' ति–कायानां पृथिवीकायादीनां घातमधिकृत्य य एककद्विकादिसंयोगरूपाः भङ्गाः षट् प्रागुपदर्शितास्ते स्थाप्यन्ते। तेषामप्युपरीन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि पञ्चेति कृत्वा पञ्च स्थाप्यन्ते, षष्ठं तु मनः सदपि न विवक्षितमिन्द्रियान्तरगतत्वेनैव तस्य विवक्षणात्। ततस्तेषामुपरि युगलस्य स्थाने युगं द्विकं स्थापयेत्, द्वे युगले पर्यायेण प्राप्येते इति कृत्वा। तयोरपि वेदस्थाने त्रिकं, त्रयाणां वेदानां क्रमेण लभ्यमानत्वात्। ततः कषायाणां स्थाने चतुरश्चतुष्कं स्थापयेत्, क्रोधमानमायालोभा एव हि पर्यायेणोदयन्ते, ये तु क्रोधा अप्रत्याख्यानादयो, यदि वा माना माया लोभा वा, ते तु युगपदपि, ततः कषायस्थाने चतुष्कस्यैव स्थापना, ततस्तेषामुपरि योगा दश पर्यायेण प्राप्यन्ते, इति दशकं स्थापयेत्। अंकस्थापना–१०-४-३-२-५-६-५ ॥८॥

चक्राङ्करचनतः संख्यानयनमाह–

जा बायरो ता घाओ विगप्प इइ जुगवबंधहेऊणं । अणबंधिभयदुगंछाण चारणा पुण विमज्झेसु ॥९॥

(स्वो०)—'यावद् बादरकषायः तावद् घातो विकल्पा इति, युगपद्बन्धहेतूनां अनन्तानुबन्धिभयजुगुप्सानां चारणा पुनर्विमध्येष्वि'ति पदानि। पदार्थस्तु—यावद्बादरकषायः तावदवस्थिताङ्कानां घातः परस्परगुणनं विकल्पा युगपद्बन्धहेतूनां भेदा भवन्ति, इत्यनेन प्रकारेण एतदेव भावयति—पञ्चधा मिथ्यात्वं तद्भेदात्पञ्च भेदा एकैकमिथ्यात्वभेदे, कायभेदाः षड् भवन्ति त्रिंशत्, एकैकेन्द्रियव्यापारे पूर्वोक्तास्त्रिंशदेवं सार्धं शतं, एकैकयुग्मे सार्धं शतमेवं त्रीणि शतानि, एकैकवेदे त्रीणि शतानि वेदत्रैविध्यादेव नव शतानि, एकैककषाये नवशतानि कषायचातुर्विध्यादेव षट्त्रिंशच्छतानि, तान्यपि योगानां दशविधत्वात् षट्त्रिंशत्सहस्राणि भवन्ति ३६०००, इयन्त एव दश हेतवः । त एव दश हेतवो भययुक्ता एकादश समुदाया भवन्ति, यतस्तद्विभाषोदयसंख्यायां षट्त्रिंशत्सहस्राण्येव ३६०००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३६०००, अथवाऽनन्तानुबन्धिप्रक्षेपादेकादश तत्र योगत्रयोदशककरणे षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि भङ्गानां ४६८००, अथवा कायद्वयवधसंयोगप्रक्षेपादेकादश ते च पञ्चदश द्वियोगाः, ततः प्राग्वल्लब्धानि भङ्गानां नवतिसहस्राणि ९००००, सर्वे द्वे लक्षेऽष्टाशीतिशतानि २०८८०० एकादश समुदाया एते । एते एव दश संयोगा भयजुगुप्सायुक्ताः द्वादश संयोगा भवन्ति, संख्यया षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, अथवा भयानन्तानुबन्धियुक्तास्तत्र त्रयोदश योगास्ततः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि च ४६८००, जुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ४६८००, अथवा त्रिकायवधप्रक्षेपात् द्वादश स्युः, तेऽपि विंशतिः, ततः प्राग्वल्लब्धा भङ्गाः लक्षं विंशतिसहस्राणि १२००००, भयद्विकायवधक्षेपाल्लब्धानि प्राग्वन्नवतिसहस्राणि ९००००, एवं जुगुप्साद्विकायवधक्षेपेऽपि ९००००, अनन्तानुबन्धिद्विकायवधक्षेपे प्राग्वल्लब्धानि, लक्षं सप्तदशसहस्राणि ११७०००, पञ्च लक्षाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि षट्

शतान्येते सर्वेऽपि द्वादश समुदाया हेतूनामिति ५४६६०० । त एव पूर्वोक्ता दश भयजुगुप्सानन्तानुबन्धियुक्तास्त्रयोदश भवन्ति, अत्र त्रयोदश योगाः, भङ्गानां षट्चत्वारिंत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, चतुष्कायवधप्रक्षेपाच्च त्रयोदश भवन्ति, तत्र पञ्चदश भङ्गास्ततः प्राग्वल्लब्धानि हेतुत्रयोदशकानां नवतिसहस्राणि ९००००, त्रिकायवधभयप्रक्षेपे विंशतिसहस्रोत्तरं भङ्गकलक्षं १२००००, एवं त्रिकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १२००००, त्रिकायवधानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे लक्षं षट्पञ्चाशत्सहस्राणि १५६०००, द्विकायवधभयजुगुप्सा-प्रक्षेपेण च त्रयोदश, तत्रापि नवतिसहस्राणि ९००००, द्विकायवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे लक्षं सप्तदशसहस्राणि भङ्गानां ११७०००, एवं द्विकायवधानन्तानुबन्धिजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ११७०००, एवं त्रयोदशसमुदायहेतूनां सर्वसंख्या अष्टौ लक्षा षट्पञ्चाशत्सहस्राणि शता-न्यष्टौ ८५६८००, गतास्त्रयोदश हेतव इति । त एव पूर्वोक्ता दश पञ्चकायवधयुक्ताश्चतुर्दश भवन्ति, तत्र षट् पञ्चकसंयोगाः प्राग्वत् षट्त्रिंशद्भङ्गसहस्राणि ३६०००, चतुष्कायवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश नवतिभङ्गकसहस्राणि ९००००, चतुष्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९००००, चतुष्कायवधानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे लक्षं सप्तदश सहस्राणि ११७०००, त्रिकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे विंशत्युत्तरं लक्षं १२००००, त्रिकाय-वधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षट्पञ्चाशत्सहस्राणि लक्षं १५६०००, एवं त्रिकायवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि १५६०००, द्विकायवध-भयजुगुप्साऽनन्तानुबन्धिप्रक्षेपे सप्तदशोत्तरं लक्षं ११७०००, सर्वेऽपि चतुर्दश हेतुसमुदाया अष्टौ लक्षा द्व्यशीतिसाहस्रयः ८८२०००, एते चतुर्दश हेतुसमुदायाः । त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधयुक्ताः पञ्चदश भवन्ति, तत्र षट्काययोग एकस्तत्र षट्सहस्राणि प्राग्वत् ६०००, पञ्चकायवधभयप्रक्षेपाच्च पञ्चदश, तत्र भङ्गानां षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, एवं पञ्चकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३६०००, पञ्चकायवधानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, चतुष्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे नवतिसहस्राणि ९००००,

मिथ्यादृष्टौ बन्धहेतूनां भङ्गाः

चतुष्कायवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे सप्तदशोत्तरं लक्षं ११७०००, एवं चतुष्कायवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ११७०००, त्रिकायवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकं लक्षं १५६०००, पञ्चदशहेतुसमुदायानां षड्लक्षा अष्टचत्वारिंशच्छतानि ६०४८००, एते पञ्चदश समुदायाः । त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभयप्रक्षेपात् षोडश भवन्ति, तत्र षड्भङ्गसहस्राणि ६०००, षट्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६०००, षट्कायवधानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽष्टसप्ततिशतानि ७८००, पञ्चकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे षड्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, पञ्चकायवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि ४६८००, एवं पञ्चकायवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ४६८०० चतुष्कायवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे सप्तदशसहस्राधिकं लक्षं ११७०००, एते सर्वेऽपि षोडश हेतुसमुदायाः द्वे लक्षे षट्षष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि २६६४००, एते षोडश समुदायाः । त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपेण सप्तदश हेतवो भवन्ति, तत्र भङ्गानां षट्सहस्राणि ६०००, षट्कायवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽष्टसप्ततिशतानि ७८००, एवं षट्कायवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ७८००, पञ्चकायवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, एवं सर्वेऽपि सप्तदश हेतुसमुदायाः अष्टषष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि ६८४००, एते सप्तदश हेतुसमुदायाः । त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपादष्टादश हेतवो भवन्ति, तत्राष्टसप्ततिशतानि भङ्गानां ७८००। एवं मिथ्यादृष्टेः, सर्वेऽप्येकत्र हेतुसमासा मिलिताः चतुस्त्रिंशल्लक्षाः सप्तसप्ततिसहस्राणि षट्शतानि ३४७७६००, मिथ्यादृष्टिहेतवः समाप्ताः ॥९॥

(मलय०)—एवं कृतायामङ्कस्थापनायां यथा प्रतिनियतं भंगपरिमाणमागच्छति तथा प्रदर्शयति—यावद्बादरोऽनिवृत्तिबादरसम्परायस्तावत्पूर्वोक्तया परिपाट्या व्यवस्थापितानामंकानां घातो गुणनं विधेयं, तत इति एवमुक्तेन प्रकारेण युगपद्बन्धहेतूनां त्रिकल्पा भङ्गा

भवन्ति, ते च दशसंख्यानां युगपद्बन्धहेतूनां मिथ्यादृष्टौ षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्याः। तथाहि-मिथ्यात्वमवान्तरभेदापेक्षया पञ्चधा, ते पञ्चापि भेदा एकैकस्मिन् कायघाते सम्भवन्तीति षट् पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाता त्रिंशत्, सा चैकस्मिन्निन्द्रियासंयमे प्राप्यते, इन्द्रियासंयमाश्च पञ्च, ततस्त्रिंशता पञ्च गुण्यन्ते, जातं सार्धं शतं, इदं च सार्द्धशतमेकैकस्मिन् युगले प्राप्यते, इति सार्द्धशतेन द्वे गुण्येते, जातानि त्रीणि शतानि, अमूनि चैकैकस्मिन् वेदे सम्भवन्ति, तत एतैस्त्रिको गुण्यते, जातानि नव शतानि, तानि चैकैकस्मिन् क्रोधादित्रिके प्राप्यन्ते, क्रोधादयश्चत्वार इति चत्वारो नवशतैर्गुणिताः, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि, तानि च प्रत्येकमेकैकस्मिन् योगे सम्भवन्ति, योगाश्च दशेति दशगुणितानि जातानि षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, एतावन्तो जघन्यपदभाविनां युगपद्बन्धहेतूनां दशसंख्यानां विकल्पाः। संप्रत्येकादशादिविमध्यबन्धहेतुप्रतिपादनाय गाथोत्तरार्द्धमाह-अनन्तानुबन्धिभयजुगुप्सानां चारणा पुनर्विमध्यमेष्वेकादशादिषु भेदेषु कर्त्तव्या, सा चैवं-त एव प्रागुक्ता दश भयप्रक्षेपादेकादश, तत्र च भंगकास्त एव प्रागुक्ताः षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, यदि वा जुगुप्साप्रक्षेपादेकादश, तत्रापि त एव भङ्गाः षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, अथवानन्तानुबन्ध्यन्यतमक्रोधादिप्रक्षेपादेकादश, अनन्तानुबन्ध्युदये च योगास्त्रयोदश भवन्ति, कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राणामपि तत्र सम्भवात्, एतच्च प्रागेवोपपादितं, ततः कषायैर्गुणनतो लब्धानि यानि षट्त्रिंशच्छतानि, तानि त्रयोदशभिर्योगैर्गुण्यन्ते, जातानि षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टशताधिकानि ४६८००, अथवा प्राग् जघन्यपदभाविदशकमीलने यत्कायानामेककद्विकादिघातभेदात्सम्भविनां षण्णां कायघातानामन्यतमः कायघात इत्युक्तं, तदिह न गृह्यते, किन्तु तेषां पृथिव्यादीनां षण्णां कायानामन्यतमस्य कायद्वयस्य वध इति। ततः कायवधद्वयग्रहणे एकादश भवन्ति, षण्णां च पदानां द्विकसंयोगे भङ्गा पञ्चदश, ततः कायघातस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, ततो मिथ्यात्वभेदैः पञ्चभिः पञ्चदश

गुण्यन्ते, जाता पञ्चसप्ततिः ७५, तया पञ्चेन्द्रियाणि गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ३७५, तैर्युगलद्विकं गुण्यते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०, तैश्च त्रयो वेदा गुण्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि २२५०, तैरपि कषायचतुष्टयस्य ताडना ततो लब्धानि नवसहस्राणि ९०००, तानि चैकैकस्मिन् योगे प्राप्यन्ते, इति तैर्दशानां योगानां गुणने जातानि नवतिसहस्राणि ९००००, सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टावेकादशबन्धहेतुभंगकानां द्वे लक्षे अष्टाशीतिशतानि २०८८००, समाप्ता एकादश बन्धहेतवः। संप्रति द्वादशबन्धहेतवो भाव्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता दशबन्धहेतवो भयजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, तत्र च भङ्गाः प्राग्वत् षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, अथवाऽनन्तानुबन्धिभयप्रक्षेपाद् द्वादश, अनन्तानुबन्ध्युदये च योगास्त्रयोदश, ततः प्राग्वदवाप्यन्ते भंगकानामत्र षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टशताधिकानि ४६८००, यद्वानन्तानुबन्धिजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, तदाप्येतावन्त एव भङ्गकाः ४६८००, अथवा कायत्रयवधपरिग्रहाद् द्वादश, षण्णां च पदानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिर्भवन्ति, ततः कायघातस्थाने विंशतिः स्थाप्यते, ततः क्रमेण गुणनं, तद्यथा–मिथ्यात्वभेदैः पञ्चभिर्विंशतिर्गुण्यते, जातं शतं, तेन पञ्चेन्द्रियासंयमा गुण्यन्ते, जातानि पञ्चशतानि ५००, तैश्च युगलद्विकं गुण्यते, जातं सहस्रं १०००, तेनापि वेदत्रयस्य गुणने जातानि त्रीणि सहस्राणि ३०००, तैः कषायचतुष्टयं गुण्यते, लब्धानि द्वादशसहस्राणि १२०००, तैर्योगदशकगुणने जातं लक्षमेकं विंशतिसहस्राधिकं १२००००, अथवा कायद्वयवधभयप्रक्षेपात् द्वादश, तत्र प्राग्वद्भङ्गकानां नवतिसहस्राणि ९००००, एवं जुगुप्साकायद्वयवधप्रक्षेपेऽपि ९००००, अथवानन्तानुबन्धिकायद्वयवधप्रक्षेपे द्वादश, तत्र च प्रागुक्तविध्यनुसारेण परस्परगुणने भङ्गसङ्ख्या लक्षं सप्तदशसहस्राणि ११७०००, सर्वसंख्यया द्वादशबन्धहेतुभङ्गकाः पञ्चलक्षाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि षट् शतानि ५४६६००, समाप्ता

द्वादशबन्धहेतवः। अथ त्रयोदशबन्धहेतवः प्रतिपाद्यन्ते—त एव पूर्वोक्ता दश बन्धहेतवो भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपात्त्रयोदश, अनन्तानुबन्ध्युदये च योगास्त्रयोदश पर्यायेण प्राप्यन्ते, ततः प्राग्वल्लब्धानि षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, यदि वा कायचतुष्टयवधपरिग्रहात्त्रयोदश, षण्णां च पदानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायवधस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः पूर्वक्रमेण व्यवस्थापितानामङ्कानां ताडने जातानि भङ्गानां नवतिसहस्राणि ९००००, अथवा भयकायत्रयवधप्रक्षेपे त्रयोदश, षण्णां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिः, ते कायवधस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वल्लब्धं विंशतिसहस्राधिकं लक्षं १२००००, एवं जुगुप्साकायत्रयवधप्रक्षेपेऽपि १२००००, अथवानन्तानुबन्धिकायत्रयवधपरिग्रहे त्रयोदश, तत्र प्रागुक्तानुसारेणाङ्कानां ताडने भङ्गसङ्ख्या लक्षं षट्पञ्चाशत्सहस्राणि १५६०००, यदि वा जुगुप्साभयकायद्वयवधप्रक्षेपे त्रयोदश, तत्र च प्राग्वद्भङ्गसङ्ख्या नवति सहस्राणि ९००००, भयानन्तानुबन्धिकायद्वयवधप्रक्षेपाद्वा त्रयोदश, तत्र प्रागुक्तानुसारेण भङ्गपरिमाणं लक्षं सप्तदशसहस्राधिकं ११७०००, एवमनन्तानुबन्धिजुगुप्साकायद्वयवधपरिग्रहेऽपि ११७०००, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशबन्धहेतुभङ्गकानामष्टौ लक्षाः षट्पञ्चाशत्सहस्राण्यष्टशताधिकानि ८५६८००, इति त्रयोदशबन्धहेतवः समाप्ताः। तथा त एव पूर्वोक्ता दश बन्धहेतवः कायपञ्चकवधपरिग्रहे चतुर्दश षण्णां कायानां पञ्चकसंयोगे भङ्गाः षट्, ते कायवधस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने जातानि भङ्गानां षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, अथवा कायचतुष्टयवधभयपरिग्रहाच्चतुर्दश, षण्णां च कायानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायघातस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वत्परस्परमङ्कानां गुणने जातानि भङ्गकानां नवतिसहस्राणि ९००००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्सापरिग्रहेऽपि ९००००, अथवा कायचतुष्टयवधानन्तानुबन्धिपरिग्रहे चतुर्दश, अनन्तानुबन्ध्युदये च योगास्त्रयोदशेति योगस्थाने त्रयोदश स्थाप्यन्ते ततः

प्रागुक्तविध्यनुसारतोऽङ्कानां ताडने जातं भङ्गकानां लक्षमेकं सप्तदश च सहस्राणि ११७०००, यद्वा कायत्रयवधभयजुगुप्सोपादानाच्चतुर्दश, कायत्रयसंयोगे च भङ्गा विंशतिः, ततः प्राग्वल्लब्धं विंशतिसहस्रोत्तरं लक्षं १२००००, यदि वा कायत्रिकवधभयानन्तानुबन्धिग्रहणाच्चतुर्दश, तत्र प्रागुक्तसंक्रमेण भङ्गकानां षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकं लक्षं १५६०००, एवं कायत्रिकवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिपरिग्रहेऽपि १५६०००, अथवा कायद्वयवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिपरिग्रहाच्चतुर्दश, तत्र च प्रागुक्तविध्यनुसारतो भङ्गकानां सप्तदशसहस्रोत्तरं लक्षं ११७०००, सर्वसङ्ख्यया चतुर्दशबन्धहेतुभङ्गकानामष्टौ लक्षा द्व्यशीतिसहस्राधिकाः ८८२०००, उक्ताश्चतुर्दशबन्धहेतवः । तथा त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधोपादाने पञ्चदश भवन्ति, षण्णां च कायानां षट्कयोगे भङ्ग एकः, स कायघातस्थाने स्थाप्यते, ततः पूर्वक्रमेणाङ्कानां ताडने जातानि भङ्गकानां षट्सहस्राणि ६०००, यदि वा भयकायपञ्चकवधपरिग्रहे पञ्चदश, तत्र च प्रागुक्तक्रमानुसारेण भङ्गकानां षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, एवं जुगुप्साकायपञ्चकवधपरिग्रहेऽपि ३६०००, अथवा कायपञ्चकवधानन्तानुबन्ध्युपादाने पञ्चदश, तत्र च योगास्त्रयोदश भवन्तीति प्रागुक्तविधिना भङ्गानां षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, यद्वा पञ्चदश कायचतुष्टयवधभयजुगुप्सापरिग्रहे तत्र भङ्गसङ्ख्या नवतिसहस्राणि ९००००, अथवा कायचतुष्टयवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे पञ्चदश, तत्र प्राग्वद् भङ्गकानां सप्तदशसहस्रोत्तरं लक्षं ११७०००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ११७०००, कायत्रयवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे पुनः षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकं लक्षं १५६०००, सर्वसङ्ख्यया पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गाः षट् लक्षा अष्टचत्वारिंशच्छताधिकाः ६०४८००, समाप्ताः पञ्चदशबन्धहेतवः । तथा त एव पूर्वोक्ता दश कायषट्कवधभयप्रक्षेपात् षोडश भवन्ति तत्र च प्रागुक्तक्रमानुसारेणाङ्कताडने भङ्गानां षट्सहस्राणि ६०००, एवं कायषट्कवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६०००, यदि वा षट्कायवधा-

नन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षोडश, तत्र भङ्गानामष्टसप्ततिशतानि ७८००, कायपञ्चकवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे वा षोडश, तत्र प्राग्वद्भङ्गकानां षट्त्रिंशत्सहस्राणि ३६०००, अथवा कायपञ्चकवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे षोडश, तत्र पूर्वक्रमेण भङ्गाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, एवं कायपञ्चकवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ४६८००, यद्वा कायचतुष्टयवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिग्रहणे षोडश, तत्र प्राग्वद्भङ्गकानां सप्तदशसहस्राधिकं लक्षं ११७०००, सर्वसङ्ख्यया षोडशबन्धहेतुभङ्गा द्वे लक्षे षट्षष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि २६६४००, उक्ताः षोडशबन्धहेतवः। तथा त एव पूर्वोक्ता दश कायषट्कवधभयजुगुप्सोपादाने सप्तदश भवन्ति, तत्र च पूर्ववदङ्कानां ताडने लब्धानि भङ्गानां षट्सहस्राणि ६०००, यदि वा षट्कायवधभयानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे सप्तदश, तत्र पूर्ववद्भङ्गकानामष्टसप्ततिशतानि ७८००, एवं षट्कायवधजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽपि ७८००, अथवा कायपञ्चकवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपे सप्तदश, तत्र भङ्गानां षट्चत्वारिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ४६८००, भावना सर्वत्र प्रागुक्तानुसारेण परिभावनीया। सर्वसङ्ख्यया सप्तदशबन्धहेतुभङ्गकानामष्टषष्टिसहस्राणि चतुःशताधिकानि ६८४००, उक्ताः सप्तदशबन्धहेतवः। सम्प्रत्यष्टादशबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते, तत्र त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभयजुगुप्सानन्तानुबन्धिप्रक्षेपेऽष्टादश, तत्र भङ्गानामष्टसप्ततिशतानि ७८००। तदेवं सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टौ बन्धहेतुसमुदायविकल्पभङ्गाश्चतुस्त्रिंशल्लक्षाः सप्तसप्ततिसहस्राणि षट्शताधिकानि ३४७७६००, समाप्ता मिथ्यादृष्टिबन्धहेतवः ॥९॥

अनन्तानुबन्धिविकल्पितोदयकारणमाह—

अणउदयरहियमिच्छे जोगा दस कुणइ जन्न सो कालं। अणणुदओ पुण तदुवलगसम्मदिट्ठिस्स मिच्छुदए॥

(स्वो०)—'अनन्तानुबन्ध्युदयरहितमिथ्यादृष्टौ योगा दश करोति, यतो न स कालं अनन्तानुबन्ध्यनुदयः पुनः तदुद्वलकसम्यग्दृष्टेः मिथ्यात्वोदये' इति पदानि, पदार्थस्तु व्याख्यात एवास्याः ॥१०॥

(मलय०)—सम्प्रत्यनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ यावन्तो योगाः सम्भवन्ति तावतः प्रतिपादयन्नाह—अनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ योगा दशैव भवन्ति, कुत इत्याह-यद् यस्मात्कारणात्सोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितो मिथ्यादृष्टिः कालं मरणलक्षणं न करोति, तथास्वाभाव्यात्, कालकरणाभावे च भवापान्तरालगमनादिभाविनां कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राणामभाव इति कृत्वा। अथानन्तानुबन्धिनामनुदयोऽपि मिथ्यादृष्टेः कथं सम्भवति? इत्यत आह-'अणणुदओ'इत्यादि-अनुदय उदयाभावः, पुनरनन्तानुबन्धिनां तदुद्वलकस्यानन्तानुबन्ध्युद्वलकस्य सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वोदये वेदितव्यः, एतदुक्तं भवति-समुद्वलितानन्तानुबन्धिनः सम्यग्दृष्टेः प्राप्तमिथ्यात्वोदयवशात्पुनरप्युपचितानामनन्तानुबन्धिनामावलिकामात्रं कालं यावदुदयाभावोऽवसेयः ॥१०॥

सास्वादनस्य विशेषमाह—

सासायणम्मि रूवं चय वेयहयाण नियगजोगाण। जम्हा नपुंसउदए वेउव्वियमीसगो नत्थि ॥११॥

(स्वो०)—'सास्वादने रूपं त्यज वेदाहतेभ्यो निजकयोगेभ्यः यस्मान्नपुंसकोदये वैक्रियमिश्रको नास्ति' पदानि। पदार्थः-सास्वादने मिथ्यात्वाभावात् प्रथमपदं गतम्, शेषाः पूर्वोक्ता नवानन्तानुबन्धिविकल्पाभावादश अस्मिन् चक्रे १-१-१-१-२-४

१३-३-६-५-२-४

प्रथमं वेदैः योगान् हत्वा रूपमपनयेत्, एकैकवेदोदये त्रयोदश योगास्त्रिभिर्वेदैरेकोनचत्वारिंशत्, नपुंसकोदये न भवति वैक्रियमिश्रः, शेषाः अष्टात्रिंशत् ३८, एते चैकैके कायवधे अतः षड्गुणा अष्टाविंशत्यधिकं शतद्वयं, एते चैकैकेन्द्रियव्यापारेऽपि भवन्ति, अतः पञ्चगुणं चत्वारिंशदधिकान्येकादश शतानि ११४०, एतान्यैकैके युग्मेऽतो अशीत्यधीकानि द्वाविंशतिशतानि २२८०, एतान्यैकैके कषायोदये अतश्चतुर्गुणानि विंशत्यधिकान्येकनवतिशतानि ९१२०, एते हेतुदशकसमुदायाः। एवं शेषेष्वपि भावना कार्या।

दश पूर्वोक्ता एव द्विकायवधप्रक्षेपादेकादश तत्र प्राग्वत् द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, भयप्रक्षेपाद्वा एकादश तत्रैकनवतिशतानि विंशत्युत्तराणि ९१२०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९१२०, सर्वेऽप्येकादश हेतुसमुदाया एकचत्वारिंशत्सहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि ४१०४० एते एकादश समुदायाः। पूर्वोक्ता दश त्रिकायवधप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति, तत्र प्राग्वत् आगतानि त्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि ३०४००, अथवा भयद्विकायवधप्रक्षेपात् द्वादश, तत्र द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, एवं द्विकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २२८००, अथवा भयजुगुप्साप्रक्षेपात् द्वादश, तत्रैकनवतिशतानि विंशताधिकानि ९१२०, एवं सर्वेऽपि द्वादश समुदायाः पञ्चाशीतिसहस्राणि विंशत्युत्तरं शतं ८५१२०, एते द्वादश समुदायाः। एत एव पूर्वोक्ता दश चतुष्कायवधप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, प्राग्वत्तत्र द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, अथवा भयत्रिकायवधप्रक्षेपात् त्रयोदश, तत्र त्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि ३०-४००, एवं त्रिकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३०४००, अथवा द्विकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् त्रयोदश, तत्र भङ्गानां द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, सर्वोऽप्येकत्र चतुःषष्ठिशतान्वितो लक्षः १०६४०० एते त्रयोदश हेतुसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता दश पञ्चकायवधप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, तत्रैकनवति शतानि विंशत्युत्तराणि ९१२०, अथवा चतुष्कायवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र द्वाविंशतिसहस्राणि

अष्टौ शतानि २२८००, एवं चतुष्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २२८००, अथवा त्रिकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र भङ्गसङ्ख्या त्रिंशत् सहस्राणि चत्वारि शतानि ३०४००, सर्वेऽप्येकत्र मिलिताः पञ्चाशीतिसहस्राणि विंशत्युत्तरशतं ८५१२० एते चतुर्दश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधप्रक्षेपाद् पञ्चदश भवन्ति, तत्र पञ्चदश शतानि विंशत्युत्तराणि १५२०, पञ्चकायवधभयप्रक्षेपाद्वा तत्रैकनवतिशतानि विंशत्युत्तराणि ९१२०, एवं पञ्चकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९१२०, अथवा चतुष्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् पञ्चदश, तत्र द्वाविंशतिसहस्राणि अष्टौ शतानि २२८००, सर्वेऽप्येकत्र कृता द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि षष्ठ्यधिकानि पञ्चशतानि ४२५६०, एते पञ्चदश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभययुक्ताः षोडश भवन्ति, तत्र पञ्चदश शतानि विंशत्युत्तराणि १५२०, षट्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १५२०, अथवा पञ्चकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश, तत्रैकनवति शतानि भङ्गानां विंशत्युत्तराणि ९१२०, सर्वेऽप्येकत्र द्वादश सहस्राणि षष्ट्यधिकं शतं १२१६० एते षोडश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता दश षट्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् सप्तदश भवन्ति, तत्र भङ्गकशतानि पञ्चदश विंशत्युत्तराणि १५२०, एवमेते सास्वादनबन्धहेतवः, सर्वेऽप्येकत्र मीलिता लक्षत्रयं त्र्यशीतिसहस्राणि चत्वारिंशद्भङ्गाः ३८३०४० भवन्ति, उक्ताः सास्वादनबन्धहेतवः॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्त एव दश अनन्तानुबन्ध्युदयवर्जिता नव भवन्ति, १-१-२-१-३-१ एकैककायवधे पञ्चेन्द्रियव्यापाराः, एवं त्रिंशद् भङ्गाः,

६ ५-२-३-४-१०

एकैकयुगले त्रिंशदेवं षष्ठिः, एकैकवेदे षष्ठिरतोऽशीतं शतं, एकैककषायेऽशीतं शतम्, अतश्चतुर्भिः कषायैः विंशत्युत्तराणि सप्तशतानि ७२०, एवं दशयोगभेदा द्वासप्ततिशतानि ७२०० एते नव हेतवः। एत एव पूर्वोक्ता नव द्विकायवधप्रक्षेपात् हेतवो दश भवन्ति, प्राग्वत् सङ्ख्याऽ-

ष्टादश सहस्राणि १८०००, अथवा भयप्रक्षेपाद्दश तत्र द्विसप्ततिशतानि ७२००, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च दश, तत्रापि द्विसप्ततिशतानि ७२००, एवमेकत्र दशसमुदायानां द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि ३२४०० एते दश हेतवः। एत एव पूर्वोक्ता नव त्रिकायवधप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्र चतुर्विंशतिसहस्राणि २४०००,तथा द्विकायवधभयप्रक्षेपात् एकादश भवन्ति, तत्र अष्टादश सहस्राणि १८०००, एवं द्विकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १८०००, अथवा भयजुगुप्साप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्र भङ्गानां द्विसप्ततिशतानि ७२००, एवं सर्वेऽपि मिलिता सप्तषष्ठिसहस्राणि शतद्वयं च ६७२००, एवमेते एकादश समुदायाः। एत एव पूर्वोक्ताः नव चतुष्कायवधप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति, तत्र चाष्टादश सहस्राणि १८०००, अथवा त्रिकायवधभयप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति, तत्र चतुर्विंशतिभङ्गकसहस्राणि २४०००, एवं त्रिकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २४०००, अथवा द्विकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् द्वादश, अत्राप्यष्टादश सहस्राणि १८०००, एवं सर्वेऽप्येकत्र मिलिताश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४०००, एते द्वादश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव पञ्चकायवधप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्र द्वासप्ततिशतानि भङ्गानां ७२००, अथवा चतुष्कायवधभयप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्र अष्टादश भङ्गकसहस्राणि १८०००, एवं चतुष्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १८०००, अथवा त्रिकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, चतुर्विंशतिभङ्गसहस्राणि २४०००, सर्वेऽप्येकत्र मिलिताः सप्तषष्ठिसहस्राणि शतद्वयं च ६७२०० एते त्रयोदशसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव षट्कायवधप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, अत्र भङ्ककशतानि द्वादश १२००, अथवा पञ्चकायवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, अत्र द्वासप्ततिभङ्गकशतानि ७२००, एवं पञ्चकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ७२००, अथवा चतुष्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र अष्टादश सहस्राणि भङ्गानां १८०००, एवं सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि ३३६००, एते चतुर्दश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव षट्कायवधभयप्रक्षेपात्पञ्चदश भवन्ति,

तत्र प्राग्वत् भङ्गानां द्वादश शतानि १२००, एवं षट्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १२००, अथवा पञ्चकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् पञ्चदश भवन्ति, तत्र प्राग्वत् भङ्गानां द्वासप्ततिशतानि ७२००, एते सर्वेऽपि षण्णवतिशतानि ९६००, एते पञ्चदश समुदायाः। पूर्वोक्ता एव नव षट्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश भवन्ति, भङ्गानां द्वादश शतानि १२००, सर्वेऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टिहेतवो मिलिता लक्षत्रयं चतुर्विंशतिशतानि ३०२४००, एते सम्यग्मिथ्यादृष्टिहेतवः ॥११॥

(मलय०)–सम्प्रति सासादने दशादयः सप्तदशपर्यन्ता बन्धहेतवो भाव्यन्ते, तत्र सासादने मिथ्यात्वं सर्वथा न सम्भवतीति मिथ्यात्वलक्षणं प्रथमपदमपनीयते, शेषाः पूर्वोक्ता एव जघन्यपदभाविनो नव, अनन्तानुबन्ध्युदयश्चावश्यं भावी सासादनस्य, तदभावे सासादनत्वस्यैवायोगात्, ततो दशमोऽनन्तानुबन्ध्युदयः प्रक्षिप्यते। अनन्तानुबन्ध्युदये च योगास्त्रयोदश सम्भवन्ति, एतच्च प्रागेवोक्तं, ततो योगस्थाने त्रयोदशकाङ्कस्थापना। अत्रैव विशेषमाह–सासादने सासादनसम्यग्दृष्टौ प्रथमतो वेदैर्योगानाहन्याद् गुणयेदित्यर्थः, ततो वेदाहतानां निजकयोगानां मध्यादेकं रूपं त्यजापसारयेत्यर्थः। किमुक्तं भवति? एकैकस्मिन् वेदोदये त्रयोदश योगाः पर्यायेण प्रायः सम्भवन्ति। ततस्त्रिभिर्वेदैस्त्रयोदशगुणने एकोनचत्वारिंशद्भवति, ततस्तन्मध्यादेकं रूपमपनीयते, शेषाऽष्टात्रिंशद्भवति। कस्मादेकं रूपमपनीयते? इति चेत्, अत आह–यस्मात्सासादनभावोपगतस्य नपुंसकवेदोदये वैक्रियमिश्रः काययोगो न सम्भवति। वैक्रियमिश्रो हि काययोगः कार्मणेन सह विवक्षितः, स च नपुंसकवेदोदये नरकगतावेव प्राप्यते, नान्यत्र, न च सासादनभावोपगतो नरकमुपयाति, ततो वेदताडितेभ्यो योगेभ्य एकरूपापहारः। इह प्रथमतो वेदैर्योगान् गुणयित्वा तेभ्य एकरूपमपहर्त्तव्यं, ततः शेषांकताडना विधेया, अन्यथा यथावस्थितप्रतिनियतभङ्गसंख्यापरिज्ञानं सुखेन नस्यात्। तत एवमिहांकस्थापना द्रष्टव्याः, तद्यथा–प्रथमतस्त्रयो वेदाः स्थाप्यन्ते,

ततो योगास्त्रयोदश, तदनन्तरं षट्कायाः, ततः पञ्चेन्द्रियासंयमाः, तदनन्तरं द्वे युगले, ततश्चत्वारः कषायाः। स्थापना चेयं—४-२-५-६-१३-३, अमीषां चांकानां ताडनमेवं-त्रिभिर्वेदैस्त्रयोदशयोगा गुण्यन्ते, जातैकोनचत्वारिंशत् ३९, अस्या एकरूपमपसार्यते, स्थिताऽष्टात्रिंशत् ३८, सा चैकैकस्मिन् कायवधे प्राप्यते, इति षड्भिर्गुणिता, जातमष्टाविंशत्यधिकं शतद्वयं २२८, तच्चैकैकस्मिन्निन्द्रियासंयमेऽवाप्यते, इति पञ्चभिर्गुण्यते, जातानि चत्वारिंशदधिकान्येकादशशतानि ११४०, एतानि प्रत्येकमेकैकस्मिन् युगले संभवन्तीति द्विकेन गुण्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतान्यशीत्यधिकानि २२८०, अमूनि चैकैकस्मिन्कषाये भवन्तीति कषायचतुष्टयेन गुणितानि जातानि विंशत्यधिकान्येकनवतिशतानि ९१२०, एतावन्तो दशबन्धहेतूनां सासादने भङ्गाः। एवमुत्तरत्रापि गणितभावना भावनीया। सांप्रतमेकादशबन्धहेतव उच्यन्ते—तत्र त एव दश बन्धहेतवः कायस्थाने कायद्वयवधपरिग्रहादेकादश, षण्णां च कायानां द्विकसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकानां ताडने जातानि द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टशताधिकानि २२८००, अथवा त एव पूर्वोक्ता दश भयप्रक्षेपादेकादश, तत्र भङ्गानां प्राग्वदेकनवतिशतानि विंशत्यधिकानि ९१२०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९१२०, सर्वसंख्ययैकादशबन्धहेतूनां भङ्गा एकचत्वारिंशत्सहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि ४१०४०, उक्ता एकादशबन्धहेतवः। अधुना द्वादशबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते—त एव पूर्वोक्ता दश कायत्रयवधपरिग्रहे द्वादश, षण्णां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिः, ते कायवधस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने लब्धानि त्रिंशत्सहस्राणि चतुःशताधिकानि ३०४००, अथवा भयकायद्वयवधोपादाने द्वादश, तत्र भङ्गानामष्टशताधिकानि द्वाविंशतिसहस्राणि २२८००, एवं कायद्वयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २२८००, यदि वा भयजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, तत्रैकनवतिशतानि विंशत्यधिकानि भङ्गकानां ९१२०, सर्वसंख्यया द्वादशबन्धहेतूनां भङ्गाः पञ्चाशीतिसहस्राणि विंशत्युत्तरं शतं

सासादने मिश्रे च बन्धहेतुभङ्गाः

८५१२०, उक्ता द्वादशबन्धहेतवः । सम्प्रति त्रयोदशबन्धहेतवः कथ्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता दश कायचतुष्टयवधपरिग्रहे त्रयोदश, षण्णां च कायानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश कायस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वद्गुणने भङ्गा द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, अथवा भयकायत्रयवधप्रक्षेपात् त्रयोदश, तत्र भङ्गानां त्रिंशत्सहस्राणि चतुःशताधिकानि ३०४००, एवं कायत्रयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३०४००, यदिवा कायद्वयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे त्रयोदय, तत्र प्रागुक्तविधिना भङ्गकानां द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धहेतुभङ्गाश्चतुःषष्टिशतसमन्वितं लक्षं १०६४००, उक्तास्त्रयोदशबन्धहेतवः । साम्प्रतं चतुर्दशबन्धहेतवः प्रतिपाद्यन्ते–तत्र त एव पूर्वोक्ता दश बन्धहेतवः कायपञ्चकवधोपादाने चतुर्दश, षण्णां च कायानां पञ्चकसंयोगे भङ्गाः षट्, ते कायस्थाने स्थाप्यन्ते, तत्र प्रागुक्तक्रमेणांकानां ताडने जातानि भङ्गकानामेकनवतिशतानि विंशत्यधिकानि ९१२०, अथवा कायचतुष्टयवधभयप्रक्षेपे चतुर्दश, तत्र प्राग्वद्भङ्गकानां द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २२८००, यदि वा कायत्रयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे चतुर्दश, तत्र प्रागुक्तक्रमेणांकानां गुणने भङ्गास्त्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि ३०४००, सर्वसंख्यया चतुर्दशबन्धहेतुभङ्गाः पञ्चाशीतिसहस्राणि विंशत्युत्तरं शतं ८५१२०, गताश्चतुर्दशबन्धहेतवः । सम्प्रति पञ्चदशबन्धहेतवो भण्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता दश कायषट्कवधप्रक्षेपे पञ्चदश, षण्णां च कायानां षट्कसंयोग एको भङ्गः, स कायस्थाने स्थाप्यते, ततः प्रागुक्तविधिना भङ्गकानां लब्धानि पञ्चदशशतानि विंशत्यधिकानि १५२०, अथवा कायपञ्चकवधभयप्रक्षेपे पञ्चदश, तत्र प्राग्वद्भङ्गा एकनवतिशतानि विंशत्यधिकानि ९१२०, एवं कायपञ्चकवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९१२०, यदि वा कायचतुष्टयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात्पञ्चदश, षण्णां च कायानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायस्थाने न्यस्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकानां ताडने भङ्गा द्वाविंशतिसहस्राण्यष्टौ शतानि २२८००,

सर्वसंकलने पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गा द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि षष्ट्यधिकानि पञ्चशतानि ४२५६०, समाप्ताः पञ्चदशबन्धहेतवः। सम्प्रति पोडशबन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता दश कायषट्कवधभयप्रक्षेपे षोडश, तत्र पञ्चदशशतानि विंशत्युत्तराणि भङ्गकानां १५२०, एवं कायषट्कवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १५२०, अथवा कायपञ्चकवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे षोडश, षण्णां च कायानां पञ्चकसंयोगे भङ्गाः षट्, ते कायस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकानां ताडने भङ्गा एकनवतिशतानि विंशत्युत्तराणि ९१२०, सर्वे षोडशबन्धहेतुभङ्गा द्वादशसहस्राणि षष्ट्यधिकशतान्यधिकानि १२१६०, गताः षोडशबन्धहेतवः। अथ सप्तदशबन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता दश कायषट्कवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्र भङ्गाः प्रागुक्तक्रमेण पञ्चदशशतानि विंशत्युत्तराणि १५२०। सर्वसंख्यया सासादनबन्धहेतुभङ्गा लक्षत्रयं त्र्यशीतिसहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि ३८३०४०, उक्ताः सासादनबन्धहेतवः।

सासादने मिश्रे च बन्धहेतु भङ्गाः

सम्प्रति मिश्रे नवादयः षोडशपर्यन्ता बन्धहेतवो विभाव्यन्ते–तत्र त एव सासादनोक्ता दशानन्तानुबन्ध्युदयरहिताः शेषा नव जघन्यपदे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति, योगाश्चात्र सम्भविनो दश, सम्यग्मिथ्यादृष्टेः कालाकरणतो वैक्रियमिश्रौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगासम्भवात्। अंकस्थापना त्वियं—१०–४–३–२–५–६, अमीषां चांकानामभ्यासे कृते जातानि द्विसप्ततिशतानि ७२००, एतावन्तः सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नवबन्धहेतुभङ्गाः। त एवानन्तरोक्ता नव कायद्वयवधप्रक्षेपे दश, षण्णां च कायानां द्विकसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः पूर्वक्रमेण परस्परमङ्कानां गुणने जातान्यष्टादशसहस्राणि १८०००, अथवा भयप्रक्षेपाद्दश, तत्र भङ्गाः प्राग्वद् द्विसप्ततिशतानि ७२००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ७२००, सर्वसंख्यया दशबन्धहेतुभङ्गा द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि ३२४००, गता दशबन्धहेतवः। अथैकादशबन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता नव कायत्रयवधप्रक्षेपादेकादश, षण्णां च कायानां त्रिक-

संयोगे भङ्गा विंशतिः, सा कायस्थाने स्थाप्यते, ततः प्रागुक्तविधिनांकताडने भङ्गाश्चतुर्विंशतिसहस्राणि २४०००, यदि वा कायद्वयवधभयप्रक्षेप एकादश, द्विकसंयोगे च षण्णां कायानां भङ्गाः पञ्चदश, ते कायस्थाने न्यस्यन्ते, ततः प्राग्वद्भंगकानामष्टादशसहस्राणि १८०००, एवं कायद्वयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १८०००, अथवा भयजुगुप्साप्रक्षेपादेकादश, तत्र भङ्गा द्विसप्ततिशतानि ७२००, सर्वसंख्ययैकादशबन्धहेतुभङ्गाः सप्तषष्टिसहस्राणि शतद्वयाधिकानि ६७२००, गता एकादशबन्धहेतवः। संप्रति द्वादशबन्धहेतवः कथ्यन्ते—त एव पूर्वोक्ता नव कायचतुष्टयवधप्रक्षेपाद् द्वादश, षण्णां च कायानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ते कायस्थाने स्थाप्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकताडने भङ्गानामष्टादशसहस्राणि १८०००, अथवा कायत्रयवधभयप्रक्षेपे द्वादश, षण्णां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिः, ततः कायस्थाने तां स्थापयित्वा पूर्वक्रमेणांकगुणने जातानि भङ्गकानां चतुर्विंशतिसहस्राणि २४०००, एवं कायत्रयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २४०००, यदि वा कायद्वयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, तत्र प्राग्वदंकमीलने भङ्गानामष्टादशसहस्राणि १८०००, सर्वसंख्यया द्वादशबन्धहेतुभङ्गाश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४०००, गता द्वादशबन्धहेतवः। अथ त्रयोदशबन्धहेतव उपदर्श्यन्ते—त एव पूर्वोक्ता नव कायपञ्चकवधप्रक्षेपे त्रयोदश, षण्णां च कायानां पञ्चकयोगे भङ्गाः षडिति कायस्थाने षट् स्थाप्यन्ते, ततोऽङ्कानामभ्यासे जातानि भङ्गकानां द्विसप्ततिशतानि ७२००, अथवा कायचतुष्टयवधभयप्रक्षेपात्त्रयोदश, परं तत्र षण्णां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदशेति कायस्थाने पञ्चदश स्थापनीयाः, ततोऽङ्कानां ताडने लब्धानि भङ्गकानामष्टादशसहस्राणि १८०००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १८०००, अथवा कायत्रयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे त्रयोदश, षण्णां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिः, ततः सा कायस्थाने स्थाप्यते, ततः पूर्वक्रमेण गुणने लब्धानि भङ्गकानां चतुर्विंशतिसहस्राणि २४०००, सर्वसंकलनया त्रयोदशबन्धहेतुभङ्गाः शतद्वयसमधिकानि सप्तषष्टिसहस्राणि ६७२००, उक्तास्त्रयो-

दशबन्धहेतवः । सम्प्रति चतुर्दशबन्धहेतवः ख्याप्यन्ते-त एव पूर्वोक्ता नव कायषट्कवधप्रक्षेपे चतुर्दश, परं षण्णां कायानां षट्कसंयोगे भङ्ग एक इति कायस्थान एकोऽवस्थापनीयः, ततः पूर्वपरिपाट्या व्यवस्थापितानामङ्कानां गुणने जातानि भङ्ककानां द्वादशशतानि १२००, अथवा कायपञ्चकवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश, नवरं कायस्थाने षट् स्थापनीयाः, षण्णां पञ्चकसंयोगे षण्णामेव भङ्गकानां लभ्यमानत्वात्, अत्र भङ्गा द्विसप्ततिशतानि ७२००, एवं कायपञ्चकवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ७२००, यदि वा कायचतुष्टयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे चतुर्दश, अत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थापनीयाः, चतुष्कसंयोगे षण्णां भङ्गपञ्चदशकस्य प्राप्यमाणत्वात्, ततः प्राग्वदंकानां गुणने जातानि तत्र भङ्गकानामष्टादशसहस्राणि १८०००, सर्वसंकलनतश्चतुर्दशबन्धहेतुभङ्गास्त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि ३३६००, गताश्चतुर्दशबन्धहेतवः । सम्प्रति पञ्चदशबन्धहेतवो भाव्यन्ते-तत्र त एव पूर्वोक्ता नव कायषट्कवधभयप्रक्षेपे पञ्चदश । षण्णां च कायानां षट्कसंयोगे भङ्ग एक इति कायस्थान एकः स्थाप्यते, ततः प्राग्वल्लभ्यन्ते भङ्गकानामत्र द्वादशशतानि १२००, एवं कायषट्कवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १२००, अथवा कायपञ्चकवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे पञ्चदश, षण्णां च कायानां पञ्चकसंयोगे भङ्गाः षट्, ततस्तान् कायस्थाने स्थापयित्वा प्राग्वदंकताडने कृते लब्धानि भङ्गकानां द्विसप्ततिशतानि ७२००, सर्वसंख्यया पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गाः षण्णवतिशतानि ९६००, उक्ताः पञ्चदशबन्धहेतवः । अथ षोडशबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते-त एव पूर्वोक्ता नव कायषट्कवधजुगुप्साभयप्रक्षेपे षोडश, तत्र भङ्गाः प्रागुक्तक्रमेण द्वादशशतानि १२००, सर्वसंकलने सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धहेतुभङ्गा लक्षत्रयं चतुर्विंशतिशतानि ३०२४०० ॥११॥

अविरतहेतुविशेषमाह-

सासादने मिश्रे च बन्धहेतुभङ्गाः

चत्तारि अविरए चय थीउदएविउव्विमीसकम्मइया। इत्थिनपुंसगउदए ओरालियमीसगो जन्नो[1] ॥१२॥

(स्वो०)—'चत्वारि अविरते त्यज स्त्रीउदये वैक्रियमिश्रकार्म्मणौ स्त्रीनपुंसकोदये औदारिकमिश्रको यस्मान्नेति' पदानि। पदार्थस्तु अविरते योगाहतवेदेभ्य इत्यनुवर्त्तते चत्वारि रूपाणि त्यज, यतश्चत्वारो भङ्गाः न संभवन्ति, स्त्रीवेदोदये वैक्रियमिश्रकार्म्मणौ योगौ न भवतः, स्त्रीनपुंसकवेदयोरुदये औदारिकमिश्रो न भवतीति गाथार्थः।

एकः काय एकमिन्द्रियमेकं युग्ममेको वेदः त्रयः कषाया एको योगः एते नव जघन्यहेतवः, चक्ररचना—१३—३—६—५—२—४
१—१—१—१—२—३

अत्र प्रथमं योगैर्वेदान् गुणयेत्, ततः पूर्वोक्तं भङ्गचतुष्टयमुद्धरेत, शेषाः पञ्चत्रिंशत् ३५, भूयः शेषाङ्कैर्गुणिता जातानि चतुरशीतिशशतानि ८४००, एते नवकसमुदायाः, भावना प्रागेवाभिहिताः। एत एव पूर्वोक्ता नव द्विकायप्रक्षेपाद्दश भवन्ति, अत्र भङ्गानां एकविंशतिसहस्राणि २१०००, अथवा भयप्रक्षेपाद्दश, तत्र चतुरशीतिशतानि ८४००,एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ८४००, सर्वेऽप्येकत्र सप्तत्रिंशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि ३७८०० एते दश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव त्रिकायवधप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्राष्टाविंशतिसहस्राणि २८०००, अथवा द्विकायवधभयप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्रैकविंशतिसहस्राणि २१०००, एवं द्विकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २१०००, अथवा भयजुगुप्साप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, अत्र चतुरशीतिभङ्गशतानि ८४००, सर्वेऽप्येकत्राष्टसप्ततिसहस्राणि चत्वारि शतानि ७८४००, एते एकादश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव चतुष्कायवधप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति, तत्र प्राग्वदेकत्रिंशतिभङ्गकसह-

---

१ नत्थि।

स्राणि २१०००, अथवा त्रिकायवधभयप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति, तत्र भङ्गानां अष्टाविंशतिसहस्राणि २८०००, एवं त्रिकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २८०००, अथवा द्विकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् द्वादश भवन्ति,तत्रैकविंशतिभङ्गकसहस्राणि २१०००, सर्वेऽप्येकत्राष्टानवतिसहस्राणि ९८०००, एते द्वादश हेतुसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव पञ्चकायवधप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्र भङ्गानां चतुरशीतिशतानि ८४००, अथवा चतुष्कायवधभयप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्र भङ्गानां एकविंशतिसहस्राणि २१०००, एवं चतुष्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २१०००, अथवा त्रिकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्राऽप्यष्टाविंशतिभङ्गकसहस्राणि २८०००, सर्वेऽप्येकत्र अष्टसप्ततिसहस्राणि चत्वारि शतानि ७८४००, एते त्रयोदश हेतुसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव षट्कायवधप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, तत्र भङ्गानां चतुर्दश शतानि १४००, अथवा पञ्चकायवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, तत्र चतुरशीतिभङ्गकशतानि ८४००, एवं पञ्चकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ८४००, अथवा चतुष्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र भङ्गानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, सर्वेऽप्येकत्र एकोनचत्वारिंशत् सहस्राणि शतद्वयं च ३९२००, एते चतुर्दशहेतुसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव षट्कायवधभयप्रक्षेपात् पञ्चदश भवन्ति, तत्र चतुर्दश भङ्गकशतानि १४००, एवं षट्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १४००, अथवा पञ्चकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् पञ्चदश भवन्ति,तत्र भङ्गानां चतुरशीतिशतानि ८४००, सर्वेऽप्येकत्र मिलिताः सहस्राण्येकादश शतद्वयं च ११२००, एते पञ्चदश समुदायाः। त एव पूर्वोक्ता नव षट्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश भवन्ति, तत्र चतुर्दश शतानि १४००, एवं सर्वेऽप्येकत्र लक्षत्रयं द्विपञ्चाशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ३५२८०० एते चाविरतहेतुसमुदायाः।

देशविरतस्य त्रसकायविरतेः पञ्चकायः, तेषामेकद्विकत्रिकचतुष्पञ्चसंयोगाश्च चारणीया, अस्याष्टौ हेतवः, एकः कायः, एकमिन्द्रियं,

एकं युग्मं एको वेदो, द्वौकषायावेको योग इत्यष्टौ, चक्रं ५–५–२–३–४–११। एकैककाये पञ्चेन्द्रियाणीति पञ्चविंशतिभेदाः २५, ते
१–१–२–१–२–१

द्वियुग्मभेदात् पञ्चाशत्, सापि वेदात् सार्द्धं शतम् १५०, तदपि चतुष्कषायभेदात् षट्शतानि ६००, तान्यपि एकादशयोगभेदात् षट्षष्टिशतानि ६६०० एत अष्टकहेतुसमुदायाः। त एव पूर्वोक्ता अष्टौ द्विकायवधप्रक्षेपात् नव भवन्ति, तत्र त्रयोदश सहस्राणि शतद्वयं च १३२०० । अथवा भयप्रक्षेपात् नव तत्र षट्षष्टिशतानि ६६००,अथवा जुगुप्साप्रक्षेपान्नव तत्रापि षड्षष्टिशतानि ६६००, सर्वेऽप्येकत्र षड्विंशतिसहस्राणि शतचतुष्कं च २६४००, एते नव हेतुसमुदायाः । एत एव पूर्वोक्ता अष्टौ त्रिकायवधप्रक्षेपाद्दश भवन्ति, त्रिकसंयोगा अत्र दश भवन्ति, ततो भङ्गकानां त्रयोदशसहस्राणि द्विशतोत्तराणि १३२००, अथवा द्विकायवधभयप्रक्षेपात् दश, दशाऽत्र द्विकसंयोगाः भङ्गानां त्रयोदशसहस्राणि द्विशताभ्यधिकानि १३२००,द्विकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२००, अथवा पूर्वोक्ता अष्टौ भयजुगुप्साप्रक्षेपाद्दश भवन्ति, तत्र षट्षष्टिभङ्गकशतानि ६६००, सर्वेऽप्येकत्र षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशतं च ४६२००, एते दश हेतुसमुदायाः । त एव पूर्वोक्ता अष्टौ चतुष्कायवधप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्र षट्षष्टिशतानि भङ्गानां ६६००, अथवा त्रिकायवधभयप्रक्षेपादेकादश, तत्र त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयं च भङ्गानां १३२००, एवं त्रिकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२००, अथवा द्विकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपादेकादश भवन्ति, तत्रापि त्रयोदश सहस्राणि शतद्वयं च भङ्गानां १३२००, सर्वेऽप्येकत्र षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि शतद्वयं ४६२००, एते एकादश हेतुसमुदायाः । त एव पूर्वोक्ता अष्टौ पञ्चकायवधप्रक्षेपाद् द्वादश भवन्ति, तत्र त्रयोदश शतानि विंशत्युत्तराणि भङ्गानां १३२०, अथवा चतुष्कायवधभयप्रक्षेपाद् द्वादश भवन्ति, तत्र षट्षष्टिभङ्गकशतानि ६६००, एवं चतुष्कायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६६००, अथवा

त्रिकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, त्रयोदश सहस्राणि द्विशतं च भङ्गानां १३२००, सर्वेऽप्येकत्र सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि
विंशत्युत्तराणि २७७२० एते द्वादश हेतुसमुदायाः। ते एव पूर्वोक्ता अष्टौ पञ्चकायवधभयप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति, तत्र त्रयोदश शतानि
विंशत्युत्तराणि भङ्गानां १३२०, एवं पञ्चकायवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२०, अथवा चतुष्कायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपात् त्रयोदश भवन्ति,
तत्रापि षट्षष्टिशतानि भङ्गानां ६६००, सर्वेऽप्येकत्र द्विनवतिशतानि चत्वारिंशदुत्तराणि ९२४०, एते त्रयोदश हेतुसमुदायाः । त एव
पूर्वोक्ता अष्टौ पञ्चकायवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश भवन्ति, तत्र विंशत्युत्तराणि त्रयोदश शतानि भङ्गानां १३२०,एते चतुर्दश हेतुसमु-
दायाः। सर्वेऽप्येकत्र लक्षं त्रिषष्टिसहस्राणि षट्शतानि अशीत्यधिकानि भङ्गानां १६३६८० एते देशविरतिभङ्गकाः । गतौ मिथ्यात्वा-
विरतिहेतू, अनन्तानुबन्धिकायवधभङ्गकचारणा च। "अणबन्धिभयदुगुंछाण" कस्मादित्थमुपन्यास ? उच्यते-अनन्तानुबन्धिनां मिथ्या-
दृष्टावेव चारणा विकल्पेनोदयादतः प्रथमोच्चारणं, कायवधभङ्गानां तु देशविरतं यावच्चारणा अतो द्वितीयस्थाने भणनम् , भयजुगुप्सयो-
स्तु हास्यादिषट्कस्य उदयं प्रत्यपूर्वकरणं यावद् गमनादित्थमुपन्यासः। आह-अविरतेर्द्वादशमभेदस्य मनोऽभिधानस्य मिथ्यादृष्ट्यादिषु
प्रागबन्धहेतुतामुक्त्वा किमिति युगपत् बन्धहेतुषु न दर्शिता ? अत्रोच्यते-"तन्मनश्चित्तभेदेषु, चरल्लीनं न दृश्यते । सङ्ख्याधिक्यं च
नो कुर्याद् बन्धहेतुस्तथापि तत् ॥१॥ आह भोः को विशेषोऽत्र विरताविरतचित्तयोः ?। बन्धं प्रति महानत्र विशेषोऽस्ति स उच्यते ॥२॥
सङ्ख्यावस्त्रत्वसाम्येऽपि विशेषश्वेतरक्तयोः । यथेहास्ति तथाऽत्रापि स्थितेर्भेदाच्च चिन्तयेत् ॥३॥" यथा मांजिष्टं वस्त्रं बहुमूल्यं श्वेतादथवा
कृष्णमपवित्रं श्वेत्रादिति विशेषः । एवं सयोगिमनसा कृतो बन्धः सामयिको भवति अविरतियुक्तमनसा कृतो बन्धः सागरोपमकोटा-
कोटीः स्थितौ करोतीति, रसादिभिश्च विशेषः स्वमत्या चिन्तयेत् ॥१२॥

(मलय०)—उक्ताः सम्यग्मिथ्यादृष्टिबन्धहेतवः । सांप्रतमविरतसम्यग्दृष्टौ नवादयः षोडशपर्यन्ता बन्धहेतवः प्राप्यन्ते, तत्र योगानधिकृत्य विशेषमाह–इहानन्तरगाथातो वेदहतानां निजकयोगानामित्यनुवर्त्तते, ततोऽयमर्थः–अविरतेऽविरतसम्यग्दृष्टौ प्रथमतो वेदैर्निजकयोगान् गुणयेत्, गुणयित्वा च तन्मध्याच्चत्वारि रूपाणि त्यज स्फेटय, कस्मात्? इति चेत्, अत आह–यद्यस्मात्कारणादविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके स्त्रीवेदोदये वैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगौ न भवतः, वैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्, उक्तं च सप्ततिचूर्णावविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रकाययोगिनः कार्मणकाययोगिनश्च प्रत्येकं वेदद्वारेण भङ्गचिन्तायां–"इत्थ इत्थिवेदो ण लब्भइ, कहं? इत्थिवेयगेसु न उववज्जइ त्ति काउमिति" एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तं, अन्यथा कदाचित्स्त्रीवेदिष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवति। उक्तं च सप्ततिकाचूर्णावेव–"कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि त्ति"। तथा स्त्रीवेदोदये नपुंसकवेदोदये च प्रत्येकमौदारिकमिश्रो न भवति । तिर्यग्मनुष्येषु स्त्रीवेदनपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादासम्भवात्। एतदपि प्राचुर्यमधिकृत्यावसेयं, तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः तदेवं स्त्रीवेदे वैक्रियमिश्रौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगा न घटन्ते, नपुंसकवेदे चौदारिकमिश्र इति वेदाहतेभ्यो निजकयोगेभ्यः कर्त्तव्यो रूपचतुष्टयापहारः। तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ जघन्यपदे नवबन्धहेतव इमे–एकः कायवधः, एक इन्द्रियासंयमः, एकमन्यतरद्युगलं, एकोऽन्यतमो वेदः, त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः कषायाः, त्रयोदशानां योगानामन्यतमो योगः । षण्णां च कायानामेककसंयोगे भङ्गाः षडिति कायस्थाने षट् स्थाप्यन्ते, इन्द्रियासंयमस्थाने पञ्च, वेदस्थाने त्रयः, युगलस्थाने द्वौ, कषायस्थाने चत्वारः, योगस्थाने त्रयोदश । इहापि प्रथमतो वेदैर्योगांस्ताडयेत्, ताडयित्वा च तेभ्यो रूपचतुष्टयमपनीयते, ततः शेषांकगुणना विधेया । तत एवमिहांकस्थापना—४–२–५–६–१३–३, अमीषां चांकानां ताडनमेवं–त्रिभिर्वेदैस्त्रयोदश योगा

गुण्यन्ते, जातैकोनचत्वारिंशत् ३९, ततो रूपचतुष्टयमपसार्यते, स्थिता शेषा पञ्चत्रिंशत् ३५, तया कायषट्कं गुण्यते, जातं दशोत्तरं शतद्वयं २१०, तेनेन्द्रियासंयमपञ्चकगुणनाज्जातानि पञ्चाशदधिकानि दशशतानि १०५०, तैर्युगलद्विके गुणिते जातान्येकविंशतिशतानि २१००, तैः कषायचतुष्टयताडनाल्लब्धानि चतुरशीतिशतानि ८४००, उक्ता नवबन्धहेतवः ! सम्प्रति दशबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते–तत्र त एवानन्तरोक्ता नव कायद्वयवधप्रक्षेपे दश, षण्णां च कायानां द्विकसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, ततोऽत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकगुणने जातानि भङ्गकानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, अथवा भयप्रक्षेपे दश, तत्र भङ्गाः प्राग्वच्चतुरशीतिशतानि ८४००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ८४००, सर्वसंकलने दशबन्धहेतुभङ्गाः सप्तत्रिंशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ३७८००, गता दशबन्धहेतवः। अथैकादशबन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता नव कायत्रयवधपरिग्रहादेकादश, षण्णां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा विंशतिः, ततोऽत्र विंशतिः कायस्थाने स्थाप्यते, ततः प्राग्वदंकानामभ्यासे लब्धानि भङ्गकानामष्टाविंशतिसहस्राणि २८०००, अथवा कायद्वयवधभयप्रक्षेपे एकदश, कायद्वयवधप्रक्षेपे च कायस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वद्भङ्गकानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, एवं कायद्वयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २१०००, यदि वा भयजुगुप्साप्रक्षेपादेकादश, तत्र कायस्थाने षडेव प्राप्यन्ते, इति प्राग्वद्भङ्गाश्चतुरशीतिशतानि ८४००, सर्वसंख्ययैकादशबन्धहेतुभङ्गा अष्टसप्ततिसहस्राणि चत्वारि शतानि ७८४००, गता एकादशबन्धहेतवः। संप्रति द्वादशबन्धहेतव उच्यन्ते–तत्र त एव पूर्वोक्ता नव कायचतुष्टयवधप्रक्षेपे द्वादश, षण्णां च कायानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः पञ्चदश, तत्रोऽत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, ततः प्रागुक्तक्रमेणांकगुणने लब्धानि भङ्गकानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, अथवा कायत्रयवधभयप्रक्षेपे द्वादश, तत्र कायस्थाने विंशतिः स्थाप्यन्ते, इति प्राग्वद्भङ्गा अष्टाविंशतिसहस्राणि २८०००, एवं काय-

त्रयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २८०००, यदि वा कायद्वयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाद् द्वादश, तत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वद्भंगानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, सर्वसंकलने द्वादशबन्धहेतुभङ्गा अष्टानवतिसहस्राणि ९८०००, उक्ता द्वादशबन्धहेतवः। संप्रति त्रयोदशबन्धहेतवो विभाव्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता नव कायपञ्चकवधप्रक्षेपात्त्रयोदश, षण्णां च कायानां पञ्चकसंयोगे षडिति कायस्थाने षट् स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वद्भङ्गाश्चतुरशीतिशतानि ८४००, यदि वा कायचतुष्टयवधभयप्रक्षेपात्त्रयोदश, तत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थापनीयाः, इति प्रागिव भङ्गानामेकविंशतिसहस्राणि २१०००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २१०००, अथवा कायत्रयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे त्रयोदश, तत्र कायस्थाने विंशतिरवस्थाप्यते, प्राग्वद्भङ्गा अष्टाविंशतिसहस्राणि २८०००, सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धहेतुभङ्गा अष्टसप्ततिसहस्राणि चत्वारि शतानि ७८४००, उक्तास्त्रयोदशबन्धहेतवः। अथ चतुर्दशबन्धहेतवः कथ्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता नव कायषट्कवधप्रक्षेपाच्चतुर्दश. तत्र षण्णां कायानां षट्कसंयोगे भङ्ग एक इति कायस्थान एकः स्थाप्यते, ततः प्राग्वदंकगुणने भङ्गाश्चतुर्दशशतानि १४००, अथवा कायपञ्चकवधभयप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र कायस्थाने षट् स्थाप्यन्ते, षण्णां च पञ्चसंयोगे भङ्गषट्कस्यैव प्राप्यमाणत्वात्, ततः प्राप्यन्ते प्राग्वद्भङ्गानां चतुरशीतिशतानि ८४००, एवं कायपञ्चकवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ८४००, यदि वा कायचतुष्टयवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश, नवरमत्र कायस्थाने पञ्चदश स्थाप्यन्ते, षण्णां चतुष्कसंयोगे भङ्गपञ्चदशकस्य लभ्यमानत्वात्, ततः प्राग्वदङ्कताडने भङ्गा एकविंशतिसहस्राणि २१०००, सर्वमीलने चतुर्दशबन्धहेतुभङ्गानामेकोनचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते ३९२००, उक्ताश्चतुर्दशबन्धहेतवः। इदानीं पञ्चदशबन्धहेतवः प्रदर्श्यन्ते–त एव पूर्वोक्ता नव कायषट्कवधभयप्रक्षेपात्पञ्चदश। अत्र कायस्थान एकः स्थाप्यते, षण्णां षट्कसंयोग एकस्यैव भङ्गस्य प्राप्यमाणत्वात्। ततः प्राग्वदङ्कानामभ्यासे लब्धानि

भङ्गानां चतुर्दशशतानि १४००, एवं कायषट्कवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १४००, यदि वा कायपञ्चकवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे पञ्चदश। नवरमत्र कायस्थाने षट् स्थाप्यन्ते, कारणं प्रागेवानेकश उक्तम्। ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने लब्धानि भङ्गानां चतुरशीतिशतानि ८४००, सर्वसङ्कलने पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गा एकादशसहस्राणि शतद्वयं ११२००, उक्ताः पञ्चदशबन्धहेतवः। षोडशबन्धहेतव इमे–त एवपूर्वोक्ता नव कायषट्कवधभयजुगुप्साप्रक्षेपे षोडश, तत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गाश्चतुर्दशशतानि १४००, सर्वसङ्ख्ययाऽविरतसम्यग्दृष्टौ भङ्गास्त्रीणि लक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राण्यष्टौ शतानि ३५२८००, उक्ता अविरतसम्यग्दृष्टिबन्धहेतवः।

सम्प्रति देशविरतेऽष्टादयश्चतुर्दशपर्यन्ता बन्धहेतवः ख्याप्यन्ते–तत्र देशविरते कायवधाः पञ्च, षष्ठस्य त्रसकायवधस्य प्रत्याख्यातत्वात्, योगाश्चैकादश कार्मणौदारिकमिश्राहारकद्विकानामसंभवाज्जघन्यपद भाविनश्चाष्टौ बन्धहेतव इमे–पञ्चानां कायवधानामन्यतम एकः कायवधः, पञ्चानामिन्द्रियासंयमानामन्यतम एक इन्द्रियासंयमः, द्वयोर्युगलयोरेकमन्यतरद्युगलं,त्रयाणां वेदानामेकोऽन्यतमो वेदः, अप्रत्याख्यानकषायाणामत्रोदयाभावात् प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञौ द्वावन्यतमौ क्रोधादिकौ,एकादशानां योगानामेकोऽन्यतमो योगः। पञ्चानां कायानामेककसंयोगे भङ्गाः पञ्च प्राप्यन्ते, इति कायस्थाने पञ्च स्थाप्यन्ते, पञ्चेन्द्रियासंयमस्थाने, द्वौ युगलस्थाने, त्रयो वेदस्थाने, चत्वारः कषायस्थाने, एकादश योगस्थाने, स्थापना–११–४–३–२–५–५। तत्र कायवधपञ्चकं प्रत्येकं पञ्चस्विंद्रियासंयमेषु सम्भवन्तीति तेन पञ्च गुण्यन्ते, जाता पञ्चविंशतिः २५, सा युगलद्विके प्रत्येकमवाप्यत इति तया द्विको गुण्यते, जाता पञ्चाशत् ५०, तया वेदत्रिकं गुण्यते, लब्धं सार्द्धशतं १५०, तदपि प्रत्येकं कषायचतुष्टये प्राप्यते, इति तेन चतुष्को गुण्यते, जातानि षट् शतानि ६००, तानि च प्रत्येकमेकादशसु योगेषु सम्भवन्तीति तैरेकादश गुण्यन्ते, जातानि षट्षष्टिशतानि ६६००, एतावन्तोऽष्टबन्धहेतवः। सम्प्रति नवब-

न्धहेतव उच्यन्ते-त एवाष्टौ कायद्वयवधप्रक्षेपान्नव, पञ्चानां च कायानां द्विकसंयोगे भङ्गा दश, ततः कायस्थाने दश स्थाप्यन्ते, तत्र प्राग्वदंकानां गुणने जातानि त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयाधिकानि १३२००, अथवा भयप्रक्षेपान्नव, तत्र कायस्थाने पञ्चैव स्थाप्यन्ते, इति प्राग्वद्भंगानां षट्षष्टिशतानि ६६००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६६००, सर्वेऽपि नवबन्धहेतुभङ्गाः षड्विंशतिसहस्राणि चतुःशताधिकानि २६४००, गता नवबन्धहेतवः। अथ दशबन्धहेतवः ख्याप्यन्ते-त एव पूर्वोक्ता अष्टौ कायत्रयवधप्रक्षेपाद्दश, पञ्चानां च कायानां त्रिकसंयोगे भङ्गा दशेति तत्र कायस्थाने दश स्थाप्यन्ते। ततः प्राग्वदंकगुणने लब्धा भङ्गास्त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयाभ्यधिकानि १३२००, अथवा कायद्वयवधभयप्रक्षेपाद्दश, अत्रापि कायवधस्थाने दश स्थाप्यन्ते, पञ्चानां द्विकसंयोगे भङ्गदशकस्य प्राप्यमाणत्वात्। तत्र प्राग्वदंकगुणने भङ्गास्त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयाधिकानि १३२००, एवं कायद्वयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२००, यदि वा भयजुगुप्साप्रक्षेपाद्दश, तत्र कायस्थाते पञ्चैव स्थाप्यन्ते, इति प्राग्वदंकगुणने भङ्गानां षट्षष्टिशतानि ६६००, सर्वमीलने दशबन्धहेतुभङ्गाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि शतद्वयाधिकानि, गता दशबन्धहेतवः। अथैकादशबन्धहेतवः कथ्यन्ते-त एव पूर्वोक्ता अष्टौ कायचतुष्टयवधप्रक्षेपादेकादश, अत्र कायस्थाने पञ्च प्राप्यन्ते, पञ्चानां चतुष्कसंयोगे भङ्गपञ्चकस्यैव प्राप्यमाणत्वात्। ततः प्राग्वद्गुणने भङ्गाः षट्षष्टिशतानि ६६००, अथवा कायत्रयवधभयप्रक्षेपादेकादश, अत्र कायस्थाने दश स्थाप्यन्ते, ततः प्राग्वद्भङ्गास्त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयाभ्यधिकानि १३२००, एवं कायत्रयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२००, अथवा कायद्वयवधभयजुगुप्सोपादान एकादश, तत्रापि कायस्थाने दशैव स्थाप्यन्ते, इति भङ्गास्त्रयोदशसहस्राणि द्वे शते १३२००, सर्वसंख्ययैकादशबन्धहेतुभङ्गाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि शतद्वयाभ्यधिकानि ४६२००, उक्ता एकादशबन्धहेतवः। सम्प्रति द्वादशबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते-त एवाष्टौ पूर्वोक्ताः कायपञ्चकवधग्रहणे द्वादश, तत्र काय-

स्थान एकः स्थाप्यते, पञ्चानां पञ्चकसंयोगे एकस्यैव भङ्गस्यावाप्यमानत्वात् । ततः प्राग्वदंकानामभ्यासे भङ्गानां त्रयोदशशतानि विंशत्युत्तराणि १३२०, यदि वा कायचतुष्टयवधभयप्रक्षेपाद् द्वादश, अत्र कायस्थाने भङ्गाः पञ्च स्थाप्यन्ते, पञ्चानां चतुष्कसंयोगे भङ्गपञ्चकस्य सम्भवात्, ततः प्रागिवांकानामभ्यासे जातानि भङ्गानां षट्षष्टिशतानि ६६००, एवं कायचतुष्टयवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६६००, अथवा कायत्रयवधजुगुप्साभयप्रक्षेपे द्वादश, तत्र कायस्थाने दश स्थाप्यन्ते, पञ्चानां त्रिकसंयोगे भङ्गदशकलाभात्, ततोऽत्र भङ्गास्त्रयोदशसहस्राणि शतद्वयाभ्यधिकानि १३२००, सर्वमीलने द्वादशबन्धहेतुभङ्गाः सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि विंशत्यधिकानि २७७२०, गता द्वादश बन्धहेतवः । अथ त्रयोदश बन्धहेतवः प्रकाश्यन्ते—त एव पूर्वोक्ता अष्टौ कायपञ्चकवधभयप्रक्षेपात्त्रयोदश, अत्र कायस्थान एकः स्थाप्यते, पञ्चानां पञ्चकसंयोग एकस्यैव भङ्गस्य भावात्, ततः प्राग्वद्भङ्गास्त्रयोदशशतानि विंशत्यधिकानि १३२०, एवं कायपञ्चकवधजुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १३२०, यदि वा कायचतुष्टयवधभयजुगुप्सोपादाने त्रयोदश, तत्र कायस्थाने पञ्च स्थाप्यन्ते, ततो लब्धानि भङ्गकानां षट्षष्टिशतानि ६६००, सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धहेतुभङ्गा द्विनवतिशतानि चत्वारिंशदधिकानि ९२४०, गतास्त्रयोदशबन्धहेतवः। अधुना चतुर्दशबन्धहेतवो विभाव्यन्ते—त एव पूर्वोक्ता अष्टौ कायपञ्चकवधभयजुगुप्साप्रक्षेपाच्चतुर्दश, तत्र कायस्थान एकः स्थाप्यते, ततः प्राग्वदंकगुणने भङ्गास्त्रयोदशशतानि विंशत्युत्तराणि १३२०, सर्वसंख्यया देशविरतबन्धहेतुभङ्गा लक्षं त्रिषष्टिसहस्राणि षट्शतान्यशीत्यधिकानि १६३६८० ॥१२॥

प्रमत्ताप्रमत्तयोर्विशेषमाह—

दोरूवाणि पमत्ते चयाहि एगं तु अप्पमत्तंमि । जं इत्थिवेयउदए आहारगमीसगा नत्थि ॥१३॥

(स्वो०)—'द्वे रूपे प्रमत्ते त्यज एकं तु अप्रमत्ते यस्मात् स्त्रीवेदोदये आहारकमिश्रकौ न स्तः' पदानि । पदार्थः–योगाहतवेदेभ्य इत्यनुवर्त्तते, प्रमत्ते द्वे रूपे त्यज अप्रमत्ते तु पुनः रूपं त्यज यत् स्त्रीवेदोदये आहारकमिश्रौ काययोगौ यथासम्भवं न स्तः, प्रमत्तस्य द्वावपि न स्तः अप्रमत्तस्याहारको नास्तीति गाथार्थः ॥ प्रमत्तयन्त्रकम्–१३–३–२–४, प्रमत्तादीनां पञ्चहेतवः, युग्मं, वेदः, कषायः,

१–१–२–१

योगश्च। योगैस्त्रिवेदभेदादेकोनचत्वारिंशद् भेदाः ३९ द्विकोनाः ३७, युग्मभेदात् द्विगुणाः चतुःसप्ततिः ७४, कषायभेदाच्चतुर्गुणाः षण्णवतिः शतद्वयं २९६ एते पञ्चहेतुसमुदायाः । त एव पञ्च भयप्रक्षेपात् षट्, त एव भङ्गाः २९६, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि षड्, भङ्गास्त एव २९६, एवमुभयप्रक्षेपात् सप्त हेतवः भङ्गास्त एव २९६, सर्वेऽप्येकत्र एकादश शतानि चतुरशीत्यधिकानि ११८४ एते प्रमत्तभङ्गाः ।

अप्रमत्तेयन्त्रम्–११–३–२–४, वेदाहतयोगास्त्रयस्त्रिंशत् ३३ रूपापगमे ३२, युग्मभेदाद् द्विगुणाः चतुःषष्टिः ६४, सापि कषाय-

१–१–२–१

भेदाच्चतुर्गुणाः षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं २५६ एते पञ्च हेतुसमुदायाः । एवं भयेन सह षट् भङ्गास्त एव २५६, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि षट्, भङ्गास्त एव २५६, उभयप्रक्षेपेऽपि सप्त हेतवः भङ्गास्त एव २५६, सर्वेऽपि मिलिताः चतुर्विंशत्यधिकं सहस्रं १०२४, एतेऽप्रमत्तभङ्गाः ।

अपूर्वकरणे यन्त्रं २–३–४–९ युग्मयोर्वेदभेदात् षट्, तेऽपि कषायभेदाच्चतुर्विंशतिः २४, असावपि नवयोगभेदात् षोडशाभ्यधि-

२–१–१–१

कशतद्वय २१६, एते पञ्च हेतुसमुदायाः। भयप्रक्षेपादेते एव षड् भङ्गसमुदायाः, भङ्गास्ते एव २१६, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि षट् समुदायाः भङ्गास्ते एव २१६, उभयप्रक्षेपे सप्तसमुदायाः भङ्गास्त एव २१६, सर्वेऽप्येकत्र अष्टौ शतानि चतुःषष्ठ्यधिकानि ८६४, एते अपूर्वकरणहेतवः।

बादरस्य यन्त्रकं ४-९ / १-१ कषाययोगभेदात् षट्त्रिंशद् द्विकसंयोगा भवन्ति, ३६ एते द्विकसमुदायाः। बादरस्य पञ्चबन्धकस्य वेदोदयोऽप्यस्ति, अतो वेदप्रक्षेपात्त्रयो हेतवः, भङ्गास्त एव त्रिगुणाः अष्टोत्तरं शतं १०८ एते त्रिहेतुसमुदायाः। सर्वेऽप्येकत्र चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४, एते बादरकषायहेतवः। सूक्ष्मादीनां यन्त्राभावो गुणनाभावादिति। सूक्ष्मकषायस्य एक एव कषायः, एको योगः, ९। उपशान्तस्य नवैव। क्षीणकषायेऽपि नवैव हेतवः। सयोगिनि सप्तैव हेतवः, ७। यतो योगकृतो बन्धस्ते च तेष्वियत्प्रमाणा इति॥

(मलय०)—उक्ता देशविरतबन्धहेतवः, सम्प्रति प्रमत्ते पञ्चादयः सप्तपर्यन्ता वक्तव्यास्तत्र योगविषये प्रमत्ताप्रमत्तयोर्विशेषमाह—इहापि पूर्वगाथातो वेदाहतानां निजकयोगानामित्यनुवर्त्तते, ततोऽयं पदानां समन्वयः—प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते च प्रथमतो वेदैर्निजकयोगान् गुणयेत्, गुणयित्वा च तन्मध्यात्प्रमत्ते प्रमत्तसंयते द्वे रूपे त्यज, अप्रमत्तसंयते पुनरेकं रूपं, कस्मात्? इति चेत्, अत आह—यद्यस्मात्कारणात् स्त्रीवेदोदय आहारकाहारकमिश्रकौ न स्तः, स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भवाभावादाहारकद्विकासम्भवः। चतुर्दशपूर्वाधिगमोऽपि कस्मान्न भवति? इति चेत्, उच्यते—स्त्रीणां दृष्टिवादाध्ययनप्रतिषेधात्। उक्तं च—"तुच्छा गारववहुला, चलिंदिया दुव्वला य धीईए। इय अइसेसज्झयणा, भुयावाओ उ नो थीणं॥१॥ ततः प्रमत्ते वेदाहतेभ्यो निजकयोगेभ्य आहारकाहारकमिश्ररूपौ

द्वौ योगावपनीयेते, अप्रमत्ते त्वेक आहारककाययोगः। प्रमत्तसंयते च जघन्यपदेऽमी पञ्चबन्धहेतवस्तद्यथा–द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिकः, कार्मणौदारिकमिश्ररहितानां शेषाणां त्रयोदशयोगानामन्यतम एको योगः। इह मिथ्यात्वाविरतिभेदाः सर्वथापि न सम्भवन्ति, सर्वसावद्ययोगेभ्यो विरतत्वात्, ततस्तद्गत एकोऽपि बन्धहेतुर्नोपपद्यते। इहापि प्रथमतो वेदाः स्थापनीयाः, तत्स्थाने च त्रयः स्थाप्यन्ते, तदनन्तरं योगस्थाने त्रयोदश, ततो युगलस्थाने द्वौ, तदनन्तरं कषायस्थाने चत्वारः ! स्थापना–४–२–१३–३, व्यवस्थापितानामंकानां गुणनमेवं–त्रिभिर्वेदैस्त्रयोदशयोगान् गुणयेत्, जातैकोनचत्वारिंशत्, ततस्तस्या रूपद्वयमपनयेत्, स्थिता शेषा सप्तत्रिंशत्, तया युगलद्विकं गुण्यते, जाता चतुःसप्ततिः ७४, सा प्रत्येकमेकैकस्मिन् कषाये प्राप्यते, इति तया चत्वारो गुण्यन्ते, जातं षण्णवतिशतद्वयं २९६, एतावन्तः प्रमत्तसंयते पञ्चबन्धहेतुभङ्गाः। अथ षड्बन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ताः पञ्च भयप्रक्षेपात् षड्, तत्रापि त एव भङ्गाः षण्णवतिशतद्वयप्रमाणाः २९६, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २९६, गताः षड्बन्धहेतवः। अथ सप्तबन्धहेतव उच्यन्ते–त एव पूर्वोक्ताः पञ्च, भयजुगुप्साप्रक्षेपात्सप्त, तत्रापि त एव भङ्गाः २९६, सर्वसंख्यया प्रमत्तसंयते बन्धहेतुभङ्गा एकादशशतानि चतुरशीत्यधिकानि ११८४।

अप्रमत्तसंयते पञ्चादयः सप्तपर्यन्ता बन्धहेतवः, तत्र पञ्चेमे–त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्ररहितानां शेषाणामेकादशानां योगानामन्यतमो योगः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं, चतुर्णां क्रोधादीनामेकोऽन्यतमः क्रोधादिकः। वेदस्थाने च त्रयः स्थाप्यन्ते, योगस्थाने एकादश युगलस्थाने द्वौ, कषायस्थाने चत्वारः। अंकस्थापना—४–२–११–३, अत्र प्रथमतो वेदैर्योगा गुण्यन्ते, जाता त्रयस्त्रिंशत्, ततः स्त्रीवेदोदय आहारकयोगो न घटते, इति तस्या एकं रूपमपनीयते जाता

द्वात्रिंशत्, सा प्रत्येकं युगले प्राप्यते, इति तया द्विको गुण्यते, जाता चतुःषष्टिः, सापि प्रत्येकं कषाये सम्भवतीति तया च चतुष्को गुण्यते, जातं षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं २५६, इयन्तोऽप्रमत्तसंयते पञ्चबन्धहेतुभङ्गाः। त एव पूर्वोक्ताः पञ्च भयेन सह षट्, तत्रापि त एव भङ्गाः २५६, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपे षट्, तत्रापि त एव भङ्गाः २५६, सर्वमीलने षड्बन्धहेतुभङ्गाः पञ्चशतानि द्वादशोत्तराणि ५१२, त एव पञ्च जुगुप्साभयप्रक्षेपे सप्त, तत्रापि त एव षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणा भङ्गाः २५६, सर्वसंख्यया ऽप्रमत्तसंयते बन्धहेतुभङ्गा दशशतानि चतुर्विंशत्यधिकानि १०२४, उक्ता अप्रमत्तबन्धहेतवः।

संप्रत्यपूर्वकरणबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते—अपूर्वकरणे योगा नव, वैक्रियाहारकयोरपि तत्रासम्भवात्। जघन्यपदे पञ्च ते चामी बन्धहेतवः—त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, नवानां योगानामन्यतम एको योगः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमः क्रोधादिकः। वेदस्थाने त्रयः स्थाप्यन्ते, योगस्थाने नव, युगलस्थाने द्वौ, कषायस्थाने चत्वारः। स्थापना—४–२–३–९, तत्र वेदत्रिकेण योगनवकं गुण्यते, जाता सप्तविंशतिः, तया युगलद्विकं गुण्यते, जाता चतुःपञ्चाशत् ५४, तया कषायचतुष्टयं गुण्यते, जाते द्वे शते षोडशोत्तरे २१६, एतावन्तोऽपूर्वकरणे पञ्च बन्धहेतुभङ्गाः। त एव पञ्च भयप्रक्षेपात् षट्, तत्रापि तावन्त एव भङ्गाः २१६, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्, तत्रापि पूर्वोक्तसंख्याका एव भङ्गाः २१६, एकत्र मीलने षड्बन्धहेतुभङ्गाश्चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि ४३२, त एव पञ्च भयजुगुप्साप्रक्षेपे सप्त, तत्रापि त एव षोडशोत्तरद्विशतसंख्या भङ्गाः २१६, सर्वसंख्ययाऽपूर्वकरणे बन्धहेतुभङ्गा अष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ८६४, उक्ता अपूर्वकरणे बन्धहेतवः।

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरबन्धहेतवोऽभिधीयन्ते—तत्रानिवृत्तिबादरे जघन्यपदे द्वौ बन्धहेतू, तौ चेमौ—चतुर्णां सञ्ज्वलनानामेकतमः

क्रोधादिः, नवानां योगानामेकोऽन्यतमो योगः, तत्र चत्वारः कषाया योगनवकेन गुण्यन्ते, जाता षट्त्रिंशत्, उत्कृष्टपदे त्रयो बन्धहेतवः, तत्र द्वावनन्तरोक्तावेव, तृतीयस्त्वन्यतमो वेदः, अनिवृत्तिबादरो हि यावदद्यापि पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयलक्षणप्रकृतिपञ्चकबन्धकस्तावत्तस्य वेदोदयोऽप्यस्ति, ततस्तत्प्रक्षेपात्रयो बन्धहेतवः, तत्र सैव पूर्वोक्ता षट्त्रिंशद् वेदत्रिकेण गुण्यते, जातमष्टोत्तरं शतं, सर्वसंकलनेनानिवृत्तिबादरे भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४ ।

सूक्ष्मसम्पराय एक एव किट्टीकृतसंज्वलनलोभरूपः कषायः, योगाश्चात्र सम्भविनो नव, ततो भङ्गा अपि नवैव । उपशान्ते योगा एव बन्धहेतवस्ते च सम्भविनो नव, ततो नवानामेककालमेकोऽन्यतमो योगो बन्धहेतुरित्यत्रापि भङ्गा नव । एवं क्षीणमोहेऽपि ९ । सयोगिकेवलिनि योगाः सप्त सम्भविन इति भङ्गाः सप्त ॥१३॥

गुणस्थानहेतुसङ्ग्राहिणिगाथामाह—

सव्वगुणठाणगेसु विसेसहेऊण एत्तिया संखा । छायाललक्ख बासीइ सहस्स सय सत्त सयरी य ॥१४॥

(स्वो०)—गुणस्थानेषु सर्वेष्वपि विशेषहेतूनां सङ्ख्या इयन्मात्रा–षट्चत्वारिंशल्लक्षाः द्व्यशीतिसहस्राणि शतानि सप्त सप्ततिश्चेति गाथार्थः ॥४६८२७७०, उक्ता गुणेषु हेतवः ॥१४॥

(मलय०)—सम्प्रति सर्वगुणस्थानगतबन्धहेतुभङ्गसंख्यामादर्शयति–सर्वेष्वपि गुणस्थानकेषु विशेषहेतूनां युगपत्सम्भविदशादिसंख्याविशेषबन्धहेतूनां सर्वभङ्गसङ्ख्यामीलनेनैतावती भङ्गसंख्या, कियती ? इति चेत्, अत आह–षट्चत्वारिंशल्लक्षा द्व्यशीतिसहस्राणि सप्तशतानि सप्तत्यधिकानि ४६८२७७० ॥१४॥

साम्प्रतं जीवस्थानेष्वाह—

सोलसट्ठारस हेऊ जहन्न उक्कोसया असन्नीणं। चोद्दसट्ठारसऽपज्जस्स सन्निणो सन्निगुणगहिओ ॥१५॥

(स्वो०)—'षोडशाष्टादशहेतू जघन्योत्कृष्टकौ असंज्ञिनां, चतुर्दशाष्टादशापर्याप्तकस्य संज्ञिनः संज्ञिगुणगृहीतः' इति पदानि। पदार्थः-द्वादशानामसंज्ञिनां जघन्येनापि षोडश बन्धहेतवः, उत्कृष्टेनाष्टादश, संज्ञिनि अपर्याप्तके चतुर्दश जघन्येनोत्कृष्टतोऽष्टादश, पर्याप्तकसंज्ञी पुनः गुणस्थानकस्थ एव त्रयोदशस्थानापन्न उक्त एव नेहोच्यत इति गाथार्थः ॥१५॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता गुणस्थानकेषु युगपत्कालभाविनो बन्धहेतवस्तेषां च भंगसंख्या। साम्प्रतं जीवस्थानकेषु युगपद्भाविबन्धहेतुसंख्याप्रतिपादनार्थमाह-असंज्ञिनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियरहितानां शेषाणां द्वादशानामपि जीवस्थानानां प्रत्येकं जघन्यपदे षोडशबन्धहेतवः, उत्कर्षेणाष्टादश। इदं च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमधिकृत्योक्तं वेदितव्यम्। सासादनगुणस्थानके तु बादरैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां जघन्यपदे पञ्चदशबन्धहेतवो द्रष्टव्याः। तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यपदे चतुर्दशबन्धहेतवः, उत्कृष्टपदेऽष्टादश। यस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियः पर्याप्तः स गुणगृहीतो गुणस्थानकग्रहणेन गृहीतः, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियो हि चतुर्दशगुणस्थानसम्भवी, ततस्तद्ग्रहणेनैव स गृहीत इति न भूयो भण्यते ॥१५॥

अत्रापि चक्ररचनाविशेषमाह—

मिच्छत्तं एगं चिय छक्कायवहो तिजोगसन्निम्मि। इंदियसंखा सुगमा असन्निविगलेसु दो जोगा ॥१६॥

(स्वो०)—'मिथ्यात्वं एकमेव षट्कायवधः त्रयो योगा संज्ञिनि इन्द्रियसङ्ख्या सुगमा असंज्ञिविकलेषु द्वौ योगौ' इति पदानि। पदार्थस्तु-मिथ्यात्वमेकमेवानभीगृहीतं द्वादशानामसंज्ञिनां, मम्पूर्णानां षण्णां कायानां वधः तेषां, तेष्वविरतत्वात्। आह-यद्येवं प्राग्भङ्गप्ररूपणा न घटते, तेषामप्यविरतत्वादिति, अत्रोच्यते-तेषां संज्ञिनां योगत्रयव्यापारात् द्रव्यभावोभयबन्धाः सम्भवन्ति, प्राणव्यपरोपणमज्ञातस्य द्रव्यवधः, जीवशङ्कयाऽजीवस्य वधो भाववधः, सङ्कल्पितस्य जीवस्य वध उभयवध इति। तेषु च तीव्रतीव्रतरतीव्रतमाः बन्धाः प्रतिपादिताः, अतोऽत्र भङ्गप्ररूपणा घटते। असंज्ञिनां तु पुनः मनोव्यापाराभावात् द्रव्यवध एव, असावपि प्रतिक्षणं यद्यपि न भवति, तथाप्यविरतत्वाद्बन्धो भवति, न दोष इति। संज्ञिन्यपर्याप्तके त्रयो योगाः, कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राख्याः। इन्द्रियसङ्ख्या सुगमा, पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च, चतुरिन्द्रियाणां चत्वार्येवं शेषेष्वपि वाच्यम्, असंज्ञिविकलानामपर्याप्तकानां द्वौ योगौ कार्मणौदारिकमिश्रौ पर्याप्तकानामपि द्वौ योगौ औदारिकोऽसत्यामृषावाक् चेति गाथार्थः ॥१६॥

(मलय०)—साम्प्रतमेतेष्वेव पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु मिथ्यात्वाद्यवान्तरभेदानां मध्ये यो भेदः सम्भवति, तं विशेषतो निर्धारयितुकाम आह-त्रयोदशानामपि जीवानां मिथ्यात्वमेकमेवानाभोगिकं सम्भवति, न शेषं, ततोऽङ्कस्थापनायां मिथ्यात्वस्थान एककः स्थापनीयः। तथा तेषामेव त्रयोदशानां जीवानां षण्णां कायानां वधः सर्वदैवाविशिष्टः, नैककद्विकादिघातरूपतया भङ्गप्ररूपणाविषयः, षडपि कायान्प्रति सर्वदा तेषामविरतत्वात्। यद्येवं तर्हि कथं प्राग् मिथ्यादृष्ट्यादिषु भङ्गप्ररूपणा कृता? तेषामपि तान्प्रति सर्वदैवाविरतत्वात्, नैष दोषः, संज्ञिनो हि समनस्कास्ततस्तेषां क्वचित्कदाचित्कश्चित्प्रति तीव्रतीव्रतरः परिणामविशेषो भवति, एवं च तेषां चेतनोपजायते-अयमेकः कायो घात्यः, इमौ च द्वौ घात्यौ, इमे त्रयो घात्या इत्यादि, ततस्तदपे-

क्षया षण्णां कायानामेककद्विकादिसंयोगतो भङ्गप्ररूपणा घटते । असंज्ञिनस्तु सर्वानपि कायान्प्रति सर्वदैवाविशिष्टपरिणामा इति तेषामेक एव सदा षट्कायवधभङ्ग इति कायस्थानेऽप्येककः स्थाप्यते । तथाऽपर्याप्तके संज्ञिनि त्रय एव योगाः कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्ररूपाः सम्भवन्ति, न शेषाः, ततोऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धहेतुभङ्गचिन्तायां योगस्थाने त्रिकः स्थापनीयः । तथा त्रयोदशानामपि जीवस्थानानामिन्द्रियसंख्या सुगमा सुप्रसिद्धत्वात्, तथाहि–पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च, चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि, त्रीन्द्रियाणां त्रीणि, द्वीन्द्रियाणां द्वे, एकेन्द्रियाणामेकं, अतस्तत्तज्जीवगतबन्धहेतुभङ्गचिन्तायामिन्द्रियासंयमस्थाने तथा तथा संख्या स्थापनीया, तथाऽसंज्ञिविकलेन्द्रियाणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां वा द्वौ द्वौ योगौ, तत्रापर्याप्तानां कार्मणौदारिकमिश्ररूपौ, पर्याप्तानामौदारिकासत्यामृषाभाषारूपौ, ततस्तेषां बन्धहेतुभङ्गचिन्तायां योगस्थाने द्विकः स्थापनीयः ॥१६॥

एवं च अपज्जाणं बायरसुहुमाण पज्जयाण पुणो । तिण्णेक्ककायजोगा सण्णि अपज्जे गुणा तिन्नि ॥१७॥

(स्वो०)—'एवं चापर्याप्तानां बादरसूक्ष्माणां पर्याप्तानां पुनः त्रयः एकः काययोगः संज्ञिनि अपर्याप्ते गुणास्त्रय' इति पदानि । पदार्थस्तु–यथाऽसंज्ञिविकलानां तथा बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाणामप्यपर्याप्तकानां द्वौ योगौ कार्मणौदारिकमिश्रौ, पर्याप्तानां पुनर्बादराणां त्रयः काययोगा औदारिकवैक्रियवैक्रियमिश्राः, सूक्ष्माणां पुनरेक औदारिककाययोगः, संज्ञिन्यपर्याप्तके गुणास्त्रयः मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरताख्याः, चकारकरणात् सूक्ष्मापर्याप्तकवर्जितेषु शेषेषु बादरविकलासंज्ञिष्वपर्याप्तकेष्वपि द्वितीयः सास्वादनगुणो भवति, तत्र च जघन्याः पञ्चदश हेतवो भवन्ति, मिथ्यात्वाभावादिति, तत्र कार्मणौदारिकमिश्रावेव द्वौ काययोगौ भवतः, यतोऽसौ करणापर्याप्तकेषु भवति न पर्याप्तकेष्विति गाथार्थः ॥१७॥

पर्याप्तसंज्ञियन्त्रं १-१-५-२-३-४-२ अङ्कानां परस्परघातः शतद्वयं चत्वारिंशदधिकं २४०, एते षोडश हेतवः, भयप्रक्षेपात् सप्तदश,
१-६-१-२-१-४-१

भङ्गास्त एव २४०, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् सप्तदश, भङ्गास्त एव २४०, उभयप्रक्षेपादष्टादश, भङ्गास्त एव २४०, सर्वेऽप्येकत्र नव शतानि षष्ठ्याधिकानि ९६०, एते ऽसंज्ञिपर्याप्तकस्य। एवं चतुरिन्द्रियाऽपर्याप्तकस्य यन्त्रं १-४-२-३-४-२ परस्परघातेन द्वानवतं शतं
६-१-२-१-४-१

१९२, एते पञ्चदश हेतवः भयप्रक्षेपात् षोडश हेतवो भवन्ति १९२, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश हेतवो भवन्ति १९२, उभयप्रक्षे-पात् सप्तदश १९२, एते सास्वादनहेतवः। चतुरिन्द्रियापर्याप्तमिथ्यादृष्टेर्यन्त्रं १-१-४-२-३-४-२ एते षोडश हेतवः परस्परवधात्
१-६-१-२-१-४-१

शतद्वयमष्टाशीतं २८८, एते हेतुविकल्पाः भयप्रक्षेपात् सप्तदशहेतवो भवन्ति, तत्राप्येतावन्त एव २८८, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपातसप्तदश, भङ्गास्त एव २८८, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवस्तत्रापि भङ्गास्तावन्त एव २८८, उभयगुणभङ्गानामेकोनविंशतिशतानि विंशत्युत्तराणि १९२० एते चतुरिन्द्रियापर्याप्तकस्य। पर्याप्तचतुरिन्द्रिययन्त्रं १-१-४-२-३-४-२ एतेषां परस्परघाते द्विनवतं शतं १९२, एते षोडश
१-६-१-२-१-४-१

हेतवः, त एव भयप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवः १९२, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि सप्तदश हेतवः १९२, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवः १९२, सर्वेऽप्येकत्र सप्तशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि ७६८, एते चतुरिन्द्रियपर्याप्तकविकल्पाः। त्रीन्द्रियापर्याप्तकस्य यन्त्रं १-३-२-३-४-२ परस्पराङ्कगुणना-
६-१-२-१-४-१

त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ३२०, त एव चतुर्दशानन्तानुबन्धिसहिता एते पञ्चदश हेतवः। एत एव पञ्चदश भययुक्ताः षोडश हेतवः भङ्गास्तावन्त एव ३२०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३२०, उभयप्रक्षेपात् सप्तदशात्रापि विकल्पाः तावन्त एव ३२०, सर्वेऽप्येकत्र द्वादश शतान्यशीत्यधिकानि १२८०, एते सास्वादनस्य। मिथ्यादृष्टियन्त्रं १–१–५–२–३–४–५ त एव पूर्वोक्ताः पञ्चदश मिथ्या-

१–६–१–२–१–४–१

त्वयुक्ताः षोडश भवन्ति, सर्वाङ्कवधः षट्शतानि ६००, एते षोडश हेतवः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात् सप्तदश भवन्ति, भेदास्तावन्त एव ६००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६००, त एव षोडशोभयप्रक्षेपादष्टादश भवन्ति, भेदास्तावन्त एव ६००, सर्वेऽप्येकत्र चतुर्विंशतिशतानि २४००, त्रिगुणाश्रिताः चत्वारिंशदधिकानि चतुष्पञ्चाशच्छतानि ५४४० एते संज्ञ्यपर्याप्तकस्य। असंज्ञ्यपर्याप्तकस्य यंत्रं १–५–२–३–४–२

६–१–२–१–४–१

अङ्कानां परस्परघाते शतद्वयं चत्वारिंशदधिकं २४०, एते पञ्चदश हेतवो भयप्रक्षेपात्षोडश भवन्ति भङ्गास्तावन्त एव २४०, त एव जुगुप्साप्रक्षेपाच्च षोडश भवन्ति भेदास्तावन्त एव २४०, उभयप्रक्षेपात्सप्तदश भवन्ति, भेदास्तावन्त एव २४०, एते सास्वादनगुण-भङ्गाः ९६०। मिथ्यादृष्टियन्त्रं १–१–५–२–३–४–३ मिथ्यात्वयोगादेते षोडश हेतवः, अङ्कानां परस्परघातात्षष्ट्यधिका त्रिशती

१–६–१–२–१–४–१

३६०, एते षोडश हेतवः भयप्रक्षेपात् सप्तदश भवन्ति, भङ्गास्तावन्त एव ३६०, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि सप्तदशहेतवः, भङ्गास्तावन्त एव ३६०, उभयप्रक्षेपेऽष्टादश हेतवः भङ्गास्तावन्त एव ३६०, एवं गुणद्वये सर्वसङ्ख्या चतुर्विंशतिशतानि २४००, एते एवापर्याप्तसंज्ञिनि।

काययोग इति त्रयो योगाः ॥१७॥

विशेषयोगानाह—

उरलेण तिन्नि छण्हं, सरीरपज्जत्तयाण मिच्छाणं। सविउव्वेणं सन्निस्स सम्ममिच्छस्स वा पंच ॥१८॥

(स्वो०)—'औदारिकेण त्रिणि षण्णां शरीरपर्याप्तकानां मिथ्यादृष्टीनां सवैक्रियेण संज्ञिनः सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेर्वा पञ्चे'ति पदानि। पदार्थस्तु–षण्णामपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्तौ औदारिकयोगो भवति, तेन सह पूर्वोक्तौ द्वौ त्रयो भवन्ति, तस्मिंश्च काले सास्वादनभावं त्यजति, तस्य षडावलिकाकालिकत्वात्, अतस्तेषां मिथ्यादृष्टीनामिति, सवैक्रियेणौदारिकेण संज्ञिनोऽपर्याप्तकस्य सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेर्वा पञ्च योगा भवन्ति, पूर्वोक्तास्त्रय इति गाथार्थः ॥ संज्ञिनोऽपर्याप्तकस्य सम्यग्दृष्टेश्चतुर्दशहेतुर्यन्त्रकस्य पूर्वसूचितस्य न्यासः, ५–३–५–२–४–१ / १–१–१–२–३–६ योगाहतवेदानां पञ्चत्रिगुणाः चतुर्भिरूना ११ इन्द्रिययुग्मकषायसङ्ख्या गुणा ४४० चतुःशतानि चत्वारिंशदधिकानि, एते चतुर्दश हेतवः। भयप्रक्षेपात् पञ्चदश, तत्रापि विकल्पा एतावन्त एव ४४०, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् पञ्चदश, तत्रापि भेदा एतावन्त एव ४४०, भयजुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश भवन्ति, भेदास्तावन्त एव ४४०, सर्वेऽप्येकत्र सप्तदशशतानि षष्ठ्यधिकानि १७६० एते सम्यग्दृष्टेः। सास्वादनयन्त्रं ३–३–५–२–४–१ / १–१–१–२–४–६ वेदाहतयोगा नव ९ एकहीनाः ८ शेषाङ्कगुणा जातानि

(मलय०)—सम्प्रत्येकेन्द्रियाणां योगसम्भवमाह–एवं च एवमेव यथाऽसंज्ञिविकलेन्द्रियाणां तथेत्यर्थः, बादरसूक्ष्माणामेकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां द्वौ योगौ भवतः, तौ च कार्मणौदारिकमिश्ररूपौ वेदितव्यौ। पर्याप्तानां बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाणां पुनर्यथाक्रमं त्र्येककाययोगाः, औदारिकवैक्रियवैक्रियमिश्ररूपास्त्रयो योगाः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां, औदारिकरूप एकः काययोगः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाणामिति भावः। ततो बन्धहेतुभङ्गचिन्तायां तत्तज्जीवस्थानापेक्षया तथा तथा योगस्थानेऽङ्कस्थापना कर्त्तव्या। तथा गुणस्थानकचिन्तायां संज्ञिन्यपर्याप्ते गुणा गुणस्थानकानि त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि सम्भवन्ति। एवं चेत्यत्र चशब्दस्यानुक्तस्याप्यर्थस्य संसूचनाद् बादरैकेन्द्रियविकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु द्वे द्वे मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणे गुणस्थानके, सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु बादरैकेन्द्रियविकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिरूपमेकं गुणस्थानकमित्यवगन्तव्यम्। इह यदा सासादनगुणस्थानं तदा जघन्यतः पञ्चदशैव बन्धहेतवो, मिथ्यात्वाभावात्। योगचिन्तायां तु द्वावेव कार्मणौदारिकमिश्ररूपौ योगौ, यतः–सासादनभावः संज्ञिशेषाणां जीवानामपर्याप्तावस्थायामेव, न शेषकालं, अपर्याप्तावस्थायां चापर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तानां शेषाणां द्वावेव पूर्वोक्तौ योगौ, अपर्याप्ते तु संज्ञिनि कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्ररूपास्त्रयो योगाः प्रागेवोक्ताः। आह–ननु सासादनभावेऽपि शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिककाययोगो लभ्यते, इति बादरैकेन्द्रियविकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां सासादनगुणस्थानके त्रयो योगाः किं न प्रोच्यन्ते? तदयुक्तं, शरीरपर्याप्तिसमाप्तिवेलायां सासादनत्वायोगात्, सासादनत्वं हि षडावलिकामात्रं, शरीरपर्याप्त्या तु पर्याप्ता भवन्त्यन्तर्मुहूर्त्तेन, ततः शरीरपर्याप्तेरर्वागपि सासादनभावोऽपगच्छतीति सासादनभावे द्वावेव यथोक्तौ योगौ, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके पुनर्यावन्नाद्यापि शरीरपर्याप्तिः समर्थिता भवति, तावद् द्वावेव कार्मणौदारिकमिश्ररूपौ योगौ, शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं त्वौदारिक-

चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४, एते पञ्चदश हेतवः भयप्रक्षेपात् षोडश हेतवो भवन्ति १४४, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च षोडश १४४, भयजुगुप्साप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवो भवन्ति १४४, सर्वेऽपि षट्सप्तत्यधिकानि पञ्चशतानि ५७६, एते सास्वादनत्रीन्द्रियस्य। त्रीन्द्रियापर्याप्तकमिथ्यादृष्टेर्यन्त्रं १-१-३-२-३-४-३ परस्पराङ्कवधात् षोडशाधिकं शतद्वयं २१६, एते षोडशहेतुविकल्पाः, भयप्रक्षेपात्

१-६-१-२-१-४-१

सप्तदश हेतुविकल्पाः २१६, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च सप्तदश हेतवः २१६, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवो भवन्ति, २१६, उभयगुणहेतवः सर्वेऽपि चतुर्दशशतानि चत्वारिंशदधिकानि १४४०, एते त्रीन्द्रियापर्याप्तकविकल्पा भवन्ति। पर्याप्तकत्रीन्द्रिययन्त्रं १-१-३-२-३-४-२

१-६-१-२-१-४-१

परस्पराङ्कवधेन चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४, एते षोडश हेतुविकल्पाः, भयप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवः १४४, जुगुप्साप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवः १४४, भयजुगुप्साप्रक्षेपादष्टादश हेतवो भवन्ति १४४, सर्वेऽप्येकत्र षट्सप्तत्यधिकानि पञ्चशतानि ५७६, एते त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य विकल्पाः। द्वीन्द्रियापर्याप्तकस्य यन्त्रं १-२-२-३-४-२ परस्पराङ्कवधेन जाताः षण्णवतिः ९६, एते पञ्चदश हेतवः, एत एव

६-१-२-१-४-१

भयप्रक्षेपात् षोडश हेतवो भवन्ति ९६, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च ९६, उभय प्रक्षेपात् सप्तदशहेतवः ९६, एते द्वींद्रियापर्याप्तकसास्वादनस्य, द्वींद्रियापर्याप्तकस्य मिथ्यादृष्टेर्यन्त्रं १-१-२-२-३-४-३ परस्पराङ्कवधेन जातं चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं १४४, एते षोडश हेतवः,

१-६-१-२-१-४-१

भयप्रक्षेपात्सप्तदश हेतवः१४४, जुगुप्साप्रक्षेपेणापि सप्तदश १४४, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवः १४४, उभयगुणहेतवः सर्वेऽपि षष्ठ्य-धिकानि नवशतानि ९६० एते द्वीन्द्रियापर्याप्तकस्य बन्धहेतवः। द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य यन्त्रं १–१–२–३–४–२–२ / १–६–२–१–४–२–१ परस्पराङ्कवधेन

षण्णवतिः ९६ एते षोडश हेतवः, भयप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवः ९६, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च ९६, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवः ९६, सर्वेऽपि चतुरशीत्यधिकं शतत्रयं ३८४, एते द्वीन्द्रियपर्याप्तकविकल्पाः। बादरापर्याप्तकयन्त्रं १–१–२–३–४–२ / ६–१–२–१–४–१ एतेऽङ्काः परस्परगुणाज्जाताः

अष्टचत्वारिंशत् ४८, एते पञ्चदश हेतवः, भयप्रक्षेपात्षोडश हेतवः ४८, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ४८, उभयप्रक्षेपात्सप्तदश हेतवः ४८, एते बादरापर्याप्तकसास्वादनस्य। मिथ्यादृष्टिबादरस्य यन्त्रं १–१–१–२–३–४–३ / १–६–१–२–१–४–१ एतेऽङ्काः परस्परगुणिताः द्वासप्ततिर्भवन्ति ७२, एते

षोडश हेतवः, भयप्रक्षेपात् सप्तदश हेतवः ७२, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च ७२, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवः ७२, उभयगुणहेतुसर्वसङ्ख्या चत्वारिंशतान्यशीत्यधिकानि ४८०, एते बादरापर्याप्तकहेतवः। बादरपर्याप्तकयन्त्रं १–१–१–२–३–४–३ / १–६–१–२–१–४–१ एतेऽङ्काः परस्परगुणिताः

द्वासप्ततिर्भवन्ति ७२, एते षोडश हेतवः, भयप्रक्षेपात् सप्तदश भवन्ति ७२, जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ७२, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवः ७२ भवन्ति, सर्वेऽष्टाशीतं शतद्वयं २८८, एते पर्याप्तबादरहेतवः। सूक्ष्मापर्याप्तकस्य यन्त्रं १–१–१–२–३–४–३ / १–६–१–२–१–४–१ एतेषा-

मङ्गानां परस्परगुणनाज्जाता द्वासप्ततिः ७२, एते षोडश हेतवः,भयप्रक्षेपात्सप्तदश ७२, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च ७२, उभयप्रक्षेपादष्टादश हेतवो भवन्ति ७२, सर्वेऽप्यष्टाशीतं शतद्वयं २८८, एते सूक्ष्मापर्याप्तकहेतवः, सूक्ष्मपर्याप्तकयन्त्रं १–१–१–२–३–४–१ / १–६–१–२–१–४–१ परस्पराङ्कगुणनाज्जाताः चतुर्विंशतिः २४, एते षोडश हेतवः,भयप्रक्षेपात् सप्तदशहेतवो भवन्ति २४, जुगुप्साप्रक्षेपाच्च २४, उभयप्रक्षेपादष्टादशहेतवः २४, सर्वेऽपि षण्णवतिः ९६ एते सूक्ष्मपर्याप्तकहेतवः । सर्वेऽप्येकत्र (संज्ञिपर्याप्तवर्ज) जीवस्थानहेतुसङ्ख्या षोडश सहस्राणि १६०००। आह–जघन्येनापि षोडश हेतवः सूत्रेऽभिहिताः कथमपर्याप्तकेषु पञ्चदशोदाहृताः ? अत्रोच्यते–योगानां विषमभणनाद् गुणद्वैविध्यं ख्यापयति, यस्मिन् पक्षे सास्वादनस्तत्र मिथ्यात्वाभावात् पञ्चदश भवन्ति, पूर्वोक्तं योगद्वयं च, षोडश तु जीवस्थानव्यापित्वात् मुख्यतयैवोक्ता न दोष इति ॥१८॥

(मलय०)—तथा चाह–षण्णां सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टिनां शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिकेण सह त्रयो योगा भवन्ति, तेनामीषामपर्याप्तानां मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमधिकृत्य बन्धहेतुभङ्गचिन्तायां योगस्थानेऽङ्कस्थापनायां त्रयः स्थापनीयाः, तथा संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा शरीरपर्याप्तेरर्वाक् पूर्वोक्ता एव कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्ररूपास्त्रयो योगाः, शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं तु देवनारकापेक्षया वैक्रियस्य, तिर्यग्मनुष्यापेक्षयौदारिकस्य सम्भवात् , सवैक्रियेण वैक्रियसहितेनौदारिकेण युक्ताः पूर्वोक्तास्त्रयो योगाः पञ्च भवन्ति, तेन संज्ञिनोऽपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृष्टित्वं मिथ्यादृष्टित्वं वाधिकृत्य बन्धहेतुभङ्गचिन्तायां योगस्थाने पञ्च स्थापनीयाः । इह प्राक् संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य जघन्यपदे चतुर्दश बन्धहेतव उक्ताः, उत्कर्षपदेऽष्टा-

दश, ते सम्प्रति भाव्यन्ते, तत्र प्रथमतो जघन्यपदे चतुर्दशबन्धहेतवः सम्यग्दृष्टेः, ते चामी—षट्कायवधः, पञ्चानामिन्द्रियासंयमाना-मेकोऽन्यतम इन्द्रियासंयमः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वल-नसंज्ञानां क्रोधादीनां कषायाणामन्यतमत्क्रोधादित्रिकं, योगाश्चेह सम्भविनः पञ्च, "सविउव्वेणं सन्निस्स सम्ममिच्छस्स वा पंच" इति वचनात्, ततः पञ्चानां योगानामन्यतमो योगः। अङ्कस्थापनायां कायस्थान एकः, पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तानां शेषाणां सदैव षट्कायव-धरूपस्यैकस्य भङ्गस्य भावात्। वेदस्थाने त्रयः स्थाप्यन्ते, योगस्थाने पञ्च, इन्द्रियासंयमस्थाने पञ्च, युगलस्थाने द्वे, कषायस्थाने चत्वारः। स्थापना—४—२—५—५—३—१। अमीषां चांकानां गुणनमेवं—वेदत्रयेण योगा गुण्यन्ते, जाताः पञ्चदश, तेभ्यः "चत्तारि अविरए चय" इत्यादिवचनप्रमाण्याच्चत्वारि रूपाण्यपनीयन्ते, जाता एकादश, तैरिन्द्रियासंयमपञ्चकं गुण्यते, जाता पञ्चपञ्चाशत् ५५, तया युगलद्विकं गुण्यते, जातं दशोत्तरं शतं ११०, तेन कषायचतुष्टयगुणनाज्जातानि चत्वारिंशदधिकानि चत्वारि शतानि ४४० एतावन्तः संज्ञिनोऽ-पर्याप्तस्य सम्यग्दृष्टेश्चतुर्दशबन्धहेतुभङ्गाः। त एवानन्तरोक्ताश्चतुर्दश भयप्रक्षेपात्पञ्चदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४४०, अथवा जुगुप्सा-प्रक्षेपात्पञ्चदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४४०, तथा त एवानन्तरोक्ताश्चतुर्दश भयजुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४४०, सर्व-संख्ययाऽविरतसम्यग्दृष्टेः संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य बन्धहेतुभङ्गाः सप्तदशशतानि षष्ठ्यधिकानि १७६०। सासादनसम्यग्दृष्टेरपर्याप्तसंज्ञिनो योगाः कार्मणौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्ररूपास्त्रयः, जघन्यपदे चास्य बन्धहेतवः पञ्चदशानन्तानुबन्धिप्रक्षेपात्, तत्र वेदत्रिकेण योगास्त्रयो गुण्यन्ते, जाता नव, ततः "सासायणंमि रूवं चय" इत्यादिवचनप्रामाण्यादेकं रूपं तेभ्योऽपनीयते, स्थिताः शेषा अष्टौ, तैरिन्द्रियासंयमपञ्चकं गुण्यते; जाता चत्वारिंशत्, तया युगलद्विकं गुण्यते, जाताऽशीतिः, तया कषायचतुष्टयगुणने जातानि त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ३२०,

एतावन्तः सासादनस्य संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गाः। त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात्पोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३२०, उभयप्रक्षेपे सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२०, सर्वेऽप्येकत्र मीलिताः सासादनापर्याप्तसंज्ञिनो बन्धहेतुभङ्गा द्वादशशतान्यशीत्यधिकानि १२८०। मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य जघन्यपदे बन्धहेतवः षोडश मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, अत्र योगाः पञ्च "सविउव्वेणं सन्निस्स सम्ममिच्छस्स वा पंच" इति वचनप्रामाण्यात्। अत एवमङ्कगुणना—वेदत्रिकेण योगाः पञ्च गुण्यन्ते, जाताः पञ्चदश, तैरिन्द्रियासंयमपञ्चकगुणनाज्जाता पञ्चसप्ततिः ७५, तया युगलद्विकं ताड्यते, लब्धं सार्द्धं शतं १५०, तेनापि कषायचतुष्कगुणनाज्जातानि षट्शतानि ६००, एतावन्तो मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य षोडशबन्धहेतुभङ्गाः, त एव पोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६००, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ६००, तथा त एव षोडशोभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६००, सर्वेऽप्येकत्र मीलिताश्चतुर्विंशतिशतानि २४००, गुणस्थानत्रयभाविनः सर्वेऽपि मीलिताः संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य बन्धहेतुभङ्गाश्चत्वारिंशदधिकानि चतुःपञ्चाशच्छतानि ५४४०। तथाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य जघन्यतः पञ्चदशबन्धहेतवस्तद्यथा—षट्कायवधः, पञ्चानामिन्द्रियासंयमानामेकोऽन्यतम इन्द्रियासंयमः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, अनन्तानुबन्ध्यादीनां कषायाणामन्यतमं क्रोधादिचतुष्टयं, कार्मणौदारिकमिश्रयोर्योगयोरन्यतरो योगः, अत्र प्राग्वदङ्कानां गुणने भङ्गानां द्वे शते चत्वारिंशदधिके २४०, त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात्पोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः, २४०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २४०, उभयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि भङ्गास्तावन्तः २४०, सर्वसंख्ययाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सासादनस्य बन्धहेतुभङ्गा नवशतानि षष्ठ्यधिकानि ९६०। मिथ्यादृष्टेरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवो मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, तत्र योगास्त्रयः, ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने जातानि भङ्गानां त्रीणि शतानि षष्ठ्य-

धिकानि ३६०, त एवानन्तरोक्ताः षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३६०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ३६०, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि भङ्गास्त एव ३६०, सर्वसंख्ययाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य मिथ्यादृष्टेर्बन्धहेतुभङ्गाश्चत्वारिंशदधिकानि चतुर्दशशतानि १४४०। गुणस्थानकद्वयेऽपि सर्वसंख्ययाऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य बन्धहेतुभङ्गाश्चतुर्विंशतिशतानि २४००। पर्याप्तस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवस्तद्यथा–मिथ्यात्वं, षट्कायवधः, पञ्चानामिन्द्रियासंयमानामन्यतम एकेन्द्रियासंयमः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, अनन्तानुबन्धिक्रोधादीनामन्यतमत्क्रोधादिचतुष्टयं, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोरौदारिकासत्यामृषाभाषारूपयोर्योगयोरन्यतरो योगः, अत्र प्राग्वदंकानां गुणने भङ्गाश्चत्वारिंशदधिकं शतद्वयं २४०, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४०, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २४०, त एव षोडशोभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४०, सर्वसंख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य बन्धहेतुभङ्गा नवशतानि षष्ठ्यधिकानि ९६०। तथा चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य जघन्यपदे पञ्चदश बन्धहेतवस्तद्यथा–षट्कायवधः, चतुर्णामिन्द्रियासंयमानामेकोऽन्यतमोऽसंयमः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, इह संज्ञिपञ्चेन्द्रियव्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽपि संसारिणो जीवाः परमार्थतो नपुंसकाः, केवलमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः स्त्रीपुंलिंगाकारमात्रमधिकृत्य स्त्रीवेदे च प्राप्यन्ते, इति तत्र त्रयो वेदाः परिगृहीताः, चतुरिन्द्रियादीनां पुनर्बाह्यस्त्रीपुंलिङ्गाकारमात्रमपि न विद्यन्ते, तत इह नपुंसकवेद एव द्रष्टव्यः, अनन्तानुबन्धिक्रोधादीनामन्यतमत्क्रोधादिचतुष्टयं, कार्मणौदारिकमिश्रयोर्योगयोरन्यतरो योगः। अङ्कस्थापनायां कायस्थान एकः स्थाप्यते, षट्कायवधरूपस्यैकस्य भङ्गस्य सदैव भावात्। इन्द्रियासंयमस्थाने चत्वारः, युगलस्थाने द्विकः, वेदस्थाने एकः, कषायस्थाने चतुष्कम्, योगस्थाने द्वौ, स्थापना—१-४-२-१-४-२, अमीषां चांकानां गुणनमेवं–चत्वार इन्द्रियासंयमा एकैकस्मिन् युगले

प्राप्यन्त इति तैर्युगलं गुण्यते, जाता अष्टौ, तैः कषायचतुष्टयताडनाज्जाता द्वात्रिंशत्, तया योगद्विकं गुण्यते, जाता चतुःषष्टिः ६४, एतावन्तोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य सासादनस्य पञ्चदशबन्धहेतुभङ्गाः, त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात् षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, तथा त एव पञ्चदशोभयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, सर्वसंख्यया चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य सासादनस्य बन्धहेतुभङ्गा द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके २५६। मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवो मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, योगाः कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकरूपास्त्रयः, ततः प्राग्वदंकानां गुणने लब्धा भङ्गकानां षण्णवतिः ९६, त एवानन्तरोक्ताः षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ९६, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ९६, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ९६, सर्वेप्येकत्र मीलिताश्चतुरशीत्यधिकं शतत्रयं ३८४। गुणस्थानद्वयेऽपि सर्वसंख्ययाऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य बन्धहेतुभङ्गाः षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि ६४०। पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवः, तद्यथा–मिथ्यात्वं, षट्कायवधः, चतुर्णामिन्द्रियासंयमानामेकोऽन्यतम इन्द्रियासंयमः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, अनन्तानुबन्धिक्रोधादीनामन्यतरत् क्रोधादिचतुष्टयं, नपुंसकवेदः, द्वयोरौदारिकासत्यामृषाभाषारूपयोर्योगयोरन्यतरो योगः।अत्र प्राग्वदंकानां गुणने भङ्गाश्चतुःषष्टिः ६४, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, त एव षोडशोभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ६४, सर्वसङ्कलने पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य बन्धहेतुभङ्गा द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके २५६। सर्वसंख्यया चतुरिन्द्रियाणां बन्धहेतुभङ्गा अष्टौ शतानि षण्णवत्यधिकानि ८९६। तथा त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य जघन्यपदे पञ्चदश बन्धहेतवः, ते च प्राग्वत्, नवरमत्र त्रयाणामिन्द्रियासंयमानामेकोऽन्यतम इति वक्तव्यं, ततः प्रागिवाङ्कानां गुणने जाता अष्टा-

चत्वारिंशत् ४८, एते त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य पञ्चदश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात् षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४८, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ४८, भयजुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४८, सर्वेऽपि त्रीन्द्रियापर्याप्तसासादनस्य बन्धहेतुभङ्गा एकत्र मीलिता द्विनवत्यधिकं शतं १९२। मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवो मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, योगाश्चात्र कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकरूपास्त्रयः सम्भविनः, ततः प्राग्वदंकगुणने जाता द्विसप्ततिः ७२, एते मिथ्यादृष्टेस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य षोडश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, अत्रापि त एव भङ्गाः ७२, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपे सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ७२, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ७२, सर्वेऽप्येकत्र मीलिता द्वे शतेऽष्टाशीत्यधिके २८८। गुणस्थानकद्वयेऽप्यपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य सर्वसंख्यया बन्धहेतुभङ्गाश्चत्वारिंशतान्यशीत्यधिकानि ४८०। पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवः, ते च पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्येव वेदितव्याः, नवरं त्रयाणामिन्द्रियासंयमानामेकोऽन्यतम इन्द्रियासंयम इति वक्तव्यं शेषं तथैव, अत्र भङ्गा अष्टाचत्वारिंशत् ४८, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४८, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ४८, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४८, सर्वेऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियबन्धहेतुभङ्गा द्विनवत्यधिकं शतं १९२। सर्वसंख्यया त्रीन्द्रियाणां बन्धहेतुभङ्गाः षट्शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ६७२। तथा द्वीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य जघन्यपदे बन्धहेतवः पञ्चदश, ते च प्राग्वत्, नवरमत्र द्वयोरिन्द्रियासंयमयोरेकोऽन्यतर इन्द्रियासंयम इति वक्तव्यं, ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने जाता द्वात्रिंशत् ३२, एते द्वीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य पञ्चदश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात्षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२, अथवा जुगुप्साप्रक्षेपात् षोडश, तत्रापि भङ्गास्त एव ३२, उभयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२, सर्वसङ्कलनेन द्वीन्द्रियापर्याप्तसासादनस्य बन्धहेतुभङ्गा

अष्टाविंशं शतं १२८। मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवो मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, केवलमत्र योगानां कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकरूपाणामेकोऽन्यतमो योग इति वक्तव्यं, ततः प्राग्वदङ्कगुणने जाता अष्टाचत्वारिंशत् ४८, एतावन्तो मिथ्यादृष्टेर्द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य षोडश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, अत्रापि भङ्गास्त एव ४८, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि ४८, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः ४८, सर्वेऽप्येकत्र मीलिता द्विनवत्यधिकं शतं १९२। गुणस्थानकद्वयेऽपि द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य सर्वसंख्यया बन्धहेतुभङ्गास्त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ३२०। पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवः, ते चानन्तरोक्ता एव, केवलमिह द्वयोरौदारिकासत्यामृषाभाषारूपयोर्योगयोरन्यतरयोग इति वक्तव्यं, ततः प्राग्वदङ्कताडने लब्धा द्वात्रिंशत् ३२; एते पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य षोडश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२, यदि वा जुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ३२, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः, ३२, सर्वेऽपि पर्याप्तद्वीन्द्रियबन्धहेतुभङ्गा अष्टाविंशं शतं १२८। सर्वसंख्यया द्वीन्द्रियाणां बन्धहेतुभङ्गाश्चत्वारि शतान्यष्टाचत्वारिंशदधिकानि ४४८। तथा बादरस्यैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सासादनस्य जघन्यपदे पञ्चदश बन्धहेतवः, ते च प्राग्वत्, नवरमत्रैक एव स्पर्शनेन्द्रियासंयमो वक्तव्यः, ततः प्राग्वदङ्कानां गुणने जाताः षोडश, एतावन्तः सासादनस्य बादरैकेन्द्रियस्य पञ्चदश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव पञ्चदश भयप्रक्षेपात्षोडश, तत्रापि त एव भङ्गाः १६, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि १६, उभयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः १६ सर्वे मिलिताश्चतुःषष्टिः ६४। मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवो मिथ्यात्वप्रक्षेपात्, नवरमत्र कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकाणामन्यतमो योग इति वक्तव्यं, ततः प्राग्वदङ्कगुणने जाता चतुर्विंशतिः २४, एते बादरपर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टेः षोडश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त

एव भङ्गाः २४, यदि वा जुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, सर्वेऽपि समुदिताः पण्णवतिः ९६। गुणस्थानकद्वयेऽपि बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सर्वसंख्यया बन्धहेतुभङ्गाः षष्ट्युत्तरं शतं १६०। पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवः, ते चानन्तरोक्ता एव द्रष्टव्याः, नवरमिह योग औदारिकवैक्रियवैक्रियमिश्राणामन्यतम एको वक्तव्यः, ततः प्राग्वदङ्कताडने जाता चतुर्विंशतिः २४, एते पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य षोडश बन्धहेतुभङ्गाः, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, यदि वा जुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, उभयप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, सर्वे समुदिताः पण्णवतिः ९६। सर्वसंख्यया बादरैकेन्द्रियाणां बन्धहेतुभङ्गा द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके २५६ ; तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यपदे षोडशबन्धहेतवः, ते च बादरैकेन्द्रियस्येव वेदितव्याः, तत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४, त एव षोडश भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, एवं जुगुप्साप्रक्षेपेऽपि २४, उभयप्रक्षेपेणाष्टादश, तत्रापि त एव भङ्गाः २४, सर्वेऽप्येकत्र समुदिताः पण्णवतिः ९६। पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यपदे षोडश बन्धहेतवः, ते चानन्तरोक्ता एव, केवलमत्र योग औदारिकरूप एव वक्तव्यः, अत्र भङ्गा अष्टौ ८, त एव षोडश, भयप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः ८, यदि वा जुगुप्साप्रक्षेपात्सप्तदश, तत्रापि त एव भङ्गाः ८, भयजुगुप्साप्रक्षेपादष्टादश, तत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वेऽपि मिलिता द्वात्रिंशत् ३२। सर्वसंख्यया सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां बन्धहेतुभङ्गा अष्टाविंशत्यधिकं शतं १२८ ॥१८॥

जीवगुणस्थानेषु विशेषहेतवोऽभिहिताः, अधुना कर्मणो विशेषहेतुप्रतिपादनायाह—

सोलस मिच्छनिमित्ता वज्झहि पणतीस अविरईए य। सेसा उ कसाएहिं जोगेहि य सायवेयणीयं ॥१९॥

(स्वो०)—'षोडश मिथ्यात्वनिमित्ता बध्यन्ते, पञ्चत्रिंशदविरत्या च, शेषाः कषायैरपि योगैरपि सातवेदनीयमि'ति पदानि। पदार्थः—यद्यपि सर्वस्यापि कर्मणश्चत्वारोऽपि हेतवोऽविशेषेणाभिहितास्तथापि प्राधान्याङ्गीकरणाद् व्यपदिश्यन्ते, षोडशानां कर्मप्रकृतीनां मिथ्यात्वमेव बन्धहेतुः यतस्तास्तद्विघाते न बध्यन्ते, पञ्चत्रिंशदविरत्या मिथ्यात्वेन च, यतस्तासामविरता एव बन्धका न परतोऽतोऽविरतिरेव प्रधानहेतुः, शेषाः पुनः पञ्चषष्टिः कषायैरपि बन्धमाप्नुवन्ति, मिथ्यात्वाविरतिभ्यामपि, योगैरपि सातवेदनीयं मिथ्यात्वाविरतिकषायव्यपगमेऽपि बध्यते, ततश्चतुर्हेतुकमेतदिति गाथार्थः ॥१९॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता गुणस्थानेषु जीवस्थानेषु च विशेषबन्धहेतवः, सम्प्रति याः प्रकृतयोऽन्वयव्यतिरेकानुविधानतो यद्बन्धहेतुकास्तास्तथा प्रतिपादयति—नरकगतिर्नरकानुपूर्वी नरकायुरेकेन्द्रियजातिर्विकलेन्द्रियजातित्रिकं मिथ्यात्वं नपुंसकवेदो हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननमातपनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तनामेति षोडश प्रकृतयो मिथ्यात्वनिमित्ताः तद्भावे तद्बन्धभावात् तदभावे चाभावात्। यद्यपि चैतासां बन्धेऽविरत्यादयोऽपि मिथ्यात्वेनाक्षेपाद्धेतुत्वेन व्याप्रियन्ते तथापि न तैः सहान्वयव्यतिरेकौ, किं तु मिथ्यात्वेनैव, ततस्तदेव तासां तत्वतो बन्धनिमित्तं, नाविरत्यादयः, एवमुत्तरत्रापि भावना द्रष्टव्या। तथाऽविरत्याऽविरतिप्रत्ययेन स्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदानन्तानुबन्धिचतुष्टयतिर्यक्त्रिकप्रथमान्तिमवर्जसंस्थानान्तिमवर्जसंहननोद्योताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगानादेयदुःस्वरनीचैर्गोत्राप्रत्याख्यानचतुष्टयमनुजत्रिकौदारिकद्विकरूपाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयो बध्यन्ते, ततस्तास्तन्निमित्ताः। शेषास्तु सातवेदनीयवर्जा अष्टषष्टिप्रकृतयः कषायैर्बध्यन्ते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानदर्शनात्, ततस्ताः कषायप्रत्ययाः। सातवेदनीयं योगप्रत्ययं, योगैरेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य बन्धोपलम्भात्। तथाहि—यावद्योगस्तावत्सातस्य बन्धो भवति, योगाभावे च तदभाव इति ॥१९॥

तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ। पयडीपएसबंधा जोगेहिं कसायओ इयरे ॥२०॥

(स्वो०)—'तीर्थकराहारकाणां बन्धे सम्यक्त्वसंयमौ हेतू प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगेभ्यः कपायत इतरौ' इति पदानि । पदार्थः—तीर्थकरनामगोत्रस्य त्रिविधमपि सम्यक्त्वं हेतुः, आह—यद्येवं क्षायिकौपशमिकेऽपि हेतू स्तः ततः सर्वसिद्धानां तीर्थकरत्वपूर्वकं सिद्धत्वं तद्बन्धश्च मुक्तानामपि प्रसज्यते, तयोरेकरूपत्वात् तथा च दोप इति, अत्रोच्यते—अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां हेतौ सत्यपि बन्धो विकल्पेन प्रतिपादितः, अन्यच्च "सेसाउ कसाएहि वि" इति भणनात् तीर्थकराहारकप्रकृतयो न निषिद्धाः, सम्यक्त्वसंयमावपि तत्सापेक्षौ अतः कपाययोगयोर्वैचित्र्ये सम्यक्त्वभेदेऽपि न दोषः, क्षायोपशमिकहेतुतायां कृतायां त्वपूर्वकरणेऽस्याबन्धः प्राप्नोति, तच्चानिष्टमिति, एवमाहारकशरीराङ्गोपाङ्गयोः विशिष्टसंयमो हेतुः । प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगवैचित्र्याद्विचित्रौ भवतः, कषायेभ्य इतरौ स्थित्यनुभागबन्धौ कपायवैचित्र्याद्विचित्रौ भवतः । एवमनेकधा हेतुजालं स्वबुद्ध्या योजनीयम् । उदयो बन्धो वा यासां गुणस्थानहेतुको न भवति ता उपरि वक्ष्यामः ॥२०॥

(मलय०)—इह यद्यपि तीर्थकराहारकद्विकयोरपि "सेसा उ कसाएहिं" इति वचनतः सामान्येन कषाया बन्धहेतव उक्तास्तथापि तयोर्निमित्तान्तरमपि विशेषतोऽपेक्षणीयमस्ति, ततस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—तीर्थकराहारकयोस्तीर्थकराहारकद्विकयोर्बन्धे बन्धविपये हेतू कारणे यथासङ्ख्यं सम्यक्त्वसंयमौ, तीर्थकरनामकर्मणो बन्धे हेतुः सम्यक्त्वं, आहारकद्विकस्य संयम इत्यर्थः । एवमुक्ते सति परोऽनुपपत्तिमुद्भावयती—ननु तीर्थकरनामकर्मणो बन्धहेतुर्यदि सम्यक्त्वमुच्यते, तर्हि तत्सम्यक्त्वमौपशमिकं यदि वा क्षायिकमथवा क्षायोपशमिकमिति ? किञ्चातः सर्वत्रापि दोषः । तथाहि—यद्यौपशमिकं सम्यक्त्वं तीर्थकरनामकर्मणो बन्धहेतुत्वेनोपवर्ण्यते, तत उपशान्त-

मोहेऽपि तद्बन्धः प्राप्नोति, तत्रापि तस्यौपशमिकसम्यक्त्वस्य भावात्। अथ क्षायिकमिति पक्षस्तर्हि सिद्धानामपि तद्बन्धप्रसङ्गः, तेषामपि क्षायिकसम्यक्त्वस्य विद्यमानत्वात्, अथ क्षायोपशमिकमिति चेत्तर्ह्यपूर्वकरणप्रथमसमयेऽपि तद्बन्धव्यवच्छेदः प्राप्नोति, तदानीं तस्य क्षायोपशमिकस्य सम्यक्त्वस्य व्यवच्छेदात्। अथ चापूर्वकरणषड्भागे तीर्थकरनामकर्मणो बन्धव्यवच्छेदः, तन्न किमपि सम्यक्त्वं तीर्थकरनामकर्मणो बन्धहेतुरुपपद्यते। संयमोऽपि यद्याहारकद्विकस्य बन्धहेतुरुद्घुष्यते, तर्हि क्षीणमोहादावपि तद्बन्धः प्रसक्तः, तत्र संयमस्य विशेषतोऽतिनिर्मलस्य सम्भवात्, न च भवति, तस्मादाहारकस्यापि न संयमो हेतुरिति। तदेतदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। "न हि नाम तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ" इत्यनेन साक्षात्सम्यक्त्वसंयमावेव केवलौ तीर्थकराहारकद्विकयोर्बन्धहेतुत्वेन नोच्यते, किन्तु सहकारिकारणभूतौ विशेषहेतू, मौलं तु कारणमनयोरपि कषायविशेषा एव "सेसा उ कसाएहिं" इति वचनप्रामाण्यात्, एतच्च प्रागेवोक्तम्। ते च कषायविशेषास्तीर्थकरनामकर्मबन्धं प्रति हेतुभावं बिभ्राणा नौपशमिकाद्यन्यतमसम्यक्त्वविहीनाः सम्भवन्ति, न च सर्वेषां जीवानां, नाप्यपूर्वकरणगुणस्थानकषड्भागात्परतोऽपि। येऽप्याहारकद्विकबन्धहेतवः कषायविशेषास्तेऽपि प्रतिनियता एव कतिपया अप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्यापूर्वकरणषड्भागं यावत्सम्भविनः, ततो न कश्चिद्दोषः। अथ किं स्वरूपास्ते सम्यक्त्वानुगताः कषायविशेषाः यैस्तीर्थकरनामकर्म निबध्यते? उच्यते—सकलजगदुद्धर्तुकामितादिपरमगुणसमूहसमन्विताः। तथाहि—यो भावी भगवांस्तीर्थकृत् स औपशमिकाद्यन्यतमसम्यक्त्वावाप्तौ सत्यां सकलस्यापि संसारस्यादिमध्यावसानेष्वत्यन्तं नैर्गुण्यमवधार्य महाशयस्तथाभव्यत्वविशेषयोगत एवं चिन्तयति—अहो चित्रमेतत्! यत्सत्यपि पारमेश्वरे प्रवचने स्फुरत्तेजसि दुःखपरीतचेतसो जन्तवः संसारगहने महामोहान्धकारविलुप्तसत्पथे मूढमनस्का उच्चैः परिभ्रमन्ति, तदहमेतानतः संसारादनेन प्रवचनेन यथायोगमुत्तारयामीति। एवं

च चिन्तयित्वा स महात्मा सदैव परार्थव्यसनी करुणादिगुणोपेतः प्रतिक्षणं परार्थकरणप्रवर्द्धमानमहाशयो यथा यथा परेषामुपकारो भवति, तथा तथा चेष्टते। तत इत्थं सत्वानां तत्कल्याणसम्पादनेनोपकारं कुर्वंस्तीर्थकरनाम समुपार्ज्य परं सत्वार्थसाधनं तीर्थकरत्वमवाप्नोति। उक्तं च—"अनेन भवनैर्गुण्यं, सम्यग्वीक्ष्य महाशयः। तथाभव्यत्वयोगेन, विचित्रं चिंतयत्यसौ ॥१॥ मोहांधकारगहने, संसारे दुःखिता वत। सत्वाः परिभ्रमंत्युच्चैः, सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥२॥ अहमेतानतः कृच्छात्, यथायोगं कथंचन। अनेनोत्तारयामीति, वरबोधिसमन्वितः ॥३॥ करुणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा। तथैव चेष्टते धीमान्, वर्द्धमानमहोदयः ॥४॥ तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन् सत्यार्थमेव सः। तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति, परं सत्वार्थसाधनम् ॥५॥"। तत्र अनेनेति सम्यक्त्वेन। यस्तु सम्यक्त्वावाप्तौ स्वजनादिषु यथोक्तचिन्तां करोति, तथैव चानुतिष्ठति, स धीमान् गणधरलब्धिमासादयति। यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनिःसरणमेव केवलमभिवाञ्छति, तथैव चेष्टते, स मुण्डकेवली भवति। उक्तं च—"चिंतयत्येवमेवैतत्स्वजनादिगतं तु यः। तथाऽनुष्ठानतः सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत् ॥१॥ संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः। आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुंडकेवली ॥२॥" एतच्च प्रसङ्गादुक्तमिति कृतं प्रसङ्गेन। तथा सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धः प्रदेशबन्धश्च योगेभ्यो भवति। तत्र प्रकृतिर्ज्ञानावरणीयत्वादिकः स्वभावविशेषः, प्रदेशाः कर्मपरमाणवः। तथेतरौ स्थितिबन्धानुभागबन्धौ कषायतः कषायेभ्यो भवतः। तत्र स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालप्रमाणमवस्थानं, अनुभागः प्राग्व्यावर्णितस्वरूप एकस्थानादिको रसः ॥२०॥

परीषहा अपि कर्मोदयहेतवोऽतस्तानाह—

खुप्पिवासुण्हसीयाणि सेज्जा रोगो वहो मलो। तणफासो चरीया य दंसेक्कारस जोगिसु ॥२१॥

(स्वो०)—क्षुत्पिपासाशीतोष्णानि शय्या रोगो वधो मलः तृणस्पर्शश्चर्या च चकारोऽनुक्तार्थः दंशमशकपरीषहः एते एकादश सयोगिषु भवन्ति ॥२१॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता बन्धहेतवः। बद्धस्य च कर्मणो यथायोगमुदया भवन्ति। कर्मोदयवशाच्च साधूनां परीषहा उपतिष्ठन्ते। ततो ये परीषहा यत्कर्मोदयनिमित्तास्तांस्तथा प्रतिपादयति—इह परीषहशब्दः सामर्थ्यादुपगम्यते, स च प्रतिपदं योजनीयस्तद्यथा—क्षुत्परीषहः, पिपासापरीषहः, उष्णपरीषहः, शीतपरीषहः, शय्यापरीषहः, रोगपरीषहः, वधपरीषहः, मलपरीषहः, तृणस्पर्शपरीषहः, चर्यापरीषहः, दंशपरीषहः, एते च परीषहा यतिभिरवश्यं प्रवचनोक्तेन विधिना विजेतव्याः, तद्विजयश्चायं—साधोर्निरवद्याहारगवेषिणो निरवद्यस्याहारस्यालाभे ईषल्लाभे वाऽनपगतक्षुद्वेदनस्य अकालभिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्य आवश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरीतचेतस उदीर्णप्रबलक्षुद्वेदनस्यापि सतोऽनेषणीयं परिहरतो यदपरिदेवनेन क्षुद्वेदनासहनं स क्षुत्परीषहविजयः। एवं पिपासापरीषहविजयोऽपि भावनीयः। तथा तरुणतररविकिरणपरितापशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायतरुण्यटव्यन्तरेऽन्यत्र वा क्वापि गच्छतो निवसतो वानशनादितपोविशेषसमुत्पादितान्तःप्रचुरदाहस्य महोष्णखरपरुषवातसम्पर्कजनितगलतालुशोषस्यापि यत्प्राणिपीडापरिहारबुद्धितो जलावगाहस्नानपानाद्यनासेवनं तदुष्णपरीषहसहनम्। तथा महत्यपि शीते पतति परित्यक्ताकल्पनीयवाससः प्रवचनोक्तेन विधिना कल्पनीयवासांसि परिभुञ्जानस्य पक्षिवदनवधारितालयविशेषस्य वृक्षमूले पथि शून्यागारेऽन्यत्र वा क्वापि निवसतो हिमानीकणसन्मिश्रशीतानिलसम्पर्केऽपि तत्प्रतीकारहेतूपादानं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतीकारहेतूनस्मरतः सम्यग्भावनागर्भं शीतसहनं शीतपरीषहविजयः। तथा खरविषमप्रचुरशर्कराशकलसंकुलेषु शीतेषूष्णेषु वा भूदेशेषु मृदुकठिनादिभेदभिन्नचम्पकादिपट्टेषु वा निद्रामनुभवतःसम्यक्प्र-

वचनानुसारेण तत्कृतबाधासहनमरागगमनं च शय्यापरीषहसहनम्। तथा रोगे सत्यल्पबहुत्वालोचनया प्रवचनोक्तविध्यनुसारतः प्रतिक्रियासमाचरणं रोगपरीषहविजयः। तथा निशितकृपाणमुद्गरादिप्रहरणताडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतकर्मणामेवं फलं तन्न मे किञ्चिदप्यमी वराकाः कुर्वन्ति, अपि च विशरारुस्वभावं शरीरमेतैर्बाध्यते, नान्तर्गतानि मम ज्ञानदर्शनचारित्राणीति चिन्तयतो वासीतक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो यत्सम्यग्वधपीडासहनं वधपरीषहविजयः। तथाऽप्कायिकादिजन्तुपीडापरिहारायाऽऽमरणादस्नानव्रतधारिणः पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वेदवारिसम्पर्कलग्नपवनानीतपांशुनिचयस्य मलापनयनासङ्क्लिष्टमनसः सज्ज्ञानदर्शनचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनं मलपरीषहसहनम्। तथा गच्छवासिनां गच्छनिर्गतानां वाऽशुषिरस्य दर्भादेस्तृणस्य परिभोगः समनुज्ञातो भगवता, तत्र येषां दर्भादितृणानामुपरि शयनमनुज्ञातं स्वगुरुभिस्तेषामेव दर्भादितृणानामुपरि संस्तारकोत्तरपट्टौ निधाय शेरते, अथवा चौरापहृतोपकरणो यदि वाऽतिजीर्णतया व्यपगतसंस्तारकोत्तरपट्टो दर्भादितृणान्यास्तीर्य शेते, तत्र यत्तृणस्पर्शसम्यगधिसहनं स तृणस्पर्शपरीषहविजयः। तथाऽधिगतबन्धमोक्षतत्वस्य पवनवन्निःसङ्गतामादधानस्य देशकालप्रमाणोपेतं संयमविरोधिमार्गगमनं परिहरतः प्रतिमासकल्पमागमानुसारेण चर्यामाचरतः परुषशर्कराकण्टकादिव्यथाजातचरणखेदस्यापि सतो यत्पूर्वसेवितयानवाहनादिगमनास्मरणं स चर्यापरीषहविजयः। तथा 'दंशपरीषह' इत्यत्र दंशग्रहणमशेषशरीरोपघातकसत्वोपलक्षणं, यथा "काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः" इत्यत्र काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणं, तेन दंशमशकमक्षिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिर्बाध्यमानस्यापि ततः स्थानादनपगच्छतः तेषां च दंशमशकादीनां त्रिविधं त्रिविधेन बाधामकुर्वतो व्यजनादि-

१ 'पुराकृतकर्मफलमेतत्' इत्यपि पाठः।

नापिताननिवारयतो यत्सम्यग् दंशमशकादिव्यथापीडासहनं स दंशपरीषहविजयः । एत एकादश परीषहाः सयोगिषु सयोगिकेवलिषु सम्भवन्ति ॥२१॥

वेयणीयभवा एए पन्नानाणा उ आइमे । अट्ठमंमि अलाभोत्थो छउमत्थेसु चोद्दस ॥२२॥

(स्वो०)—एते पूर्वोक्ता एकादश परीषहा वेदनीयोदयहेतवः सयोगिषु भवन्ति, प्रज्ञाऽज्ञानपरीषहौ च ज्ञानावरणोदये भवतः, अन्तरायोदयेऽलाभोत्थो भवति, सर्वेऽप्येते चतुर्दश छद्मस्थानां सम्भवन्ति ॥२२॥

(मलय०)—किं कर्मप्रभवा एते एकादशापि परीषहाः ? इति चेत् , अत आह–एतेऽनन्तरोक्ता एकादश परीषहा वेदनीयभवा वेदनीयकर्मप्रभवाः, तथा चोक्तं–"क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे, दंशश्चर्या वधो मलः । शय्या रोगस्तृणस्पर्शो जिने वेद्यस्य सम्भवात् ॥१॥" । तथाऽऽदिमे ज्ञानावरणीयलक्षणे कर्मण्युदयप्राप्ते प्रज्ञाऽज्ञाने भवतः, प्रज्ञापरीषहो भवत्यज्ञानपरीषहश्च । तत्राङ्गोपाङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दतर्काध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादन्ये सर्वेऽपि भास्करस्य पुरः खद्योता इव निष्प्रभा इति ज्ञानानन्दस्य यन्निरसनं स प्रज्ञापरीषहविजयः । तथाऽज्ञोऽयं पशुसमो न वेत्ति चिञ्चिदित्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सम्यक् सहमानस्य परमदुष्करतपोनुष्ठाननिरतस्य नित्यमप्रमत्तचेतसो न मेऽद्यापि ज्ञानातिशयः समुत्पद्यते, इति यच्चिन्तनं सोऽज्ञानपरीषहविजयः । तथाऽष्टमेऽन्तरायाभिधाने कर्मणि विपाकोदयप्राप्तेऽलाभोत्थोऽलाभसमुत्थः परीषहो भवति, तत्र नानादेशविहारिणो विभवमपेक्ष्य बहुषूचनीचैर्गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिकगुणमलाभं मन्यमानस्य यदलाभपीडासहनं सोऽलाभपरीषहविजयः । एते सर्वेऽपि चतुर्दशसङ्ख्याः परीषहाः छद्मस्थेषु उपशान्तमोहक्षीणमोहेषु भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायेषु च, तेषामपि सञ्ज्वलनलोभगतकि-

ह्रीमात्रवेदनतः परमार्थतो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वात्, न हि सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयोदयप्रभवाः केऽप्यन्येऽपि परीषहाः सम्भवन्ति, मोहस्य समस्तस्यापि तस्य क्षीणत्वात्, ततस्तत्रापि चतुर्दशसङ्ख्याः परीषहा उच्यमाना न विरुध्यन्ते। उक्तं च–"चतुर्दशैते विज्ञेयाः, सम्भवेन परीषहाः। स सूक्ष्मसम्परायाणां, छद्मस्थानामरागिणाम् ॥१॥" ॥२२॥

निसेज्जा जायणाकोसो अरई इत्थिनग्गया। सक्कारो दंसणं मोहा बावीसा चेव रागिसु ॥२३॥

॥ पंचसंगहे चउत्थं दारं ॥

(स्वो०)—निषद्या याचनाऽऽक्रोशः अरतिः स्त्री नग्नता चकारोऽधिकार्थसूचकः, सत्कारपुरस्कारपरीषहः एते सप्त चारित्रमोहनीयोदयात् भवन्ति। दर्शनपरीषहो दर्शनमोहनीयोदयात् प्रादुर्भवति, एवकारोऽवधारणार्थः, एते द्वाविंशतिपरीषहाः सम्पूर्णाः सरागिष्वेव भवन्ति, समाप्तं च हेतुद्वारमुद्देशतो, ग्रन्थतः शतपञ्चकेन। उक्तं चतुर्थं द्वारम् ॥२३॥

(मलय०)—अत्रापि सामर्थ्यलब्धः परीषहशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। निषद्यापरीषहो याञ्चापरीषह इत्यादि। निषद्या चोपाश्रय उच्यते, निषीदन्त्यस्यामिति निषद्येति व्युत्पत्तिबलात्। तत्र श्मशानोद्यानसत्रागारगिरिगुहादिषु स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितेष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसतः सर्वत्र स्वेन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षिते प्रदेशे नियमानुष्ठानमधितिष्ठतः सिंहव्याघ्रादिविविधभीषणध्वनिश्रवणतोऽसञ्जातभयस्य यच्चतुर्विधोपसर्गसहनेन मोक्षमार्गादप्रच्यवनमेष निषद्यापरीषहविजयः। तथा बाह्याभ्यन्तरतपोनुष्ठानपरायणस्य दीनवचनमुखवैवर्ण्यपरिहारेणाहारवसतिवस्त्रपात्रभेषजानि सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना याचमानस्य 'सर्वमपि साधोर्याचितं भवति, नायाचितं, इति चिन्तयतो यद्याञ्चाविधौ लाघवाभिमानसहनं तद्याञ्चापरीषहसहनम्। तथा मिथ्यादर्शनोदृप्तोदीरितान्यमर्षावज्ञानिन्दावचनानि क्रोधहु-

तवहोद्दीपनपटिष्ठानि शृण्वतोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतो दुरन्तः क्रोधादिकषायोदयनिमित्तपापकर्मविपाक इति चिन्तयतो यत्कषायलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनवकाशदानमेष आक्रोशपरीषहविजयः। तथा सूत्रोपदेशतो विहरतस्तिष्ठतो वा कदाचनापि यद्यरतिरुत्पद्यते तदापि स्वाध्यायध्यानभावनारूपधर्मारामरतत्त्वेन यदरतिपरित्यजनं सोऽरतिपरीषहविजयः। तथैकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रमप्रमत्तासु शुभं मनःसङ्कल्पमपहरन्तीषु प्रमदास्वत्यन्तसंवृतेन्द्रियान्तःकरणस्य 'अशुचिकुणपपिण्ड एषः' इत्येवमशुभभावनावशतो यत्तद्गतललितहसितमृदुभाषणसविलासनिरीक्षणचङ्क्रमणादिरूपाणां मन्मथशराणां विफलताकरणमेष स्त्रीपरीषहविजयः। तथा नग्नता नाग्न्यमाचेलक्यमित्यर्थः, तदपि चाचेलक्यमिह श्रुतोपदेशेनान्यथा धारणं, परिजीर्णाल्पमूल्यखण्डितासर्वतनुप्रावरणत्वं च, तत्रापि लोके नाग्न्यव्यपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्। तथाहि—नदीमुत्तरन् अधस्तनशाटकपरिवेष्टितशिरा अपि पुमाँल्लोके नग्न इति व्यपदिश्यते, तथा काचित्परिजीर्णशाटिकाकृतपरिधानापि तन्तुवायमेवमाचष्टे—त्वर कोलिक! देहि मे शाटिकां नग्नाहं वर्त्ते इति। तद्वन्मुनयोऽपि खण्डिताल्पमूल्यपरिजीर्णासर्वतनुप्रावरणधारिणोऽन्यथापरिधानतश्च सचेला अपि तत्वतोऽचेला एव। "जह जलमवगाहंतो, वहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो। भण्णइ नरो अचेलो तह मुणओ संतचेलो वि॥१॥ तह थोवजुन्नकुच्छियचेलेहि वि भन्नए अचेलो त्ति। जह तुर सालिय लहुं, दे पोत्ति नग्गियामो त्ति॥२॥" एवं च सत्युत्तमधृतिसंहननादिविकलानामिदानीन्तनसाधूनां तृणग्रहणानलसेवापरित्यागतः संयमस्फातिनिमित्तं यथोक्तानि वस्त्राणि धारयतामाचेलक्यपरीषहसहनं सम्यगेव द्रष्टव्यम्। उक्तं च— "संजमजोगनिमित्तं, परिजुन्नादीणि धारयंतस्स। कह न परीसहसहणं, जइणो सइ निम्ममत्तस्स॥१॥"। अथ ब्रूयादाचेलक्यमुक्तप्रकारेण तावदौपचारिकं ततस्तथारूपाचेलक्यासेवनपरीषहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात्, तथा च सति कुतो मोक्षावाप्तिः? उपचरितस्य निरुप-

चरितार्थक्रियाकारित्वायोगात्, न हि माणवको दहनोपचारादाधीयते पाक इति, यद्येवं तर्हि कल्पनीयमाहारमपि भुञ्जानस्य न सम्यक् क्षुत्परीषहसहनं भवेत्, भवदुक्तन्यायेन सर्वथाऽऽहारपरित्यागत एव तत्सहनोपपत्तेः, एवं च सति भगवानप्यर्हन् क्षुत्परीषहजेता न भवेत्, सोऽपि हि भगवान् छद्मस्थावस्थायां भवन्मतेनापि कल्पनीयमाहारमुपभुङ्क्ते, न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपभुञ्जानोऽपि क्षुत्परीषहजेता नेष्टः, ततो यथाऽनेषणीयाकल्पनीयभोजनपरित्यागतः क्षुत्परीषहसहनमिष्टं, तथा महामूल्यानेषणीयाकल्पनीयवस्त्रपरित्यागत आचेलक्यपरीषहसहनमेष्टव्यम्। न च वाच्यमेवं तर्हि कमनीयकामिनीजनपरिभोगपरिहारतः काणकुण्टविरूपाङ्गवामनेत्रापरिभोगमपि कुर्वतः स्त्रीपरीषहसहनप्रसङ्ग इति, स्त्रीपरिभोगस्यान्यत्र सर्वात्मना सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात्। न चैवं परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रपरिभोगः सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धः, ततो नातिप्रसङ्गावाप्तिः। आह च—"जइ चेलभोगमेत्ता, अजिओ अचेलयपरीसहो तेणं। अजियदिगिंछाइपरीसहो वि भत्ताइभोगाओ ॥१॥ एवं तुह न जियपरीसहा जिणिंदा वि सव्वहावन्नं। अहवा जो भत्ताइसु, स विहीचेले वि किन्निट्ठे ॥२॥ त्थिय पावई अणिट्ठं, एवं इत्थीपरीसहपसंगा। नो सुत्ततरवाहानिवारणादइपसंगस्स ॥३॥ न वि किंचि पडिसिद्धं, अणुन्नायं वा वि जिणवरिंदेहिं। मोत्तुं मेहुणभावं, न विणा सो रागदोसेहिं ॥४॥ फासुयमपि असणाई न कयाइवि अन्नहेह भोत्तव्वं। पायव्वं च परीसहसहणं तह इच्छमाणेणं ॥५॥" इति कृतं प्रसङ्गेन, विस्तरेण तु धर्मसङ्ग्रहणीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः। तथा 'सक्कारे' त्ति—पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सत्कारपुरस्कार इति द्रष्टव्यम्। तत्र सत्कारो वस्त्रपात्रभक्तपानप्रदानादिरूपः, पुरस्कारः सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनं वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादि वा, तत्र चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयतत्त्वज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनो यत्प्रणामभक्तिबहुमानसम्भ्रमासनप्रदानभक्तपानवस्त्रपात्राद्यतिसर्जनं न मे कश्चित्करोतीति दुष्प्रणिधानपरिहरणं तत्सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनम्। तथा 'दंसणं ति'—दर्शनविषयपरीषहोऽपि दर्शनमित्युक्तं, तत्र सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोनुष्ठायी निःसङ्गश्चाहं,

तथापि न धर्माधर्मफलभूतान् देवनारकादीन्पश्यामि, ततो महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रं, इत्येवं यन्मिथ्यादर्शनमोहनीयस्य प्रदेशोदयतः कदध्यवसायस्योत्थानमेष दर्शनपरीषहः, स चैवं सोढव्यः—देवा मनुष्यलोकानामपेक्षया परमसुखिनः, न च सम्प्रति दुःषमानुभावतस्तीर्थंकरादिरस्ति, ततः परमसुखासक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावान्न सम्प्रति मनुष्याणां दर्शनपथगोचरतामायान्ति, नारकास्तु निरन्तरं तीव्रतरवेदनार्त्तत्वात्पूर्वकृतदुष्कर्मविपाकोदयनिगडनिगडितत्वाच्च मगनागमनशक्तिविकलाः, ततस्तेऽपि नेहागच्छन्ति, नापि दुःषमानुभावत उत्तमसंहननासम्भवे सम्प्रति तादृशी तपोविशेषशक्तिरस्ति भावनोल्लासो वा, येन ज्ञानातिशयोत्पादनतस्तत्स्थाने देवनारकान्पश्यति, चिरन्तनपुरुषाणां तूत्तमसंहननवशादुत्तमा तपोविशेषशक्तिरुत्तमा च भावना समासीत्, ततः सर्वं तेषामुपपद्यत इति । एते चाष्टौ निषद्यापरीषहादयः परीषहा मोहान्मोहनीयाद्भवन्ति, तथाहि—निषद्यापरीषहो भयोदयात्, याञ्चापरीषहो मानोदयात्, आक्रोशपरीषहः क्रोधोदयात्, अरतिपरीषहोऽरतिमोहनीयोदयात्, स्त्रीपरीषहः पुंवेदोदयात्, नाग्न्यपरीषहो जुगुप्सोदयात्, सत्कारपुरस्कारपरीषहो लोभोदयात्, दर्शनपरीषहो दर्शनमोहनीयोदयात् । एते च सर्वेऽपि मूलत आरभ्य द्वाविंशतिसङ्ख्याः परीषहाः सामस्त्येन, एवकारोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, रागिष्वेवानिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानेषु सरागेष्वेव भवन्ति ॥

॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसङ्ग्रहटीकायां बन्धहेतुवक्तव्यताभिधानं चतुर्थं द्वारं समाप्तम् ॥

समाप्तमिदं पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं चतुर्थं द्वारं ।

॥ अर्हम् ॥

॥ अथ पंचमं द्वारम् ॥

—— ० ——

अधुना पञ्चमद्वारमारभ्यते तस्य चेयं सम्बन्धप्रतिपादिका आदिगाथा—

बद्धस्सुदओ उदए उदीरणा तदवसेसयं संतं। तम्हा बंधविहाणे भन्नंते इइ भणियव्वं ॥१॥

(स्वो०)—बद्धस्य कर्मणः सतः उदयोऽनुभवनं भवति, अनुभूयमाने कर्मणि प्रक्षिप्यऽनुदयप्राप्तं प्रयोगेणानुभूयते यत्सा उदीरणा, ताभ्यां यत् नानुभूतं तत्सद् भवति, तस्माद् बन्धविधाने भण्यमाने इत्यनेन प्रकारेण भणितव्यमिति गाथार्थः ॥१॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं बन्धहेतुवक्तव्यताभिधानं चतुर्थं द्वारम्। सम्प्रति बन्धविधिलक्षणपञ्चमद्वाराभिधानावसरः, तत्र च बन्धोदयोदीरणासत्ता अभिधेयाः। आह–ननु बन्धस्य विधिर्बन्धविधिरितिव्युत्पत्तेर्बन्धविधौ बन्धस्यैव प्रतिपादनं युक्तम्, नोदयोदीरणासत्तानाम्, तत्कथं बन्धोदयोदीरणासत्तास्तत्र वक्तव्याः? इत्यत आह–इह बद्धस्य सतः कर्मणोऽबाधाकालक्षयेणोदयो भवति, उदये च सति प्रायोऽवश्यमुदीरणा, उदयोदीरणाभ्यां च यन्नाद्याप्यनुभूय क्षयं नीतं तदवशेषं सत्, ततो बन्धविधौ भण्यमान इत्युदयादिकमवश्यं भणितव्यम् ॥१॥

गुणस्थानेषु मूलप्रकृतिबन्धविधिमाह—

जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुम छण्हमेगस्स। उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्टिमीसअनियट्टी ॥२॥

(स्वो०)—यावदप्रमत्तगुणस्थानं तावत् सप्तानां अष्टानां वा मूलप्रकृतीनां बन्धकः मोहायुषी वर्जयित्वा सूक्ष्मसम्परायः षण्णां बन्धकः, एकस्य वेदनीयस्य उपशान्तक्षीणमोहयोगिनो बन्धकाः, आयुर्वर्जानां सप्तानां निवृत्तिसम्यग्मिथ्यादृष्टिअनिवृत्तिबादरा बन्धका इति गाथार्थः ॥२॥

(मलय०)—तत्र प्रथमतो गुणस्थानकेषु मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धविधिमाह–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्यापान्तराले मिश्रगुणस्थानकं वर्जयित्वा यावदप्रमत्तसंयतगुणस्थानं तावज्जीवाः सप्ताष्टबन्धकाः सप्त वा बध्नन्त्यष्टौ वेत्यर्थः। तत्रायुर्बन्धकालेऽष्टौ बध्नन्ति, शेषकालं तु सप्त। मिश्रगुणस्थानके च विशेषमग्रे वक्ष्यतीति तस्येह वर्जनम्। तथा सूक्ष्मः सूक्ष्मसम्परायो मोहायुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां मूलप्रकृतीनां बन्धकः, सूक्ष्मसम्परायो ह्यतिविशुद्धत्वान्नायुर्बन्धमारभते, बादरकषायोदयाभावाच्च न मोहनीयबन्धमिति। तथैकस्यैकस्यैव सातवेदनीयस्योपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बन्धकाः, न शेषकर्मणां, कषायोदयाभावात्। तथायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां निवृत्तिमिश्रानिवृत्तयोऽपूर्वकरणमिश्रानिवृत्तिबादरसम्परायाः बन्धकाः, नायुषोऽपि, तत्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादरावतिविशुद्धत्वात्, मिश्रस्तु तथास्वाभाव्यादिति ॥२॥

बद्धस्योदयमाह—

जा सुहुमसंपराओ उइन्न संताइं ताव सव्वाइं। सत्तट्ठुवसंते खीणे सत्त सेसेसु चत्तारि ॥३॥

(स्वो०)—यावत्सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं उदीर्णानि उदयं गतानि सन्ति विद्यन्ते तावत्सर्वाणि अशेषाणि कर्माणीति गम्यते, अधिकारादुपशान्तकषायस्य सप्तोदीर्णान्यष्टौ विद्यमानानि, क्षीणकषाये सप्त, शेषयोः सयोग्ययोगिनोश्चत्वारि उदयं गतानि विद्यमानानि च भवन्तीति गाथार्थः ॥३॥

(मलय०)—तदेवमुक्तो गुणस्थानकेषु मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धविधिः। सम्प्रत्युदयसत्ताविधी प्ररूपयति—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य यावत्सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं तावत्सर्वाण्यप्यष्टावपि कर्माण्युदीर्णान्युदयप्राप्तानि सन्ति च प्राप्यन्ते, सर्वत्रापि मोहनीयोदयसत्तयोः प्राप्यमाणत्वात्। तथोपशान्ते उपशान्तमोहे उदये सप्त प्राप्यन्ते, मोहनीयस्योपशान्तत्वेनोदयाभावात्, सत्तायामष्टावपि, मोहनीयस्य विद्यमानत्वात्। तथा क्षीणे क्षीणमोहे उदये सत्तायां च सप्त, मोहनीयस्य क्षीणत्वेनोदयाद्यभावात्। शेषयोस्तु सयोग्ययोगिकेवलिनोश्चत्वार्यघातिकर्माण्युदये सत्तायां च प्राप्यन्ते, न शेषाणि, तेषां क्षीणत्वात् ॥३॥

एतदेव जीवस्थानेष्वाह—

बंधंति सत्तअट्ठ व उइन्नसत्तट्ठगा उ सव्वे वि। सत्तट्ठछेगबंधगभंगा पज्जत्तसन्निंमि ॥४॥

(स्वो०)—बध्नन्ति सप्तायुर्वर्जानि सम्पूर्णान्यष्टौ वा, उदीर्णविद्यमानाष्टकास्तु सर्वेऽपि—सर्वजीवस्थानजीवाः। सप्ताष्टषडेकाऽबन्धकत्वविकल्पा अपि संज्ञिनि पर्याप्तके सम्भवन्ति, तुशब्दाधिक्यादष्टसप्तचतुर्विधोदयसत्कर्मविकल्पाश्च भवन्तीति गाथार्थः ॥४॥

(मलय०)—तदेवमुदयसत्ताविधी अपि गुणस्थानकेषूक्तौ, उदीरणाविधिरग्रे वक्ष्यते बहुवक्तव्यत्वात्। सम्प्रति जीवस्थानकेषु बन्धोदयसत्ताविधीनाह—पर्याप्तसंज्ञिवर्जाः शेषा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादयस्त्रयोदशभेदभिन्नाः सर्वेऽपि जीवाः सप्ताष्टौ वा बध्नन्ति, तत्रायुर्व-

न्धकालेऽष्टौ, शेषकालं तु सप्त। 'उइन्नसत्तट्ठगाउ' त्ति–सर्वेऽप्युदीर्णविद्यमानाष्टकाः, सर्वेषामपि कर्माष्टकमुदीर्णं सत्तायां च प्राप्यत इत्यर्थः। तथा पर्याप्ते संज्ञिनि सप्ताष्टषडेकाबन्धकभङ्गाः सप्ताष्टषडेकबन्धकत्वाबन्धकत्वविकल्पा भवन्ति। किमुक्तं भवति? पर्याप्त संज्ञी कदाचित्सप्तबन्धको भवति, कदाचिदष्टबन्धकः, कदाचित्षड्बन्धकः, कदाचिदेकबन्धकः, कदाचिदबन्धकः। तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिरप्रमत्तान्तः सप्तबन्धकोऽष्टबन्धको वा, मिश्रोऽपूर्वकरणोऽनिवृत्तिबादरश्च सप्तबन्धकः, सूक्ष्मसम्परायः षड्बन्धकः, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिन एकबन्धकाः, अयोगिकेवली त्वबन्धकः, तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनादष्टसप्तचतुर्लक्षणा उदयभङ्गा अष्टसप्तचतुर्लक्षणाः सत्ताभङ्गाश्च पर्याप्ते संज्ञिनि वेदितव्याः, ते च प्रागुक्तोदयसत्ताविधिक्रमेणावसेयाः ॥४॥

उदयप्रसङ्गेनैवोक्ता सत्कर्मता, उदीरणामाह—

जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो वेयआउवज्जाणं। सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाणं ॥५॥

(स्वो०)—मिथ्यादृष्टेर्यावत्प्रमत्तगुणस्तावज्जीवोऽष्टानामपि कर्मणामुदीरको भवति, स एवायुषि आवलिकाशेषोदये सप्तकर्मोदीरको भवति, अथाऽप्रमत्तगुणाद्यावत्सूक्ष्मकषायगुणस्तावत् षण्णां वेदनीयायुःशेषाणामुदीरको भवति, आवलिकाशेषोदये मोहनीये सूक्ष्मसम्परायोऽपि पञ्चानामुदीरको, वेदनीयायुर्मोहनीयैश्च वर्जानां तच्छेषाणां पञ्चानां कर्मणां उपशान्तगुणाद्यावत् क्षीणकषायगुणो जीवस्तावदुदीरकः, स एव क्षीणकषायो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायेष्वावलिकाशेषोदयेषु नामगोत्रयोरेवोदीरको भवति, तत्परस्तु सयोगिजिनो नामगोत्रयोरुदीरको भवति, चशब्दादधिकोऽर्थोऽसौ प्रतिपादित एव ॥५॥

(मलय०)—सम्प्रति गुणस्थानकेषूदीरणाविधिमाह–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं तावज्जीवोऽष्टानामपि

कर्मणामुदीरकः, केवलमायुष्यावलिकावशेषे सत्यायुष आवलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया अभावात्सप्तानामुदीरकः। सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु वर्तमानः सर्वदैवाष्टानामुदीरकः, आयुष आवलिकावशेषे मिश्रगुणस्थानकस्यासम्भवात्। तथाहि–अन्तर्मुहूर्तविशेष एवायुषि मिश्रगुणस्थानकात्प्रतिपत्य सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा जीवो गच्छतीति। तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य यावत्सूक्ष्मः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं तावद्वेदनीयायुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां कर्मणामुदीरकः, केवलं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमावलिकायां मोहनीयमावलिकाप्रविष्टमिति कृत्वा तस्याप्युदीरणाया अभावात्पञ्चानामुदीरकः। तथा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमावलिकात आरभ्य यावत्क्षीणः क्षीणमोहगुणस्थानकं तावन्मोहेन मोहनीयेन च शब्दाद्वेदनीयायुर्भ्यां च वर्जितानां शेषाणां पञ्चानामुदीरकः। अत्रापि क्षीणमोहगुणस्थानस्य चरमावलिकायां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामप्यावलिकाप्रविष्टत्वान्नोदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रयोरुदीरकः, तत्परतः क्षीणमोहगुणस्थानकात्परतस्तावन्नामगोत्रयोरुदीरको यावत्सयोगिकेवलिचरमसमयः, अयोगिकेवली तु भगवान् सकलसूक्ष्मबादरयोगरहितत्वान्न किञ्चिदपि कर्मोदीरयति, उदीरणाया योगसव्यपेक्षत्वात्। उक्तं च–"वट्टन्तो उ अजोगी, न किञ्चि कम्मं उदीरेइ" इति ॥५॥

उदये उदीरणा भवति, अतः सापवादं वक्तुकाम आह—

जावुदओ ताव उदीरणा वि वेयणियआउवज्जाणं। अद्धावलिया सेसे उदए उ उदीरणा नत्थि ॥६॥

(स्वो)—यावन्मात्रं कालमुदयोऽस्ति तावन्मात्रमुदीरणापि भवति, किमष्टानामपि? नेत्याह–वेदनीयायुष्कशेषाणां षण्णां, वेदनीयायुषोस्तु पुनः उदीरणाव्यपगमेऽपि किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिकालं यावदुदयो भवति। अद्धा–कालोऽभिधीयते, आवलिका तद्विभागाभिधानं, क्रीडाविशेषस्यापीदमेवाभिधानं अतो विशेषणं क्रियते, अद्धावलिका कालावलिका तन्मात्रे उदये घातिकर्मणामुदीरणा नास्ति,

तुशब्दाधिक्यान्नामगोत्रयोस्त्वयोगिकालं यावदुदीरणा नास्तीति गाथार्थः ॥६॥

(मलय०)—ननूदये सत्युदीरणा प्रवर्त्तते, इति सिद्धान्ते तत्र तत्र प्रदेशेऽभिधीयते, तत्किं यावदुदयस्तावदुदीरणा उतान्यथापीत्यत आह–वेदनीयायुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां कर्मणां यावदुदयस्तावदुदीरणा भवति, वेदनीयायुषोस्तु प्रमत्तगुणस्थानकादूर्ध्वमुदीरणाऽपगमेऽपि देशोनां पूर्वकोटिं यावदुदयः प्रवर्त्तते। तथा सर्वेषामपि कर्मणामद्धावलिकाशेषे, इहावलिका पङ्क्तिरभिधीयते, "आली श्रेण्यावली पङ्क्तिः" इति वचनात्, सा च सर्वेषामपि पदार्थानां प्रायः सम्भवति, ततः शेषपदार्थव्यवच्छेदार्थमद्धाग्रहणं, अद्धायाः कालस्यावलिका पङ्क्तिरद्धावलिका प्रतिनियतसंख्याका समयपद्धतिरित्यर्थः, तस्मिन्नद्धावलिकारूपे शेषे सत्युदये प्रवर्त्तमानेऽपि उदीरणा नास्ति। तथाहि–ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणामायुषः स्वस्वावलिकापर्यन्त उदये सत्यप्युदीरणा न प्रवर्त्तते, तल्लक्षणासम्भवात्। उदीरणायाश्च लक्षणमिदं–उदयावलिकातो बहिर्वर्त्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेनासहितेन वा योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा। तथा चोक्तं–"उदयावलियाबाहिरल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएणं जोगसन्नेणं करणेणं दलियमोकड्डिय उदयावलीयाए पवेसणमुदीरणा" इति। तत आवलिकावशेषे कर्मणि ततः परा न काचनापि स्थितिर्यतो दलिकमाकृष्योदये प्रवेशयति, ततो न तत्रोदये सत्यप्युदीरणा। तथा तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनान्नामगोत्रयोरयोग्यवस्थायामुदये सत्यपि नोदीरणेति प्रतिपत्तव्यं, योगाभावत उदीरणाया अभावात् ॥६॥

उत्तरप्रकृत्युदीरणामाह—

सायासायाऊणं जाव पमत्तो अजोगि सेसुदओ। जा जोगि उईरिज्जइ सेसुदया सोदयं जाव ॥७॥

(स्वो०)—सातासातमनुष्यायुषां यावत्प्रमत्तस्तावदुदीरणा, न परतः, अयोगिनः शेषोदयः प्रकृतिदशकमित्यर्थः, यावत्सयोगिकेवली तावदुदीर्यते, शेषैकादशगुणप्रकृत्युदयाः, स्वस्थानं स्वोदयं यावदुदीर्यन्ते न परत इति समासार्थः। व्यासार्थस्तु मिथ्यात्वातपसूक्ष्मत्रिकाणां मिथ्यादृष्टावुदय उदीरणा च, अनन्तानुबन्धिजातिचतुष्कस्थावराणां सास्वादनं यावदुदय उदीरणा च, सम्यग्मिथ्यात्वस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टावुदयः उदीरणा च, वैक्रियषट्कदुर्भगानादेयायशस्तिर्यग्मनुष्यानुपूर्वीदेवनारकायुर्द्वितीयकषायाणामविरतं यावदुदयः उदीरणा च, नीचैर्गोत्रतृतीयकषायोद्योततिर्यग्गत्यायुषां यावद्देशविरतं तावदुदयः उदीरणा च, स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकप्रकृतीनां प्रमत्तं यावदुदय उदीरणा च, सातासातमनुष्यायुषां उदयः परतोऽप्यस्ति नोदीरणा अयं विशेषः, सम्यक्त्वार्द्धनाराचकीलिकाच्छिन्नपुष्टसंहनननामप्रमत्तं यावदुदयः उदीरणा च, एवं हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणं यावत्, वेदत्रिकस्य संज्वलनत्रिकस्य च बादरकषायं यावत्, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मकषायं यावत्, द्वितीयतृतीयसंहननयोरुपशान्तकषायं यावत्, दर्शनषट्कज्ञानान्तरायाणां क्षीणकषायं यावदुदयः उदीरणा च, नामध्रुवोदयसंस्थानषट्कोपघातत्रिकौदारिकविहायोगतिद्विकप्रत्येकसुस्वरदुःस्वराद्यसंहनननानां यावत्सयोगिकेवली तावदुदय उदीरणा च, त्रसादित्रयं सुभगादित्रयं मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां तु सयोगिन्येवोदीरणा, न परतः, तदुदय एवायं विशेषः, अत एकादशसु गुणेषु यावदुदयस्तावदुदीरणापीति गाथार्थः ॥७॥

(मलय०)—तदेमुक्तो गुणस्थानकेषु मूलप्रकृतीरधिकृत्योदीरणाविधिः। सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीरधिकृत्य वक्तव्यः, तत्र कासां प्रकृतीनां किं गुणस्थानकं यावदुदीरणा प्राप्यते? इति तन्निरूपणार्थमाह—सातासातायुषां सातासातमनुष्यायुषां यावत् प्रमत्तः प्रमत्तसंयतगुणस्थानं तावदुदीरणा, न परतः। तथाऽयोगिन्ययोगिकेवलिनि यः शेषः सातासातमनुष्यायुर्व्यतिरिक्त उदय उदयोदयवतोरभेदोपचारादु-

दयवतीनां प्रकृतीनां समुदायः, स यावत्सयोगी सयोगिकेवलिगुणस्थानकं तावदुदीर्यते। किमुक्तं भवति? सातासातमनुष्यायुर्भ्यां व्यतिरिक्तानां यासां त्रसबादरपर्याप्तमनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थकरसुभगादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां दशानां प्रकृतीनामयोगिकेवलिन्युदयः, ताः सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमयं यावदुदीर्यन्ते, न परतः। शेषोदयाः शेषाः प्रकृतय उदयमागताः स्वोदयं यावदुदीर्यन्ते, यावत्स्वोदयस्तावदुदीरणा यथायोगं चरमावलिकावर्जं तासां प्रवर्त्तत इत्यर्थः। किं गुणस्थानकं यावत्कासां प्रकृतीनामुदय उदीरणा च प्रवर्तते? इति चेद्, उच्यते—मिथ्यात्वातपसूक्ष्मसाधारणापर्याप्तरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं यावत्, अनन्तानुबधिचतुष्टयैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरनाम्नां नवानां प्रकृतीनां सासादनगुणस्थानकं, सम्यग्मिथ्यात्वस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं, अप्रत्याख्यानकपायचतुष्टयदेवायुर्नारकायुस्तिर्यगानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपाणां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं, प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयतिर्यग्गतितिर्यगायुरुद्योतनीचैर्गोत्ररूपाणामष्टानां प्रकृतीनां देशविरतिगुणस्थानकं, स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, सातासातमनुष्यायुषां तु प्रमत्तगुणस्थानकात्परत उदय एवैकः केवलः नोदीरणेति प्रागेवोक्तम्। तथा वेदकसम्यक्त्वार्द्धनाराचकीलिकासेवार्त्तसंहननरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानकं, वेदत्रिकसञ्ज्वलनक्रोधमानमायानामनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं, सञ्ज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं, ऋषभनाराचनाराचयोरुपशान्तमोहगुणस्थानकं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणचतुष्टयज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणमोहगुणस्थानकं यावदुदय उदीरणा च प्रवर्त्तते, न परतः। कर्मस्तवप्रणेता तु क्षीणमोहेऽपि द्विचरमसमयं यावन्निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छति, तथा चोक्तं कर्मस्तवे—"निद्दापयलाण तहा, खीणदुचरमंमि

उदयवोच्छेओ" इति । ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावदुदयो वेदितव्यः, स्वमतेनोपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् । तथौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसंस्थानषट्कवज्रर्षभनाराचसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिपराघातोपघातागुरुलघूच्छ्वासप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरनिर्माणरूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावदुदय उदीरणा च भवति । त्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तिमनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थंकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां तु दशप्रकृतीनामुदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमयं यावत् , न परतः । उदयस्तु परतोऽपि, स च तावत् , यावदयोग्यवस्थाचरमसमयः ॥७॥

उदयेऽप्युदीरणा यासां भाज्या ता उपदर्शयन्नाह—

निद्दाउदयवईणं समिच्छपुरिसाण एगचत्ताणं । एयाणं चिय भज्जा उदीरणा उदए नन्नासिं ॥८॥

(स्वो०)—सामान्योपन्यासान्निद्रापञ्चकं गृह्यते, चतुस्त्रिंशतामुदयवतीनां–ज्ञानान्तरायायुर्दर्शनचतुष्कसातासातस्त्रीनपुंसकोच्चैर्गोत्रवेदकसम्यक्त्वसंज्वलनलोभत्रससुभगादित्रिकपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतितीर्थङ्कराणां समिथ्यात्वपुरुषवेदानामेकचत्वारिंशतां, एतासामेव भाज्या उदये उदीरणा, नान्यासामेकाशीतिप्रकृतीनां, यावदुदयस्तावदुदीरणापीत्यर्थः, एतदेव भावयति–निद्रा तृतीयपर्याप्तिं यावदुदीरणाव्यपगमेनानुभवत्यूर्ध्वमुदीरणा, आयुषां भवान्तावलिकाकालमुदयेनानुभवति, ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्काणां क्षीणकषायान्तावलिकाकालमुदयेनानुभवति, नामनवकोच्चैर्गोत्रसातासातानामयोगिकालमुदयेनानुभवति जीव इति गम्यते, लोभस्य सूक्ष्मकषायान्तावलिकाकालमुदयेनानुभवति, एवं सम्यक्त्वस्यापि क्षायिकसम्यक्त्वोत्पत्तौ,मिथ्यात्वस्य तु प्रथमस्थित्यावलिकाशेषायां उदीरणाव्यपगमेऽप्युदयो भवति, तदुदयसमाप्तावौपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिर्भवति, क्षपकश्रेण्यां स्त्रीवेदोदयेनारूढः प्रथमं नपुंसकं विनाशयति, ततः स्त्रीवेदमप्युदीर-

णोदयाभ्यां अनुभवति, शेपावलिकाकालं यावत्तां पुनः स्वोदयेनानुभवति,पश्चात्सप्तकं समकं विनाशयति, नपुंसकोदयेनारूढस्तेनैव सह वा स्त्रीवेदमप्यनुभवति, तस्यापि पश्चिमावलिकाकालं स्वोदयेनैवानुभवति, पश्चात् सप्तकं समकं विनाशयति, पुरुषवेदोदयेनारूढः प्रथमं नपुंसकं पश्चात् स्त्रीवेदं क्षपयति, ततः सप्तकं समकं प्रारम्भयति, समयहीनावलिकाद्वये शेषे हास्यादिषट्कं क्षपयति, ततः स्वोदयेनानुभवमानो जीवः शेषं क्रोधे क्षिपति, एवमेतासामुदये उदीरणा भाज्या, शेषाणां यावदुदयस्तावदुदीरणापीतिगाथार्थः ॥८॥

(मलय०)—तदेवमुपदर्शितो गुणस्थानकेषूदीरणाविधिः। संप्रति यासां प्रकृतीनामुदये सत्यप्युदीरणा भाज्यास्ता उपदर्शयति—पञ्चानां निद्राणामुदयवतीनां च प्राक् तृतीयद्वारेऽभिहितानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणसातासातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदवेदकसम्यक्त्वसंज्वलनलोभत्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तिमनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थकरोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयरूपाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां समिथ्यात्वपुरुषाणां मिथ्यात्वपुरुषवेदसहितानां सर्वसंख्ययैकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामेतासामेवोदये सत्यप्युदीरणा भाज्या। तथाहि—निद्राणां शरीरपर्याप्त्यनन्तरमिन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिं यावदुदय एव प्रवर्त्तते नोदीरणा। आयुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायां, ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानां क्षीणमोहगुणस्थानके स्वावलिकावशेषे, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानके आवलिकावशेषे, वेदकसम्यक्त्वस्य क्षायिकसम्यक्त्वोत्पादने पर्यन्तावलिकायां, मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां, त्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तिमनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थकरोच्चैर्गोत्राणामयोग्यवस्थायां, सातासातवेदनीययोस्तु प्रमत्तगुणस्थानकादूर्ध्वं, उदय एव नोदीरणा। तथा स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्य सतः स्त्रीवेदस्य, नपुंसकवेदेन नपुंसकवेदस्य, पुरुषवेदेन पुरुषवेदस्य, स्वस्वप्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा। तत एकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामेतासामुदये सत्यप्युदीरणा भाज्या।

'नन्नासिं' ति-अन्यासां त्वेकाशीतिसंख्यानां नोदये सत्युदीरणा भाज्या, किमुक्तं भवति ? शेषाणामेकाशीतिप्रकृतीनां यावदुदयस्तावदुदीरणापि पवर्त्तते, न पुनरुदीरणाविरहितः कदाचनापि केवल उदयो भवतीति ॥८॥

अधुना बन्धप्रकारमाह—

होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो य साइसंतो य । बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इइ तिविहो ॥९॥

(स्वो०)—अनाद्यपर्यवसितोऽनादिध्रुव इत्यर्थः, अनादि सपर्यवसानोऽनाद्यध्रुवः, सादिसपर्यवसानः साद्यध्रुव इत्यर्थः, त्रिविधो बन्धो यथासङ्ख्येनाभव्यभव्योपशान्तजीवेषु तद्विषय इति नान्यथेति गाथार्थः ॥९॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता सप्रपञ्चमुदीरणा । संप्रति बन्धं सप्रपञ्चं विवक्षुः प्रथमतो बन्धप्रकारानुपदर्शयति-बन्धः सांपरायिकः कर्मबन्धोऽभव्यजीवेष्वनाद्यनन्तः, तत्रानादित्वं प्राक् सर्वदैवभावात्, अनन्तत्वमुत्तरकालं कदाचिदपि व्यवच्छेदस्याभविष्यत्वात् । भव्यजीवेष्वनादिः सान्तः, तत्रानादित्वं प्राग्वत्, सांतत्वमुत्तरकालं कदाचिद्व्यवच्छेदस्य संभवात् । उपशान्तजीवेषु-उपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपतितेषु जीवेषु सादिः सांतश्च । तत्र सादित्वमुपशान्तमोहगुणस्थानकेऽभावात्, ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि भावात्, तथाहि-उपशान्तमोहगुणस्थानके साम्परायिको बन्धो न भवति, ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि पवर्त्तते, ततः सादिः, सान्तत्वमुत्तरकालमवश्यं व्यवच्छेदसंभवात्, इत्येवमुक्तेन प्रकारेण बन्धस्त्रिविधिः-त्रिप्रकारो भवति ॥९॥

त्रिविधस्यापि बन्धस्योत्तरभेदान् दर्शयन्नाह-

पयडीठिईपएसाणुभागभेया चउव्विहेक्केक्को। उक्कोसाणुक्कोसजहन्नअजहन्नया तेसिं ॥१०॥
ते वि हु साइअणाईधुवअद्धुवभेयओ पुणो चउहा। ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरपयइभेएणं ॥११॥

(स्वो०)–एकैकस्य बन्धस्य प्रत्येकं चत्वारो भेदा भवन्ति, प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धानुभागबन्धप्रदेशबन्धाख्याः, तेषामपि चतुर्णां बन्धानां प्रत्येकं चत्वारो भेदा भवन्ति, उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्याख्याः इति गाथार्थः। तेऽप्यनन्तरोदिताश्चत्वारः साद्यनादिध्रुवाध्रुवभेदतो-भेदेन हुशब्दाधिक्याच्चतुर्विधा अन्वेष्टव्याः, सम्भविनोऽसंभविनश्च, पुनस्तेऽप्यनन्तरोदिता द्विविधा ज्ञातव्याः, मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो--भेदेन एषा बन्धसङ्कलना सूक्ष्मधिया भावनीयेति गाथार्थः ॥१०–११॥

(मलय०)—संप्रत्यस्यैव त्रिप्रकारस्य बन्धस्योत्तरभेदानुपदर्शयति–प्रागुक्तोऽनाद्यनन्तादिरेकैको बन्धः प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभाग-भेदाच्चतुर्विधः–चतुष्प्रकारस्तद्यथा–प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, प्रदेशबन्धोऽनुभागबन्धश्च। तेषां च प्रकृतिबन्धादीनामनाद्यनन्तादिभेद-मनपेक्ष्य सामान्यतः प्रत्येकमुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यता। किमुक्तं भवति? प्रकृतिबन्धादिरेकैको भूयोऽपि चतुर्धा, तद्यथा–उत्कृष्टो-ऽनुत्कृष्टो जघन्योऽजघन्यश्च। तेऽप्युत्कृष्टादयः पुनः प्रत्येकं यथासंभवं साद्यादिरूपतया चतुर्धा। तद्यथा–सादयोऽनादयो ध्रुवा अध्रुवाश्च। न चैत उत्कृष्टादयः सर्वेऽप्यवश्यं साद्यादिरूपतया चतुर्धा प्राप्यन्ते, तत उक्तमस्माभिर्यथासम्भवमिति, एतच्च सूत्रे हुशब्द-स्याधिकार्थसंसूचकस्य सामर्थ्याल्लब्धं, तेऽपि साद्यादयः पुनः प्रत्येकं मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन द्विविधा ज्ञेयाः। तद्यथा–मूलप्रकृतिगता उत्तरप्रकृतिगताश्च। एते च प्रकृतिबन्धादयः सर्वेऽपि यथावसरमुत्तरत्र सूत्रकृतैव सप्रपञ्चमभिधास्यन्ते इति नेह भाव्यन्ते ॥१०–११॥

अन्येऽपि मूलोत्तरप्रकृत्याश्रिताः चत्वारो बन्धप्रकारा भवन्ति, तानाह—

भूओगारप्पयरग अव्वत्त अवट्ठिओ य विन्नेया। मूलुत्तरपगइबंधणासिया ते इमे सुणसु ॥१२॥

(स्वो०)—प्रभूताकारोऽल्पतरोऽव्यक्तोऽवस्थितश्चेति विज्ञेयाः, पूर्वबन्धात् संख्यां प्रति यदाधिको भवति, तदा प्रभूताकारः, यदा तु पूर्वबन्धादुत्तरबन्धो हीनस्तदाऽल्पतरो बन्धः, यदाऽबन्धकस्य बन्धो भवति तदा अव्यक्त इति संज्ञा ज्ञातव्याः, यदा भूयो भूयस्तत्सङ्ख्ययैव विदधाति, तदाऽवस्थितबन्धः, मूलोत्तरप्रकृतिगतास्ते त्वमी शृणुत इति गाथार्थः ॥१२॥

(मलय०)—इहान्येऽपि मूलोत्तरप्रकृतिगताश्चत्वारो बन्धभेदाः सन्ति, ततस्तानुपदर्शयति—मूलोत्तरप्रकृतिबन्धनाश्रिता मूलोत्तरप्रकृतिबन्धगताश्चेत्यर्थः, प्रत्येकं चत्वारो बन्धभेदा विज्ञेयाः, तद्यथा—भूयस्कारोऽल्पतरोऽवक्तव्योऽवस्थितश्च। तत्र यदा स्तोकाः प्रकृतीर्बध्ध्वा भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, यथा सप्त बध्ध्वाऽष्टौ बध्नाति, तदा स बन्धो भूयस्कार इत्युच्यते। यदा तु भूयसीर्बध्ध्वा स्तोका बध्नाति, यथाष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नातीति, तदा स बन्धोऽल्पतर इति व्यपदिश्यते। यदा पुनः सर्वथैवाबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धमारभते, तदा स बन्धोऽवक्तव्य इति, भूयस्कारादिना शब्देन वक्तुमशक्यत्वात्। यदा तु यावतीः प्रकृतीः प्रथमसमये बद्धवान्, तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा स बन्धोऽवस्थित इति, तावत्प्रमाणतयाऽवस्थितत्वात्, तांश्चेमान् भूयस्कारादीन्वक्ष्यमाणान् शृणुत। तत्र मूलप्रकृतिषु प्रथमतो भाव्यन्ते, इह मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—एका षट् सप्ताष्टौ च। तत्रैकां सातवेदनीयरूपां प्रकृतिं बध्नत एका, सा चोपशान्तमोहादेरवगन्तव्या। षट् प्रकृतीर्बध्नतः षट्, ताश्च सूक्ष्मसम्परायस्य। सप्त बध्नतां सप्त, ताश्च मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादराणां, शेषाणां त्वायुर्बन्धाभावे सप्त। अष्टौ बध्नतामष्टौ, ताश्च मिथ्यादृष्ट्यादीनां मिश्रवर्जितानां अप-

मत्तसंयतान्तानामायुर्बन्धकाले द्रष्टव्याः ॥१२॥

मूलप्रकृतिषु बन्धस्थानान्याह—

इगछाइ मूलियाणं बंधट्ठाणा हवंति चत्तारि। अबंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥१३॥

(स्वो०)—एकषडादिमौलानामिति एकं षट् सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्यन्ते, एवं मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि। अबन्धको भूत्वा मूलप्रकृतीनां बन्धको न भवतीत्यतोऽव्यक्तबन्ध इह नास्ति, भूताकारास्त्रयोऽल्पतराश्च, चत्वारोऽवस्थिता इति गाथार्थः ॥१३॥

(मलय०)—तथा चाह–मूलप्रकृतीनामेकषडादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति, तद्यथा–एका षट् सप्ताष्टौ। अत्र त्रयो भूयस्काराः, तथाहि–उपशान्तमोहगुणस्थानक एकां प्रकृतिं बद्ध्वा ततः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्प्रकृतीर्बध्नतः प्रथमे समये प्रथमभूयस्कारः शेषकालं त्ववस्थितः, एष प्रथमो भूयस्कारः। ततोऽपि प्रतिपततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सप्तप्रकृतीर्बध्नतः प्रथमसमये द्वितीयो भूयस्कारः, शेषकालं त्ववस्थितः। सप्त बद्ध्वाष्टौ प्रमत्तादिगुणस्थानकेषु बध्नतः प्रथमे समये तृतीयो भूयस्कारः शेषकालं त्ववस्थितः। तथा त्रयोऽल्पतराः, ते चैवं अष्टप्रकृतीर्बद्ध्वा सप्तप्रकृतीर्बध्नतः प्रथमे समयेऽल्पतरः, शेषकालं त्ववस्थितः, एष प्रथमोऽल्पतरः। यदा तु सप्त प्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके गतः सन् षट्प्रकृतीर्बध्नाति, तदा प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरः, शेषकालं त्ववस्थितः। षट् बद्ध्वोपशान्तमोहगुणस्थानके क्षीणमोहगुणस्थानके वैकां बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽल्पतरः, शेषकालं त्ववस्थितः। तदेवं मूलप्रकृतिबन्धस्थानकेषु त्रयो भूयस्कारास्त्रयोऽल्पतराः, अवस्थितबन्धाश्चत्वारः, चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितत्वस्य प्राप्यमाणत्वात्। एवमन्यत्रापि भूयस्कारालपतरावस्थितभावना भावनीयाः। अवक्तव्य बन्धस्तु मूलप्रकृतीनां न संभवति, न सर्वासां मूल-

प्रकृतीनामवन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धकः सम्भवति, सर्वमूलप्रकृत्यबन्धकत्वस्यायोग्यवस्थायां भावात्, ततोऽपि च प्रतिपाताभावात्, एतदेवाह-यस्मात्सर्वासां मूलप्रकृतीनामबन्धको भूत्वा भूयो बन्धको न भवति, अत इह मूलप्रकृतिष्ववक्तव्यो नास्ति ॥१३॥

अत्रैवातिदेशमाह—

भूओगारप्पयरगअव्वत्तअवट्ठिया जहा बंधे। उदओदीरणसंतेसु[1] वावि जहसंभवं नेया ॥१४॥

(स्वो०)—भूताकाराऽल्पतरकाव्यक्तावस्थिता यथा बन्धे उदयोदीरणासत्स्वपि यथासम्भवं ज्ञेयाः, वाशब्दो यत्तदोर्नित्यसम्बन्धख्यापकः, यथा बन्धे तथा उदयादिष्वपि ज्ञेया इति। मूलप्रकृतीनां चत्वारि सप्ताष्टौ त्रीण्युदयस्थानान्येतानि सम्भवन्ति, एको भूताकारो, यतः सप्तवेदको भूत्वाऽष्टवेदको भवति, द्वावल्पतरावुदयौ, नास्त्यत्राव्यक्तः, त्रयोऽवस्थितोदया इति। उदीरणायाः पञ्च स्थानानि द्विपञ्चषट्सप्ताष्टाविति, मूलप्रकृतिषु त्रयो भूताकाराः, अत्र उपशान्तकषायः पञ्चोदीरको भूत्वा षट् सप्ताष्टोदीरको भवति, द्विकोदीरको न परावर्त्तते इति, चत्वार्य (रो ऽ)ल्पतराः, अष्टोदीरको भूत्वा सप्तषट्पञ्चद्विकोदीरको भवति क्रमेणेति, नास्त्यत्राप्यव्यक्तः, पञ्चाप्यवस्थितोदीरणास्थानानि। चतुः सप्ताष्टौ त्रीणि सत्कर्मस्थानानि, भूताकाराव्यक्तौ न चात्र भवतः, द्वेऽल्पतरस्थाने सप्तकचतुष्के, अवस्थितस्य सत्कर्मणः त्रीणि स्थानानीति गाथार्थः ॥१४॥

(मलय०)—सम्प्रत्यतिदेशेनोदयोदीरणासत्तास्थानेष्वपि भूयस्कारादीनभिधित्सुराह-यथा बन्धे भूयस्कारालपतरावक्तव्यावस्थिता मूलप्रकृतिषूक्तास्तथोदय उदीरणायां सत्तायां च यथासम्भवं ज्ञेयाः। इदमतिसंक्षिप्तमुक्तमतो विशेषतो विभाव्यते-मूलप्रकृतीनां त्रीण्यु-

१ 'उदए उदीरणाए संते जहसंभवं नेया' इत्यपि प्रत्यन्तरे

दयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः। अत्रैक एव भूयस्कारः, तथाहि—उपशान्तमोहगुणस्थानके सप्तवेदको भूत्वा ततः प्रतिपाते भूयोऽप्यष्टौ वेदयते, चतुर्वेदकस्तु भूत्वा सप्ताष्टौ वा न वेदयते, चतुर्वेदकत्वं हि सयोग्यवस्थायां भवति, न च ततः प्रतिपातः, तत एक एवात्र भूयस्कारः, द्वावल्पतरौ, त्रयोऽवस्थिताः, अवक्तव्यस्तु न विद्यते, न हि सर्वकर्मावेदको भूत्वा भूयोऽपि कर्म वेदयते, असम्भवात्, असम्भवश्च निर्मूलकापं कर्मणः कपितत्वात्। उदीरणास्थानानि पञ्च, तद्यथा—अष्टौ सप्त षट् पञ्च द्वे। अत्र त्रयो भूयस्काराः, तथाहि—उपशान्तमोहः पञ्चकर्मोदीरको भूत्वा प्रतिपतन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके समागतः सन् षण्णामुदीरको भवति, ततोऽपि प्रतिपतन् प्रमत्तसंयतगुणस्थानादौ समागत आयुष्यावलिकावशेषे सप्तानां, तत ऊर्ध्वं परभवेऽष्टानां, द्विकोदीरकस्तु क्षीणमोहः सयोगिकेवली च, न चानयोरेकतरोऽपि प्रतिपतति, ततस्तदपेक्षया न भूयस्कार इति त्रय एव भूयस्काराः, चत्वारोऽल्पतराः, पञ्चावस्थिताः, अवक्तव्यस्त्वत्रापि न विद्यते, न हि सर्वमूलप्रकृत्यनुदीरको भूत्वा भूयोऽप्युदीरको भवति, सर्वकर्मानुदीरको हि भगवानेकोऽयोगिकेवली, न च तस्य प्रतिपातः। तथा त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः। अत्रैकोऽपि भूयस्कारो न भवति, न हि सप्तसत्ताको भूत्वा भूयोऽप्यष्टसत्ताको भवति, नापि चतुःसत्ताको भूत्वा भूयः सप्तसत्ताकः, सप्तादिसत्ताको हि क्षीणमोहादिर्भवति, न च तस्य प्रतिपातसम्भवः, द्वावल्पतरौ, त्रयोऽवस्थिताः, अवक्तव्यस्त्वत्रापि न विद्यते, क्षीणाशेषकर्मणां भूयः कर्मसत्ताया असम्भवात् ॥१४॥

उत्तरभेदानधिकृत्याह—

बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं। सेसाणेगमवट्ठियबंधो सव्वत्थ ठाणसमो ॥१५॥

(स्वो०)—बन्धस्थानानि त्रीणि दशाष्टौ यथासङ्ख्येन दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भवन्ति। शेषाणां ज्ञानान्तरायायुर्गोत्रवेदनीयानां

एकं बन्धस्थानं समुदितानां, नव षट् चतसृणां प्रकृतीनां बन्धात्त्रिधैव दर्शनावरणस्य बन्धः, द्वाविंशत्येकविंशतिसप्तदशत्रयोदशनवपञ्चचतुस्त्रिद्व्येकप्रकृतिबन्धाद्दश मोहनीयबन्धस्थानानि, त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशदेकप्रकृतिबन्धादष्टौ नाम्नो बन्धस्थानानि, ज्ञानान्तराययोरेकं, पञ्चानामपि सहचरितत्वात्, गोत्रायुर्वेदनीयानां तु तदन्यतरस्याः प्रकृतेर्बन्धादेकैकं स्थानम्, अवस्थितिबन्धाः सर्वत्र मूलोत्तरप्रकृतिषु स्थानतुल्याः, यत्र यावन्ति स्थानानि, तत्र तावन्तोऽवस्थितबन्धा इति गाथार्थः ॥१५॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता मूलप्रकृतीनां बन्धोदयोदीरणासत्तास्थानेषु भूयस्कारादयः, सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां तानभिधित्सुः प्रथमतो बन्धस्थानान्याह–दर्शनावरणमोहनाम्नां–दर्शनावरणीयमोहनीयनामकर्मणां यथासंख्यं बन्धस्थानानि त्रीणि दशाष्टौ च भवन्ति। शेषाणां–ज्ञानावरणान्तरायवेदनीयगोत्रायुषामेकं–एकैकं बन्धस्थानं, अवस्थितबन्धः सर्वत्रापि स्थानसमो–बन्धस्थानसमो वेदितव्यः। इयमत्र भावना–दर्शनावरणीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा–नव षट् चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकरहिताः षट्, ता एव षट् निद्राप्रचलाहीनाश्चतस्रः। अत्र द्वौ भूयस्कारौ, द्वौ चाल्पतरौ, त्रयोऽवस्थिताः, एते सर्वेऽपि सुगमाः। चतुःषट्करूपौ द्वाववक्तव्यबन्धौ, तौ चाग्रे वक्ष्येते। मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि, तद्यथा–द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश, त्रयोदश, नव, पञ्च, चतस्रः, तिस्रः, द्वे, एका च। तत्र द्वाविंशतिकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ, एकविंशतिकं सासादने, सप्तदशकं मिश्रेऽविरतसम्यग्दृष्टौ च, त्रयोदशकं देशविरते, नवकं प्रमत्ताप्रमत्तयोरपूर्वकरणे च, पञ्चादीनि त्वेकपर्यन्तान्यनिवृत्तिबादरे। अत्र भूयस्कारा नव, ते चोपशमश्रेणितः प्रतिपाते संज्वलनलोभरूपैकप्रकृतिबन्धादारभ्य क्रमेण वेदितव्याः, अष्टावल्पतराः, कथं? इति चेत्, उच्यते–इह द्वाविंशतिबन्धादेकविंशतिबन्धे गमनं न सम्भवति, नाप्येकविंशतिबन्धात्सप्तदशबन्धे, यतो द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टौ, एकविंशति-

बन्धः सासादने, सप्तदशबन्धो मिश्रेऽविरतसम्यग्दृष्टौ वा, न च मिथ्यादृष्टिः सासादनभावमुपगच्छति, नापि सासादनः सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं वा, किंतु नियमतो मिथ्यात्वं, ततो द्वाविंशतिबन्धादेकविंशतिबन्ध एकविंशतिबन्धाद्वा सप्तदशबन्धे गमनासम्भवादष्टावेवाऽल्पतराः । अवस्थितबन्धा दश, अवस्थितबन्धः 'सर्वत्रापि बन्धस्थानसम' इति वचनात् । एकसप्तदशप्रकृत्यात्मकौ द्वाववक्तव्यबन्धौ, तौ चोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपाते यथासम्भवस्तथाग्रे भावयिष्यते । नाम्नो बन्धस्थानान्यष्टौ, तद्यथा—त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशत्, एकत्रिंशत्, एका च । एतानि च नानाजीवानाश्रित्य नानाप्रकाराणीति संक्षेपतो दर्शयितुं न शक्यन्ते. केवलं सूत्रकृदेवाग्रे सप्ततिकासङ्ग्रहे सप्रपञ्चमभिधास्यतीति तत एवावधारणीयानि । अत्र भूयस्काराः षट्, त्रयोविंशत्यादेः पञ्चविंशत्यादिष्वेकत्रिंशत्पर्यवसानेषु गमनसम्भवात् । अल्पतराः सप्त, तथाहि—देवत्वं प्राप्तस्यैकत्रिंशतस्त्रिंशतिगमनं सम्भवति, तस्यैव देवभवाच्च्यवमानस्यैकोनत्रिंशत्, तथा क्षपकश्रेण्यारोहे उपशमश्रेण्यारोहे वा अष्टाविंशत्यादेरेकस्यां नानाजीवानां यथायोगं त्रिंशदादेस्त्रयोविंशत्यन्तेषु गमनं, ततः सप्ताल्पतराः, अवस्थितबन्धा अष्टौ, अवक्तव्यकबन्धास्त्रयः, ते च पुरस्तादभिधास्यन्ते ॥

भूओगारा दो नव छ यप्पतरा दुगट्ठ सत्त कमा । मिच्छाओ सासणत्तं न एक्कतीसेक्कगुरु जम्हा ॥१६॥

(स्वो०)—भूताकारा द्वौ नव षट्, अल्पतरा द्वौ अष्टौ सप्त क्रमात्—क्रमेण दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भवन्ति । दर्शनचतुष्कबन्धात् संज्वलनलोभबन्धाच्च प्रतिपतितस्य दर्शनावरणस्य द्वौ, मोहनीयस्य नव, भूताकारबन्धा भवन्ति, ते च सुगमाः, श्रेणीमारोहतो द्वावल्पतरौ दर्शनावरणस्य, अष्टौ मोहनीयस्य, यतो मिथ्यात्वगुणात् साखादनगुणे द्वाविंशतिबन्धकान्नैकविंशतिबन्धकं प्रतिपद्यते, अतोऽष्टावल्पतराः, नाम्नो भूताकाराः षट्, अल्पतराः सप्त, यतो भूताकारा षट् क्रमेण भवन्ति, न सप्तमः, प्रतिप्रततोऽपि तस्यान्यत्र गतत्वा-

देकत्रिंशद् बन्धस्य। अल्पतरा अप्येकत्रिंशद्बन्धादुभयत्रस्थबन्धेषु गमनात् सप्त भावनीयाः। शेषेषु भूताकाराऽल्पतरौ न भवतः, अवस्थितिबन्धो बन्धस्थानसमः प्रतिपादित एवेति गाथार्थः ॥१६॥

(मलय०)—सम्प्रति भूयस्काराल्पतरानेवोक्तसंख्याकान् दर्शयति–दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां क्रमात् यथाक्रमं भूयस्कारा द्वौ नव षट् च। अल्पतरा द्वावष्टौ सप्त। किमुक्तं भवति? द्वौ भूयस्कारौ द्वावल्पतरौ दर्शनावरणस्य, नव भूयस्कारा अष्टावल्पतरा मोहनीयस्य, षट् भूयस्काराः सप्ताल्पतरा नामकर्मणः। अथ कस्मान्मोहनीयस्य नवमोऽल्पतरो न भवति? नाम्नो वा सप्तमोऽपि भूयस्कारः? इत्यत आह–'मिच्छाओ'इत्यादि। यस्मान्न मिथ्यात्वात्सासादनत्वं याति, तस्मादेकविंशतिबन्धरूपोऽल्पतरो न प्राप्यते, ततो मोहनीयस्याष्टावेवाल्पतराः। तथैकत्रिंशद्बन्धादुत्तीर्य य एकप्रकृतिबन्धः क्रियते स एकत्रिंशदपेक्षया गुरुः–भूयस्कारो न भवति, ततः षडेव नाम्नो भूयस्काराः। अथ प्रतिपातकाले एकस्याः प्रकृतेर्बन्धमाधायैकत्रिंशत्प्रकृतिबन्धमपि गच्छति, एकप्रकृत्यपेक्षया चैकत्रिंशत्प्रकृतिबन्धो भूयस्कार इति सप्त भूयस्काराः प्राप्नुवन्ति, युक्तं चैतत्, सप्तानां भूयस्काराणां शास्त्रान्तरेऽप्यभिधानात्। तदुक्तं शतकचूर्णौ—"एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भूयोगारा सत्त"इति। तदयुक्तमेकत्रिंशद्बन्धरूपस्य भूयस्कारस्य प्रागेवाष्टाविंशत्याद्यपेक्षया गृहीतत्वात्, उभयथापि च तस्यैकरूपत्वात्, न चावधिभेदाद्भूयस्कारभेदो विवक्षणीयः, तथा सति भूयस्काराणामतिबाहुल्यप्रसक्तेः। तथाहि—कदाचिदष्टाविंशतेरेकत्रिंशद्बन्धं गच्छति, कदाचिदेकोनत्रिंशतः, कदाचित्त्रिंशतः, कदाचिदेकस्याः, तथा कदाचित्त्रयोविंशतेरप्यष्टाविंशतिबन्धं गच्छति, कदाचित्पञ्चविंशतेरपीत्यादि। तत एवं सप्तभ्योऽतिरिक्ता बहवो भूयस्काराः प्राप्नुवन्ति, न चेष्टं तस्मान्नावधिभेदाद्भूयस्कारभेद इति षडेव भूयस्काराः। अवस्थितबन्धो बन्धस्थानसमः प्रागेव प्रतिपादितः ॥१६॥

अव्यक्तबन्धमाह—

चउ छ दुइए नामंमि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता। इग सत्तरस य मोहे एक्केक्को तइयवज्जाणं ॥१७॥

(स्वो०)—चतुःषट्बन्धो द्वितीये दर्शनावरणे भवतः द्वौ अव्यक्तौ, चतुर्बन्ध उपशमात् भ्रष्टस्य, षड्बन्धोऽमरगतौ गतस्य। नाम्नि त्रयोऽव्यक्तबन्धा एकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकबन्ध इति। एकबन्ध उपशमात् प्रतिपतितस्य, मनुष्यगतियोग्या एकोनत्रिंशत्, तीर्थंकरयोग्या त्रिंशत्, एतौ द्वावव्यक्तौ बन्धावुपशमस्थेन काले कृते सुरगतौ गतस्य। मोहनीयेऽप्युपशमात् प्रतिपतितस्य लोभबन्ध एकविधोऽव्यक्तः, तस्मादेव सुरगतौ गतस्याविरतस्य सतो द्वितीयः सप्तदशेत्यव्यक्तः। एकैको वेदनीयवर्जानां ज्ञानान्तरायायुर्गोत्राणामिति गाथार्थः ॥१७॥

(मलय०)—सम्प्रत्यवक्तव्यबन्धमाह—द्वितीये-दर्शनावरणाख्ये कर्मणि द्वाववक्तव्यकबन्धौ, तद्यथा-चतस्रः षड् च, चतुःप्रकृत्यात्मकः षट्प्रकृत्यात्मकश्चेत्यर्थः। तथाहि-सर्वप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति यदा भूयोऽपि बन्धो भवति, तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यकबन्धसम्भवः, एतच्च प्रागेवोक्तं, सर्वप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदश्च दर्शनावरणस्योपशान्तमोहगुणस्थानकादौ सम्भवति, नान्यत्र, उपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपातो द्विधा, तद्यथा-अद्धाक्षयेण भवक्षयेण च। तत्राद्धाक्षय उपशान्तमोहगुणस्थानकपरिसमाप्तिः, भवक्षयो मरणम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् येनैव क्रमेणारूढस्तेनैव प्रतिपतति, भवक्षयेण च प्रतिपतन् प्रथमसमय एवाविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो भवति, तत्र यदोपशान्तमोहगुणस्थानकादद्धाक्षयेण प्रतिपतन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके प्रविशति, तदा प्रथमसमय एव दर्शनावरणचतुष्टयबन्धमायातीति प्रथमसमये चतुष्प्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्यबन्धः, यदा तु भवक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपतन् दिवमधिरोहति, तदा तस्य

अवक्तव्य बन्धः

प्रथमसमय एव सञ्जाताविरतसम्यग्दृष्टेर्दर्शनावरणषट्कं बध्नतः षट्प्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्यबन्धः। तथा नाम्नि–नामकर्मणि त्रयोऽवक्तव्या–अवक्तव्यबन्धास्तद्यथा–एका १ एकोनत्रिंशत् २९ त्रिंशत् ३०। तत्र यदोपशान्तमोहगुणस्थानकाद्द्धाक्षयेण प्रतिपातमारभते, तदा सूक्ष्मसम्पराये प्रविशतः प्रथमसमय एव यशःकीर्तिमेकां बध्नत एकप्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्यबन्धः, यदा तु भवक्षयेण प्रतिपत्य देवत्वेनोत्पद्यते, तदा मनुष्यगतिप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमय एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्यबन्धः, तामेवैकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकः। तथा मोहे मोहनीये द्वाववक्तव्यबन्धौ, तद्यथा–एका सप्तदश च, एकप्रकृत्यात्मकः सप्तदशप्रकृत्यात्मकश्चेत्यर्थः। तत्राद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपाते सूक्ष्मसम्परायं गुणस्थानकं प्रविशतः सञ्ज्वलनलोभं बध्नतः प्रथमसमये सञ्ज्वलनलोभरूपैकप्रकृत्यात्मकः, भवक्षयेण च प्रतिपत्य दिवं गतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः प्रथमसमये एव जायते, ततोऽविरतसम्यग्दर्शनप्रत्ययाः सप्तदशप्रकृतीर्बध्नतस्तस्य प्रथमसमये सप्तदशप्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्यबन्धः। तथा तृतीयवर्जानां वेदनीयवर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणीयान्तरायायुर्गोत्ररूपाणां चतुर्णां कर्मणामेकैकोऽवक्तव्यबन्धः। तत्र ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य चोपशान्तमोहगुणस्थानकादद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रतिपाते पञ्च पञ्च प्रकृत्यात्मकः प्रथमसमये एकैकोऽवक्तव्यबन्धः। उपशान्तमोहगुणस्थानकादेव द्विधापि प्रतिपतितस्योच्चैर्गोत्रं बध्नतः प्रथमसमय उच्चैर्गोत्रप्रकृत्यात्मक एको गोत्रस्याऽवक्तव्यबन्धः। आयुषो बन्धारम्भे तां तामायुःप्रकृतिं बध्नतः प्रथमसमये तत्तदेकप्रकृत्यात्मक एकोऽवक्तव्यबन्धः। वेदनीयस्य त्ववक्तव्यबन्धः सर्वथाऽनुपपन्नो, वेदनीयस्य बन्धव्यवच्छेदे भूयो बन्धासम्भवात्, तथाहि–वेदनीयस्य बन्धव्यवच्छेदोऽयोगित्वावस्थायां, न च ततः प्रतिपातो येन भूयोऽपि बन्धारम्भसम्भवः, ततः सर्वथा बन्धव्यवच्छेदे भूयो बन्धानारम्भादवक्तव्यबन्धो वेदनीयस्य न सम्भवतीति तद्वर्जनम् ॥१७॥

सामान्योत्तरप्रकृतीनां बन्धस्थानानि अभिधातुकाम आह—

इगसयरेगुत्तर जा दुवीस छव्वीस तह तिपन्नाइं। जा चोवत्तरि बावट्ठिरहियबंधाओ गुणतीसं ॥१८॥

(स्वो०)—एकोनत्रिंशद् बन्धस्थानान्युत्तरप्रकृतीनां, अवस्थितबन्धा अप्येतावन्त एव, अत्राप्यव्यक्तबन्धो नास्ति, भूताकारा अष्टाविंशतिरुपशान्तकषायतः प्रतिपततः, अल्पतराः अप्यष्टाविंशतिः तदेव स्थानमारोहतः। एतदेव भाव्यते—उपशान्तः सातवेदनीयस्य बन्धकस्तस्माद् भ्रष्टः सूक्ष्मकषायित्वं गतः षण्णां मौलानां सप्तदशानामुत्तरप्रकृतीनां बन्धो भवति, सातोच्चयशःकीर्त्तिदर्शनावरणचतुष्कज्ञानान्तरायदशकमिति, भूयो बादरकषायित्वे लोभमायामानक्रोधपुंवेदबन्धकादष्टादशादिद्वाविंशतिपर्यवसानान् पञ्च बन्धान् करोति, अपूर्वकरणे भयजुगुप्सायुगलबन्धात् षड्विंशतिर्भवति, नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धके तस्मिन्नेव त्रिपञ्चाशद् भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धके चतुष्पञ्चाशत्, त्रिंशद्बन्धके पञ्चपञ्चाशत्, एकत्रिंशद्बन्धके षट्पञ्चाशत्, निद्राद्विकत्रिंशद्बन्धके सप्तपञ्चाशत्, निद्राद्विकैकत्रिंशद्बन्धके अष्टपञ्चाशदपूर्वकरणे, तथाभूतस्याप्रमत्तस्य देवायुर्बन्धे एकोनषष्टिर्भवति, नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकस्य चतुःकषायवृद्धौ देशविरतस्य षष्टिर्भवति, नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यैकषष्ठिरिति, नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकस्यायुरबन्धे चतुःकषायबन्धे त्रिषष्ठिरविरतस्य, द्वाषष्ठिर्न सम्भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धके चतुःषष्ठिः, त्रिंशद्बन्धके पञ्चषष्ठिः, तस्मिन्नेवायुर्बन्धके षट्षष्ठिर्भवति, मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कनामत्रयोविंशतिबन्धात् सप्तषष्ठिर्भवति, पञ्चविंशतिबन्धादेकोनसप्ततिः, आयुरबन्धे सैवाष्टषष्ठिर्भवति, षड्विंशतिरायुर्बन्धात् सप्ततिर्भवति, अष्टाविंशतिबन्धात् द्वासप्ततिः, सैवायुरबन्धादेकसप्ततिर्भवति, एकोनत्रिंशदायुर्बन्धात् त्रिसप्ततिः, त्रिंशद् बन्धाच्चतुःसप्ततिरुत्कृष्टतः। १–१७–१८–१९–२०–२१–२२–२६–५३–५४–५५–५६–५७–५८–५९–६०–६१–६३–६४–६५–६६–६७–६८–६९–७०–७१–७२–

७३–७४ । एतेषु च केचन भूयो भूयः सम्भवन्ति, तैर्नात्र प्रयोजनम्, तुशब्दात् यत्रोत्तरं नाभिहितं तत्रैकोत्तरा राशयो ग्राह्याः । तथाशब्द इति यथा बन्धे तथोदयेष्वपि स्वबुद्धया ज्ञेयम् । ज्ञानान्तरायायुर्वेदनीयगोत्राणामेकैकमुदयस्थानं। दर्शनावरणस्य द्वे–चतुः पञ्च वा, नव मोहनीयस्यैकद्विकचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशेति। नाम्नो द्वादशोदयस्थानानि–अष्ट नव विंशतिरेकविंशतिः चतुर्विंशतिरतः एकवृद्धया यावदेकत्रिंशत्, तावन्नेतव्यानि, ८–९–२०–२१–२४–२५–२६–२७–२८–२९–३०–३१ । अवस्थितोदयाः सर्वत्र स्थानतुल्याः, अव्यक्तोदया मोहनीयस्यैव नान्येषां तेऽपि पञ्च भवन्ति, एकषद् सप्ताष्टौ नव इति । तत्रैकः लोभोदय उपशान्तात्पततः, शेषास्तस्यैवामरगतौ त्रिकषायपुंयुग्मभयजुगुप्सासम्यक्त्वोदयेष्विति । दर्शनावरणे भूताकारोऽल्पतरश्चैकः, तौ मोहनीयेऽष्टावष्टौ । नाम्नि अष्टौ भूताकारोदयाः, यतोऽष्टौ भूत्वा न नवोदयो न च तस्मादपि विंशत्यादिः, तस्मादपि नैकविंशतिः, तदादिका अष्टौ भवन्ति संसारिणां समुद्घाते (च । अल्पतरास्तु नव भवन्ति, नवोदयान्नाष्टकोदयः, नाप्येकविंशत्युदयाद्विंशत्युदयः,) पञ्चविंशतिचतुर्विंशत्युदयौ नापचये भवतः, ततस्तौ संसारिष्वपचये नैव भवतः, तीर्थङ्करायोगिप्रतिपत्तौ स्वरादुच्छ्वासात् पराघातविहायोगतिभ्यां प्रत्येकोपघातौदारिकद्विकसंस्थानसंहननेभ्यो ध्रुवोदयिभ्यो निरोधाद् भावयेदिति ।

(मलय०)—तदेवमुक्ताः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां बन्धस्थानेषु भूयस्कारादयः । सम्प्रति सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां बन्धस्थानेषु वक्तव्याः, तत्र प्रथमतः सामान्येन सर्वोत्तरप्रकृतीनां बन्धस्थानानि प्रतिपादयति—सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां बन्धस्थानान्येकोनत्रिंशत्, तद्यथा–एका, सप्तदश, तत ऊर्ध्वं 'इगुत्तर'त्ति–एकोत्तराणि बन्धस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावद् द्वाविंशतिः, तद्यथा–अष्टादश, एकोनविंशतिः, विंशतिः, एकविंशतिः, द्वाविंशतिः, तथा षड्विंशतिः, 'तह' त्ति–तथा तेनैव प्रकारेणैकोत्तरवृद्धिरू-

पेण त्रिपञ्चाशदादीनि बन्धस्थानानि क्रमेण द्विषष्ठिवर्जानि तावद्वक्तव्यानि यावच्चतुःसप्ततिः, तद्यथा–त्रिपञ्चाशत्, चतुःपञ्चाशत्, पञ्चपञ्चाशत्, षट्पञ्चाशत्, सप्तपञ्चाशत्, अष्टपञ्चाशत्, एकोनषष्ठिः, षष्ठिः, एकषष्ठिः, त्रिषष्ठिः, चतुःषष्ठिः, पञ्चषष्ठिः, षट्षष्ठिः, सप्तषष्ठिः, अष्टषष्ठिः, एकोनसप्ततिः, सप्ततिः, एकसप्ततिः, द्वासप्ततिः, त्रिसप्ततिः, चतुःसप्ततिश्च । १, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २६, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४। अत्र भूयस्कारादयः स्वयमेव ज्ञातव्याः, ते चैवम्–अष्टाविंशतिर्भूयस्काराः, तद्यथा–एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमुपशान्तमोहगुणस्थानकादौ, तत उपशान्तमोहगुणस्थानकात्परिभ्रंशे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमागतस्य ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाः षोडश प्रकृतीरधिका बध्नतः सप्तदशप्रकृत्यात्मक एको भूयस्कारः, ततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं प्रविशतः प्रथमतः सञ्ज्वलनलोभमेकमधिकं बध्नतोऽष्टादशप्रकृत्यात्मको द्वितीयो भूयस्कारः, ततो मायामपि बध्नत एकोनविंशतिप्रकृत्यात्मकस्तृतीयः, ततः सञ्ज्वलनमानमपि बध्नतो विंशतिप्रकृत्यात्मकश्चतुर्थः, तदनन्तरं सञ्ज्वलनक्रोधमप्युपचिन्वत एकविंशतिप्रकृत्यात्मकः पञ्चमः, तस्मादपि स्थानादधोऽवतरतः पुरुषवेदमपि बध्नतो द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकः षष्ठः, तदनन्तरं क्रमेणापूर्वकरणगुणस्थानकं प्रविशतो भयजुगुप्साहास्यरतिरूपप्रकृतिचतुष्टयमधिकं बध्नतः षड्विंशतिप्रकृत्यात्मकः सप्तमो भूयस्कारः, ततस्तस्मिन्नेवापूर्वकरणगुणस्थानके क्रमेणाधोऽवतरतो नाम्नोऽष्टाविंशतिं बध्नतो यशःकीर्त्तिव्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशतिप्रकृतयोऽधिका अत्र प्राप्यन्ते, इति त्रिपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मकोऽष्टमो भूयस्कारः, तस्यैव तीर्थकरनामसहितां देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतश्चतुःपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मको नवमः, आहारकद्विकसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मको दशमः, आहारकद्विकतीर्थकरनामसहितामेकत्रिंशतं बध्नतः षट्पञ्चाशत्प्रकृत्यात्मक

एकादशः, ततस्तस्मिन्नेवापूर्वकरणगुणस्थानकेऽधस्तादवतरतो नामत्रिंशता सह निद्राद्विकं बध्नतः सप्तपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मको द्वादशो भूयस्कारः, एकत्रिंशता सह निद्राद्विकं बध्नतोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मकस्त्रयोदशः, ततोऽप्रमत्तगुणस्थानके समागतस्य तामेवाष्टपञ्चाशतं देवायुषा सह बध्नत एकोनषष्टिप्रकृत्यात्मकश्चतुर्दशः, ततो देशविरतिगुणस्थानकमागतस्य नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकस्य प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्टयमधिकं बध्नतः षष्टिप्रकृत्यात्मकः पञ्चदशो भूयस्कारः, तस्यैव नाम्नः एकोनत्रिंशतं बध्नत एकषष्टिप्रकृत्यात्मकः षोडशः, ततोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमागतस्य नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकस्यायुरबन्धेऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयस्याधिकस्य बन्धे त्रिषष्टिप्रकृत्यात्मकः सप्तदशो भूयस्कारः, इह प्रकारान्तरासम्भवात् द्विषष्टिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं सर्वथा न सम्भवतीति तदात्मको भूयस्कारो न लभ्यते, ततस्तस्यैवाविरतसम्यग्दृष्टेर्नाम्नि एकोनत्रिंशतं बध्नतश्चतुःषष्टिप्रकृत्यात्मकोऽष्टादशो भूयस्कारः, तस्यैव मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चषष्टिप्रकृत्यात्मक एकोनविंशतितमः, तस्यैवायुर्बन्धकस्य षट्षष्टिप्रकृत्यात्मको विंशतितमः, ततो मिथ्यात्वं गतस्य नाम्नस्त्रयोविंशतिं बध्नत आयुर्बन्धकस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयस्त्यानर्द्धित्रिकमुपचिन्वानस्य सप्तषष्टिप्रकृत्यात्मक एकविंशतितमः, तस्यैव पञ्चविंशतिबन्धकस्यायुरबन्धेऽष्टषष्टिप्रकृत्यात्मको द्वाविंशतितमः, तस्यैव पञ्चविंशतिबन्धकस्यायुषो बन्धे एकोनसप्ततिप्रकृत्यात्मकस्त्रयोविंशतितमः, तस्यैव मिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिबन्धकस्यायुषो बन्धे सप्ततिप्रकृत्यात्मकश्चतुर्विंशतितमः, तस्यैव नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकस्यायुरबध्नत एकसप्ततिप्रकृत्यात्मकः पञ्चविंशतितमः, तस्यैवायुर्बन्धकस्य द्वासप्ततिप्रकृत्यात्मकः षड्विंशतितमः, तस्यैव मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतमायुश्च बध्नतस्त्रिसप्ततिप्रकृत्यात्मकः सप्तविंशतितमः, तस्यैव नाम्नस्त्रिंशतं बध्नत आयुर्बन्धकस्य चतुःसप्ततिप्रकृत्यात्मकोऽष्टाविंशतितमो भूयस्कारः। इह केचन भूयस्कारा अन्यतश्च बन्धस्थानाद्भूयो भूयः संभवन्ति ते नात्राधिक्रियन्ते, एकवारं गृहीतत्वात्, ततो-

बन्धेषु भूयस्कारादयः

ऽष्टाविंशतिरेव भूयस्काराः । एवमल्पतरा अप्यष्टाविंशतिः, तेऽपि भूयस्कारान् परिभाव्य तत्प्रकृत्युत्सारणतः स्वयमेव परिभावनीयाः । अवस्थितबन्धा एकोनत्रिंशत्, "सर्वत्रैव बन्धस्थानसमोऽवस्थितबन्ध" इति वचनप्रामाण्यात् । अवक्तव्यबन्धः पुनरत्र सर्वथाऽनुपपन्नो, न खलु सर्वोत्तरप्रकृतीनामबन्धको भूत्वा भूयो बन्धको भवति । तदेवमुक्ताः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां च बन्धस्थानेषु भूयस्कारादयः । संप्रत्युदयस्थानेषु वक्तव्याः, तत्र प्रथमतः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भावनीयाः, ते चैवं–ज्ञानावरणीयवेदनीयायुर्गोत्रान्तरायाणामेकैकमुदयस्थानं, तद्यथा–ज्ञानावरणीयस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्च पञ्च प्रकृत्यात्मकं. वेदनीयायुर्गोत्राणामेकैकप्रकृतिरूपं, न हि वेदनीयादीनामेककालं द्वित्रादिकाः प्रकृतय उदयमधिगच्छन्ति । दर्शनावरणीयस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–चतस्रः पञ्च, तत्र चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाश्चतस्रः, ता एव निद्रापञ्चकान्यतमप्रकृतिसहिताः पञ्च, निद्रादयो हि द्वित्रादिका नोदयमायान्ति, उदयमधिकृत्य तासां परावर्त्तमानत्वात्, ततो द्वे एव यथोक्तरूपे उदयस्थाने । अत्रैको भूयस्कारः, एकोऽल्पतरः, द्वाववस्थितौ, यस्त्ववक्तव्यकोदयः, स च सर्वथा न घटते, यतो दर्शनावरणस्य सर्वप्रकृत्युदयव्यवच्छेदः क्षीणमोहे, न च तत्र सर्वप्रकृत्युदयव्यवच्छेदे सति भूय उदयः सम्भवति, क्षीणमोहस्य प्रतिपाताभावात् । मोहनीयस्य च नवोदयस्थानानि, तद्यथा–एका द्वे चतस्रः पञ्च षट् सप्ताष्टौ नव दश १, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, । अमूनि सर्वाण्यप्युदयस्थानानि स्वयमेवाग्रे सूत्रकृत् भावयिष्यति, ततो नेदानीं भाव्यन्ते । अत्राष्टौ भूयस्काराः, अष्टावल्पतराः, नवावस्थिताः, अवक्तव्योदयाः पञ्च, तद्यथा–एका षट् सप्ताष्टौ नव । तत्र यदोपशान्तमोहगुणस्थानकादद्धाक्षयेण प्रतिपतति, तदा सूक्ष्मसम्परायं प्रविशत एकः सञ्ज्वलनलोभः प्रथमत उदयमायाति, ततस्तस्य प्रथमसमये सञ्ज्वलनलोभरूपैकप्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्योदयः, यदा तु भवक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्र-

त्पिपतति, तदा स प्रथमसमय एवाविरतसम्यग्दृष्टिरुपजायते, स च यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टिः न च भयजुगुप्सा च तस्योदयमायाति, तदा तस्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनलक्षणक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः पुरुषवेदो हास्यरतियुगलमिति षट् प्रकृतय उदये प्राप्यन्ते, इति प्रथमसमये षट्प्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्योदयः, यदि पुनः स क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न भवति, ततः प्रथमसमय एव क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं वेदयते, यदि वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपि सन् भयं जुगुप्सां वाधिकामनुभवति, तदा सप्तप्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्योदयः, यदा तु क्षायिकसम्यक्त्वाभावे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वभययोः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वजुगुप्सयोर्वा, अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरपि सतो भयजुगुप्सयोरुदयो भवति, तदाऽष्टप्रकृत्यात्मकोऽवक्तव्योदयः, यदि पुनः क्षायिकसम्यक्त्वाभावे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानामुदयस्तर्हि नवप्रकृत्यात्मक इति । नाम्न उदयस्थानानि द्वादश, तद्यथा–विंशतिः, एकविंशतिः, चतुर्विंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, सप्तविंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशत्, एकत्रिंशत्, नव, अष्टौ च । २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, ८ । एतान्यपि चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यतीति नेह वित्रियन्ते, पुनरुक्त्यापत्तितो ग्रन्थगौरवदोषप्रसङ्गात् । अत्राष्टौ भूयस्कारोदयाः, यतो नाष्टोदयान्नवोदयमधिगच्छति, नापि नवोदयाद्विंशत्युदयं, न चापि विंशत्युदयादेकविंशतिं, किन्त्वेकविंशत्युदयस्थानादारभ्य यथायोगं संसारे समुद्घाते वा चतुर्विंशत्यादीन्युदयस्थानान्यधिरोहति, ततोऽष्टावेव भूयस्कारोदयाः । अल्पतरोदया नव, कथं? इति चेत्, उच्यते–इह न नवकोदयादष्टकोदयं याति, नाप्येकविंशत्युदयाद्विंशत्युदयं, न चापि पञ्चविंशत्युदयस्थानाच्चतुर्विंशत्युदयस्थानं, चतुर्विंशत्युदयाद्धि संसारी पञ्चविंशत्युदयमाविशति न तु जातुचिदपि पञ्चविंशत्युदयाच्चतुर्विंशत्युदयं, ततो नवसंख्या एवाल्पतरोदयाः, ते च तीर्थङ्करातीर्थङ्करयोः समुद्घातप्रतिपत्तिमयोगित्वप्रतिपत्तिं चाधिकृत्य भाव्यन्ते । तत्र स्वभावस्थस्यातीर्थकृतो मनुष्यगतिः,

पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तकनाम, सुभगनाम, आदेयं, यशःकीर्त्तिः, अगुरुलघु, निर्माणं, तैजसं, कार्मणं, वर्णादिचतुष्टयं, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, वज्रर्षभनाराचसंहननं, उपघातं, प्रत्येकं, औदारिकद्विकं, षण्णां संस्थानानामेकतमत्संस्थानं, पराघातोच्छ्वासान्यतरविहायोगतिसुस्वरदुःस्वरान्यतराणीति त्रिंशत्प्रकृत्युदयः, एष एव तीर्थकरनामसहितस्तीर्थकृत एकत्रिंशत्प्रकृत्युदयः। ततः समुद्घातं कुर्वतोऽतीर्थकृतो द्वितीये समये औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य पराघातोच्छ्वासान्यतरविहायोगतिसुस्वरदुःस्वरान्यतरनिरोधे षड्विंशतिः, तीर्थकृतः पराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरनिरोधे सप्तविंशतिः। षड्विंशतिरेवातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातं प्रविष्टस्य तृतीयसमये कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्योदितसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकद्विकोपघातप्रत्येकरूपप्रकृतिषट्कनिरोधे विंशतिः, अस्मिन्नेव समये तीर्थकृत्केवलिन उक्तरूपप्रकृतिषट्कनिरोध एकविंशतिः। अयोगित्वं प्रतिपद्यमानस्य तीर्थकृतः सैव पूर्वोक्तैकत्रिंशत् स्वरनिरोधे त्रिंशद्भवति, ततोऽप्युच्छ्वासे निरुद्ध एकोनत्रिंशत्। अतीर्थकृतः पूर्वोक्ता त्रिंशत्, स्वरनिरोधे एकोनत्रिंशत्, ततोऽप्युच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशतिः। ततोऽष्टाविंशतेरतीर्थकरकेवलिनोऽयोगित्वप्रतिपत्तिप्रथमसमये पराघातविहायोगतिप्रत्येकोपघातान्यतमसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकद्विकस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णादिचतुष्टयनिर्माणलक्षणविंशतिप्रकृत्युदयव्यवच्छेदेऽष्टकोदयः। तीर्थकरकेवलिन एकोनत्रिंशत उक्तरूपविंशतिप्रकृत्युदयव्यवच्छेदे नवकोदयः। संसारिणां त्वेकत्रिंशदादेरुदयस्थानादेकविंशतिपर्यन्तेषु कतिपयेष्वेवाल्पतरेषूदयस्थानेषु संक्रमणं, तत एवं परिभाव्यमानेऽधिकमल्पतरोदयस्थानं न प्राप्यत इति, नवैवाल्पतरोदयाः। अवस्थितोदया द्वादश, 'अवस्थितोदयाः सर्वत्र स्थानतुल्याः' इति मूलटीकाकारवचनप्रामाण्यात्। अवक्तव्योदयः पुनरत्र सर्वथाप्यसम्भवी, न खलु नामकर्मणः समस्तोत्तरप्रकृत्युदयव्यवच्छेदे पुनरुदयः सम्भवति, सर्वप्रकृत्युदयव्यवच्छेदो हि नाम्नो-

ऽयोगित्वावस्थाचरमसमये, न च ततः प्रतिपात इति कृत्वा ॥१८॥

सामान्योत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानान्याह—

एक्कार बार तिचउक्कवीसिगुणतीसओ य चउतीसा । चउआला गुणसट्ठी, उइयट्ठाणाइं छव्वीसं ॥१९॥

(स्वो०)—एकादश द्वादश त्रयोविंशतिः चतुर्विंशतिः एकोनत्रिंशतो यावच्चतुस्त्रिंशत् चतुश्चत्वारिंशतो यावदेकोनषष्ठिरेवमुदयस्थानानि षड्विंशतिः, ११–१२–२३–२४–२९–३०–३१–३२–३३–३४–४४–४५–४६–४७–४८–४९–५०–५१–५२–५३–५४ ५५–५६–५७–५८–५९। अत्राप्यव्यक्तोदयो नास्ति, यतो (नो)ऽनुदयः, अवस्थितोदयाः षड्विंशतिः, अन्तरालगतौ समुद्घाते च समयद्वयोपलब्धेः, भूताकारा एकविंशतिरल्पतराश्चतुर्विंशतिः ॥१९॥

सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः

(मलय०)—तदेवमुक्ताः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः। सम्प्रति सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु वक्तव्याः, तत्र प्रथमत उदयस्थानान्याह–सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानानि षड्विंशतिः, तद्यथा–एकादश, द्वादश 'तिचउक्कवीस' त्ति–त्रयोविंशतिश्चतुर्विंशतिः, तथैकोनत्रिंशत आरभ्य तावदुदयस्थानानि क्रमेण वक्तव्यानि यावच्चतुस्त्रिंशत्, तद्यथा–एकोनत्रिंशत्, त्रिंशत्, एकत्रिंशत्, द्वात्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशत्, चतुस्त्रिंशत्, तथा चतुश्चत्वारिंशत आरभ्य क्रमेणोदयस्थानानि तावद्वदेत् यावदेकोनषष्ठिः, तद्यथा–चतुश्चत्वारिंशत्, पञ्चचत्वारिंशत्, षट्चत्वारिंशत्, सप्तचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत्, एकोनपञ्चाशत्, पञ्चाशत्, एकपञ्चाशत्, द्विपञ्चाशत्, त्रिपञ्चाशत्, चतुःपञ्चाशत्, पञ्चपञ्चाशत्, षट्पञ्चाशत्, सप्तपञ्चाशत्, अष्टपञ्चाशत्, एकोनषष्ठिः। ११, १२, २३, २४, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४,

५५, ५६, ५७, ५८, ५९ । तत्र मनुष्यगतिर्मनुष्यायुः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगनामादेयं यशःकीर्त्तिरन्यतरवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमित्येकादशप्रकृत्युदयोऽतीर्थकृतः केवलिनोऽयोगित्वस्थायां, एष एव तीर्थकरनामसहितो द्वादशोदयस्तीर्थकृतः । एतावेवोदयौ यथासंख्यमतीर्थकरतीर्थकरकेवलिनोरगुरुलघुनिर्माणस्थिरास्थिरशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णादिचतुष्टयरूपनामध्रुवोदयसहितौ समुद्घातावस्थायां कार्मणकाययोगे त्रयोविंशतिचतुर्विंशत्युदयौ भवतः, न चैतेषूदयस्थानेष्वेकोऽपि भूयस्कारः प्राप्यते, यतो नायोगी सयोगिकेवलितां प्रतिपद्यते, नाप्यतीर्थकरस्तीर्थकरोदयं, अत एकस्याप्येतेषु भूयस्कारस्याभावः। तावेव त्रयोविंशतिचतुर्विंशत्युदयौ प्रत्येकोपघातौदारिकद्विकान्यतमैकसंस्थानप्रथमसंहननसमेतौ यथासंख्यमेकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयौ भवतः । तथा स्वभावस्थयोस्तीर्थकरातीर्थकरयोर्यावेकत्रिंशत्त्रिंशद्रूपौ नाम्न उदयौ, तावन्यतरवेदनीयमनुष्यायुरुच्चगोत्रसमेतौ यथासंख्यं चतुस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशदुदयौ भवतः, तयोः स्वनिरोधे यथाक्रमं त्रयस्त्रिंशद्द्वात्रिंशदुदयौ, तयोरप्युच्छ्वासनिरोधे द्वात्रिंशदेकत्रिंशदुदयौ, एते दशोदयाः केवलिनां, एतेषु च दशसूदयस्थानेषु मध्ये षड् भूयस्कारोदयाः, ते चातीर्थकरतीर्थकरावधिकृत्य क्रमेणैकोनत्रिंशत्त्रिंशदादयो द्रष्टव्याः, शेषास्तु न सम्भवन्ति, तत्र कारणं प्रागेवोक्तम्। नवाल्पतरोदयाः, ते च चतुस्त्रिंशद्वर्जाः शेषाः सर्वेऽपि । चतुश्चत्वारिंशदुदयः क्षीणसप्तकस्याविरतसम्यग्दृष्टेरपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य, तत्र पञ्च ज्ञानावरणानि, पञ्चान्तरायाणि, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाणि चत्वारि दर्शनावरणानि, षड् मोहनीयप्रकृतयः, तद्यथा—अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति सर्वसंख्यया घातिप्रकृतयो विंशतिः, तथा चतसृणां गतीनामन्यतमा गतिः, चतसृणामानुपूर्वीणामन्यतमानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तकनाम, सुभगदुर्भगयोरेकतरं, आदेयानादेययोरेकतरं, यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरा, निर्माणं, अगुरुलघु,

स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, तैजसकार्मणे, वर्णादिचतुष्टयमिति नाम्न एकविंशतिः, चतुर्णामायुषामन्यतममायुः, द्वयोर्वेदनीययोरन्यतरद् वेदनीयं, द्वयोर्गोत्रयोरेकतरं गोत्रमिति सर्वसंकलनेनाघातिप्रकृतयश्चतुर्विंशतिः, घात्यघातिप्रकृत्युदयसमुदाये सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंदुदयः । स एव वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानामन्यतमप्रक्षेपे पञ्चचत्वारिंशत् , वेदकसम्यक्त्वभययोर्यदि वा वेदकसम्यक्त्वजुगुप्सयोरथवा भयजुगुप्सयोः प्रक्षिप्तयोः षट्चत्वारिंशत् , वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सासु युगपत्प्रक्षिप्तासु सप्तचत्वारिंशत् , तथा भवस्थस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्देवस्य नारकस्य वा प्रागुक्ताश्चतुश्चत्वारिंशत् आनुपूर्वीरहिता शरीरस्थस्य वैक्रियवैक्रियांगोपाङ्गप्रत्येकोपघातसमचतुरस्रसंस्थानप्रक्षेपेऽष्टचत्वारिंशत् , ततो वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेप एकोनपञ्चाशत् , वेदकसम्यक्त्वभययोर्यदि वा वेदकसम्यक्त्वजुगुप्सयोरथवा भयजुगुप्सयोः प्रक्षिप्तयोः पञ्चाशत्, वेदसम्यक्त्वभयजुगुप्सासु युगपत्प्रक्षिप्तास्वेकपञ्चाशत् , यदि वा प्रागुक्तैव चतुश्चत्वारिंशदानुपूर्वीरहिता भवस्थस्य तिरश्चो मनुष्यस्य वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौदारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननोपघातप्रत्येकलक्षणप्रकृतिषट्कप्रक्षेप एकोनपञ्चाशत्, सैव वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेपे पञ्चाशत्, अन्यतमप्रकृतिद्वयप्रक्षेप एकपञ्चाशत्, त्रयस्यापि प्रक्षेपे द्विपञ्चाशत्, निद्राप्रक्षेपे त्रिपञ्चाशत्, अथवा सैव देवनारकयोग्याऽष्टाचत्वारिंशत् , शरीर पर्याप्त्या पर्याप्तस्य देवस्य नारकस्य वा क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पराघातान्यतरविहायोगतिप्रक्षेपे पञ्चाशत् , ततो वेदसम्यक्त्वभयजुगुप्सानामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेप एकपञ्चाशत्, अन्यतमद्वयप्रक्षेपे द्विपञ्चाशत् , त्रयस्यापि प्रक्षेपे त्रिपञ्चाशत्, यदि वा तिरश्चो मनुष्यस्य वा शरीरस्थस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः प्रागुक्तैकोनपञ्चाशत्, शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगतिप्रक्षेपादेकपञ्चाशत् , ततो वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानिद्राणामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेपाद् द्विपञ्चाशत् , अन्यतमद्वयप्रक्षेपे त्रिपञ्चाशत्, अन्यतमत्रयप्रक्षेपे चतुःपञ्चाशत्,

सर्व्वोत्तर प्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः

चतुष्टयप्रक्षेपे पञ्चपञ्चाशत् , यदि वा तिर्यङ्मनुष्ययोरेव क्षायिकसम्यग्दृष्ट्योरनन्तरोक्तैकपञ्चाशत् प्राणापानपर्याप्तिपरिसमाप्त्यनन्तरमुच्छ्वासोदयप्रक्षेपे द्विपञ्चाशत् , ततो वेदकसम्यक्त्वभयजुगुप्सानिद्राणामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेपे त्रिपञ्चाशत् , अन्यतमप्रकृतिद्वयप्रक्षेपे चतुःपञ्चाशत् , अन्यतमप्रकृतित्रयप्रक्षेपे पञ्चपञ्चाशत् , चतुष्टयप्रक्षेपे षट्पञ्चाशत् , यदि वा प्रागुक्ता प्राणापानपर्याप्तिपर्याप्तियोग्या द्विपञ्चाशत् , भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे क्षिप्ते त्रिपञ्चाशत् , ततो वेदसम्यक्त्वभयजुगुप्सानिद्राणामन्यतमैकप्रकृतिप्रक्षेपे चतुःपञ्चाशत् , अन्यतमप्रकृतिद्वयप्रक्षेपे पञ्चपञ्चाशत् , अन्यतमप्रकृतित्रयप्रक्षेपे षट्पञ्चाशत् , चतुष्टयस्यापि प्रक्षेपे सप्तपञ्चाशत् , तिरश्चोऽधिकृत्योद्योतनाम्नि प्रक्षिप्तेऽष्टपञ्चाशत् , एते चाविरतोदयाः सर्वेऽपि भूयस्कारा अल्पतराश्च सम्भवन्ति, निद्राभयजुगुप्सोद्योतानामध्रुवोदयत्वात् । मिथ्यादृष्टेः षट्चत्वारिंशत्प्रभृतीन्येकोनषष्टिपर्यन्तान्युदयस्थानानि । यानि च वक्ष्यमाणसप्ततिकासंग्रहगतानि नानागतिव्यवस्थितमिथ्यादृष्टिजीवाश्रितान्युदयस्थानानि(तानि)सम्यक् पौर्वापर्येण परिभाव्य प्रागुक्तक्रमेण निद्राभयजुगुप्सोद्योतप्रकृतीनां सञ्चारणतः स्वयमेव ज्ञातव्यानि ।

अथ मिथ्यादृष्टेः सप्तकोदये सत्यपान्तरालगतौ नाम्न एकविंशत्युदये वर्त्तमानस्य पञ्चचत्वारिंशल्लक्षणमुदयस्थानं कस्मान्न भवति ? तदयुक्तं, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् , सप्तकोदयो हि मिथ्यादृष्टेरनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, न चानन्तानुबन्ध्युदयरहितो मिथ्यादृष्टिः कालं करोति, "अणउदयरहियमिच्छे, जोगा दस कुणइ जन्न सो कालं" इति प्रागुक्तवचनप्रामाण्यात् । ततोऽपान्तरालगतौ मिथ्यादृष्टिरनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव प्राप्यते, तथा च सत्यष्टकोदय इति षट्चत्वारिंशदादीन्येव तस्योदयस्थानानि, एकोनषष्टिरूपं तु तस्योदयस्थानं मोहनीयदशकोदये वेदितव्यं, तत्रानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधा-

दिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं, भयं,जुगुप्सा, मिथ्यात्वमिति मोहनीयदशकोदयः, तत्र वर्त्तमानस्य तिर्यग्गतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तकनाम, सुभगदुर्भगयोरेकतरं, आदेयानादेययोरेकतरं, यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्योरेकतरा, वर्णादिचतुष्टयागुरुलघुस्थिरास्थिरशुभाशुभतैजकार्मणनिर्माणौदारिकद्विकान्यतमसंहननान्यतमसंस्थानप्रत्येकोपघातपराघातप्रशस्ताप्रशस्तान्यतरविहायोगतिसुस्वरदुःस्वरान्यतरोच्छ्वासोद्योतरूपनामसत्कैकत्रिंशत्प्रकृत्युदयसहितस्य ज्ञानावरपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्यतमनिद्रोदयोपेतस्यान्यतरवेदनीयान्यतमायुरन्यतरगोत्राण्यनुभवत एकोनषष्टिप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं, अमीषां चोदयस्थानानां मध्ये कानिचिदुदयस्थानानि सासादनमिश्रदेशविरतादिगतान्यन्यथा प्राप्यन्ते, तानि वक्ष्यमाणं सप्ततिकासंग्रहं सम्यक् परिभाव्य स्वयमेव वक्तव्यानि, इह तूदयस्थानसम्भवमात्रप्रदर्शनेन प्रयोजनं, तच्च प्रकृतमित्यलं विस्तरेण। अत्रावक्तव्योदयो न घटते, सर्वप्रकृत्युदयव्यवच्छेदे भूय उदयासम्भवात्। अवस्थितोदयाः षड्विंशतिः, "सर्वत्रावस्थितोदयाः स्थानसमाः" इति वचनप्रामाण्यात्। अथापान्तरालगतौ समुद्घाते वा यान्युदयस्थानान्यधिरोहति, तेषु कथमवस्थितोदयसम्भवः? नैषदोषः, तत्रापि समयद्वयत्रयावस्थानोपपत्तेः। भूयस्कारोदया एकविंशतिरल्पतरोदयाश्चतुर्विंशतिः ॥१९॥

सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः

यत आह—

भूयप्पयरा इगिचउवीसं जन्नेइ केवली छउमं। अजओ य केवलित्तं तित्थयरियरा व अन्नोन्नं ॥२०॥

(स्वो०)—प्रभूताकारा एकविंशतिरल्पतराश्चतुर्विंशतिः, यतः केवली छद्मस्थोदयेषु न याति, न वाऽतीर्थकरस्तीर्थङ्करोदयेऽप्यतः पञ्च प्रभूततरा न भवन्ति। 'अयतः' अविरतो न च केवलित्वं याति, चतुश्चत्वारिंशदुदयात् केवल्युदयेष्वितिभावः, तीर्थङ्करोदयोऽप्यतीर्थ-

करोदयेषु, अतश्चतुर्विंशतिरल्पतरा इति, एतदेव भावयति,–नाम्नः प्रकृत्यष्टकं सातायुरुच्चैः सहैकादशातीर्थकरस्य भवन्ति, तीर्थङ्करस्य तीर्थङ्करेण सह द्वादश, तावुभौ नामध्रुवोदययुक्तौ त्रयोविंशतिचतुर्विंशती भवतः, नात्रैकोऽपि भूताकारः, यतो नायोगी सयोगित्वं याति, तौ प्रत्येकोपघातौदारिकद्विकसंस्थानान्यतरप्रथमसंहननैर्युक्तौ एकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयौ भवतः, तीर्थकरातीर्थकरयोरेकत्रिंशदुदयौ नाम्नः सातायुरुच्चैस्सह चतुस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशदुदयौ भवतः, ताभ्यां स्वरनिरोधे त्रयस्त्रिंशद् द्वात्रिंशद् उदयौ, एताभ्यामुच्छ्वासनिरोधे द्वात्रिंशदेकत्रिंशदुदयौ, ११–१२–२३–२४–२९–३०–३१–३२–३३–३४ एते दश केवलिनामेव, एतेषु षद् प्रभूततराः, अल्पतरा नव नातः प्रतिपतनं। गुणं प्रति चतुश्चत्वारिंशदुदयः क्षायिकाविरतस्य भवान्तरे घातिकर्मणां विंशतिरघातिकर्म्मणां चतुर्विंशतिः, तदुत्तरोदयाः तस्यैव सम्यक्त्वभयजुगुप्सा[शेषोदय]निद्राप्रक्षेपाद् भवन्ति। मिथ्यादृष्टेः षट्चत्वारिंशदाद्या दशोदये एकोनषष्ठिः, मिथ्यादृष्टेः पञ्चचत्वारिंशन्न भवन्ति, तस्य भवान्तरे सप्तकोदयाभावः, भूताकारा अत्राविरतोदयेषु भवन्ति अल्पतराश्च, निद्राभयजुगुप्सानामध्रुवोदयित्वाद् भावयेत्। सत्कर्मणोऽपि ज्ञानान्तराययोरवस्थितसत्कर्मैव। वेदनीयस्यैकमल्पतरं, अवस्थितमप्येकविधस्य सामयिकस्थितित्वात्। गोत्रायुषोः द्वे अवस्थिते, एकं भूताकारं, अल्पतरं च, नास्त्यव्यक्तम्। दर्शनावरणे द्विविधमवस्थितं, चतुःसत्कर्मणः सामयिकत्वात्, द्विविधमल्पतरं, भूताकारमव्यक्तसत्कर्म च नास्ति। मोहनीयस्य पञ्चदश सत्कर्मस्थानानि अष्टसप्तषट्चतुस्त्रिद्व्येकाधिका विंशतिः, त्रिद्व्येकाधिका दश पञ्चचतुस्त्रिद्व्येक इति प्रकृत्यवस्थानाद् पञ्चदशावस्थितानि, चतुर्दशाल्पतराणि, एक एव भूताकारः, यतः–चतुर्विंशतिषड्विंशत्योरष्टाविंशतिर्भवति, नान्यथेति, नास्त्यत्राव्यक्तम्। नाम्नो द्वादश सत्कर्मस्थानानि, त्रिद्विनवतिर्नवाष्टाशीतिरशीतिः नवषड्पञ्चसप्ततिः षडशीतिरष्टसप्ततिर्नवाष्टौ चेति, अत्र दशावस्थितानि नवाष्टसत्कर्मणः सामयिकत्वात्, नास्त्यव्यक्तं, दशाल्पतरस्थानानि, यतः प्रथम-

सव्वोत्तर प्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः

चतुष्काद् द्वितीयचतुष्कगमनेन चत्वारि, द्वितीयचतुष्कात्तु नवाष्टगमने द्वे, चतुर्थस्थानात् प्रथमाध्रुवगमनं तस्मादपि तृतीयगमनमिति द्वे, आहारकचतुष्कोद्वलनेन द्वे, एवं दश, षड्भूताकारा यतः चरमाध्रुवात् क्रमेण प्रथमचतुष्के गमनमष्टाशीत्यादिभ्यो एकोननवत्यां द्विनवतित्रिनवत्योश्च गमनं भवति ॥२०॥

(मलय०)—तथा चाह–भूयस्काराः–भूयस्कारोदया एकविंशतिरल्पतरोदयाश्चतुर्विंशतिः, नोक्तसंख्यातो द्वयानामेकेऽप्यधिकाः, कुतः? इत्याह–यद्यस्मात्कारणान्न केवली छद्म--छद्मोदयान् याति, नाप्ययतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः केवलित्वं–केवलित्वनिबन्धनेषूदयस्थानेषु याति, नाप्यतीर्थकरतीर्थकरावन्योन्यमन्योन्यस्योदयेषु गच्छतः, तत उक्तसंख्याका एव भूयस्कारादल्पतरोदयाः । इयमत्र भावना–न केवली छद्मस्थोदयेषु याति, न चाप्यतीर्थकरस्तीर्थकरोदयं, उपलक्षणमेतत् , तेन नाप्ययोगी सयोगिकेवल्युदयं, तत एकादशद्वादशत्रयोविंशतिचतुर्विंशतिचतुश्चत्वारिंशल्लक्षणानि पञ्चोदयस्थानानि भूयस्कारतया न प्राप्यन्ते, इत्येकविंशतिरेव भूयस्कारोदयाः । तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा न केवल्युदयस्थानमधिरोहति, ततश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणोऽल्पतरोदयो न लभ्यते, आह–चतुस्त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्य तीर्थकृतः केवलिनो भवति, ततो यदा तीर्थकरः केवलित्वमासादयति, तदा चतुश्चत्वारिंशदादीनामन्यतमस्मादुदयस्थानाच्चतुस्त्रिंशदुदयस्थाने संक्रामतीति भवति चतुस्त्रिंशदुदयोऽल्पतरः, तदेतदसमीचीनं, सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। केवलित्वं हि नाम सर्वोऽपि समासादयति गुणस्थानकक्रमेण, नान्यथा, तत्र क्षीणमोहगुणस्थानके त्रयस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकमेकमेवोदयस्थानं, न शेषं । त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयश्चेमाः–मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगनामादेयं यशःकीर्त्तिस्तैजसकार्मणे स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु निर्माणमौदारिकद्विकं प्रत्येकनामोपघातनामान्यतरविहायोगतिः पराघातनाम सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरदुच्छ्वा-

सनाम संस्थानषट्कान्यतममेकं संस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं सातासातान्यतरवेदनीयं मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रमिति । ततः केवलज्ञानोत्पत्तौ सयोगिकेवलिगुणस्थानं प्राप्तः तीर्थकरनामकर्मण उदयतश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणमुदयस्थानमास्कन्दति ततश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणमुदयस्थानं भूयस्कारतयैव प्राप्यते, नाल्पतरतया, यदपि चैकोनषष्ठिरूपमुदयस्थानं तस्यापि नाल्पतरत्वसंभवः, ततोऽन्यस्य महत उदयस्थानस्यासम्भवात् । यदि हि ततोऽपि महदन्यदुदयस्थानं भवेत्, ततस्तस्मात्तत्र संक्रान्तौ तदल्पतरं भवेत्, न च तदस्ति, तस्माच्चतुस्त्रिंशदेकोनषष्ठिरूपौ द्वावुदयावल्पतरौ न भवतः, इति चतुर्विंशतिरल्पतराः । तदेवमुक्ताः सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः ।

संप्रति प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां च सत्तास्थानेषु वक्तव्याः । तत्र प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां स्वयमेव ज्ञातव्याः, ते चैवं-ज्ञानावरणीयस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चपञ्चप्रकृत्यात्मकमेकं सत्तास्थानम् । अत्र द्वितीयं महदल्पं वा सत्तास्थानं न समस्तीति न भूयस्कारालपतरत्वसम्भवः, नाप्यवक्तव्यसत्कर्मता, ज्ञानावरणीयस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासम्भवाभावात् । वेदनीयस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-द्वे एका च । तत्र द्वे अयोग्यवस्थाया द्विचरमसमयं यावत्, एका चरमसमये अत्र न भूयस्कारसत्कर्मता, एकप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानकाद् द्विप्रकृत्यात्मकसत्तास्थाने संक्रमाभावात् । एकमल्पतरं, तच्चैकप्रकृत्यात्मकं, एकं द्विप्रकृत्यात्मकमवस्थितं, एकप्रकृत्यात्मकस्य समयमात्रावस्थायितयाऽवस्थितत्वासम्भवात् । गोत्रायुषोर्द्वे द्वे सत्तास्थानके, तद्यथा-द्वे एका च । तत्र यावत् द्वे अपि गोत्रप्रकृत्यौ सत्यौ तावद् द्वे, यदा पुनस्तेजोवायुभवगतेनोच्चैर्गोत्रमुद्वलितं भवति, नीचैर्गोत्रं वाऽयोग्यवस्थाद्विचरमसमये क्षीणं तदा एका । आयुषोऽपि यावन्नाद्यापि परभायुर्बध्नाति तावदेका प्रकृतिः सती, परभवायुर्बन्धे च द्वे । तत्र गोत्रस्यैकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म, तत्र यदोच्चैर्गोत्रमुद्वल्य नीचैर्गोत्रैकसत्कर्मा सन् भूय उच्चै-

उत्तर प्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्कारा-दयः

गोत्रमवबध्नाति तदा समवसेयम् । एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतरं, तदपि चोच्चैर्गोत्र उद्वलिते नीचैर्गोत्रे वा क्षीणे द्रष्टव्यं, द्वे अवस्थितसत्कर्मणी द्वयोरपि,सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानसम्भवात् । नवरमेकप्रकृत्यात्मके सत्तास्थाने चिरकालमवस्थानमुद्वलितोच्चैर्गोत्रस्य नीचैर्गोत्ररूपे द्रष्टव्यम् । आयुषोऽप्येकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म, तच्च परभवायुर्बन्धारम्भसमये, एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतरसत्कर्म, तच्चानुभूयमानभवायुषः सत्ताव्यवच्छेदे परभवायुष उदयसमये, द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, द्वयोरपि सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानात् । यत्त्ववक्तव्यं सत्कर्म, तदुभयत्रापि न विद्यते, उभयोरपि सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात् । दर्शनावरणीयस्य त्रीणि सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा-नव षट् चतस्रः । तत्र क्षपकश्रेणिमधिकृत्यानिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयान् भागान् यावदुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् नव । क्षपकश्रेणावनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परत आरभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावत् षट्, चरमसमये चतस्रः । अत्र द्वे अल्पतरे, तद्यथा-षट् चतस्रः । द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, तद्यथा-नव षट्, चतुष्प्रकृत्यात्मकं तृतीयं सत्तास्थानमेकसामयिकमिति न तस्यावस्थितत्वसम्भवः । भूयस्कारमवक्तव्यं चात्र न समस्ति, द्वित्रादिप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे वा भूयः सत्तासम्भवाभावात् । मोहनीयस्य पञ्चदश सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादशैकादश पञ्च चतस्रस्तिस्रो द्वे एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः, ततः सम्यक्त्व उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अथवाऽनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिः, अष्टाविंशतेरनन्तानुबन्धिचतुष्टये क्षीणे चतुर्विंशतिः, ततो मिथ्यात्वे क्षीणे त्रयोविंशतिः, ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षीणे द्वाविंशतिः, सम्यक्त्वे क्षीण एकविंशतिः, ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश, ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश,

ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षीण एकादश, ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः, ततः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे, संज्वलनमायायामपि क्षीणायामेका। अत्र पञ्चदशावस्थितसत्कर्माणि, सर्वेष्वपि सत्तास्थानेषु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थानसम्भवात्। चतुर्दशाल्पतराणि, तानि चाष्टाविंशतिवर्जानि शेषाणि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि, एकं भूयस्कारसत्कर्म, ततोऽष्टाविंशतिलक्षणमवसेयं, तथाहि–चतुर्विंशतिसत्तास्थानात् षड्विंशतिसत्तास्थानाद्वा गच्छत्यष्टाविंशतिरूपं सत्तास्थानं, शेषाणि तु सत्तास्थानानि भूयस्कारतया न प्राप्यन्ते, अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वव्यतिरेकेणान्यस्याः प्रकृतेः सत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात्। अवक्तव्यं तु न समस्ति, मोहनीयस्य सर्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे पुनः सत्ताया असंभवात्। नाम्नो द्वादश सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः षडशीतिरष्टसप्ततिर्नवाष्टौ च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः, सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः, त्रिनवतिरेवाहारकाहारकाङ्गोपाङ्गाहारकबन्धनाहारकसंघातनरूपाहारकचतुष्टयरहितैकोननवतिः, द्विनवतिराहारकचतुष्टयहीना अष्टाशीतिः, इदमेकं प्रथमसंज्ञं सत्तास्थानचतुष्टयं, अस्माच्च नामत्रयोदशके क्षयमुपगते क्रमेण द्वितीयं सत्तास्थानचतुष्टयं भवति, तद्यथा–अशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च, इदं द्वितीयसंज्ञं सत्तास्थानचतुष्टयम्। प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्काच्चतुर्थादष्टाशीतिलक्षणात्सत्तास्थानात् देवद्विके नरकद्विके वोद्वलिते षडशीतिः, ततोऽपि देवद्विकसहिते नरकद्विकसहिते वा वैक्रियचतुष्टय उद्वलितेऽशीतिः, ततोऽपि मनुष्यद्विक उद्वलितेऽष्टसप्ततिः, एतानि च त्रिण्यपि सत्तास्थानानि चिरंतनग्रन्थेष्वध्रुवसंज्ञानि व्यवह्रियन्ते। नवप्रकृत्यात्मकं तीर्थकृतः, अतीर्थकृतस्त्वष्टप्रकृत्यात्मकमयोग्यवस्थाचरमसमये सुप्रतीतम्। इहाशीतिलक्षणं सत्तास्थानं द्विधा लभ्यते, तथापि संख्यातस्तुल्यमित्येकमेव गण्यते, ततो द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति। अत्र दशावस्थितस-

त्कर्माणि, नवाष्टसत्तास्थानयोरेकसामयिकतयाऽवस्थितत्वासंभवात् । दशाल्पतरस्थानानि, तद्यथा–प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयाद् द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयगमनेन चत्वारि, द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयान्नवाष्टगमनेन द्वे, प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्कचतुर्थस्थानात्प्रथमाऽध्रुवसत्तास्थानगमने ततोऽपि तृतीयाऽध्रुवसत्तास्थानगमने द्वे, त्रिनवतिद्विनवतिभ्यामाहारकचतुष्टयोद्वलनत एकोननवत्यष्टाशीतिसंक्रान्तौ द्वे एवं सर्वसंख्यया दशाल्पतरसत्तास्थानानि भवन्ति । भूयस्कारसत्तास्थानानि षट्, तद्यथा–भूयो मनुष्यद्विकबन्धनेनाष्टासप्ततेरशीतौ गमनं; ततोऽपि नरकद्विके देवद्विके वा वैक्रियचतुष्टयसहिते भूयोऽपि बध्यमाने षडशीतौ, ततोऽपि देवद्विके नरकद्विके वा पुनरपि बध्यमानेऽष्टाशीतौ, ततोऽपि तीर्थकरनामबन्ध एकोननवत्यां गमनमिति चत्वारि । अष्टाशीतेरेवाहारकचतुष्टयबन्धनेन द्विनवतौ गमनं, ततोऽपि तीर्थंकरनामबन्धे त्रिनवतौ, एवं सर्वसङ्ख्यया षट् । न च शेषात्सत्तास्थानादन्यस्मिन् प्रभूते सत्तास्थाने गमनसम्भवः, तेन षडेव भूयस्कारसत्कर्माणि । यत्त्ववक्तव्यं सत्तास्थानं तदिह न भवति, नाम्नः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तोपादानासम्भवात् ॥२०॥

एक्कारबारसासी इगि चउ पंचाहिया य चउणउई। एत्तो चोद्दसहियसयं पणवीसाओ य छायालं ॥२१॥

बत्तीसं नत्थिसयं एवं अडयाल संत ठाणाणि। जोगिअघाइचउक्के भण खिविउं घाइसंताणि ॥२२॥

(स्वो०)—एकादश द्वादशायोगिस्थानेऽशीत्येकाशीतिचतुःपञ्चाशीतिरेतानि चत्वारि सयोगिनि, अघातिचतुष्कस्य षट् सत्स्थानानि, अतश्चतुर्नवतिस्तस्याः रूपवृध्या यावच्चतुर्दशोत्तरं शतं पञ्चविंशत्यधिकशताद्यावत्षट्चत्वारिंशदधिकं शतं, किन्तु द्वात्रिंशदधिकं शतं नास्ति, एवमष्टचत्वारिंशत् सत्स्थानानि 'भण' कथय सत्कर्मण इति, ११, १२, ८०, ८१, ८४, ८५, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९;

॥२१०॥

१००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६। कथं? क्षिप्त्वा घातिकर्मणां सत्स्थानानि, तान्येव संक्षेपतो दर्श्यन्ते, सयोगिनः सचतुष्कं अघातिसंयोगजं ८०–८१–८४–८५ ज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्कपट्काभ्यां सह जातं ९४–९६–९५–९७–९८–१००–९९–१०१ एतानि क्षीणकषायसत्स्थानानि, एवं लोभेन सूक्ष्मसम्पराये, ९७–९८–१०१–१०२, मायया मानेन क्रोधेन पुरुषवेदेन षट्केन स्त्रीवेदेन नपुंसकेन षोडशकेन कषायाष्टकेन सह वादरकषाये नव चतुष्कानि भवन्ति, अतो मोहनीयसत्कर्मभिरष्टाविंशत्याद्यैर्निद्रात्रिकनामत्रयोदशकयुक्तानि क्षीणकषायसत्स्थानानि षट्चतुष्कप्रमाणानि भवन्ति, अविरतादीनां यत् पञ्चचत्वारिंशदधिकं शतं तदायुर्बन्धे षट्चत्वारिंशदधिकं शतं भवति, वायुतेजस्कायिकेष्वघातिकर्मप्रकृतीनां द्व्यशीति, घातिकर्मणां पञ्चचत्वारिंशदेवं सप्तविंशत्यधिकं शतं, तदेव तिर्यगायुर्बन्धेऽष्टाविंशत्यधिकं शतं भवति, वनस्पतिकायिकानां तु स्थितिक्षयात् क्षीणेषु देवनरकगतियोग्येषु अघातिकर्मसु पञ्चाशीतिः प्रकृतयो भवन्ति, घातिकर्मणां पञ्चचत्वारिंशत्, एवं त्रिंशदुत्तरं शतं तदेवायुर्बन्धे एकत्रिंशदधिकं शतं भवति, एवं प्रकारान्तरसम्भविनः पुनरुक्तस्थानपरित्यागादष्टचत्वारिंशत्सत्स्थानानि। अत्राव्यक्तानि न सन्ति, अवस्थितानि चतुश्चत्वारिंशत्, एकादश द्वादश चतुर्नवतिपञ्चनवतिस्थानानां सामयिकत्वात्, सप्तचत्वारिंशदल्पतराणि, सप्तदश भूताकाराणि, यतः सप्तविंशत्यधिकाच्छतादारभ्य भवन्ति, तत्रापि न त्रयस्त्रिंशदुत्तरं शतं, यतस्तत्राधस्तनसत्स्थानानि च क्षपकेषु भवन्ति, तत्र च भूताकाराणामसम्भवो भाव्य इति गाथाद्वयार्थः ॥२१-२२॥

(मलय०)—तदेवमुक्ताः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्कारादयः। सम्प्रति सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां

तानभिधित्सुः प्रथमतः सत्तास्थानान्याह–सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां सत्तास्थानान्यष्टचत्वारिंशत्, तद्यथा–एकादश, द्वादश, अशीतिः, 'इगिचउ पञ्चाहिया य' त्ति अत्राशीतिः सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः–अशीतेरनन्तरमेकचतुःपञ्चाधिकाऽशीतिर्वक्तव्या, तद्यथा–एकाशीतिश्चतुरशीतिः, पञ्चाशीतिः, ततश्चतुर्नवतिः, 'एत्तो' इत्यादि। अतश्चतुर्नवतेरूर्ध्वमेकोत्तरया वृद्ध्या निरन्तरं तावत्सत्तास्थानानि वाच्यानि यावच्चतुर्दशाधिकं शतं, तद्यथा–पञ्चनवतिः, षण्णवतिः, सप्तनवतिः, अष्टानवतिः, नवनवतिः, शतं, एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतं, त्र्युत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतं, षडुत्तरं शतं, सप्तोत्तरं शतं, अष्टोत्तरं शतं, नवोत्तरं शतं, दशोत्तरं शतं, एकादशोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतं, चतुर्दशोत्तरं शतं, अत ऊर्ध्वं पञ्चविंशाच्छतादारभ्य क्रमेणैकोत्तरया वृद्ध्या तावदभिधातव्यानि सत्तास्थानानि यावत् षट्चत्वारिंशं शतं, नवरं द्वात्रिंशं शतं नास्ति. द्वात्रिंशशतात्मकसत्तास्थानवर्जितान्यभिधातव्यानीत्यर्थः। तद्यथा–पञ्चविंशं शतं, षड्विंशं शतं, सप्तविंशं शतं, अष्टाविंशं शतं, एकोनत्रिंशं शतं, त्रिंशं शतं, एकत्रिंशं शतं, त्रयस्त्रिंशं शतं, चतुस्त्रिंशं शतं, पञ्चत्रिंशं शतं, षट्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंशं शतं, अष्टात्रिंशं शतं, एकोनचत्वारिंशं शतं, चत्वारिंशं शतं, एकचत्वारिंशं शतं, द्विचत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतं, पञ्चचत्वारिंशं शतं, षट्चत्वारिंशं शतम्। एवं सर्वसङ्ख्यया अष्टाचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा—११, १२, ८० ८१, ८४, ८५, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६। अमीषां च सत्तास्थानानां यथा परिज्ञानमुपसम्पद्यते तथोपदेशमाह–योगिनां सयोगिकेवलिनां यदघातिप्रकृतिसत्कं सत्तानस्थानचतुष्टयमशीत्यादिलक्षणं,

उत्तर प्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्कारादयः

॥२११॥

तस्मिन् घातिकर्मसत्कानि सत्तास्थानानि क्रमेण क्षिप्त्वाऽष्टाचत्वारिंशदपि सत्तास्थानानि शिष्येभ्यो भण, प्रतिपादय, एतदेव भाव्यते–अतीर्थंकरकेवलिनोऽयोग्यवस्थाचरमसमय एकादशप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं, तस्मिन्नेव समये तीर्थंकृतो द्वादशप्रकृत्यात्मकं, ताश्च द्वादशप्रकृतय इमाः, तद्यथा–मनुष्यायुर्मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिस्तीर्थंकरनामान्यतरवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमिति । एता एव द्वादश प्रकृतयस्तीर्थंकरनामरहिता एकादश । सयोगिकेवल्यवस्थायामशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अशीतिः, एकाशीतिः, चतुरशीतिः, पञ्चाशीतिः ८०, ८१, ८४, ८५, । तत्राशीतिरियं–देवद्विकमौदारिकचतुष्टयं वैक्रियचतुष्टयं तैजसकार्मणशरीरे तैजसकार्मणबन्धने तैजसकार्मणसंघाते संस्थानषट्कं संहननषट्कं वर्णादिविंशतिः अगुरुलघु पराघातं उपघातनाम उच्छ्वासनाम विहायोगतिद्विकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे सुस्वरदुःस्वरे दुर्भगं अयशःकीर्त्तिः अनादेयं निर्माणं प्रत्येकं अपर्याप्तं मनुष्यानुपूर्वी नीचैर्गोत्रं अन्यतरवेदनीयमित्येकोनसप्ततिः, एकादश च प्रागुक्ताः, ततः सर्वसंख्ययाशीतिर्भवति । सैव तीर्थंकरनामसहितैकाशीतिः । अशीतिरेवाहारकचतुष्टयसहिता चतुरशीतिः । सैव तीर्थंकरनामसमन्विता पञ्चाशीतिः । एतान्येवाशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसहितानि यथाक्रमं चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । तद्यथा–चतुर्नवतिः पञ्चनवतिरष्टानवतिर्नवनवतिः, ९४, ९५, ९८, ९९, एतानि च क्षीणकषायचरमसमये नानाजीवानधिकृत्य प्राप्यन्ते । एतान्येव चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि निद्राप्रचलासहितानि यथाक्रमं षण्णवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । तद्यथा–षण्णवतिः, सप्तनवतिः, शतं, एकोत्तरं शतं, ९६, ९७, १००, १०१, एतानि क्षीणकषायगुणस्थानके द्विचरमसमयं यावन्नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते । एतेष्वेव संज्वलनलोभप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । तद्यथा–सप्तनवतिः,

अष्टानवतिः, एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतं, ९७, ९८, १०१, १०२, एतानि सूक्ष्मसम्पराये लभ्यन्ते। एतेष्वेव संज्वलनमायाप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा–अष्टानवतिः, नवनवतिः, द्व्युत्तरं शतं, त्र्युत्तरं शतं, ९८, ९९, १०२,१०३, एतान्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकपर्यवसाने लभ्यन्ते। ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके तेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु संज्वलनमानप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा–नवनवतिः, शतं, त्र्युत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतं, ९९, १००, १०३, १०४। तत एतेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके संज्वलनक्रोधप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा–शतं, एकोत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतं, १००, १०१, १०४, १०५। ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके पुरुषवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा–एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतं, षडुत्तरं शतं, १०१, १०२, १०५, १०६। ततो हास्यादिषट्कप्रक्षेपे तस्मिन्नेव गुणस्थानकेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा–सप्तोत्तरं शतं, अष्टोत्तरं शतं, एकादशोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतं, १०७, १०८, १११, ११२। ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके स्त्रीवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा–अष्टोत्तरं शतं, नवोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतं, १०८, १०९, ११२, ११३। ततो नपुंसकवेदे तस्मिन्नेव गुणस्थानके प्रक्षिप्तेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा–नवोत्तरं शतं, दशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतं, चतुर्दशोत्तरं शतं, १०९, ११०, ११३, ११४। तत एतेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके नामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकरूपप्रकृतिषोडशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा–पञ्चविंशत्युत्तरं शतं, षड्विंशत्युत्तरं शतं, एकोनत्रिंशं शतं, त्रिंशं शतं, १२५, १२६, १२९, १३०। ततोऽपि तस्मिन्नेव गुणस्थानके अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा–त्रयस्त्रिंशं शतं, चतुस्त्रिंशं शतं, सप्त-

उत्तर प्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्कारादयः

॥२१२॥

त्रिंशं शतं, अष्टात्रिंशं शतं, १३३, १३४, १३७, १३८। तथा यानि पूर्वं क्षीणमोहसत्कानि पण्णवतिः, सप्तनवतिः, शतं, एकोत्तरं शतमिति चत्वारि सत्तास्थानानि प्रतिपादितानि, तेषु मोहनीयद्वाविंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति। तद्यथा—चतुस्त्रिंशं शतं, पञ्चत्रिंशं शतं, अष्टात्रिंशं शतमेकोनचत्वारिंशं शतं, १३४, १३५, १३८, १३९। तेष्वेव क्षीणकषायसत्केषु पण्णवत्यादिषु चतुर्षु सत्तास्थानेषु मोहनीयत्रयोविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा—पञ्चत्रिंशं शतं, षट्त्रिंशं शतं, एकोनचत्वारिंशं शतं, चत्वारिंशं शतं, १३५, १३६, १३९, १४०। तेष्वेव पण्णवत्यादिषु मोहनीयचतुर्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकयोगादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा—षट्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंशं शतं, चत्वारिंशं शतं, एकचत्वारिंशं शतं, १३६, १३७, १४०, १४१। तेष्वेव पण्णवत्यादिषु मोहनीयषड्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा—अष्टात्रिंशं शतं, एकोनचत्वारिंशं शतं, द्विचत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतं, १३८, १३९, १४२, १४३। तेष्वेव पण्णवत्यादिषु मोहनीयसप्तविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा—एकोनचत्वारिंशं शतं, चत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतं, १३९, १४०, १४३, १४४। तेष्वेव पण्णवत्यादिषु मोहनीयाष्टाविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि। तद्यथा—चत्वारिंशं शतं, एकचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतं, पञ्चचत्वारिंशं शतं, १४०, १४१, १४४, १४५, । अमूनि च मोहनीयद्वाविंशत्यादिप्रक्षेपसम्भवीनि चतुस्त्रिंशशतादीनि पञ्चचत्वारिंशशतपर्यन्तानि सत्तास्थानान्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयानि। यच्चानन्तरमुक्तं पञ्चचत्वारिंशशतलक्षणं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्धे षट्चत्वारिंशशतात्मकं सत्तास्थानं भवति। तथा यदा जन्तोस्तेजोवायुभवे वर्त्तमानस्य नाम्नोऽष्टसप्ततिरेकमेव च नीचै-

गोत्रलक्षणं गोत्रं सत्, तदा तस्य ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिरन्तरायपञ्चकं तिर्यगायुर्नाम्नोऽष्टसप्ततिर्नीचैर्गोत्रमिति सप्तविंशं शतं सत्तास्थानं, तदेव परभवतिर्यगायुर्बन्धेऽष्टाविंशत्यधिकं शतम्। तथा वनस्पतिकायिकेषु यदा स्थितिक्षयाद्देवद्विकनरकद्विकवैक्रियचतुष्टयरूपास्वष्टासु प्रकृतिषु क्षीणासु नाम्नोऽशीतिप्रकृतयः सत्तायां लभ्यन्ते, तदा नाम्नोऽशीतिर्द्वे वेदनीये द्वे गोत्रे अनुभूयमानं तिर्यगायुर्ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मोहनीयषड्विंशतिरन्तरायपञ्चकमिति त्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्ध एकत्रिंशशतात्मकं सत्तास्थानम्। तदेवं सत्तास्थानेषु परिभाव्यमानेषु द्वात्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते, इति सूत्रकृता तद्वर्जनमकारि। इह यद्यपि सप्तनवत्यादीनि सत्तास्थानान्युक्तप्रकारेण तत्तत्प्रकृतिप्रक्षेपादन्यथान्यथाऽनेकधा प्राप्यन्ते, तथापि संख्यातस्तानि तुल्यानीत्येकान्येव विवक्ष्यन्ते, ततोऽष्टचत्वारिंशदेव सत्तास्थानानि, नोनाधिकानि। अत्राऽवक्तव्यसत्कर्म न विद्यते, सर्वप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासम्भवाभावात्। अवस्थितानि चतुश्चत्वारिंशत्, एकादशद्वादशचतुर्नवतिपञ्चनवतिरूपाणां चतुर्णां सत्तास्थानानामेकसामयिकतयाऽवस्थितत्वायोगात्। सप्तचत्वारिंशदल्पतराणि। सप्तदश भूयस्काराणि, यतस्तानि सप्तत्रिंशतिशतादारभ्य परत एव प्राप्यन्ते नार्वाक्, परतोऽपि यत् त्रयस्त्रिंशत् शतात्मकं सत्तास्थानं तदपि भूयस्कारतया न लभ्यते, कस्मात्? इति चेत्, उच्यते–इह सप्तविंशतिशतादर्वाक् यानि स्थानानि, यच्च त्रयस्त्रिंशदुत्तरशतात्मकं तानि क्षपकश्रेणावेव प्राप्यन्ते, न च क्षपकश्रेणेः प्रतिपातः, ततस्तेषां स्थानानां भूयस्कारत्वेनासम्प्राप्तेः सप्तदशैव भूयस्काराणि ॥२१–२२॥

साद्यनादिबन्धानां सहचरितत्वमाह—

साई अधुवो नियमा जीवविसेसे अणाइ अधुव धुवो। नियमा धुवो अणाई अधुवो अधुवोव साई वा ॥२३॥

(स्वो०)—यत्र सादिर्बन्धस्तत्र नियमान्निश्चयेनाध्रुवेनापि भाव्यम्, सादिरध्रुवो भवतीति भावः। अनादिबन्धस्तु जीवमधिकृत्याध्रुवो ध्रुवो वा, अभव्यानां योऽनादिः स ध्रुवो, यस्तु भव्यानां सोऽध्रुव इति भावः। नियमात्–निश्चयेन यो ध्रुवः सोऽनादिः, अध्रुवस्तु अध्रुव एव भवति भूयः सादिर्वा भवतीति गाथार्थः ॥२३॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता भूयस्कारादयो बन्धादिभेदाः। सम्प्रति साद्यादयो वक्तव्याः, ते च साद्यादय इमे, तद्यथा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तत्र यः सहादिना प्राथम्येन वर्त्तते स सादिः, न विद्यत आदिर्यस्येत्यनादिः, सकलकालावस्थायी ध्रुवः, कालान्तरे व्यवच्छेदभागध्रुवः। अमीषां च चतुर्णां भेदानां मध्ये यस्मिन् सति योऽवश्यं भावी, तं तथा प्ररूपयति—इह यो बन्धः सादिः, स नियमादवश्यम्भावेनाध्रुवः, सादिता हि पूर्वं बन्धव्यवच्छेदे भूयो बन्धारम्भसम्भवादुपपद्यते नान्यथा, ततो बन्धव्यवच्छेदपूर्वकः सादिरिति सिद्धा सादित्वस्याध्रुवत्वेनाव्यभिचारिता। तथा जीवविशेषावभव्यभव्यलक्षणावधिकृत्यानादिर्बन्धो द्विधा भवति, तद्यथा–अध्रुवो ध्रुवश्च। तत्राभव्यस्य योऽनादिर्बन्धः स ध्रुवो, भव्यस्याध्रुवः। तथा यो बन्धो ध्रुवः स नियमादनादिः, अनादित्वमन्तरेण ध्रुवत्वस्यासम्भवात्। तथाहि–ध्रुवो नाम सकलकालावस्थायी भण्यते, सकलकालावस्थायित्वं चानादित्वमन्तरेणाऽनुपपन्नमिति। यस्त्वध्रुवो बन्धः सोऽध्रुवः–अध्रुव एव वा भवति, यथा वेदनीयस्य। कश्चिद्भूयः सादिर्वा, यथा ज्ञानावरणीयादीनामिति ॥२३॥

अजघन्यानुत्कृष्टाभ्यामजघन्योऽनुत्कृष्टौ (जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टेष्वजघन्योऽनुत्कृष्टः) चैकः केषांचित्प्रतिभाति, तद्व्यक्तीकरणायाह—

उक्कोसा परिवडिए साइ अणुक्कोसओ जहन्नाओ। अब्बंधाओ वियरो तदभावे दो वि अविसेसा ॥२४॥

तेणाई ओहेणं उक्कोसजहन्नगो पुणो साई। अधुवाण साइ सव्वे धुवाणणाई वि संभपिणो ॥२५॥

(स्वो०)—'उत्कृष्टात्प्रतिपतिते साद्यनुत्कृष्टः जघन्याद्बन्धाद्वा इतरोऽजघन्य इति, तदभावे द्वावप्यविशेषौ इति पदानि। तावनादी ओघेन उत्कृष्टजघन्यकौ तु पुनः सादी, अध्रुवानां सादिः सर्वे ध्रुवानां अनादिरपि सम्भविनाविति पदानि। पदार्थः—उत्कृष्टबन्धं यदा जीवः कृत्वा प्रतिपतति तस्मिन्नेव काले सादित्वेन सहानुत्कृष्टबन्धः स्पष्टतां याति, जघन्यबन्धं कृत्वा उपशमगुणादबन्धं वा, तदा तस्मात्प्रतिपतति तदा सादित्वेन सहेतरोऽजघन्यः स्पष्टतां याति, तेषां कारणानामभावेऽथवा सादित्वयोरभावे द्वावप्यविशिष्टौ भवतः सत्तायां व्यवस्थितावप्यव्यक्तौ तावेवं व्यवस्थितौ अनादी भवतः, उत्कृष्टजघन्यौ तु सादी भवतः, ओघेन—सामान्येन, प्रकृतिस्थित्या-दिबन्धविशेषमनपेक्ष्य स्वभावत इति। अध्रुवबन्धिनीनां सर्वासां प्रकृतीनां सर्वे जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः साद्यध्रुवा भवन्ति, ध्रुवब-न्धिनीनां तु साद्यध्रुवावनादिध्रुवावपि सम्भविनावजघन्यानुत्कृष्टौ भवतः, जघन्योत्कृष्टौ पुनः साद्यध्रुवावेति गाथाद्वयार्थः ॥२४–२५॥

(मलय०)—तदेवं साद्यादिषु बन्धभेदेषु यो येनाव्यभिचारी व्यभिचारी वा स तथा प्रतिपादितः, ते च साद्यादयो जघन्यादि-विषयाः, जघन्यादिषु च मध्येऽजघन्यानुत्कृष्टौ केषाञ्चिदेकत्वेन प्रतिभातः, ततस्तद्गतसादित्वविशेषोपदर्शनतस्तयोर्विशेषमाह—इह जघन्यादारभ्य यावदुत्कृष्टो बन्ध उदयादिर्वा, तावत्सर्वोऽप्यजघन्य इत्युच्यते। उत्कृष्टादारभ्य यावज्जघन्यस्तावत्सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः। न चैवमनयोरविशेषः,तद्गतसादित्वविशेषस्य भेदात्। तथा चाह–उत्कृष्टात्परिपतिते सादिरनुत्कृष्टः। किमुक्तं भवति? यदा परिणामविशेषत उत्कृष्टं बन्धमाधाय परिणामह्रासत उत्कृष्टाद्बन्धात्प्रतिपतति तदानुत्कृष्टो बन्धः सादितां भजते नान्यथा, तथा जघन्याद्बन्धाद्वा प्रति-पतितेऽजघन्यः सादिः, इयमत्र भावना–यदा तथाविधपरिणामविशेषतो जघन्यं बन्धमाधाय, यदि वोपशान्तमोहगुणस्थानकमारुह्याब-

न्धको भूत्वा परिणामपरिवर्त्तनेन जघन्यबन्धादबन्धाद्वा प्रतिपतति, तदा सोऽजघन्यो बन्धः सादितामासादयति, न शेषकालं, तत एवमजघन्यानुत्कृष्टयोः सादित्वस्य भिन्नभिन्नकारणप्रभवत्वमिति भिन्नावजघन्यानुत्कृष्टौ, इतश्च भिन्नौ तत्स्वरूपस्य भिन्नभिन्नावधिनिमित्तत्वात्। तथाहि–जघन्यमवधीकृत्याजघन्यः स्वस्वरूपं लभते, उत्कृष्टं चावधीकृत्यानुत्कृष्टः। दृष्टश्चावधिभेदतः स्वस्वस्वरूपलाभभेदो यथा–पूर्वपश्चिमदिशोः, केवलं सादित्वविशेषोपलम्भतस्तयोः स्पष्ट एव विशेष उपलक्ष्यते इति तदुपादानं, यत्र तु सादित्वविशेषाभावस्तत्र तदभावे–सादित्वविशेषाभावे तावजघन्यानुत्कृष्टौ द्वावप्यविशेषौ न तयोर्विशेषः सम्यगुपलक्ष्यत इत्यर्थः। सादित्वविशेषोपलम्भनिबन्धनो हि तद्विशेषोपलम्भः सादित्वविशेषोपलम्भाभावे तु तदनुपलम्भः, तत्र यद्यपि साक्षात् सादित्वविशेषानुपलब्धितः सम्यग्विशेषानुपलम्भस्तथापि जघन्यमवधीकृत्याजघन्यः, उत्कृष्टं चावधीकृत्यानुत्कृष्ट इति सामान्यलक्षणं स्वचेतसि परिभाव्य, तत्रापि विशेषोपलम्भः कर्त्तव्यः। तदेवमुक्तोऽजघन्यानुत्कृष्टयोर्विशेषः, सम्प्रत्यजघन्यादिषु सामान्यतः सादित्वादि प्ररूपयति––तौ प्रागुक्तावजघन्यानुत्कृष्टावनुपलक्ष्यमाणसादित्वविशेषावनादी भवतः। कथम्? इत्याह–ओघेन–सामान्यतः प्रकृतिस्थित्यादिविशेषमनपेक्ष्य सर्वत्रापि भवत इति भावार्थः। जघन्योत्कृष्टौ पुनः सर्वत्रापि सादी, तयोर्नियतकालभावित्वात्। तदेवं प्रकृतिस्थित्यादिविशेषमनपेक्ष्य जघन्यादिषु सादित्वादि प्ररूपितम्। सम्प्रति बन्धमधिकृत्य सामान्यत आह–अध्रुवबन्धिनीनां सातवेदनीयादीनां सर्वे जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टबन्धभेदाः सादयः, उपलक्षणमेतत्, अध्रुवाश्च ज्ञातव्याः, सादीनामध्रुवत्वाव्यभिचारात्, "साई अधुवो नियमा" इति प्रागुक्तवचनप्रामाण्यात्। ध्रुवबन्धिनीनां पुनः सम्भविनावजघन्यानुत्कृष्टावनादी, अनादिग्रहणं ध्रुवोपलक्षणं, अनादित्वे सति ध्रुवत्वस्यापि सम्भवात्। ततोऽयमर्थः–अनादिध्रुवावपिशब्दात्साद्यध्रुवावपि भवतः, यौ तु ध्रुवबन्धिनीनामपि जघन्योत्कृष्टौ तौ साद्यध्रुवावेव,

जघन्योत्कृष्टौ हि कदाचनभावतः सादी, तथा च प्रागभिहितं, "जहन्न उक्कोसया पुणो साई" इति, सादित्वं चाध्रुवत्वाव्यभिचारि, एतदपि प्रागेवोक्तं, ततोऽनुक्तावपि ध्रुवबन्धिनीनां जघन्योत्कृष्टौ साद्यध्रुवावसीयेते ॥२४-२५॥

मूलोत्तरप्रकृतीनां जघन्यादीनाह—

मूलुत्तरपगईणं जहण्णओ पगइबंध उवसंते। तब्भट्ठा अजहन्नो उक्कोसो सन्निमिच्छंमि ॥२६॥

(स्वो०)—मूलप्रकृतीनां उत्तरप्रकृतीनां च जघन्यः प्रकृतिबन्धो भवत्युपशान्ते, तस्माद् भ्रष्टात्–तस्मात् परिच्युतादजघन्यो भवति, उत्कृष्टस्तु संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ, तस्मिन्नेवोत्कृष्टस्याबन्धेऽनुत्कृष्टो भवति, यत उपशान्ते मूलप्रकृतेरुत्तरप्रकृतेश्चैकस्याः बन्धः, संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ मूलप्रकृतीनामष्टानामुत्तरप्रकृतीनां चतुःसप्ततेः, ताभ्यां भ्रष्टयोरजघन्यानुत्कृष्टौ भवत इति गाथार्थः ॥२६॥

(मलय०)—तदेवं प्रकृतिबन्धमधिकृत्य जघन्यादयः सामान्येन सादित्वादिरूपतया प्ररूपिताः। साम्प्रतं मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा यत्र यो जघन्यादिर्बन्धः सम्भवन्ति, तत्र तं प्ररूपयति--मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च जघन्यः प्रकृतिबन्धो भवत्युपशान्ते–उपशान्तमोहगुणस्थानके, तथाहि–उपशान्तमोहगुणस्थानके मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीर्वाधिकृत्यैकस्या एव प्रकृतेर्बन्धः, एकप्रकृतिबन्धश्च प्रकृतिबन्धमाश्रित्य जघन्यो बन्ध उच्यते। न खल्वत्र स्थित्यादिबन्धमधिकृत्य अजघन्यादि विचारयितुमभिप्रेतं, येन स्तोकस्थित्यादिबन्धो जघन्यादिबन्ध उच्यते, किन्तु प्रकृतिबन्धमात्रं, ततो यः सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धः स जघन्यो बन्धः, इत्येकप्रकृतिबन्धो जघन्यबन्धः। उपशान्तग्रहणं चोपलक्षणं, तेन क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च द्रष्टव्यः, परमुपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपातो भवति, न क्षीणमोहादिकात्, प्रतिपाते चाजघन्यबन्धसम्भव इति मुख्यवृत्त्योपशान्तग्रहणम्। 'तब्भट्ठाअजहन्नो' इति, तस्मादुपशान्तमोहगुण-

स्थानकाद्भ्रष्टाद्भ्रंशातपरिच्यवनादित्यर्थः, अजघन्यो बन्धो भवति, मूलप्रकृतीरधिकृत्य षडादीनामुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य सप्तदशादीनां बन्धसम्भवात् । तथा संज्ञिनि मिथ्यादृष्टावुत्कृष्टः प्रकृतिबन्धः, मूलप्रकृतीनामष्टानामुत्तरप्रकृतीनां चतुःसप्ततेर्बन्धात् । तस्माच्च प्रच्युतौ यः स्तोकस्तोकतराणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा बन्धः सोऽनुत्कृष्टः, एष चानुक्तोऽपि सामर्थ्यादवसीयते। अत्र साद्यादित्वयोजना स्वयमेव कर्त्तव्या, सुगमत्वात् । सा चैवं–मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा बन्धाः साद्यध्रुवाः, कादाचित्कत्वात् । अजघन्यश्चतुर्विधस्तद्यथा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तत्रोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रच्युतौ भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवोऽभव्यानां, भव्यानामध्रुवः ॥२६॥

साद्यादिप्ररूपणायाह–

आउस्स साइअधुवो बंधो तइयस्स साइअवसेसो । सेसाण साइयाई भव्वाभव्वेसु अधुवधुवो ॥२७॥

(स्वो०)—मूलप्रकृतेरायुषः सादिरध्रुवो बन्धः, तृतीयस्य वेदनीयस्य साद्यवशेषो ध्रुवाध्रुवानादिरित्यर्थः, शेषाणां ज्ञानान्तरायदर्शनावरणनामगोत्रमोहनीयानां साद्यध्रुवानादिध्रुवा इति, जघन्यादित्वमाश्रित्य जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः मूलप्रकृतीनां उत्तरप्रकृतीनां च बन्धाः साद्यध्रुवा भवन्ति । भव्येष्वध्रुवो यत्राध्रुवस्तत्र सादिरपि भवति, अभव्येषु ध्रुवो, यत्र ध्रुवस्तत्रानादिना नियमेन भाव्यम्, एवमन्यत्रापि योज्यमिति गाथार्थः ॥२७॥

(मलय०)—तदेवं मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीर्वाङ्गीकृत्य यो यत्र जघन्यादिः संभवति, स तत्र प्रतिपादितः । सम्प्रति मूलप्रकृतीरधिकृत्यैकैकप्रकृतिबन्धे सादित्वादि भावयति–मूलप्रकृतिषु मध्ये आयुषो बन्धः सादिरध्रुवश्च, अध्रुवबन्धित्वात् । तृतीयस्य वेदनीयस्य

बन्धः साद्यवशेषः—सादिव्यतिरिक्तस्त्रिविधोऽपि, तद्यथा—अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च। तत्रानादित्वं सर्वदैव भावात्, ध्रुवोऽभव्यानां, कालान्तरे व्यवच्छेदासम्भवात्, अध्रुवो भव्यानामयोगिगुणस्थानके व्यवच्छेदभावात्। तथा शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयनामगोत्रान्तरायाणां साद्यादिः, सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तत्रोपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रच्यवमानस्य सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया, तथा चाह–'भव्वाभव्वेसु अधुवधुवो' भव्येष्वध्रुवोऽभव्येषु ध्रुवः ॥२७॥

उत्तरप्रकृतीनां साद्यादिबन्धसम्भवमाह—

साई अधुवो सव्वाण होइ धुवबंधियाण णाइधुवो। नियअबंधचुयाणं साइ अणाई अपत्ताणं ॥२८॥

(स्वो०)—सादिरध्रुवश्च सर्वासां प्रकृतीनां बन्धो भवति, स्वकीयबन्धोपरमे सर्वासामध्रुवो भवति, भूयोऽपि बन्धं कुर्वतः सादिरिति, ध्रुवबन्धिनीनां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां अनादिर्ध्रुवश्च भवतीत्येतद् भावयति, निजात्–आत्मीयादबन्धाच्च्युतानां सादिर्भवति। यस्याः प्रकृतेर्यत्राबन्धस्तद्दर्शयति–मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिनां सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, द्वितीयतृतीयकषायाणां देशविरतप्रमत्तयोः, निद्राप्रचलयोर्नामध्रुवाणां भयजुगुप्सयोश्च बादरादिषु, सञ्ज्वलनानां सूक्ष्मादिषु, ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्काणामुपशान्ते बन्धाभावो ध्रुव इत्यर्थः, इत्येतेभ्यः स्थानेभ्यश्च्युतानां तासां सादिर्भवति, तत्स्थानाप्राप्तानामनादिर्बन्धो, यश्चानादिः सोऽभव्येषु ध्रुव इति, भव्याभव्यान् सर्वत्राधिकृत्य भावनीयमिति गाथार्थः ॥२८॥

(मलय०)—सांप्रतमुत्तरप्रकृतीरधिकृत्यैकैकप्रकृतिबन्धे सादित्वादि प्ररूपयति–सर्वासामपि ध्रुवबन्धिनीनां–ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकान्तरायपञ्चकषोडशकषायमिथ्यात्वभयजुगुप्सागुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयरूपाणां सप्तचत्वारिंशत्संख्या-

कानां वन्धश्चतुर्विधो भवति। तद्यथा–सादिरध्रुवोऽनादिर्ध्रुवश्च। तत्र सादित्वं भावयति–'निययअवन्धचुयाणं साइ'–त्ति निजकाबन्धच्युतानां स्वस्वावन्धस्थानभ्रष्टानां सादिः, तथाहि–मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिनां सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानजातमबन्धस्थानं, द्वितीयकषायाणां देशविरतादि, तृतीयकषाणां प्रमत्तसंयतादि, निद्राप्रचलाऽगुरुलघुनिर्माणतैजसोपघातवर्णादिचतुष्टयकार्मणभयजुगुप्सानामनिवृत्तिवादरादि, संज्वलनानां सूक्ष्मसम्परायादि, ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानामुपशान्तमोहगुणस्थानं, ततः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकेभ्यः परिभ्रंशे तासां मिथ्यात्वादीनां प्रकृतीनां भूयो बन्धः प्रवर्त्तमानो भवति सादिः, सादित्वं चाध्रुवत्वाविनाभावि "साई अधुवो नियमा" इति वचनात्, तेन सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणसंक्रान्तौ बन्धव्यवच्छेदसम्भवादध्रुवः। तथा 'अणाई अपत्ताणं' ति–तत्तत्सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकरूपमबन्धस्थानमप्राप्तानामनादिरादेरभावात्, ध्रुवोऽभव्यानां, भव्यानामध्रुवः। यास्तु सप्तचत्वारिंशत्संख्यध्रुवबन्धिव्यतिरिक्ता अध्रुवबन्धिन्यस्त्रिसप्ततिसंख्यास्तासामध्रुवबन्धित्वादेव बन्धः साद्यध्रुवः स्वयमेव ज्ञातव्यः ॥२८॥

तिर्यग्गतौ स्थितस्याबन्धयोग्याः प्रकृतीराह—

नरयतिगं देवतिगं इगिविगलाणं विउव्वि नो बंधे। मणुयतिगुच्चं च गईतसंमि तिरि तित्थआहारं ॥२९॥

(स्वो०)—नरकत्रिकं–नरकगत्यानुपूर्व्यायूंषि, देवत्रिकं–देवगत्यानुपूर्व्यायूंषि, वैक्रियशरीरमङ्गोपाङ्गं च एता अष्टावेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां वन्धं प्रत्ययोग्या भवन्ति, मनुष्यत्रिकं–मनुजगत्यानुपूर्व्यायूंषि, उच्चैर्गोत्रं चैताः द्वादश गतित्रसानां तेजोवायुकायिकानां न बन्धयोग्याः, तिरश्चां सर्वेषामपि तीर्थकराहारकशरीराङ्गोपाङ्गानि न बन्धयोग्यानीति गाथार्थः ॥२९॥

(मलय०)—तदेवं कृता साद्यादिप्ररूपणा। सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यं, तत्र याः प्रकृतयो येषां बन्धमधिकृत्यायोग्या न ते तासां बन्धं प्रति स्वामिनः, इत्युक्तावर्थादितरासां स्वामिन इत्यवगम्यते। बन्धमधिकृत्यायोग्याश्च प्रकृतयश्चतसृष्वपि गतिषु प्रत्येकं स्तोकाः प्राप्यन्ते, ततो लाघवाय या येषामयोग्यास्तास्तेषां प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतस्तिरश्चामयोग्याः प्रतिपादयति—नरकत्रिकं—नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षणं, देवत्रिकं—देवगतिदेवानुपूर्वीदेवायूरूपं, वैक्रियं—वैक्रियद्विकं, सर्वसंख्ययाऽष्टौ प्रकृतय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां बन्धे न भवन्ति, बन्धयोग्या न भवन्तीत्यर्थः। तथा मनुष्यत्रिकं—मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीमनुष्यायुर्लक्षणं, उच्चैर्गोत्रं, चशब्दात्प्रागुक्ताश्चाष्टौ प्रकृतयः, सर्वसंख्यया द्वादश गतित्रसे—तैजस्कायिके वायुकायिके वा बन्धमधिकृत्यायोग्याः। तथा तिरश्चां सर्वेषामपि तीर्थकरनामाहारकं—आहारकशरीरमाहारकांगोपाङ्गं च बन्धं प्रत्ययोग्यं, तथास्वाभाव्यात्। अयं चात्र तात्पर्यार्थः—तीर्थकराहारकद्विकरहितानां शेषाणां सप्तदशोत्तरशतसंख्यानां प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो बन्धं प्रति स्वामिनः, एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया आहारकद्विकतीर्थकरवैक्रियद्विकनरकत्रिकदेवत्रिकव्यतिरिक्तानां शेषाणां नवोत्तरशतसंख्यानां, तैजस्कायिकवायुकायिकास्तीर्थकराहारकद्विकवैक्रियद्विकनरकत्रिकदेवत्रिकमनुष्यत्रिकोच्चैर्गोत्रव्यतिरिक्तानां शेषाणां पञ्चोत्तरशतसंख्यानामिति ॥२९॥

सर्वदेवानामबन्धयोग्या आह—

वेउव्वाहारदुगं नारयसुरसुहुमविगलजाइतिगं। बंधहि न सुरा सायवथावरएगिंदि नेरइया ॥३०॥

(स्वो०)—वैक्रियाहारकद्विकं—वैक्रियाहारकशरीरे तदङ्गोपाङ्गे च, नारकसुरसूक्ष्मविकलजातित्रिकं, नारकसुरयोः(त्रिकं) प्राग्वत्, सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तप्रकृतयः, विकलत्रिकं—द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः एताः षोडश प्रकृतयोऽशेषसुरा न बध्नन्ति, आतपस्था-

बन्धं प्रति योग्यायोग्याः प्रकृतयः

वरैकेन्द्रियजातिसहिताः एता एवैकोनविंशतिः सर्वनारका न बध्नन्तीति गाथार्थः ॥३०॥

(मलय०)—सम्प्रति देवानां नारकाणां च बन्धं प्रत्ययोग्याः प्रतिपादयति- वैक्रियद्विकं—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपं, आहारकद्विकं—आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गरूपं, 'नारयसुरसुहुमविगलजाइतिगं' ति। अत्र त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, नारकत्रिकं—नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायूरूपं, देवत्रिकं—देवगतिदेवानुपूर्वीदेवायूरूपं, सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तरूपं, विकलजातित्रिकं—द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिरूपं, सर्वसंख्यया षोडशप्रकृतीः सर्वेऽपि सुरा न बध्नन्ति, तथाभवस्वाभाव्यात्, तेन चतुरुत्तरशतसंख्यानां शेषाणां प्रकृतीनां सामान्यतः सुरा बन्धं प्रति स्वामिनो वेदितव्याः। तथैता एव षोडशप्रकृतीरातपस्थावरैकेन्द्रियजातिरूपप्रकृतिसहिता एकोनविंशतिसंख्या नारका न बध्नन्ति, तेन सामान्यतः शेषाणामेकोत्तरशतसंख्यानां प्रकृतीनां बन्धं प्रति स्वामिनः प्रत्येतव्याः ॥३०॥

प्रकृतिबन्धविधानं समाप्तमिति। मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिमानमाह—

मोहे सयरी कोडाकोडीओ वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं तेत्तीसयराइं आउस्स ॥३१॥

(स्वो०)—मोहनीये सप्ततिकोटाकोट्यः, विंशतिर्नामगोत्रयोः, त्रिंशदितराणां चतुर्णां ज्ञानान्तरायदर्शनावरणवेदनीयानां स्थितिरिति वाक्यशेषः, त्रयस्त्रिंशदतराणि—सागरोपमाणि आयुषः उत्कृष्टा स्थितिरिति गाथार्थः ॥३१॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं प्रकृतिबन्धविधानम्। सम्प्रति स्थितिबन्धविधानं वक्तव्यं, तत्र चैकादशानुयोगद्वाराणि, तद्यथा-स्थितिप्रमाणप्ररूपणा १, निषेकप्ररूपणा २, अबाधाकण्डकप्ररूपणा ३, एकेन्द्रियाद्युत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धप्रमाणप्ररूपणा ४, स्थितिस्थानप्ररूपणा ५, संक्लेशस्थानप्ररूपणा ६, विशोधिस्थानप्ररूपणा ७, अध्यवसायस्थानपरिमाणप्ररूपणा ८, साद्यादिप्ररूपणा ९, स्वामित्वप्ररूपणा १०,

शुभाशुभत्वप्ररुपणा ११, च । तत्र स्थितिप्रमाणप्ररूपणा द्विविधा, तद्यथा, उत्कृष्टस्थितिप्ररुपणा जघन्यस्थितिप्ररुपणा च। एकैकापि द्विविधा, तद्यथा–मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयामुत्कृष्टां स्थितिमाह–मोहे–मोहनीये षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदान्मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः । इह द्विधा स्थितिस्तद्यथा–कर्मरूपतावस्थानलक्षणाऽनुभवयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्योत्कृष्टं जघन्यं वा प्रमाणमभिधातुमिष्टमवगन्तव्यम् । अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना। येषां च कर्मणां यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतान्यबाधाकालः, तथा च वक्ष्यति–'एवइयाबाहवाससया' तेन मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः, इति तस्य सप्ततिर्वर्षशतान्यबाधाकालः। तथाहि–तन्मोहनीयमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत् सप्ततिवर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः, किमुक्तं भवति ? सप्ततिवर्षशतप्रमाणेषु समयेषु मध्ये न वेद्यदलिकनिक्षेपं करोति, किन्तु तत ऊर्ध्वमिति। तथा नामगोत्रयोरुत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः, द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथेतरेषां चतुर्णां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । आयुष उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदतराणि–सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि, पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥३१॥

जघन्यस्थितिमानमाह–

मोत्तुमकसाइ तणुया ठिइ वेयणियस्स बारसमुहुत्ता । अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥३२॥

स्थितिबन्धप्ररूपणा कर्म्मणामुत्कृष्टा स्थितिः

(स्वो०)-अकषायिणां या तन्वी-जघन्या स्थितिस्तां मुक्त्वा वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्त्तानि कषायिणां जघन्या भवति, नामगोत्रयोरष्टावष्टौ मुहूर्त्तानि, शेषाणां-ज्ञानान्तरायदर्शनावरणमोहायुषामन्तर्मुहूर्त्तं स्थितिरिति गाथार्थः ॥३२॥

(मलय०)—उक्ता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः। सम्प्रति जघन्यामाह-इह द्विधा वेदनीयस्य जघन्या स्थितिः प्राप्यते, तद्यथा-सकषायाणामकषायाणां च। तत्राकषायिणो मुक्त्वा शेषाणां कषायिणां वेदनीयस्य तन्वी-जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्त्ताः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। नामगोत्रयोः प्रत्येकमष्टौ मुहूर्त्ता जघन्या स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायमोहनीयायुषां जघन्या स्थितिर्मुहूर्त्तान्तः-अन्तर्मुहूर्त्तं, अत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, नवरं तल्लघुतरमवसेयं, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥३२॥

उत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिमानमाह—

सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभचउण्ह फासाणं। अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अंबिलहालिद्दपुव्वाणं ॥३३॥

(स्वो०)—शुक्लवर्णसुरभिगन्धमधुररसानां दश कोटाकोट्यः सागरोपमाणां स्थितिः, तथा शुभानां चतुर्णां स्पर्शानां-मृदुस्निग्धलघूष्माणां दशकोटाकोट्यः, पञ्चार्धप्रवृद्धा अम्लहारिद्रपूर्वाणां-अम्लहारिद्रवर्णयोः सार्द्धद्वादश, कषायरक्तयोः पञ्चदश, कटुनीलयोः सार्द्धाः सप्तदश, तिक्तकृष्णदुर्गन्धगुरुकर्कशरूक्षशीतानां विंशतिकोटाकोट्यः, गन्धस्पर्शानां द्वैविध्याद्दशविंशती एव भवतः। तुशब्दः पूर्वापरसूत्रेषु स्थितिशब्दस्य व्यापक इति गाथार्थः ॥३३॥

(मलय०)—उक्ता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिः। साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टं स्थितिमानमाह-शुक्लसुरभिम-

धुराणां—शुक्लवर्णसुरभिगन्धमधुररसानां, तथा शुभानां चतुर्णां स्पर्शानां मृदुस्निग्धलघूष्णरूपाणामुत्कृष्टा स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोट्यः, दशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथाऽम्लहारिद्रपूर्वाणां—अम्लरसहारिद्रवर्णप्रभृतीनां रसवर्णानामेकैकप्रकृतिवृद्धावर्द्धतृतीयप्रवृद्धा—अर्द्धतृतीयसागरोपमकोटीकोटीवृद्धिसहिता वेदितव्या। तद्यथा—अम्लरसहारिद्रवर्णयोरुत्कृष्टा स्थितिः सार्द्धद्वादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, सार्द्धद्वादशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। कषायरसरक्तवर्णयोः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, पञ्चदशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। कटुरसनीलवर्णयोरुत्कृष्टा स्थितिः सार्द्धाः सप्तदशसागरोपमकोटीकोट्यः, सार्द्धसप्तदशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तिक्तरसकृष्णवर्णयोः तु शब्दस्याधिकार्थसंसूचनाद् दुरभिगन्धगुरुकर्कशरूक्षशीतानां चोत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः, द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥३३॥

तीसं कोडाकोडी असायआवरणअंतरायाणं। मिच्छे सयरी इत्थीमणुदुगसायाण पन्नरस ॥३४॥

(स्वो०)—त्रिंशत्कोटाकोट्यः असातस्य 'आवरण' इति–ज्ञानदर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनां अन्तरायप्रकृतीनां च, सप्ततिर्मिथ्यात्वस्य, स्त्रीवेदमनुष्यद्विकसातानां पञ्चदश कोटाकोट्यः उत्कृष्टा स्थितिरिति गाथार्थः ॥३४॥

उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थिति प्रमाणं

(मलय०)—असातवेदनीयस्य, पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां—मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणरूपाणां, नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनां—निद्रापञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणानां, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां—दानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायोपभोगान्तरायवीर्यान्तरायरूपाणां, सर्वसङ्ख्यया विंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीको-

टयः, त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा मिथ्यात्वमोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः, सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा स्त्रीवेदमनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीरूपमनुष्यद्विकसात वेदनीयानामुत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटयः, पञ्चदशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥३४॥

संघयणे संठाणे पढमे दस उवरिमेसु दुगवुड्ढी। सुहुमतिवामणविगले ठारस चत्ता कसायाणं ॥३५॥

(स्वो०)—संहनने संस्थाने च प्रथमे दश, उपरितनेषु यथाक्रमं द्विकवृद्धिः द्रष्टव्या, द्वितीययोर्द्वादश, तृतीययोश्चतुर्दश, चतुर्थयोः षोडश, पञ्चमयोरष्टादश, षष्ठयोर्विंशतिः, 'सूक्ष्मत्रिकमिति' सूक्ष्मसाधारणपर्याप्तकानि, वामनसंस्थानं, 'विगले'त्ति–द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातय एतासां सप्तानां प्रकृतीनां अष्टादश कोटाकोटयः स्थितिरिति। वामनस्य केचिच्चतुर्थ(र्थं सं)स्थानं वदन्ति, तन्न भवतीति प्रदर्शयन् भूयोऽप्यष्टादशकं वदतीति। कषायाणां षोडशानामपि चत्वारिंशत्कोटाकोटयो भवन्ति, उत्तरत्र नोकषायग्रहणादिह षोडशानामेव ग्रहणमिति गाथार्थः ॥३५॥

(मलय०)—प्रथमे संहनने–वज्रर्षभनाराचलक्षणे, प्रथमे संस्थाने–समचतुरस्त्ररूपे दशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, दशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। उपरितनेषु तु संस्थानसंहननेषु क्रमेण द्विकवृद्धिरवसेया, तद्यथा–द्वितीययोः संस्थानसंहननयोर्न्यग्रोधर्षभनाराचसंज्ञयोर्द्वादशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, द्वादशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तृतीययोः संस्थानसंहननयोः सादिनाराचलक्षणयोश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, चतुर्दशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। चतुर्थयोः संस्थानसंहननयोः कुब्जार्द्धनाराचरूपयोरुत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमको-

टीकोटयः, षोडशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। पञ्चमयोः संस्थानसंहननयोर्वामनकीलिकाख्ययोरष्टादशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, अष्टादशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। षष्ठयोः संस्थानसंहननयोः हुण्डसेवार्त्तनामकयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा 'सुहुमति' त्ति–सूक्ष्मत्रिकस्य सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपस्य, वामनस्य वामनाख्यसंस्थानस्य 'विगले' इति विकलेन्द्रियस्य द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिरूपस्य सर्वसङ्ख्यया सप्तानां प्रकृतीनामष्टादशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, अष्टादशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। इह वामनं केचिच्चतुर्थं संस्थानं प्रतिपन्नाः, ततस्तन्मतेन तस्योत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमकोटीकोटयः प्राप्नोति, न च सेष्यते, तस्मात्पञ्चममेवेदं संस्थानमिति प्रतिपत्त्यर्थं भूयोऽपि तस्योपादानमिति। तथा कषायाणामनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनरूपाणां षोडशानामपि प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः, चत्वारि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥३५॥

पुंहासरईउच्चे सुभखगतिथिराइछक्कदेवदुगे। दस सेसाणं वीसा एवइयाबाहवाससया ॥३६॥

(स्वो०)–पुरुषवेदहास्यरत्युच्चैर्गोत्रेषु शुभविहायोगतिस्थिरादिषट्कमिति–स्थिरशुभसुस्वरसुभगादेययशांसि देवद्विकमित्येतासां त्रयोदशानां प्रकृतीनां दश कोटाकोटयः स्थितिः, एवमेतासां षट्सप्ततीनां स्थितिरुक्ता, सप्तानां वक्ष्ये, शेषाणां सप्तत्रिंशतां विंशतिसागरोपमकोटाकोटयः ताश्चेमाः–भयजुगुप्से अरतिशोके नपुंसकं नीचैर्गोत्रं च नरकतिर्यगौदारिकवैक्रियद्विकान्यगुरुलघुत्रसादिचतुष्कं अस्थिरादिषट्कं स्थावरातपोद्योतोपघातपराघातोच्छ्वासाशुभविहायोगतिनिर्माणैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणशरीराणीति शेषाः।

एतावन्मात्राणि वर्षशतान्यबाधा, किमुक्तं भवति,-यस्याः यावन्त्यः कोटाकोटयः तावन्मात्राणि वर्षशतान्यबाधा तावन्मात्रेषु समयेषु न वेद्यदलनिक्षेपं करोतीति गाथार्थः ॥३६॥

(मलय०)—पुरुषवेदहास्यरत्युच्चैर्गोत्राणां, शुभखगतेः-प्रशस्तविहायोगतेः-स्थिरादिषट्कस्य-स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तिरूपस्य, देवद्विकस्य-देवगतिदेवानुपूर्वीलक्षणस्य, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोटयः, दशवर्षशतान्यबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां भयजुगुप्साशोकारतिनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रनरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिस्थावरातपोद्योताशुभविहायोगतिनिर्माणैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणरूपाणां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयः, द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। साम्प्रतमुक्तरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितावबाधाकालपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-'एवइया' इत्यादि, एतावन्मात्राणि वर्षशतान्यबाधा, किमुक्तं भवति? यस्याः प्रकृतेर्यावत्यः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः प्रतिपादिता, तस्यास्तावन्मात्राणि वर्षशतान्युत्कृष्टा अबाधा वेदितव्या, यथा मिथ्यात्वमोहनीयस्य सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, ततस्तस्य सप्ततिवर्षशतान्यबाधा, एवं सर्वत्रापि भावनीयम् ॥३६॥

सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं। इयराणं चउसु वि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥३७॥

(स्वो०)—सुरनारकायुषोरतराणि सागरोपमाणि त्रयस्त्रिंशदितरयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोस्त्रीणि पल्योपमानि, चतुर्ष्वपि तेषु पूर्वकोटित्र्यंशोऽबाधा भवति, तुशब्दोऽधिकार्थसूचको. वेद्यमानायुषः त्रिभागे शेषेऽन्यस्यायुषो बन्धो भवति, तत्रासम्भवे त्रिभागस्य त्रिभागे शेषे

एवं भूयो भूयो यावत् वन्ध इति ॥३७॥

(मलय०)—संप्रत्यायुषामुत्कृष्टं स्थितिमानमाह—सुरायुषो (ग्रन्थाग्रम् ७०००) नारकायुषश्च प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिरतराणि—सागरो-
पमाणि त्रयस्त्रिंशत्, नवरं पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानीति शेषः। तथेतरयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि,
अत्रापि पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानीति शेषः। तथा चतुर्ष्वप्यायुष्केषु पूर्वकोटित्र्यंशः—पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा, पूर्वकोटित्रिभागमध्ये
वध्यमानायुर्दलिकनिषेकं न विदधातीत्यर्थः। वेद्यमानस्य ह्यायुषो द्वयोस्त्रिभागयोरपि निष्क्रान्तयोस्तृतीये भागेऽवशिष्टे परभवायुर्बन्धः,
ततः पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा लभ्यते ॥३७॥

एवमुक्ते त्वाह परः—

वोलीणेसुं दोसुं भागेसुं आउयस्स जो बंधो। भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्के वि ॥३८॥

(स्वो०)—आयुषो द्वयोस्त्रिभागयोरतीतयोर्यो बन्धो भणितो न घटते स गतिचतुष्केऽप्यसम्भवाद्यत इति ॥३८॥

(मलय०)—एवमुक्ते सति पर आह—वेद्यमानस्यायुषो द्वयोर्भागयोस्त्रिभागयोर्व्यतिक्रान्तयोस्तृतीये भागेऽवशिष्टे परभवायुषो यो
बन्ध उक्तः, स गतिचतुष्केऽपि—चतसृष्वपि गतिषु न घटते, कुतः? इत्याह—असंभवात् ॥३८॥

एतदेव भावयति परः—

पलियासंखेज्जंसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा। छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहुं होइ ॥३९॥

उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिप्रमाणं

(स्वो०)—पल्योपमासङ्ख्येयभागेऽभ्यधिके त्रिपल्योपमायुषो नरतिर्यञ्चो नायुषो बन्धं कुर्वन्ति, षण्मासाभ्यधिकेऽवशेषे न सर्वेऽपि देवनारका आयुषो बन्धं कुर्वन्ति, तयोश्चायुस्त्रिभागो बहुः प्रभूतं भवति, पल्योपमैकादशसागरोपमाणीति काकुः, एवं पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधापि न घटते ॥३९॥

(मलय०)—असम्भवमेव भावयति–युगलधर्माणो नरास्तिर्यञ्चश्च पल्योपमासंख्येयांशे–पल्योपमस्यासंख्येये भागे साधिके शेषे सति परभवायुर्न बध्नन्ति, किन्तु पल्योपमासंख्येये एव भागे। एतच्च ये युगलधर्मणामायुषोऽबाधां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणामिच्छन्ति, तन्मतेनोक्तमवसेयं, तथेतरे देवा नारकाश्च स्वायुषः षण्मासे समधिके शेषे सति न परभवायुर्बन्धमारभन्ते, किन्तु षण्मासमात्रे शेषे, कुतः ? इत्याह–'तदाउ तंसो बहुं होइ' यतस्तेषां युगलधर्मणां नरतिरश्चां देवनारकाणां चोत्कृष्टस्यायुषस्त्रिभागो बहु प्रभूतो भवति, तिर्यग्मनुष्याणां पल्योपमप्रमाणो देवनारकाणामेकादशसागरोपममानः, ततस्तस्मिन्नवशिष्टे न परभवायुषो बन्ध उपपद्यते, किन्तूक्तरूपे एव पल्योपमासंख्येयभागादिरूपे शेषे, तथा च सति यदुक्तमायुस्त्रिभागे शेषे परभवायुषो बन्धो भवति, पूर्वकोटित्रिभागश्चोत्कृष्टाबाधेति, तत्सर्वमनुपपन्नम् ॥३९॥

अत्राह—

पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच्च ते इमं भणियं । भणिअं पि नियअबाहं आउं बंधंति अमुयंता ॥४०॥

(स्वो०)—पूर्वकोटयायुषो ये चतुर्गतिगमनयोग्या मनुष्यतिर्यञ्चस्तानधिकृत्यैवमुक्तं, ते च वेद्यायुषस्त्रिभागे शेषे चतसृष्वपि गतिष्वायुषो बन्धं कुर्वन्ति, अतः पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधोत्कृष्टा भवति, न दोषः, तमपि पूर्वकोटित्रिभागं यद् भणितं तद् बध्यमानायुषो

निजाबाधां न मुञ्चति, नैकमपि समयं कर्मदलरहितं विदधातीति भावः, यदनुभूयमानस्याशेषं साऽबाधा यतो नैककालमायुर्द्वयस्यानुभवनम्, भणितं च–'परभविया जेण तस्स उ अबाधा' इति । अन्यच्च यावन्मात्रमनुभूयते, तावन्मात्रमेवोत्कृष्टेनापि बध्यते आयुरिति गाथार्थः ॥४०॥

(मलय०)—अत्रोत्तरमाह–येषां तिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां वाऽऽयुः, पूर्वकोटी–पूर्वकोटिप्रमाणं, तान्–परभवायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकानधिकृत्येदं भणितं, यदुत चतुर्ष्वप्यायुष्षु पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा, अनुभूयमानस्य पूर्वकोटिप्रमाणस्यायुषो द्वयोस्त्रिभागयोरतिक्रान्तयोस्तृतीये भागेऽवशिष्टे परभवायुषो बन्धसम्भवात् । 'भणियंपि' इत्यादि, तमपि पूर्वकोटित्रिभागं भणितं, निजाबाधाममुञ्चतो बध्यमानायुःसत्कस्वाबाधारूपत्वेनाऽपरित्यजन्त आयुः परभवायुर्बध्नन्ति । इयमत्र भावना–योऽसौ पूर्वकोटित्रिभागः पूर्वमबाधात्वेन प्ररूपितः, सोऽनुभूयमानभवायुषः सम्बन्धी प्रतिपत्तव्यः, न परभवायुषः, परभवायुषोऽनुभूयमानभवायुर्व्यतिरेकेण प्रथमसमये एव दलिकनिषेककरणात्, अस्मिंश्चार्थे कार तथास्वाभाव्यं, अत एवायुषोऽबाधा न नियता, तथाहि–नारकायुषो देवायुषो वोत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धका अपि पूर्वकोट्यायुषः स्वायुस्त्रिभागे बन्धमारभन्ते, तेषां पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा, ये वा स्वायुस्त्रिभागत्रिभागे तेषां पूर्वकोटिनवभागो, ये तु स्वायुस्त्रिभागत्रिभागत्रिभागे तेषां पूर्वकोटीसप्तविंशतिभागः, ये पुनः पर्यन्तवर्त्तिनि अन्तर्मुहूर्ते तेषामन्तर्मुहूर्त्तमिति ॥४०॥

एतदेव भावयति—

निरुवकमाण छमासा इगिविगलाणं भवट्ठिइ तंसो । पलियासंखेज्जंसं जुगधम्मीणं वयंतन्ने ॥४१॥

(स्वो०)—निरुपक्रमायुषां देवनारकासङ्ख्येयवर्षायुषां षड्मासा अबाधा, एकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणां स्वभवे यदायुस्तस्य त्र्यंसोऽबाधा, केचन आचार्या युगलधर्मिणां पल्योपमासङ्ख्येयभागमबाधां भणन्तीति गाथार्थः ॥४१॥

(मलय०)—तदेवं पूर्वकोटयायुषां तिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रियमनुष्याणां परभवायुर्बन्धकानामुत्कर्षतः पूर्वकोटित्रिभागरूपाऽबाधा प्रतिपादिता। सम्प्रति शेषजीवानां परभवायुर्बन्धकानां यावती परभवायुषोऽबाधा भवति, तावतीं निरूपयति—निरुपक्रमायुषां—अनपवर्त्तनीयायुषां देवनारकाणामसंख्येयवर्षायुषां च तिर्यग्मनुष्याणां परभवायुषो बन्धकानां परभवायुषोऽबाधा षण्मासा—षण्मासप्रमाणा, एकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणां च द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भवस्थितेस्त्र्यंशः स्वस्वभवायुस्त्रिभागो, यस्य यावदायुस्तस्य तावतः स्वायुषस्त्रिभाग उत्कर्षतः परभवायुषोऽबाधा इत्यर्थः। अन्ये आचार्या युगलधर्मिणामसंख्येयवर्षायुषां तिर्यङ्मनुष्याणां परभवायुर्बन्धकानां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणां परभवायुषोऽबाधां वदन्ति, तन्मतेन पल्योपमासंख्येयभागावशेषे एव स्वायुषि तेषां परभवायुर्बन्धकत्वात् ॥४१॥

अंतो कोडीकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ। तेत्तीसपलियसंखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥४२॥

(स्वो०)—अन्तःकोटाकोटी तीर्थकराहारकशरीराङ्गोपाङ्गानां तस्या अन्तःकोटाकोटे[र]सङ्ख्येयभागादारभ्य तीर्थकरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, आहारकद्वयस्य पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रं निकाचितानामवश्यं वेद्यानामुत्कृष्टा स्थितिरिति गाथार्थः ॥४२॥

(मलय०)—सम्प्रति तीर्थकराहारकद्विकयोरुत्कृष्टं स्थितिमानमाह—तीर्थकरस्याहारकद्विकस्य चोत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटी, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। एषा चोत्कृष्टा स्थितिरनिकाचितयोस्तीर्थकराहारकद्विकयोरुक्ता, निकाचितयोः पुनरिमामाह—'तीए' इत्यादि, निकाचितयोस्तु तीर्थकराहारकद्विकयोरुत्कृष्टा स्थितिस्तस्या अन्तःसागरोपमकोटीकोट्याः

संख्येयभागादारभ्य तीर्थकरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि किंचिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानीति शेषः। आहारकद्विकस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रम्। एतदुक्तं भवति–तीर्थकराहारकयोरन्तःसागरोपमकोटीकोटयाः संख्येयभागादारभ्य निकाचयितुमारब्धयोर्यदा सर्वात्मनाऽतीवाऽनयोर्निकाचना कृता भवति, तदा तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टा स्थितिः किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तथाहि–तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीये भवे पूर्वकोटयायुषा प्रथमत एव निकाचितं, ततोऽनुत्तरसुरेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः, ततोऽपि च्युत्वा चतुरशीतिपूर्वलक्षायुस्तीर्थकरो जायत इति। आहारकद्विकस्य तु पल्योपमासंख्येयभागः। संख्येयभागादारभ्येति वदत इदमावेद्यते–अल्पनिकाचितयोस्तीर्थकराहारकद्विकयोरन्तःसागरोपमकोटीकोटयाः संख्येयतमो भाग उत्कृष्टा स्थितिः, सुनिकाचितयोस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिकेति ॥४२॥

आह परः—

अंतोकोडाकोडी ठिइए वि कहं न होइ ? तित्थयरे। संते कित्तियकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥४३॥

(स्वो०)—अन्तःकोटाकोटी यदि सत्ता तीर्थकरस्य ततः तिर्यग्भवं विना कथं भ्रान्तः ? अथ तिर्यग्गतावपि गतस्ततः आगमविरोध इति ॥४३॥

(मलय०)—सम्प्रति यदुक्तमनिकाचितावस्थायामुत्कृष्टं स्थितिमानं तीर्थकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमिति, तदधिकृत्य परः प्रश्नयति–अन्तःकोटीकोटीस्थितिकेऽपि तीर्थकरे–तीर्थकरनामकर्मणि सति–विद्यमाने कथं कियत्कालं कियन्तं कालं यावत्तिर्यग् न भवति? तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण तावत्याः स्थितेः पूरयितुमशक्यत्वात्। अथ मन्यसे, भवति कियत्कालं तीर्थकरनामसत्कर्मापि

तिर्यग्, तर्ह्यागमविरोधः, आगमे तीर्थंकरनामसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिगमनप्रतिषेधात् ॥४३॥

उच्यते—

जमिह निकाइयतित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं । इयरंमि नत्थि दोसो उवट्टणवट्टणासज्झे ॥४४॥

(स्वो०)—यदवश्यं वेद्यं तत्तीर्थंकरं निषिद्धं न सद्भवति, इतरस्मिन्न दोषः, यतस्तत्प्रभूतस्थितिकमपि अपवर्त्तनाकरणेन लघुस्थितिकं क्रियते, उद्वर्त्तनया वा तदन्यप्रकृतित्वेनावस्थाप्यते इति ॥४४॥

(मलय०)—अत्रोत्तरमाह–इहास्मिन् प्रवचने यत्तीर्थंकरनाम निकाचितमवश्यवेद्यतया व्यवस्थापितं, तदेव स्वरूपेण सद्विद्यमानं तिर्यग्भवे निषिद्धं, इतरस्मिन् पुनरनिकाचितेऽपवर्त्तनोद्वर्त्तनासाध्ये तिर्यग्भवे विद्यमानेऽपि न कश्चिद्दोषः, न चैतत्सूत्रकृत् स्वमनीषिकाशिल्पिकल्पितं, विशेषणवत्यामपि तथाभिधानात्, तथा च तद्ग्रंथः–"तिरिएसु नत्थि तित्थयरनामसत्तंति देसियं समए । कह य तिरिओ न होही, अयरोवमकोडिकोडीए ॥१॥ तं पि सुनिकाइयस्सेव, तइयभवभाविणो विणिद्दिट्ठं । अणिकाइयम्मि वच्चइ, सव्वगईओ वि न विरोहो ॥२॥" गाथाद्वयस्यापीयमक्षरगमनिका–तीर्थंकरनाम सद्विद्यमानं तिर्यक्षु नास्ति न भवतीति देशितं कथितं समये जिनप्रवचने, अथवा तीर्थंकरनाम्न उत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, ततः किञ्चिदूनसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणायां स्थितौ कथं तीर्थंकरनामसत्कर्मा तिर्यङ् न भवति ? भवत्येवेति भावः, तिर्यग्गतिगमनमन्तरेण तावत्याः स्थितेः पूरयितुमशक्यत्वात्, एष पूर्वपक्षः। अत्रोत्तरमाह–'तं पि' इत्यादि–तदपि तीर्थंकरनाम सत्तिर्यक्षु नास्तीति समयदेशितं, तृतीयभवभाविनः सुनिकाचितस्यैवात्यन्तनिकाचितस्यैव विनिर्दिष्टमवसेयं न सामान्यतः, तेनानिकाचिते तीर्थंकरनामकर्मणि विद्यमाने सर्वा अपि गतीर्व्रजति गच्छतीति न

कश्चिद्विरोधः ॥४४॥

उत्कृष्टस्थितिसमाप्ता, नियमार्थमाह—

पुव्वकोडीपरओ इगि विगलो वा न बंधए आउं। अंतो कोडाकोडीए आरउ अभवसन्नी उ ॥४५॥

(स्वो०)—वर्षाणां पूर्वकोटेः परतः पूर्वकोटयभ्यधिकं नायुःकर्म एकेन्द्रियो विकलेन्द्रियो वा बध्नाति। अन्तःकोटाकोटेरारतो हीनतरं संज्ञी न बध्नात्यभव्यः, तुशब्दादनायुषां सप्तानां कर्मणामिति ॥४५॥

(मलय०)—तदेवमुत्कृष्टस्थितिमानमुक्तम्। सम्प्रति जघन्यं स्थितिमानं वक्तव्यं, तत्र मूलप्रकृतीनां जघन्यं प्रागेवोक्तं, अधुना नियमविशेषमाह-इह चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि चतुरशीतिवर्षसहस्रैर्गुण्यन्ते, जातानि वर्षाणां सप्ततिः कोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राः, एतावत्पूर्वस्य परिमाणं, उक्तं च—"पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरी खलु होंति कोडिलक्खाओ। छप्पन्नं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं ॥१॥" एवं परिमाणानां पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी, तस्याः परतः पूर्वकोटीपरतः पूर्वकोट्यभ्यधिकमित्यर्थः। आयुःकर्मैकेन्द्रियो विकलेन्द्रियो वा न बध्नाति, किंतूत्कर्षतोऽपि पूर्वकोटिप्रमाणं, तथाऽभव्यसंज्ञी, तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनादायुर्वर्जानि सप्त कर्माण्यन्तःकोटीकोट्याः-अन्तःसागरोपमकोटीकोट्या आरतो हीनानि हीनतराणि न बध्नाति, किंतु जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणानि ॥४५॥

उत्तरप्रकृतीनां जघन्यां स्थितिमाह—

सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं। इयरे अंतमुहुत्तं अंतमुहुत्तं अबाहाओ ॥४६॥

(स्वो०)—देवनारकायुषोः दश वर्षसहस्राणि 'लघु'रिति जघन्या तीर्थकरनाम्नश्च स्थितिर्भवति, 'इतरे'ति मनुष्यतिर्यगायुषोरन्तर्मुहूर्त्तस्थितिः जघन्याऽबाधाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेव चतुर्ष्वपि जघन्येनापि आयुष्कबन्धोत्तरकालमन्तर्मुहूर्त्तं स्थातव्यमिति गाथार्थः ॥४६॥

(मलय०)—उक्तो नियमविशेषः, साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां जघन्यं स्थितिमानमभिधित्सुराह–सुरायुषो नारकायुषस्तीर्थकरनाम्नश्च लघुर्जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, तथा 'इयरे'इति, अत्र प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थः–इतरयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोर्जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च क्षुल्लकभवप्रमाणं, क्षुल्लकभवस्य च मानमिदं–आवलिकानां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके, अपि चैकस्मिन्मुहूर्त्ते घटिकाद्वयप्रमाणे सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि हृष्टानवकल्पजन्तुसत्कानां प्राणापानानां भवन्ति, एकस्मिंश्च प्राणापाने साधिकाः सप्तदश क्षुल्लकभवाः, सकलेऽपि च मुहूर्त्ते पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि क्षुल्लकभवानां भवन्ति। चतुर्णामपि चायुषां तीर्थकरनाम्नश्चाबाधाऽन्तर्मुहूर्त्तं, अबाधाकालहीनः कर्मदलिकनिषेकः। किमुक्तं भवति ? अन्तर्मुहूर्त्तसमयेषु मध्ये दलिकनिक्षेपं न करोति, किन्तु ततः परत एवेति। इह सूत्रकृता कस्याप्याचार्यस्य मतान्तरेण तीर्थकरनाम्नो दशवर्षसहस्रप्रमाणा जघन्या स्थितिरुक्ता, अन्यथा कर्मप्रकृत्यादिषु जघन्या स्थितिस्तीर्थकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणैवोच्यते, केवलमुत्कृष्टाऽन्तःसागरोपमकोटीकोटयाः सा संख्येयगुणहीना द्रष्टव्या, तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ–"आहारगतित्थयरनामाणं उक्कोसओ ठिइबंधो अंतोकोडाकोडी भणिओ, तओ उक्कोसाओ ठिइबंधाओ जहन्नओ ठिइबंधो संखेज्जगुणहीणो, सो वि जहन्नओ अंतोकोडाकोडी चेव।" शतकचूर्णावप्युक्तं—"आहारगसरीरआहारकअंगोवंगतित्थयरनामाणं जहण्णो ठिइबंधो अंतोसागरोवमकोडाकोडी, अंतोमुहुत्तमबाहा, उक्कोसाओ संखेज्जगुणहीणो जहन्नो ठिइबंधो इति ॥४६॥

पुंवेए अट्ठ वासा अट्ठ मुहुत्ता जसुच्चगोयाणं। साए बारसहारगविग्घावरणाण किंचूणं ॥४७॥

(स्वो०)—पुरुषवेदेऽष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः, अष्टौ मुहूर्त्तानि यशःकीर्त्तिउच्चैर्गोत्रयोः, साते-सद्वेदनीये द्वादश मुहूर्त्तानि जघन्या स्थितिः, आहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं विघ्न-पञ्चप्रकारमन्तरायं आवरणं-पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणं तत्सहचरितं दर्शनावरणचतुष्कमेतासां षोडशानां प्रकृतीनां किञ्चिदूनं मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिरिति गाथार्थः ॥४७॥

(मलय०)—पुरुषवेदे पुरुषवेदस्याष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ।यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरष्टौ मुहूर्त्ताः जघन्या स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । सातवेदनीयस्य जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्त्ताः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा 'आहार' त्ति-आहारकद्विकस्य-आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गरूपस्य 'विग्घावरणाण' त्ति-पञ्चप्रकारस्य विघ्नस्य-अन्तरायस्य पञ्चविधज्ञानावरणस्य दर्शनावरणचतुष्टयस्य च सर्वसंख्यया षोडशप्रकृतीनां जघन्या स्थितिः किञ्चिदूनं मुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनः कर्मदलिकनिषेकः। अत्राप्याहारकद्विकस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणोक्ता मतान्तरेणान्यथा सान्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा द्रष्टव्या, कर्मप्रकृत्यादिषु तथाभिधानात्, एतच्च प्रागेव दर्शितम् ॥४७॥

दोमास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं। सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं ॥४८॥

(स्वो०)—द्वौ मासावेको मासोऽर्द्धं मासोऽन्तर्मुहूर्त्तं च क्रोधमानमायालोभानां यथासंख्येन सञ्ज्वलनानामनन्तरोदितप्रकृत्यधि-

कारादवगन्तव्यम्, शेषाणां—शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धात् मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या यल्लब्धं सा जघन्या स्थितिरिति। एवं च मिथ्यात्वस्य सागरोपमं भवति, असाते निद्रापञ्चके च त्रयः सप्तभागाः $\frac{३}{७}$, द्वादशानां च कषायाणां चत्वारः सप्तभागाः $\frac{४}{७}$, सूक्ष्मत्रिके वामने विकलेन्द्रियजातित्रिके नव पञ्चत्रिंशद् भागाः $\frac{९}{३५}$, सातस्त्रीवेदमनुष्यद्विकानां त्रयश्चतुर्दश भागाः $\frac{३}{१४}$, हास्यरतिस्थिरादिषट्कशुभविहायोगतीनां सुगन्धशुक्लवर्णमधुररसशुभस्पर्शचतुष्काद्यसंहननसंस्थानानां सप्तभागः $\frac{१}{७}$, द्वितीययोः षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{६}{३५}$, तृतीययोः पञ्चभागः $\frac{१}{५}$, चतुर्थयोरष्टौ पञ्चत्रिंशद् भागाः $\frac{८}{३५}$, पञ्चमयोः संहननसंस्थानयोः नव पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{९}{३५}$। शेषाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ। एताः शेषाः—त्रसागुरुलघुअशुभवर्णादिचतुष्काणि १२ [2]वैक्रियास्थिरादिषट्के १२ औदारिकतिर्यग्गतिद्विके ४ पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियजाती २ निर्माणातपोद्योताशुभविहायोगतिचरमसंहननसंस्थानतैजसकार्मणशरीरनीचैर्गोत्रारतिशोकभयजुगुप्सानपुंसकस्थावरमिति, पञ्चचत्वारिंशदिति गाथार्थः ॥४८॥

(मलय०)—क्रोधपूर्वाणां संज्वलनक्रोधमानमायालोभानामित्यर्थः, यथाक्रमं द्वौ मासौ, एको मासः, अर्द्धमासः, अन्तर्मुहूर्त्तमिति जघन्या स्थितिः। इयमत्र भावना—संज्वलनक्रोधस्य द्वौ मासौ जघन्या स्थितिः, संज्वलनमानस्यैको मासः, संज्वलनमायाया अर्द्धमासः, संज्वलनलोभस्यान्तर्मुहूर्त्तं, सर्वत्रापि चान्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनः कर्मदलिकनिषेकः। शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां प्राक्प्रतिपादितात्स्वस्मात्स्वस्मादुत्कृष्टात्स्थितिबन्धात् मिथ्यात्वसत्कयोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लब्धं सा जघन्या स्थितिः। तत्र निद्रापञ्चक-

१ उक्तशेषाः शुभा वर्णरसा अप्यत्रैव द्रष्टव्याः २ गणनामात्रापेक्षया वैक्रियषट्कग्रहणं द्रष्टव्यं न तु स्थित्यपेक्षया, एव सातयशःकीर्त्योरपि

उत्तरप्रकृतीनांजघन्यस्थितिप्रमाणं

स्यासातवेदनीयस्य च प्रत्येकमुत्कृष्टः स्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे "शून्यं शून्येन पातयेत्" इतिवचनाल्लब्धास्त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः ७, एतावती निद्रापञ्चकासातवेदनीययोर्जघन्या स्थितिः, एवं मिथ्यात्वस्य सप्त सप्त भागा जघन्या स्थितिः परिपूर्णं सागरोपममित्यर्थः। संज्वलनवर्जानां द्वादशानां कषायाणां चत्वारः सप्तभागाः $\frac{4}{7}$ जघन्या स्थितिः, तथा सूक्ष्मत्रिकस्य विकलेन्द्रियजातित्रिकस्य चोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पात्यते, ततश्छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, ततो लब्धा नव सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{2}{35}$ एतावती सूक्ष्मत्रिकविकलेन्द्रियजातित्रिकाणां जघन्या स्थितिः। तथा स्त्रीवेदमनुष्यद्विकस्योरुत्कृष्टस्थितिबन्धः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योः पञ्चभिरपवर्त्तनं, ततो लब्धास्त्रयः सागरोपमस्य चतुर्दशभागाः $\frac{3}{14}$ एतावती स्त्रीवेदमनुष्यद्विकयोर्जघन्या स्थितिः। तथा हास्यरतियशःकीर्त्तिवर्जशेषस्थिरादिपञ्चकशुभविहायोगतिसुरभिगन्धशुक्लवर्णमधुररसमृदुलघुस्निग्धोष्णस्पर्शाद्यसंस्थानाद्यसंहनननामुत्कृष्टस्थितिबन्धो दशसागरोपमकोटीकोटीमानः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यस्य शून्येन पातने लब्ध एकः सागरोपमस्य सप्तभागः $\frac{1}{7}$ एतावत्परिमाणा तेषां हास्यादीनां जघन्या स्थितिः। द्वितीययोः संस्थानसंहननयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो द्वादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, ततो लब्धाः षट् सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{6}{35}$ इयन्मात्रा तयोर्जघन्या स्थितिः। तृतीययोः संस्थानसंहननयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चतुर्दश सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योश्चतुर्दशकेनापवर्त्तना, ततो लब्ध एकः सागरोपमस्य पञ्च भागः $\frac{1}{5}$ इयती तयोर्जघन्या

स्थितिः । चतुर्थयोः संस्थानसंहननयोः षोडशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाण उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, तस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागहारविधौ शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, ततो लब्धाः सागरोपमस्याष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{८}{३५}$ एतावती तयोर्जघन्या स्थितिः । पञ्चमसंस्थानसंहननयोरष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, ततो लब्धा नव सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{९}{३५}$ इयत्प्रमाणा तयोर्जघन्या स्थितिः । शेषाणां त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकागुरुलघुपराघातोपघातोच्छ्वासास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तितिर्यग्द्विकौदारिकद्विकहारिद्रलोहितनीलकृष्णवर्णदुरभिगन्धकषायाम्लकटुकतिक्तरसगुरुकर्कशरूक्षशीतस्पर्शैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातिनिर्माणातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतिचरमसंस्थानचरमसंहननतैजसकार्मणनीचैर्गोत्रारतिशोकभयजुगुप्सानपुंसकवेदस्थावररूपाणामष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्याकानां प्रकृतीनां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्या स्थितिः $\frac{२}{७}$ । यद्यपि च हारिद्रलोहितादीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सार्द्धद्वादशसागरोपमकोटीकोट्यादिप्रमाण इति, 'सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईए जं लद्धं' इति वचनतः समधिकाः षट् सागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागा इत्यादिपरिमाणा जघन्या स्थितिः प्राप्नोति, तथापि चिरन्तनशास्त्रेषु द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ तेषां जघन्यस्थितिपरिमाणतयोपदिश्यते, इति तावेवोक्तौ । इदं च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमाचार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयं, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात् , तथाहि–कर्मप्रकृतौ निद्रापञ्चकादीनां जघन्यस्थितिपरिमाणप्रतिपादनार्थमियं करणगाथा–"वग्गुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धम् । सेसाणं तु जहन्नो, पल्लासङ्खेज्जगेणूणो ॥१॥" अस्या अक्षरगमनिका–इह ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्ग इत्युच्यते, दर्शनावरणीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणीयवर्गः, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शन-

उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थिति प्रमाणं

मोहनीयवर्गः, चारित्रमोहनीयप्रकृतिसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः, अंतरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः। एतेषां च वर्गाणामात्मीयात्मीयोत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा, तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति यल्लभ्यते, तत्पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं सत्, उक्तशेषाणां निद्रादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमवसेयं, तद्यथा--दर्शनावरणवेदनीययोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपरिमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयेत्, लब्धास्त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः, ते पल्योपमासङ्ख्येयभागहीना निद्रापञ्चकासातवेदनीययोर्जघन्या स्थितिः। एवं मिथ्यात्वस्य सप्त सप्त भागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीना जघन्या स्थितिः। सञ्ज्वलनवर्जानां द्वादशानां कषायाणां चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनाः। पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां वैक्रियषट्काहारकद्विकतीर्थकरयशःकीर्तिशेषाणां नामप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनौ जघन्या स्थितिः इति। जीवाभिगमादौ चाचार्योक्तमेव जघन्यस्थितिपरिमाणं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमुक्तम्। तथा च स्त्रीवेदमधिकृत्य तत्र सूत्रं—"इत्थिवेदस्स णं भंते! कम्मस्स केवइय कालं बन्धठिई पन्नत्ता? गोयमा! जहण्णेणं सागरोवमस्स दिवड्ढो सत्तभागो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणो" इत्यादि ॥४८॥

वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसिं। पलियासंखंसूणं ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥४९॥

(स्वो०)—वैक्रियषट्के तत्पूर्वोक्तं स्थितिमानं सागरोपमसप्तभागद्वयं सहस्रगुणितं स्थितिर्भवति $\frac{2000}{7}$, यतो यस्माच्चासां असंज्ञिनो

बन्धकाः, नैकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः वा बन्धकाः, यतो देवनारकप्रायोग्यकर्मबन्धोऽसंज्ञिसंज्ञिनोरेव भवति, 'पणवीसा पण्णासा' इत्यादि, भणिष्यत्येव, पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनं यत्तत्सहस्रताडितं मानं स्थितिर्भवति, सर्वस्थितयोऽबाधाहीनाः सत्यः निषेको मन्तव्यः, अबाधोनाद्येषु समयेषु दलस्य निक्षेप इति, निषेको नाम तदुत्तरसमयेषु दलनिक्षेप इति गाथार्थः ॥४९॥

(मलय०)—इह वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिरुक्तप्रकारेण न लभ्यते, ततः पृथक् तस्य तां प्रतिपिपादयिषुराह—वैक्रियषट्के देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकरूपे, तत् 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं' इत्यनेन करणेन यल्लब्धं सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ, तथाहि–नरकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य चोत्कृष्टः स्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो, देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते, नानिष्टार्थौ शास्त्रप्रकलृप्तिरिति पूर्वपुरुषवचनप्रामाण्यात्। विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्योत्कृष्टस्य स्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयित्वा लब्धौ द्वौ सागरोपमस्य सप्त भागौ, तत्सागरोपमसप्तभागद्विकरूपं सङ्ख्यामानं सहस्रताडितं सहस्रगुणितं क्रियते, ततः पल्योपमासंख्येयांशोनं पल्योपमाऽसङ्ख्येयेन भागेन न्यूनं, एवं रूपं जघन्यस्थितेः परिमाणं, तथा चोक्तं शतकचूर्णौ—"देवगईनिरयगईवेउव्वियसरीरवेउव्वियअंगोवंगदेवाणुपुव्वीनरयाणुपुव्वीणं जहन्नओ ठिइबंधो सागरोवमस्स बेसत्तभागा सहस्सगुणिया पलिओवमासंखेज्जभागेणूणया" इति। कस्मादेवं परिमाणैव जघन्या स्थितिर्वैक्रियषट्कस्य? इति चेत्, अत आह–यद्यस्मात्कारणात्तेषां वैक्रियषट्करूपाणां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितेर्बन्धकाः, ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति, न न्यूनाम्। 'ठिई अबाहूणियनिसेगो' इति, सर्वासामपि कर्मप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टा वा स्थितिरबाधोना सती निषेको

निपेकविपयः, अबाधासमयान् मुक्त्वा परतः कर्मदलिकनिषेको भवतीति भावार्थः, तथा चोक्तं भगवत्यां—"अबाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो" इति ॥४९॥

मोत्तुमबाहासमए बहुगं तयणंतरे रयइ दलियं। तत्तो विसेसहीणं कमसो नेयं ठिई जाव ॥५०॥

(स्वो०)—अबाधासमयेषु दलनिक्षेपो न भवति, अतः मुक्त्वाऽबाधासमयान् तस्या अनन्तरसमये सर्वप्रभूतं दलं निक्षिपति, तस्मात् परतः प्रतिसमयं विशेषहीनं विशेषहीनं क्रमशः परिपाट्या नेतव्यं–ज्ञातव्यम्, यावदन्तस्थितिरिति गाथार्थः ॥५०॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं जघन्यस्थितिपरिमाणम्। सम्प्रति निषेकप्ररूपणावसरः, तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे, तद्यथा–अनन्तरोपनिधा-परम्परोपनिधा च। तत्रानन्तरोपनिधाप्ररूपणार्थमाह—सर्वस्मिन्नपि कर्मणि बध्यमाने आत्मीयानबाधासमयान् मुक्त्वा निजनिजाबाधासमयेभ्य ऊर्ध्वमित्यर्थः, दलिकनिषेकं करोति, तत्राबाधासमयेभ्योऽनन्तरे समये बहुकं प्रभूतं दलिकं रचयति, ततस्तस्मात्समयाद नन्तरं समये समये विशेषहीनं दलिकमारचयति, तद्यथा—अबाधानन्तरसमयात्परतो द्वितीये समये विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीये समये विशेपहीनं, तस्मादपि चतुर्थसमये विशेषहीनं, एवं क्रमशः क्रमेण विशेषहीनं तावद्वाच्यं,यावत्तत्समयबध्यमानकर्मणामुत्कृष्टा स्थितिश्चरमसमय इत्यर्थः ॥५०॥

अपवादमाह—

आउस्स पढमसमया परभविया जेण तस्स उ अबाहा। पल्लासंखियभागं गंतुं अद्धद्धयं दलियं ॥५१॥

(स्वो०)—आयुष्कर्मणः प्रथमसमयादारभ्य एवमेव दलनिक्षेपः कार्यः, परभविका–अन्यभविका येन कारणेन तस्याबाधा, यद्यपि

मनुष्यो मनुष्यायुष्कं बध्नाति, तथाप्यन्यप्रकृतीनामिव स्वजातीयप्राक्प्रकृतौ पूर्वदलमध्ये दलनिक्षेपो न भवति, तद्भवसमयेष्वेव निक्षिपति, परभवायुःशेषमबाधोच्यते, यतस्तदुदयसमाप्तावितरस्योदयो भवति, उक्तं च–'परभवपढमे समये'इत्यादि, पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रसमयेष्वतीतेषु प्राक्समयादन्तसमये दलार्द्धं भवति, एष क्रमः सर्वकर्मस्थितिषु मन्तव्य इति गाथार्थः ॥५१॥

(मलय०)—सम्प्रत्यायुषि विशेषमाह—आयुषि सर्वस्मिन्नपि बध्यमाने प्रथमसमयादारभ्य पूर्वक्रमेण दलिकं रचयति, तद्यथा–प्रथमसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनं,एवं यावत्तत्तत्कालबध्यमानस्यायुष उत्कृष्टा स्थितिः। ननु सर्वत्राप्यबाधासमयान्मुक्त्वा दलिकनिषेकविधिः, तत्कस्मादायुषः प्रथमसमयादेवारभ्य दलिकनिषेकं करोति? तत आह–'परभविया जेण तस्स उ अबाहा' येन कारणेन तस्य बध्यमानस्यायुषोऽबाधा पारभविकी–अन्यभवसम्बन्धिन्यनुभूयमानभवायुःसम्बन्धिनीत्यर्थः, तेन सा तस्य सत्तायां न भण्यते, इति तस्य बध्यमानस्यायुषः प्रथमसमयादेवारभ्य दलिकनिषेकविधिरुक्तः। अथ कथं बध्यमानस्यायुषोऽबाधा पारभविकी व्यपदिश्यते? उच्यते–तदायत्तत्वात्। तथाहि–एष आयुषः स्वभावो, यदुत यावदनुभूयमानभवायुरुदये वर्त्तते तावत्सर्वथा नोदयमायाति, अनुभूयमानभवायुःपरिसमाप्त्यनन्तरं चावश्यमुदयमधिगच्छति, अनुभूयमानभवायुषश्च शेषे महास्थितिकमपि परभवायुर्बध्नाति, कदाचित्त्रिभागे, कदाचिन्नवभागे, कदाचित्सप्तविंशतिभागे, कदाचिच्चरमेऽन्तर्मुहूर्त्ते। ततो महास्थितिकस्यापि परभवायुषोऽबाधाऽनुभूयमानभवायुःशेषानुसारेण तदा तदा तावती तावती प्रवर्त्तते, इति सा पारभविकी व्यवह्रियते, न बध्यमानस्यायुष इति। सम्प्रति परम्परोपनिधानप्ररूपणामाह–सर्वेषामपि कर्मणामबाधाकालादूर्ध्वं प्रथमसमये यन्निषिक्तं दलिकं, तदपेक्षया द्वितीयादिषु समयेषु विशेषहीनं विशेषहीनतरं दलिकमारभ्यमाणं पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रासु स्थितिष्वतिक्रान्तासु दलिकमर्द्धं भवति,ततः

पुनरप्यूर्ध्वं तदपेक्षया विशेषहीनं विशेषहीनतरं दलिकमारभ्यमाणं पल्योपमासंख्येयभागमात्रासु स्थितिषु गतास्वर्द्धं भवति, एवमर्द्धार्द्ध-हान्या तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः ॥५१॥

पलिओवमस्स मूला असंखभागम्मि जत्तिया समया। तावइया हाणीओ ठिइबंधुक्कोसए नियमा ॥५२॥

(स्वो०)—पल्योपमस्य वर्गमूलासङ्ख्येयभागे यावन्मात्रसमयसङ्ख्याः तावन्मात्रा हानयः स्थितिबन्धे उत्कृष्टे सर्वकर्मसु नियमात्—निश्चयेन भवन्ति, आयुर्मोहनीयोत्कृष्टस्थित्योर्बृहदन्तरं, कथमेतद् भवति ? उच्यते—पल्योपमासङ्ख्येयभागस्य वैचित्र्यान्न दोष इति गाथार्थः ॥५२॥

(मलय०)—कियन्ति पुनरेवमर्द्धार्द्धहानिस्थानानि भवन्तीति तन्निरूपणार्थमाह—सर्वेषामपि कर्मणामुत्कृष्टे स्थितिबन्धे क्रियमाणे निषेकमधिकृत्य पूर्वप्रकारेणार्द्धार्द्धहानयः प्रवर्त्तमानाः पल्योपमस्य यत्प्रथमं वर्गमूलं तस्यासङ्ख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा नियमान्निश्चयेन भवन्ति। आह—ननु मिथ्यात्वमोहनीयस्योत्कृष्टस्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वादेतावत्यो हानयः सम्भवन्तु, आयुषस्तूत्कृष्टस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वात्कथमेतावत्यो हानयः सम्भवन्ति ? उच्यते—इहासङ्ख्येयतमो भागोऽसंख्येयभेदात्मकः, असङ्ख्यातस्यासङ्ख्यातभेदभिन्नत्वात्। ततोऽर्द्धहानौ पल्योपमस्यार्द्धहानिसङ्ख्यायां च पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयतमो भाग आयुष्यल्पतरो गृह्यते, इत्यविरोधः। तथा सर्वाण्यर्द्धहानिस्थानानि स्तोकानि, तेषां पल्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्येयभागप्रमाणत्वात्। एकस्मिन्नर्द्धहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणत्वात्तेषाम् ॥५२॥

उक्कोसाठिईबंधा पल्लासंखेज्जभागमित्तेहिं। हसिएहिं समएहिं हसइ अबाहाए इगसमओ ॥५३॥

(स्वो०)—उत्कृष्टस्थितिबन्धात् पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रैः समयैर्ह्रसितैः ह्रासमुपगतैः अबाधाया एकः समयो ह्रसति, एकसमयेन लघुर्भवति, अनेन क्रमेण यावज्जघन्यस्थितिर्जघन्याऽबाधा भवति, भावना स्वमत्या कार्या इति गाथार्थः ॥५३॥

(मलय०)—कृता निषेकप्ररूपणा, संप्रत्यबाधाकण्डकप्ररूपणार्थमाह–उत्कृष्टात्स्थितिबन्धादारभ्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रैः समयैर्ह्रसितैर्ह्रासमुपगतैरुत्कृष्टाया अबाधायाः एकः समयो ह्रसति, एकेन समयेन हीनोत्कृष्टाऽबाधा भवति, अनेन क्रमेणाबाधा हीना हीनतरा तावद्वाच्या यावज्जघन्यस्थितेर्जघन्याऽबाधा भवति । अयमिह संप्रदायः–चत्वार्यप्यायूंषि मुक्त्वा शेषाणां सर्वेषामपि कर्मणामुत्कृष्टायामबाधायां वर्त्तमानो जीव उत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति परिपूर्णां वा, एकसमयहीनां वा, द्विसमयहीनां वा, एवं यावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनां वा । यदि पुनरुत्कृष्टाऽबाधा एकेन समयेन हीना भवति, ततो नियमात्पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कण्डकेन हीनामेवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति । अमुमेव नियममधिकृत्य सूत्रकृदुक्तवान् । उत्कृष्टात्स्थितिबन्धात्पल्योपमासंख्येयभागमात्रैः समयैर्ह्रासमुपगतैरबाधाया एकः समयो हीयते, यतोऽस्मिन्नुक्तेऽयमर्थः सामर्थ्याल्लभ्यते, उत्कृष्टायामबाधायामेकसमयहीनायां नियमत उत्कृष्टं स्थितिबन्धं पल्योपमासंख्येयभागहीनं करोतीति । अत ऊर्ध्वं पुनरप्येष संप्रदायः–एकसमयहीनायामुत्कृष्टायामबाधायां वर्त्तमानस्तामपि पल्योपमासंख्येयभागहीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, एकसमयहीनां वा द्विसमयहीनां वा यावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनां वा । यदि पुनर्द्वाभ्यां समयाभ्यां हीनोत्कृष्टाबाधा भवति, तर्हि नियमात्पल्योपमासंख्येयभागलक्षणकण्डकद्वयहीनामेवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, तामप्येकसमयहीनां वा यावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनां वा । एवं यतिभिः समयैरबाधाहीना भवति, ततिभिरेव कण्डकैः पल्योपमासंख्येयभागलक्षणैरूना स्थितिर्भवति यावदेकत्र जघन्याऽबाधाऽन्यत्र जघन्या स्थितिः ॥५३॥

एकेन्द्रियादीनां जघन्या स्थितिः

जा एगिंदिजहन्ना पल्लासंखंससंजुया सा उ। तेसिं जेट्ठा सेसाण संखभागहिय जासन्नी ॥५४॥

(स्वो०)—या एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः सा पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रसमयैरभ्यधिका तेषामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति, शेषाणां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां यावदसंज्ञी—असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रसमयैरभ्यधिका उत्कृष्टा स्थितिरिति गाथार्थः ॥५४॥

(मलय०)—तदेवमबाधागतसमयहान्या स्थितिकण्डकहानिप्ररूपणा कृत्वा, संप्रत्येकेन्द्रियाद्युत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धप्ररूपणां चिकीर्षुः प्रथमत एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमाह—यैकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः सा पल्योपमासंख्येयभागमात्रैः समयैः संयुता तेषामेकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति। का नामैकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः ? इति चेत्, उच्यते—इह स्वमूलप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वसत्कयोत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते, तत्पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं सदेकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितेः परिमाणं, तथाहि—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते लब्धास्त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः, ते पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते, एतावत्प्रमाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावणनवकसातासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानामेकेन्द्रिया जघन्यां स्थितिं बध्नन्ति, न न्यूनाम्। एवं मिथ्यात्वस्य जघन्यां स्थितिमेकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागहीनं, कषायमोहनीयप्रकृतीनां चतुरः सागरोपमस्य सप्त भागान्पल्योपमासंख्येयभागहीनान्, नोकषायाणां तथा वैक्रियषट्काहारकद्विकतीर्थंकरवर्जानां शेषाणां नामप्रकृतीनां गोत्रप्रकृतिद्वयस्य च द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनाविति। एतच्च कर्मप्रकृत्यादिचूर्णिकारमतेनोक्तं, सूत्रकारमतेन तु

निद्रापञ्चकप्रभृतीनां या पूर्वं जघन्या स्थितिरुक्ता, सा तासामेकेन्द्रियप्रायोग्या जघन्या स्थितिरवसेया, ज्ञानावरणपञ्चकादीनां तु प्रागुक्तैव कर्मप्रकृत्यादिचूर्णिकारसम्मतेति । स एव जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमासंख्येयभागयुतः सन्नुत्कृष्टः स्थितिबन्ध एकेन्द्रियाणां भवति । तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकसातासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः परिपूर्णा उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, मिथ्यात्वस्य परिपूर्णं सागरोपमं, कषायमोहनीयप्रकृतीनां चत्वारः सप्त भागाः, नोकषायाणां वैक्रियषट्काहारकद्विकतीर्थङ्करवर्जशेषनामप्रकृतीनां गोत्रद्विकस्य च परिपूर्णौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ । सूत्रकारमतेन तु निद्रापञ्चकादीनां प्रागुक्ता जघन्या स्थितिः पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिका एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिरवसेया । तथा 'सेसाण' इत्यादि, शेषाणां–द्वीन्द्रियादीनां यावदसंज्ञी–असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां या प्रागुक्तैकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः सा पल्योपमसंख्येयभागेनाभ्यधिका ततो वक्ष्यमाणगुणप्रकारेण गुणिता सत्युत्कृष्टा स्थितिर्वेदितव्या । इयमत्र भावना- यदा द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टा स्थितिरानेतुमिष्यते, तदा प्राक्तन्येकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः पल्योपमसंख्येयभागाभ्यधिका क्रियते, ततो वक्ष्यमाणपञ्चविंशत्यादिगुणनक्रमेणोत्कृष्टा स्थितिर्भवति ॥५४॥

पणवीसा पन्नासा सय दससयताडिया इगिंदिठिई । विगलासन्नीण कमा जायइ जेट्ठा व इयरा वा ॥

(स्वो०)—पञ्चविंशत्या पञ्चाशता शतेन दशभिः शतैः ताडिता गुणिता एकेन्द्रियाणां स्थितिः विकलेन्द्रियाणां असंज्ञिनां क्रमात्–क्रमेण जायते ज्येष्ठेतरा वा उत्कृष्टा जघन्या वा इति । पञ्चविंशत्या गुणिता द्वीन्द्रियाणां, पञ्चाशता त्रीन्द्रियाणां, शतेन चतुरिन्द्रियाणां, सहस्रगुणाऽसंज्ञिनां स्थितिर्जघन्योत्कृष्टा वा भवतीति गाथार्थः ॥५५॥

(मलय०)-एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह–यैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिः सा पञ्चविंशत्या पञ्चाशता शतेन दशभिः शतैस्ताडिता-

गुणिता सती, क्रमात्क्रमेण विकलासंज्ञिनां-द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां ज्येष्ठोत्कृष्टा इतरा वा जघन्या वा जायते। इयमत्र भावना-एकेन्द्रियाणां ज्ञानावरणीयादिसत्का जघन्या स्थितिः पल्योपमासंख्येयभागहीनसागरोपमसप्तभागत्रिकादिरूपा सा पञ्चविंशत्या गुणिता द्वीन्द्रियाणां जघन्या स्थितिर्भवति, पञ्चाशता गुणिता त्रीन्द्रियाणां, शतेन गुणिता चतुरिन्द्रियाणां, सहस्रेण गुणिताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्। तथा या प्रागुक्तस्वरूपा जघन्या स्थितिरेकेन्द्रियाणां, सा पल्योपमसंख्येयभागाधिका क्रियते, ततः पञ्चविंशत्या गुणिता द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितर्भवति, पञ्चाशता गुणिता त्रीन्द्रियाणां, शतेन गुणिता चतुरिन्द्रियाणां, सहस्रेण गुणिताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्। कर्मप्रकृतिकारादयः पुनरेवमाहुः-एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चविंशत्या गुणितो द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति, पञ्चाशता गुणितस्त्रीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः, शतेन गुणितश्चतुरिन्द्रियाणां, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां, एष एवानन्तरोक्तो द्वीन्द्रियादीनामात्मीय आत्मीय उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, पल्योपमसंख्येयभागहीनो जघन्यः स्थितिबन्धो वेदितव्य इति, तत्त्वं पुनरतिशयज्ञानिनो विदन्ति ॥५५॥

ठिइठाणाइं एगिंदियाण थोवाइं होंति सव्वाणं। बेंदीण असंखेज्जाणि संखगुणियाणि जह उप्पिं॥५६॥

(स्वो०)—जघन्यस्थित्यन्तसमयादारभ्य समयवृद्ध्या यावदुत्कृष्टस्थित्यन्तसमयं, किमुक्तं भवति? जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तराले समयाः, तानि स्थितिस्थानानि उच्यन्ते। तान्येकेन्द्रियाणां सर्वजीवेषु सर्वस्तोकानि भवन्ति, पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयतुल्यानि तान्येवासङ्ख्येयगुणानि द्वीन्द्रियाणां, तान्येव सङ्ख्येयगुणानि त्रीन्द्रियाणां, एवं चतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनामपि नेतव्यानीति गाथार्थः॥

(मलय०)—कृतैकेन्द्रियादीनामुत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धपरिमाणप्ररूपणा। सम्प्रति स्थितिस्थानप्ररूपणार्थमाह-इह जघन्यस्थितेरारभ्य

समयवृद्ध्या यावदुत्कृष्टस्थितिचरमसमयस्तावत्प्रमाणानि स्थितिस्थानानि । तद्यथा—जघन्या स्थितिरेकं स्थितिस्थानं, सैव समयाधिका द्वितीयं स्थितिस्थानं, द्विसमयाधिका तृतीयं स्थितिस्थानं, एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवंभूतानि च स्थितिस्थानान्येकेन्द्रियाणां सर्वेषामपि चिन्त्यमानानि स्तोकानि—सर्वस्तोकानि, भवन्ति, पल्योपमासंख्येयभागसमयप्रमाणत्वात्तेषाम् । ततो द्वीन्द्रियाणामसङ्ख्येयगुणानि, ततो यथा यथोपरि तथा तथा सङ्ख्येयगुणानि वक्तव्यानि यावत्पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिति । इयमत्र भावना—सर्वस्तोकानि सूक्ष्मस्याऽपर्याप्तस्यैकेन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि, तेभ्योऽपर्याप्तबादरस्य सङ्ख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मस्य सङ्ख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरस्य सङ्ख्येयगुणानि, एतानि च पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि, तेभ्योऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्यासंख्येयगुणानि, कथमेवं गम्यते ? इति चेत्, उच्यते—इह द्वीन्द्रियाणामपर्याप्तानां स्थितिस्थानानि पल्योपमसंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि, पाश्चात्यानि तु पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि, ततः पाश्चात्येभ्योऽमून्यसंख्येयगुणान्येवोपपद्यन्ते, तेभ्योऽपि पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य संख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य सङ्ख्येयगुणानि तेभ्योऽप्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य संख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य संख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य संख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य संख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि संज्ञिपंचेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य संख्येयगुणानि तेभ्योऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य संख्येयगुणानि । इह द्वीन्द्रियापर्याप्तस्थितिस्थानचिन्तायामसंख्येयगुणत्वं, शेषेषु तु सर्वेष्वपि स्थानेषु संख्येयगुणत्वमिति । कृता स्थितिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति संक्लेशस्थानप्ररूपणा विशोधिस्थानप्ररूपणा च कर्त्तव्या, तत्र संक्लेशस्थानानि विशोधिस्थानानि वा सर्वत्राप्यसंख्येयगुणानि द्रष्टव्यानि । तद्यथा—सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य सर्वस्तोकानि संक्लेशस्थानानि, तेभ्योऽपर्याप्तबादरस्यासंख्येयगुणानि,

तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मस्यासंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरस्यासंख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यपर्याप्तद्वीन्द्रियस्यासंख्येयगुणानि, एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियापर्याप्तपर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि। कथमेवं गम्यते सर्वत्राप्यसंख्येयगुणानि संक्लेशस्थानानि ? इत्युच्यते–इह सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धारम्भे यानि संक्लेशस्थानानि तेभ्यः समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धारम्भे यानि संक्लेशस्थानानि तानि विशेषाधिकानि, तेभ्योऽपि द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धारम्भे विशेषाधिकानि, एवं तावद्वाच्यं यावत्तस्यैवोत्कृष्टा स्थितिः। उत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे च यानि संक्लेशस्थानानि तानि जघन्यस्थितिसंक्लेशस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणानि। ततो यदि तदेवं तदा सुतरामपर्याप्तबादरस्य संक्लेशस्थानान्यपर्याप्तसूक्ष्मसंक्लेशस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणानि भवन्ति। तथाहि–अपर्याप्तसूक्ष्मस्थितिस्थानापेक्षयाऽपर्याप्तबादरस्य स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि, एतच्च प्रागेवोक्तम्। स्थितिस्थानवृद्धौ च संक्लेशस्थानवृद्धिः, ततो यदाऽपर्याप्तसूक्ष्मस्यापि स्थितिस्थानेष्वतिस्तोकेषु जघन्यस्थितिस्थानसत्कसंक्लेशस्थानापेक्षयोत्कृष्टस्थितिस्थाने संक्लेशस्थितिस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति, तदा बादरापर्याप्तस्थितिस्थाने सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिस्थानापेक्षया सुतरां भवन्ति। एवमुत्तरत्राप्यसंख्येयगुणत्वं भावनीयं। यथा च संक्लेशस्थानानि प्रत्येकमसंख्येयगुणान्युक्तानि, एवं विशोधयोऽपि प्रत्येकमसंख्येयगुणा अभिधातव्याः। यतो यान्येव संक्लिश्यमानस्य संक्लेशस्थानानी तान्येव विशुध्यमानस्य सतो विशुद्धिस्थानानि सम्भवन्ति, एतच्च पुरस्तात्सप्रपञ्चं भावयिष्यते, ततः संक्लेशस्थानानीव विशोधिस्थानान्यपि प्रत्येकमसंख्येयगुणानि वाच्यानि ॥५६॥

सव्वजहन्ना वि ठिई असंखलोगप्पएसतुल्लेहिं। अज्झवसाएहिं भवे विसेसअहिएहिं उवरुवरिं ॥५७॥

(स्वो०)—सर्वेषां कर्मणां सर्वजघन्या स्थितिः साऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायैः क्रियते निष्पाद्यते बध्यत इति

अध्यवसाया ह्यत्र तीव्रतीव्रतरतीव्रतममन्दमन्दतरमन्दतमकषायोदयविशेषाः ते चैवं विशेषाधिकैर्विशेषाधिकैः यथोत्तरं समयवृद्ध्या व-र्धन्ति यावदुत्कृष्टस्थित्यन्तसमय इति गाथार्थः ॥५७॥

(मलय०)—अथैकैकस्मिन् स्थितिस्थाने कियन्तोऽध्यवसाया नानाजीवापेक्षया हेतुत्वेन व्याप्रियमाणाः प्राप्यन्ते? इति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य तन्निरूपणार्थमाह—आयुर्वर्जानां सर्वेषां कर्मणां या सर्वजघन्या स्थितिः, साप्यसंख्येयलोकप्रदेशतुल्यैरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायैर्नानाजीवानाश्रित्य भवति निष्पद्यते। केनाप्यध्यवसायेन कस्यापि जीवस्य जघन्या स्थितिर्निष्पत्तिमधिगच्छति, नानाजीवापेक्षया कालत्रयमवलम्ब्य सैवैका जघन्या स्थितिः केवलवेदसा परिभाव्यमाना संख्यातीतलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायैर्निष्पाद्यमाना प्राप्यते। अध्यवसायाश्च तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतररूपाः कषायोदयविशेषा अवसेयाः। तत उपरितनान्युपरितनानि स्थितिस्थानानि विशेषाधिकैर्विशेषाधिकैरध्यवसायैर्भवन्ति। इयमत्र भावना—आयुर्वर्जानां सप्तानामपि कर्मणां या जघन्या स्थितिः सा प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायैः कालत्रयवर्त्तिनो नानाजीवानधिकृत्य निष्पाद्यमाना प्राप्यते, ततो द्वितीया विशेषाधिकैः, ततोऽपि तृतीया विशेषाधिकैः, एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः। आयुषां पुनरेवमवसेयं—सर्वजघन्या स्थितिरायुषो नानाजीवानधिकृत्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायैर्निष्पाद्यमाना प्राप्यते, ततो द्वितीया तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणैः, ततोऽपि तृतीया तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणैः, एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः ॥५७॥

असंखलोगखपएसतुल्लया हीणमज्झिमुक्कोसा। ठिई बंधज्झवसाया तीए विसेसा असंखेज्जा ॥५८॥

(स्वो०)—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्या बन्धाध्यवसाया हीनाया मध्यमाया उत्कृष्टायाश्च स्थितेः, "सुपां सुपो भवन्ती" ति

न्यायात् षष्ठ्यर्थे प्रथमाविभक्तिः, तस्याश्च स्थितेर्जघन्याया अप्यसंख्येया विशेषाः, एतदेकेन्द्रियस्थितिमभिदधता दर्शितमेव, ये स्थितिबन्धाध्यवसाया हीना मध्यमा उत्कृष्टाश्च ते प्रत्येकं असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याः, तेषामसंख्येयलोकानां वैचित्र्यान्न दोषः, तस्याश्च स्थितेरसंख्येया विशेषाः प्रतिसमयमुच्यमानाः, सर्वोत्कृष्टापि स्थितिरसंख्येयसमयात्मिका नानन्तसमयात्मिका इति गाथार्थः ॥५८॥

(मलय०)—एतदेव किञ्चिद्भावयति–इह 'सुपां सुपो भवन्ति' इति प्राकृतलक्षणवचनात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थः–स्थितेर्हीनाया मध्यमाया उत्कृष्टायाश्च प्रत्येकं बन्धाध्यवसाया बन्धहेतवोऽध्यवसाया असंख्यलोकखप्रदेशतुल्याः, संख्यातीतेषु लोकेषु ये आकाशप्रदेशास्तत्प्रमाणाः, तस्याश्च स्थितेर्जघन्याया मध्यमाया उत्कृष्टायाश्च प्रत्येकमसंख्येया विशेषाः, ते च स्थितिहेतुभूताध्यवसायवैचित्र्यनिबन्धनादेशकालरसविभागवैचित्र्यादवसेयाः । अथवा जघन्यापि स्थितिरसंख्येयसमयात्मिका, एवं मध्यमोत्कृष्टा च । तत्र जघन्या स्थितिः समयसमयमात्रापगमनेन प्रतिसमयमन्यथात्वं प्रतिपद्यते इति तस्या असंख्येया विशेषाः । एवं मध्यमाया उत्कृष्टायाश्च भावनीयम् ॥५८॥

सत्तण्हं अजहन्नो चउहा ठिइबंधु मूलपगईणं । सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एवं ॥५९॥

(स्वो०)—सप्तानामजघन्यश्चतुर्द्धा साद्यादिः स्थितिबन्धो मूलप्रकृतीनां भवति । शेषास्तु जघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टाः साद्यध्रुवा एव । चत्वारोऽपि जघन्याऽजघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा आयुष्येवमेव साद्यध्रुवा इति । आयुषः पृथग्भणनाच्छेषाः सप्तप्रकृतयो व्यक्ता एव । तुशब्दादुभयश्रेणी ज्ञापयति, क्षपकबादरान्तसमये मोहनीयस्य, षण्णां सूक्ष्मरागान्तसमये जघन्यः समयमेकं स्थितिबन्धः, स चाप्राप्त-

पूर्वकत्वात् सादिः, तदनन्तरमेवापगमादध्रुवो, यद्यपि वेदनीयस्योपशान्तादिषु जघन्यतरोऽस्ति स न गृह्यते, यतः स्थित्यनुभागबन्धौ कषायप्रत्ययावभिहितौ । उत्कृष्टस्तु संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ यदाऽतिक्लिष्टत्वं भवति तदैकसमयं, तदनन्तरमनुत्कृष्टो, भूयोऽप्युत्कृष्टसम्भवादेवमुभावपि साद्यध्रुवौ । उपशमश्रेण्यां किञ्चिदविशुद्धपरिणामत्वादजघन्यो बन्धोऽसावपि जघन्यवत्साद्यध्रुवो भव्यानाम्, अभव्यानामनादिरबन्धकत्वं, प्रतिपतनाभावात् स च ध्रुवः। आयुषश्चत्वारोऽपि साद्यध्रुवा बन्धस्याध्रुवत्वात् भाविता एवेति गाथार्थः ॥५९॥

(मलय०)—तदेवं कृताऽध्यवसायस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्त्तव्या, सा च द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह—आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धश्चतुर्धा चतुष्प्रकारस्तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—मोहनीयवर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्धः क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते, स च तदानीमेव भवतीति सादिः, द्वितीये च समये बन्धव्यवच्छेदादपगमिष्यतीत्यध्रुवः । एवंभूताच्च जघन्यस्थितिबन्धादन्यः सर्वोऽपि स्थितिबन्धोऽजघन्यः, स चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति, ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि भवतीति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, भव्यानामध्रुवः कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, अभव्यानां ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात्। मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकस्यानिवृत्तिबादरसंपरायस्य चरमसमये, स चैकसामयिक इति साद्यध्रुवः, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स चोपशमश्रेण्यां सूक्ष्मसंपराये न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । वेदनीयस्य यद्यप्युपशान्तमोहादावतिजघन्यतरो द्विसामयिकः स्थितिबन्धः प्राप्यते, तथापि स साम्परायिको न भवति, साम्परायिकस्य च साद्यादिप्ररूपणा कर्तुमारब्धा प्रवर्त्तते, ततो न सा गृह्यते । शेषास्त्वजघन्यवर्जा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः

स्थितिबन्धाः सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां साद्यध्रुवा ज्ञातव्याः, तत्र जघन्याः साद्यध्रुवतया प्रागेव भाविताः। उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सर्वसंक्लिष्टे संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ कियत्कालं प्राप्यते, तदनन्तरं तस्यैवानुत्कृष्टः, ततो भूयोऽपि कालान्तर उत्कृष्ट इति द्वावप्येतौ पर्यायेण लभ्यमानत्वात्साद्यध्रुवौ। आयुष्यायुःसंज्ञके कर्मणि चत्वारोऽपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपाः स्थितिबन्धाः एवं-साद्यध्रुवतया प्रतिपत्तव्याः। आयुर्बन्धो हि प्रतिनियतकालभावी, ततस्तद्विशेषा जघन्यादयः सर्वेऽपि साद्यध्रुवा एव घटन्ते, न प्रकारान्तररूपाः ॥५९॥

नाणंतरायदंसणचउक्कसंजलणठिई अजहन्ना। चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥६०॥

(स्वो०)—सम्पूर्णज्ञानान्तरायदर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनानामेषामष्टादशानां अजघन्या स्थितिश्चतुर्द्धा भवति, शेषा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा साद्यध्रुवा स्थितिः। इतरासां-अष्टादशशेषाणां सर्वाः-जघन्याऽजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः स्थितयः साद्यध्रुवा भवन्तीति गाथार्थः।

(मलय०)—कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यादिप्ररूपणा। संप्रत्युत्तरप्रकृतिविषयां तां विधित्सुराह-पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां, दर्शनावरणचतुष्कस्य चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपचतुष्टयस्य, चतुर्णां संज्वलनानां सर्वसंख्ययाष्टादशानां प्रकृतीनां स्थितिरजघन्या चतुर्धा चतुष्प्रकारा, तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। तथाहि-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरण-चतुष्टयानां जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकस्य सूक्ष्मसंपरायस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य, संज्वलनचतुष्टयस्य क्षपकस्यानिवृत्तिबादरसंपरायस्य स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये, स चैकसामयिक इति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति, ततः प्रतिपाते च भूयः संजायते इति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। शेषा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा च स्थितिः साद्यध्रुवा। तत्र जघन्याऽनन्तरमेव भाविता, उत्कृष्टानुत्कृष्टा च संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते। तथाहि-

सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टा, तस्मिन्नेव मध्यमपरिणामेऽनुत्कृष्टा, ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। इतरासामष्टादशशेषाणां प्रकृतीनां सर्वा अपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः स्थितयः साद्यध्रुवाः। कथम्? इति चेत्, उच्यते–निद्रापञ्चकमिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णादिचतुष्टयागुरुलघूपघातनिर्माणरूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वविशुद्धे बादरैकेन्द्रियपर्याप्तेऽन्तर्मुहूर्तकालं यावल्लभ्यते, तदनन्तरं तस्मिन्नेवाध्यवसायपरावर्त्तनतो मन्दपरिणामेऽजघन्यः, पुनरपि कालान्तरे तस्मिन्नन्यस्मिन् वा भवे विशुद्धिप्रतिपन्ने जघन्य इति साद्यध्रुवौ। उत्कृष्टानुत्कृष्टौ पर्यायेण संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ लभ्येते, सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टो, मध्यमपरिणामेऽनुत्कृष्ट इति तावपि साद्यध्रुवौ। शेषाणां चाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव चत्वारो विकल्पाः साद्यध्रुवा वेदितव्याः ॥६०॥

एतदेव भावयति—

अट्ठारसण्ह खवगो बायरएगिंदि सेसधुवियाणं। पज्जो कुणइ जहन्नं साई अधुवो अओ एसो ॥६१॥

(स्वो०)—अष्टादशानां पूर्वोक्तानां क्षपक एकं समयं जघन्यस्थितिबन्धं करोति, यतः सोऽतिविशुद्धपरिणामः। शेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां बादरपर्याप्तकैकेन्द्रियः पृथिवीजलप्रत्येकवनस्पतिरूपः तद्योग्यविशुद्धपरिणामो जघन्यं स्थितिबन्धं समयमेकं करोति, एवं सादिः, तद्भावपरित्यागादध्रुवः। अष्टादशानां जघन्याभावेऽबन्धकः, शेषध्रुवबन्धिनीनां जघन्याऽभावेऽजघन्यबन्धकोऽतोऽसावपि सादिः, सादिश्चावश्यमध्रुव इति गाथार्थः ॥६१॥

(मलय०)—साम्प्रतमेनामेव गाथां मन्दमतिविनेयजनानुग्रहाय भावयति–ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयसंज्वलनचतुष्करूपाणां पूर्वोक्तानामष्टादशानां प्रकृतीनां क्षपकः स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये समयमेकं जघन्यं स्थितिबन्धं करोति, नवरं

संज्वलनचतुष्टयस्यानिवृत्तिबादरः, शेषाणां सूक्ष्मसंपरायः। एता हि प्रकृतयोऽशुभाः, अशुभानां जघन्यः स्थितिबन्धो विशुद्धपरिणामे सति भवति। क्षपकश्चात्यन्तविशुद्धपरिणामः, ततो जघन्यस्थितिबन्ध आसामुक्तरूपे क्षपके प्राप्यते नान्यत्र, स चैकसामयिक इति साद्यध्रुवः, शेषाणां च ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां बादरैकेन्द्रियः पृथिव्यम्बुप्रत्येकवनस्पतिरूपः पर्याप्तस्तद्योग्यविशुद्धिपरिणामोपेतो जघन्यं स्थितिबन्धं कियत्कालं विधत्ते न शेषस्तथास्वाभाव्यात्। ततः क्षणान्तरे स एवाजघन्यमारभते इति तासामपि द्वाविमौ साद्यध्रुवौ ॥६१॥

अट्ठाराणऽजहन्नो उवसमसेढीए परिवडंतस्स। साई सेसवियप्पा सुगमा अधुवा धुवाणंपि ॥६२॥

(स्वो०)—अष्टादशानामजघन्यो भवत्युपशमश्रेण्याः प्रतिपततः सादिः, सादिश्चाध्रुवोऽवश्यं भवति, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिरभव्यस्य ध्रुव इति। शेषविकल्पाः (अष्टादशानां) अध्रुवबन्धिनीनां चत्वारोऽप्यध्रुवबन्धित्वादेव सुखेनैव भाव्यन्ते साद्यध्रुवा इति, ध्रुवबन्धिनीनामप्युत्कृष्टानुत्कृष्टौ साद्यध्रुवौ भावितावेव संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ तयोर्भावादिति गाथार्थः ॥६२॥

(मलय०)—साम्प्रतमष्टादशानामजघन्यं चतुष्प्रकारं, शेषाणां च ध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टौ साद्यध्रुवावध्रुवबन्धिनीनां चतुरोऽपि साद्यध्रुवान् भावयति–ज्ञानावरणपञ्चकादीनामनन्तरगाथोक्तानामष्टादशानां प्रकृतीनामजघन्यः स्थितिबन्धः सादिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपाततः प्राप्यते। ततोऽसौ चतुष्प्रकारस्तथाहि–उपशमश्रेणीतः प्रतिपाते सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। शेषास्तु विकल्पा जघन्यादय आसामेवाष्टादशानां प्रकृतीनां, तथा 'अधुवा इति' अत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा, अध्रुवबन्धिनीनामपि च चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवाः ॥६२॥

अस्यैवार्थस्य भावनाय स्वामित्वमाह–

सव्वाणवि पगईणं उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं। एगिंदिया जहन्नं असन्निखवगा य काणंपि ॥६३॥

(स्वो०)—सर्वासां प्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिं संज्ञिनः अपिशब्दात्तीर्थङ्कराहारकदेवायुर्वर्जानां मिथ्यादृष्टयः कुर्वन्ति, पञ्चदशानां तिर्यञ्चो मनुष्या वा नारकविकलसूक्ष्मत्रिकाणां देवद्विकवैक्रियद्विकतिर्यग्मनुष्यायुषाम्। कुत एतदवसीयते? देवनारकेषु तासां बन्धाभावात्। यद्यपि तिर्यग्मनुष्यायुषोर्बन्धकाः, न तथाप्युत्कृष्टयोस्तयोरिति। षण्णां देवनारकाश्च कुर्वन्ति—तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकोद्योतान्त्यसंहननानाम्, यतस्तिर्यग्मनुष्या अतिक्लिष्टा नरकप्रायोग्यानां बन्धकाः न तासाम्। ईशानान्ता देवाः त्रयाणां स्थावरैकेन्द्रियातपरूपाणां, यतो नारका अप्यासामबन्धकाः। तीर्थकरस्याविरतो, यतस्तद् बन्धकेषु स एवाविशुद्धः। एवमाहारकद्विकस्याप्रमत्तः प्रमत्ताभिमुखः। देवायुषः प्रमत्तो विशुद्धयमानः, यतः शुभायुस्त्रयस्य विशुद्ध्या स्थितेर्वृद्धिरित्युत्तरगाथायां भणिष्यत्येवेति, अष्टाविंशतेरवशेषाणां चतुर्गतिकाः संज्ञिमिथ्यादृष्टय उत्कृष्टां स्थितिं कुर्वन्ति समयमेकं, पश्चात्त एवानुत्कृष्टामतो द्वावपि साद्यध्रुवावेव। द्वितीयार्द्धेन जघन्यस्वामित्वमाह—एकेन्द्रिया जघन्यां सप्ताशीतेः प्रकृतीनां स्थितिं कुर्वन्ति, "बादराः पर्याप्तका" इत्याद्यभिहितमेव। 'असंज्ञी'ति। देवत्रिकनरकत्रिकवैक्रियद्विकानामसंज्ञिनो जघन्यां स्थितिं कुर्वन्ति, एकेन्द्रियेषु तासां बन्धाभावात्। क्षपकाश्च कासाञ्चिदाहारकतीर्थङ्कराणामपूर्वकरणः, पुरुषसंज्वलनानां बादरकषायक्षपकः, सकलज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणचतुष्कसातोच्चयशःकीर्त्तीनां सूक्ष्मसम्परायक्षपकोऽन्तसमये समयमेकं जघन्यं स्थितिबन्धं करोति, आहारकतीर्थकरपुरुषवेदानां यद्यपि क्षपकश्रेण्यां जघन्यो बन्धस्तथापि अध्रुवबन्धित्वाच्चतुर्विधो न भवतीति गाथार्थः ॥६३॥

(मलय०)—कृता साधनादिप्ररूपणा। साम्प्रतमेतद्भावनार्थं स्वामित्वप्ररूपणामाह—सर्वासामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामु-

त्कृष्टां स्थितिं कुर्वन्ति संज्ञिनः, केवलं तीर्थकराहारकद्विकदेवायुर्वर्जितानां मिथ्यादृष्टयः, तीर्थकरादीनां तु सम्यग्दृष्ट्यादयः, कथमेतदवसेयम्? इति चेत्, उच्यते-इह तीर्थकरनाम सम्यक्त्वप्रत्ययं, आहारकद्विकं तु संयमनिमित्तम्। उक्तं च-"सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं" इति। देवायुषश्चोत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते सर्वार्थसिद्धौ, तत्र च गमनं संयमवशात्, ततस्तदपि संयमनिमित्तं, अतो मिथ्यादृष्टेर्मूलत एतद्बन्धासम्भवात्सम्यग्दृष्ट्यादयस्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धका वेदितव्याः, केवलं "सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणम्" इति वचनप्रामाण्यात् तद्बन्धकेषु संक्लिष्टाध्यवसानाः प्रतिपत्तव्याः, तत्र यो मनुष्योऽसंयतो वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वं नरकेषु बद्धायुष्को नरकं प्रत्यभिमुखो मिथ्यात्वमनन्तरसमये प्रतिपत्स्यत इत्यन्तिके तीर्थङ्करनामकर्मस्थितिबन्धे वर्त्तते, स तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्ट इति तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति। तथा चोक्तं शतकचूर्णौ—"तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मदिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बंधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठो त्ति काउं। जो सम्मत्तेणं खाइगेणं नरगं वच्चइ सो तओ विसुद्धयरोत्ति काउं तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति"। आहारकद्विकस्यापि योऽप्रमत्तसंयतः प्रमत्तभावाभिमुखः, स तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्ट इत्युत्कृष्टं स्थितिबन्धं करोति। देवायुषोऽपि पूर्वकोट्यायुः पूर्वकोटित्रिभागादिसमये वर्त्तमानः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तभावाभिमुख उत्कृष्टां स्थितिमादधाति। इहैकान्तेनाप्रमत्तः सर्वविशुद्ध आयुर्बन्धमेव च नारभते, केवलं प्रमत्तेनारब्धं सदप्रमत्तो निर्वाहयति, उक्तं च-'अपमत्तो बन्धिउं नाढवेइ, पमत्तेणाढत्तमप्पमत्तो बन्धेइ' इति। देवायुषश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोट्यायुषः पूर्वकोटित्रिभागप्रथमसमय एकं समयं प्राप्यते परतोऽबाधा हानिसम्भवात्, तदानीं च प्रमत्त इति प्रमत्तोऽप्रमत्तभावाभिमुख इत्युक्तम्। शेषाणां तु शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः सर्वसंक्लिष्टाः संज्ञिनो मिथ्यादृष्ट्यादयः, तत्राऽप्ययं

विभागः–देवायुर्वर्जानां शेषाणां त्रयाणामायुषां नरकद्विकदेवद्विकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणानां च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदशप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाध्यवसानास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः, देवनारकाणां तद्बन्धकाभावात्। तथाहि–तिर्यङ्मनुष्यायुषी मुक्त्वा शेषाः प्रकृतयो देवनारकाणां भवप्रत्ययादेव न बन्धमायान्ति, तिर्यङ्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टः स्थितिबन्धो देवकुरूत्तरकुरुषु च भवति, न च देवा नारका वा तत्रोत्पद्यन्ते तथाभवस्वाभाव्यात्। ततस्तिर्यङ्मनुष्यायुषोरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा नारका वा न भवन्ति, किन्तु तिर्यङ्मनुष्याः, तेऽपि च पूर्वकोटयायुषः पूर्वकोटित्रिभागप्रथमसमये वर्त्तमाना मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धिस्थानोपेता वेदितव्याः, नात्यन्तविशुद्धाः, अत्यन्तविशुद्धानामायुर्बन्धाभावात्। न च सम्यग्दृष्टीनां तिर्यङ्मनुष्याणां तिर्यङ्मनुष्यायुषी बन्धमागच्छत इति मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा इत्युक्तम्। नरकायुषोऽपि मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशोपेता उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः, अत्यन्तसंक्लिष्टानामायुर्बन्धासम्भवात्। तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्यौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गोद्योतसेवार्त्तसंहननरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां देवा नारका वात्यन्तसंक्लिष्टाध्यवसाना उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः, एतासां ह्युत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽत्यन्ततीव्रसंक्लेशसम्भवे प्राप्यते, अत्यन्ततीव्रसंक्लिष्टाश्च तिर्यङ्मनुष्या नरकगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, न तिर्यग्गत्यादिकं, अतो देवा नारका वेत्युक्तम्। तथा तिसृणामेकेन्द्रियजातिस्थावरातरूपाणां प्रकृतीनामीशानान्ता देवाः परमसंक्लिष्टाध्यवसाना उत्कृष्टस्थितिनिर्वर्त्तकाः। शेषाः कस्मान्न भवन्ति? इति चेत्, उच्यते–नारकाणां भवप्रत्ययवशादेतत्प्रकृतिबन्धाभावात्, तिर्यङ्मनुष्याणां चातिसंक्लिष्टानां नरकगतिप्रायोग्यबन्धारम्भप्रसक्तेः, मन्दसंक्लिष्टानां चोत्कृष्टस्थितिबन्धासम्भवादिति। शेषाणां चोक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयः संज्ञिनः सर्वसंक्लिष्टा उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः। साम्प्रतमुत्तरार्द्धेन जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमाह—'एगिन्दिया' इत्यादि,

एकेन्द्रिया जघन्यां स्थितिं निर्वर्त्तयन्ति, कासाञ्चिदसंज्ञिनः क्षपकाश्च। इयमत्र भावना–देवत्रिकनरकत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकतीर्थ- जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं
करपुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयोच्चैर्गोत्रसातवेदनीययशःकीर्त्तिवर्जानां शेषाणां सप्ताशीतिसं-
ख्यानां प्रकृतीनामेकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुप्रत्येकवनस्पतयः पर्याप्तबादरास्तत्प्रायोग्यविशुद्धपरिणामपरिणता जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः,
देवत्रिकनरकत्रिकवैक्रियद्विकानामसंज्ञिनः, आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गतीर्थकराणामपूर्वकरणः क्षपकः, चतुर्णां संज्वलनानां (पुरुषवेदस्य
च) अनिवृत्तिबादरसंपरायः क्षपकः, पञ्चविधज्ञानावरणपञ्चविधान्तरायदर्शनावरणचतुष्टयसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तीनां क्षपकः
सूक्ष्मसम्परायः ॥६३॥

सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणं। इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥६४॥

(स्वो०)—सर्वासां प्रकृतीनां(उत्कृष्टा)स्थितिरशुभा भवत्यशुभहेतुत्वादशुभवृक्षस्याशुभफलवत्। तमेवाशुभहेतुं दर्शयति–उत्कृष्टा सर्वोत्कृष्टसंक्लेशतस्तीव्रकषायोदयाद् भवति, अशुभानां तीव्ररसा कटुविपाका, शुभानामपि संसारनिवासमात्रफलैव, न शुभानुभावा नीरसत्वाद्वालुकाकवलवदतोऽशुभा इति। 'इतरा' जघन्या, सा 'विशुद्ध्या' प्रतिपतमानकषायोदयेन भवति। एतदेवापवदति–सुरनरतिरश्चामायूंषि मुक्त्वा, यतस्तेषां विशुद्ध्या स्थितेर्वृहत्त्वं तीव्रशुभानुभावत्वं च व्यक्तम्। संक्लेशतोऽतोऽशुभता सिद्धैव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥६४॥ ॥२३७॥

स्थितिबन्धः समाप्तः

१ 'स्वभावानुभावत्वं वा' इत्यपि पाठः।

(मलय०)—इति कृता स्वामित्वप्ररूपणा। सम्प्रति शुभाऽशुभत्वप्ररूपणार्थमाह—सकलानामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरशुभा, कस्मात्? इति चेत्, उच्यते—कारणाशुद्धत्वात्। तथाहि—उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टे संक्लेशे भवति, संक्लेशवृद्धौ स्थितिवृद्धिप्रतिपादनात्, संक्लेशश्चाशुभं कषायोदयनिमित्तमध्यवसानमुच्यते, ततः कारणाशुद्धत्वात्कार्यमपि तन्निर्वर्त्यमुत्कृष्टस्थितिरूपमशुभमेव भवति। अपि चाप्रशस्तानां कर्मणां संक्लेशवृद्धौ रसपोष उपजायते, ततो यथा तेषां स्थितिवृद्धिस्तथा रसोऽपि वर्द्धते इति तेषामुत्कृष्टा स्थितिरशुभा प्रसिद्धा। यानि तु प्रशस्तानि कर्माणि तेषां यथा यथा संक्लेशो वर्द्धते तथा तथा रसहानिः, उत्कृष्टे संक्लेशसम्भवे च तेषामप्युत्कृष्टा स्थितिरत्यन्तनीरसत्वाद्गालितरसेक्षुयष्टिरिवाप्रशस्ता। एतदेव विभावयितु येनोत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते येन च जघन्येत्येतन्निरूपयति—'उक्कोसेत्यादि' उत्कृष्टा स्थितिः सर्वासामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टेन संक्लेशेन भवति। अस्यायं भावार्थः—ये ये यस्याः यस्याः प्रकृतेर्बन्धकास्तेषा तेषां मध्ये यो य उत्कृष्टः संक्लेशः स स तस्यास्तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिनिर्वर्त्तकः, इतरा तु जघन्या स्थितिः सर्वासामपि प्रकृतीनां विशुद्धिरूपेणाध्यवसायेन भवति। अत्रापीयं भावना—ये ये यस्या यस्याः प्रकृतेर्बन्धकास्तेषां तेषां मध्ये यो यः सर्वविशुद्धः स स तस्यास्तस्याः प्रकृतेर्जघन्यां स्थितिमुत्पादयति। अत्रैवापवादमाह—'सुरनरतिरिआउए मोत्तुं' सुरनरतिर्यगायूंषि मुक्त्वा शेषप्रकृतीनामनन्तरोक्ता जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धपरिभाषा ज्ञातव्या। सुरनरतिर्यगायुषां पुनर्विपर्यासो वेदितव्यः। तद्यथा—यो यस्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टः स स तेषां जघन्यस्थितिबन्धकः, यो यः सर्वविशुद्धः स स उत्कृष्टस्थितिबन्धकः। यथा यथा च स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा रसोऽपि, स्थितिहानौ रसस्यापि हानिरिति ॥६४॥

अणुभागोणुक्कोसो नामतइज्जाण घाइ अजहन्नो। गोयस्स दोवि एए चउव्विहा सेसया दुविहा ॥६५॥

(स्वो०)-अनुभागोऽनुत्कृष्टो नामवेदनीययोः, घातिनां ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाणामजघन्यो, गोत्रस्य द्वावप्येतौ चतुर्विधौ भवतः साद्यनादिध्रुवाऽध्रुवा इति। उक्तशेषभेदाः साद्यध्रुवा, आयुषश्चत्वारोऽपीत्यक्षरार्थः। भावना तु मोहनीयस्य जघन्यानुभागवन्धं बादरक्षपको, ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्यानुभागवन्धं सूक्ष्मः स्वान्तसमये एकं समयं करोति, नामगोत्रवेदनीयानां स एव सूक्ष्म उत्कृष्टानुभागवन्धं समयमेकं करोति, एवमेतौ द्वावप्यप्राप्तपूर्वकत्वात् सादी तदनन्तरमेवाभावादध्रुवौ, एवमेवोपशमश्रेण्यां घातिनाम-जघन्यो, नामगोत्रवेदनीयानामनुत्कृष्टः साद्यध्रुवौ, भव्येष्वनादि ध्रुवोऽभव्येष्विति। घातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धं संज्ञिमिथ्यादृष्टिः करोत्येकं समयं स च साद्यध्रुवः, अनुत्कृष्टोऽपि तद्भ्रष्टाद् भवति स (तस्य) एव। नामवेदनीययोः मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागबन्धं समय-मेकं करोति, मध्यमपरिणामः प्रकृत्योः शुभाशुभयोः संक्रममाणः,अतः साद्यध्रुवोऽसौ, भूयस्तत्सम्भवात्, अजघन्योऽप्येवमेव, गोत्रस्य सप्तमपृथिव्यां मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थित्यन्तसमये जघन्यानुभागबन्धोऽसौ साद्यध्रुवः, अतस्तस्माच्च्युतस्याजघन्योऽसावपि साद्यध्रुवः, अप्राप्ततद्गुणस्यानादिः, अभव्यस्य ध्रुवश्चेति। आयुषोऽध्रुवत्वाच्चत्वारोऽपि भाविता एवेति गाथार्थः ॥६५॥

(मलय०)—तदेवमुक्तः स्थितिवन्धः, सम्प्रत्यनुभागबन्धो वक्तव्यः, तत्र च त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तद्यथा-साद्यनादिप्ररूपणा, स्वा-मित्वप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा च। साद्यनादिप्ररूपणापि द्विधा, तद्यथा-मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र प्रथमतो मूल-प्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह-नामतृतीययोः-नामकर्मवेदनीयकर्मणोरनुत्कृष्टोऽनुभागो, घातिकर्मणां-ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीया-न्तरायाणां अजघन्यश्च चतुर्विधस्तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-नामवेदनीययोरुत्कृष्टोऽनुभागः क्षपकस्य सूक्ष्मसंपरायस्य स्वगुणस्थानकचरमसमयेवर्त्तमानस्य भवति स च द्वितीयसमये व्यवच्छेदमुपयातीति साद्यध्रुवः, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोप-

शान्तमोहगुणस्थानके न भवति ततः प्रतिपाते च भवतीति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवोऽभव्यानां, भव्यानामध्रुवः । तथा मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य क्षपकस्य, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां क्षपकस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तिमसमये जघन्यानुभागबन्धः स चैकसामयिक इति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स चोपशमश्रेण्यां मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपराये, ज्ञानावरणादीनां त्रयाणामुपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति, ततः प्रतिपाते च भवतीति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । तथा गोत्रस्य द्वावप्येतावनन्तरोक्तावनुत्कृष्टाजघन्यौ चतुर्विधौ, तद्यथा–सादी अनादी ध्रुवावध्रुवौ च । तथाहि–गोत्रस्योत्कृष्टोऽनुभागः क्षपकस्य सूक्ष्मसंपरायस्य चरमसमये वर्त्तमानस्य स च समयमात्रभावीति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति ततः प्रतिपाते च भवतीति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । तथा गोत्रस्य जघन्योऽनुभागबन्धः सप्तमपृथिवीवर्त्तिनो नैरयिकस्यौपशमिकसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणं कृत्वा मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितावनुभवतः परिक्षीयमाणायामन्तिमसमये वर्त्तमानस्य नीचैर्गोत्रमधिकृत्य भवति, स चैकसामयिक इति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यो यावदुत्कृष्टो न भवति, स चौपशमिकसम्यक्त्वलाभे उच्चैर्गोत्रमधिकृत्य प्रवर्त्तमानः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्, अमीषां च सप्तानामपि कर्मणां शेषा उक्तव्यतिरिक्ता विकल्पाः सर्वेऽपि द्विविधा द्विप्रकारास्तद्यथा–सादयोऽध्रुवाश्च । तथाहि–वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टोऽनुभागः साद्यध्रुवतया पूर्वमेव भावितः, जघन्याजघन्यौ तु पर्यायेण मिथ्यादृष्टौ सम्यग्दृष्टौ वा प्राप्येते । तथाहि–मध्यमपरिणामे मिथ्यादृष्टौ सम्यग्दृष्टौ वा जघन्योऽनुभागबन्धः, संक्लिश्यमाने विशुध्यमाने वाऽजघन्यः, इति द्वावपि साद्यध्रुवौ । तथा घातिकर्मणां जघन्योऽनुभागबन्धः साद्यध्रुवः प्रागेवोक्तः, उत्कृष्टानुत्कृष्टौ तु क्रमेण मि-

ष्यादृष्टौ प्राप्येते, सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टो, मध्यमपरिणामेऽनुत्कृष्ट इति साद्यध्रुवौ, गोत्रस्य जघन्योत्कृष्टौ साद्यध्रुवौ प्रागेव भावितौ। आयु-
पस्त्वध्रुवबन्धित्वाच्चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवाः सुप्रतीताः ॥६५॥

सुभधुवियाणणुक्कोसो चउहा अजहन्न असुभधुवियाणं । साई अधुवा सेसा चत्तारिवि अधुवबंधीणं॥

(स्वो०)—शुभाश्च ताः ध्रुवाश्च शुभध्रुवास्तासामष्टानामनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः, अशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतामजघन्योऽनुभा-
गवन्धश्चतुर्द्धा भवति, शेषा उभयत्र त्रयो भेदाः साद्यध्रुवाः। अध्रुवबन्धिनीनां चत्वारोऽपि साद्यध्रुवा इति गाथार्थः ॥६६॥

(मलय०)—कृता मूलप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणा, संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां तां चिकीर्षुराह—शुभानां ध्रुवबन्धिनीनां—तैजसकार्मणप्रशस्त-
वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुनिर्माणरूपाणामष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टोऽनुभागवन्धश्चतुर्धा चतुष्प्रकारस्तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथा-
हि—एतासामष्टानामपि प्रकृतीनां क्षपणार्हस्यापूर्वकरणस्य त्रिंशत्प्रकृतिबन्धव्यवच्छेदसमये समयमात्रमुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः प्राप्यते, स
चैकसामयिकत्वात्साद्यध्रुवः, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोपशमश्रेण्यां बन्धव्यवच्छेदात्परतो न भवति ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि
भवतीति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथाऽशुभानां ध्रुवबन्धिनीनां—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमि-
थ्यात्वषोडशकषायजुगुप्साभयोपघाताप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां त्रिचत्वारिंशत्संख्यानां प्रकृतीनामजघन्योऽनुभागश्चतु-
र्धा। तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षपकस्य सूक्ष्म-
संपरायस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य, चतुर्णां संज्वलनानामनिवृत्तिबादरक्षपकस्य स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये, निद्राप्रचलोप-
घातभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शानामपूर्वकरणस्य क्षपणार्हस्य स्वस्वबन्धान्तसमये, चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां संयमं प्रतिपत्तुका-

मस्य देशविरतस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य, तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात्, चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामस्य, तद्बन्धकेषु तस्यातीवविशुद्धिपरिणामोपेतत्वात्, स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वं संयमं चैककालं प्रतिपत्तुकामस्य चरमसमये जघन्योऽनुभागबन्धो लभ्यते स च समयमात्रभावीति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स च ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानामुपशान्तमोहगुणस्थानके, निद्राप्रचलोपघाताप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयभयजुगुप्सानामुपशमश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसम्पराये, प्रत्याख्यानावरणानां प्रमत्तसंयते, अप्रत्याख्यानावरणादीनां देशविरतादौ बन्धव्यवच्छेदे न भवति ततः प्रतिपाते च भवतीति सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। आसामेव शुभानामशुभानां वा ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामुक्तशेषा विकल्पाः साद्यध्रुवाः। तथाहि—तैजसादीनामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टः साद्यध्रुवतया प्रागेव भावितः, जघन्याजघन्यौ तु संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण प्राप्येते, तथाहि—उत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमानस्य जघन्यः, सुविशुद्धे त्वजघन्य इति साद्यध्रुवौ। त्रिचत्वारिंशत्संख्याकानामशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जघन्यः साद्यध्रुवतया भावितः, उत्कृष्टस्तु मिथ्यादृष्टौ संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वसंक्लिष्ट एकं द्वौ वा समयौ यावल्लभ्यते, ततः पुनरपि मन्दपरिणामेऽनुत्कृष्टः, इतीमावपि साद्यध्रुवौ। अध्रुवबन्धिनीनां पुनः प्रकृतीनां चत्वारोऽपि विकल्पा जघन्यादयः साद्यध्रुवाः, सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवबन्धित्वादेवावसेया ॥६६॥

एतदेव स्वामित्वेन भावयति—

असुभधुवाण जहण्णं बंधगचरमा कुणंति सुविसुद्धा। समयं परिवडमाणा अजहण्णं साइया दोवि ॥६७॥

(स्वो)—अशुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमनुभागबन्धं बन्धकचरमास्तद्बन्धकानां पश्चिमाः 'सुविशुद्धा' अतिसुविशुद्धपरिणामाः कुर्वन्ति, त एवोच्यन्ते—अनन्तानुबन्धिस्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टिः समकं सम्यक्त्वसंयमं प्रतिपद्यमानः समयमेकं जघन्यानुभागबन्धं करोति, मध्यमकषायाणां अष्टानां सम्यग्दृष्टिः संयमं प्रतिपद्यमानः, निद्राद्विकाप्रशस्तवर्णाद्युपघातभयजुगुप्सानामपूर्वकरणः, संज्वलनानां बादरकषायपक्षकः, सम्पूर्णज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणचतुष्कानां सूक्ष्मकषायक्षपकः समयमेकं जघन्यमनुभागबन्धं करोति, अतोऽप्राप्तपूर्वकत्वात् सादिः, तदनन्तरमेवाभावादध्रुवः, एत एव जीवा उपशमश्रेण्याः प्रतिपतमाना अजघन्यमनुभागबन्धं कुर्वन्त्यसावपि एवमेव साद्यध्रुवो भवति, अप्राप्ततद्गुणानामनादिः, अभव्यानां ध्रुवः, त्रिचत्वारिंशतामशुभध्रुवबन्धिनीनामिति गाथार्थः ॥६७॥

(मलय०)—कृता साद्यनादिप्ररूपणा, साम्प्रतमेनामेव स्पष्टतरमाविश्चिकीर्षुः स्वामित्वप्ररूपणां करोति—अशुभानां ध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशत्संख्याकानामनन्तरोद्दिष्टानां प्रकृतीनां ये तद्बन्धकेषु चरमाः—बन्धपर्यवसानसमयवर्त्तिनः सुविशुद्धाः—अत्यन्तविशुद्धपरिणामोपेतास्ते समयमेकं जघन्यमनुभागबन्धं कुर्वन्ति ते च प्रागेव भाविताः, तथा उपशमश्रेण्यां स्वबन्धव्यवच्छेदादूर्ध्वमपि गत्वा ततो ये प्रतिपतन्ति तेऽजघन्यमनुभागं बध्नन्ति, ततो द्वावपीमौ जघन्याजघन्यौ सादी, केवलमजघन्योऽनुभागबन्धः सर्वेषामपि संसारिणां भवति, ततो ये बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तास्तेषामनादिः, अभव्यानां ध्रुवः, भव्यानामध्रुव इति प्राक् चतुर्विध उक्तः ॥६७॥

सयलसुभाणुक्कोसं एवमणुक्कोसगं च नायव्वं। वन्नाई सुभअसुभा तेणं तेयाल धुवअसुभा ॥६८॥

(स्वो०)—अगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणशुभवर्णादिचतुष्काणां क्षपणार्होऽपूर्वकरण उत्कृष्टानुभागबन्धं करोति समयमेकं ततश्चासौ साद्यध्रुवः, उपशमाद् भ्रष्टः स एवानुत्कृष्टमनुभागबन्धं करोति असावपि साद्यध्रुवः, तद्गुणमप्राप्तानामनादिरभव्यानां ध्रुव इति।

आतपोद्योततिर्यग्मनुष्यायुषां मिथ्यादृष्टिः, मनुष्यद्विकौदारिकद्विकाद्यसंहनननामविरता देवाः, देवायुषोऽप्रमत्तः, सुराहारकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातिचतुरस्रोच्छ्वासपराघातप्रशस्तविहायोगतितीर्थकराणां त्रसादिनवानामेकविंशतेः क्षपणार्होऽपूर्वकरणः, यशःसातोच्चैर्गोत्राणां सूक्ष्मसम्परायक्षपकः समयमेकमुत्कृष्टमनुभागबन्धं करोति, अप्राप्तपूर्वकत्वात् सादिरनन्तरमेवाभावादध्रुवः, एवं शुभद्विचत्वारिंशतामिति । उपशमश्रेण्याः प्रतिपतमानस्यासामनुत्कृष्टो साद्यध्रुवः। वर्णादयश्चत्वारः शुभगणेऽशुभगणे च तेन त्रिचत्वारिंशदशुभा ध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ शुभा इति गाथार्थः ॥६८॥

(मलय०)—तदेवमशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागबन्धस्वामिन उक्ताः । साम्प्रतं शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिन आह–सकलानां शुभानां प्रकृतीनां सातवेदनीयतिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुर्मनुष्यद्विकदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिशरीरपञ्चकसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननाङ्गोपाङ्गत्रयप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुपराघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्विचत्वारिंशत्संख्यानामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं चानुभागबन्धमेवं कुर्वन्तीति ज्ञातव्यं, किमुक्तं भवति ? ये तद्बन्धकेषु चरमा अत्यन्तविशुद्धास्ते उत्कृष्टमनुभागबन्धं कुर्वन्ति, मन्दपरिणामपरिणतास्त्वनुत्कृष्टम् । इह वर्णादयश्चत्वारः शुभप्रकृतिसमुदायेऽशुभप्रकृतिसमुदाये चान्तर्भवन्ति, तेनाशुभा ध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशदवगन्तव्याः, अष्टौ शुभा ध्रुवबन्धिन्यः ॥६८॥

अशुभध्रुवाणां जघन्याजघन्यौ सर्वशुभानामुत्कृष्टानुत्कृष्टौ उक्तौ, सर्वाशुभानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धमाह—

सयलासुभायवाणं उज्जोयतिरिक्खमणुयआऊणं । सन्नी करेइ मिच्छो समयं उक्कोस अणुभागं ॥६९॥

(स्वो०)—सकलानाम्–अशेषाणामशुभानां प्रकृतीनां द्व्यशीतेः संज्ञिमिथ्यादृष्टिरतिक्लिष्टः समयमेकमुत्कृष्टानुभागबन्धं करोति,

आतपोद्योततिर्यङ्मनुष्यायुषां शुभत्वात्, सुविशुद्धोऽभिहित एव, असावपि साद्यध्रुवः कादाचित्कसम्भवात्, अनुत्कृष्टोऽपि साद्यध्रुवो भूयोऽप्युत्कृष्टभावादिति। सामान्योक्तमपि विशेषितं स्वामित्वमुच्यते—नारकविकलसूक्ष्मत्रिकाणां तिर्यग्मनुष्यायुषां च तिर्यञ्चो मनुष्या वा उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन्ति। कुत एतदवसीयते ? देवनारकाणामासां बन्धाभावात्। एकेन्द्रियस्थावरातपानां मिथ्यादृष्टयो देवा, यत आसां नारका अप्यबन्धकाः, उद्योतस्य तमस्तमानारकास्तिर्यग्द्विकान्त्यसंहननानां देवा नारकाश्च मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन्ति। तिर्यञ्चो मनुष्या वा अतिक्लिष्टा नारकप्रायोग्यानां बन्धका नैषाम्। शेषाशुभानामष्टषष्टिप्रकृतीनामसातनीचास्थिराद्युपघाताशुभविहायोगतिवर्णादिमध्यमसंहननचतुष्कपञ्चसंस्थानघातिपञ्चचत्वारिंशतां चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥६९॥

(मलय०)—उक्ताः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः। सम्प्रत्यनन्तरोक्तानामेव शुभप्रकृतीनां मध्ये कासाञ्चित्प्रकृतीनां विशेषनिर्धारणार्थमशुभप्रकृतीनां च सर्वासामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिन आह—सकलानामशुभानां प्रकृतीनां—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयमिथ्यात्वषोडशकषायनवनोकषायनरकत्रिकतिर्यग्द्विकप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरादिदशकाप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शोपघाताप्रशस्तविहायोगतिनीचैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानां द्व्यशीतिसंख्यप्रकृतीनां संज्ञी मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टः समयमेकमुत्कृष्टमनुभागं बध्नाति। तत्रापि नरकत्रिकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणानां तिर्यङ्मनुष्यो वा संज्ञी मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टो, देवनारकाणां भवप्रत्ययवशादेतत्प्रकृतिबन्धासम्भवात्। एकेन्द्रियजातिस्थावरयोर्देवा एव भवनपत्यादय ईशानान्ताः, तिर्यङ्मनुष्या ह्यतिसंक्लिष्टा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, मन्दसंक्लेशे च नैतासामुत्कृष्टानुभागबन्धसम्भवोऽशुभत्वात्, नारका ईशानात्परे च देवा भवप्रत्ययतो नैताः प्रकृतीर्बध्नन्ति, तत एतयोर्द्वयोरपि प्रकृत्योर्यथोक्तरूपा एव देवा अतिसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभाग-

बन्धस्वामिनः। तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीसेवार्त्तसंहननानां देवा नारका वा अतिसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टयः, मनुष्यतिरश्चामतिसंक्लिष्टानां नरकगतिप्रायोग्यबन्धसम्भवत आसां बन्धासम्भवात्। शेषाणां तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयमिथ्यात्वषोडशकषायनपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्साहुण्डसंस्थानाप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शोपघाताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वराशुभास्थिरानादेयायशःकीर्त्तिनीचैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां चतुर्गतिको मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टः। हास्यरतिस्त्रीपुरुषवेदाद्यन्तवर्जसंस्थानाद्यन्तवर्जसंहननरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी। आतपोद्योततिर्यङ्मनुष्यायुषां तु "सयलसुभाणुक्कोसमेवं" इति प्रागुक्तवचनसामर्थ्यात्सुविशुद्धः सन् संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टमनुभागबन्धं करोति। अथैतत्कथमवसीयते? यदुतासां चतसृणां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टानुभागबन्धविधाता न सम्यग्दृष्टिरपीति, उच्यते—इह तिर्यगायुरातपोद्योतानि सम्यग्दृष्टीनां बन्धमेव नायान्ति, मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टोऽनुभागस्त्रिपल्योपमस्थितिकस्यावाप्यते न शेषस्य, न च तिर्यङ्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो मनुष्यायुरर्जयन्ति तेषां देवायुर्बन्धसम्भवात्, येऽपि देवा नारका वा सम्यग्दृष्टयो मनुष्यायुराबध्नन्ति तेऽपि कर्मभूमियोग्यमेव नाकर्मभूमियोग्यं तत्र तेषामुत्पादाभावात्, ततो मनुष्यायुरादीनां चतसृणामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिरेव न सम्यग्दृष्टिः। अत्रापि विशेषचिन्तायामातपस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवः, तिर्यङ्मनुष्यनारकाणां तद्बन्धासम्भवात्। उद्योतनाम्नः सप्तमपृथिव्यां वर्त्तमानो नारक औपशमिकं सम्यक्त्वमुत्पादयितुकामो यथाप्रवृत्तादिकरणत्रयपुरस्सरमन्तरकरणं कृत्वा मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितिमनुभवंश्चरमसमये वर्त्तमान उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी, तद्बन्धकेषु तस्यातिविशुद्धत्वात्। तिर्यङ्मनुष्यायुषोस्तिर्यङ्मनुष्यो वा तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः। अगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्त-

विहायोगतितीर्थकरयशःकीर्त्तिवर्जशेषत्रसादिनवकरूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामपूर्वकरणः क्षपणार्ह उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननानामविरतो देवः, देवायुषोऽप्रमत्तः, सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तीनां क्षपकः सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टानुभागबन्धकर्त्ता ॥६९॥

उक्तं सर्वासामुत्कृष्टानुभागस्वामित्वं ध्रुवबन्ध्यशुभानां जघन्यमपि, शेषाणामाह—

आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्नं पमत्तयाभिमुहो। नरतिरिय चोद्दसण्हं देवाजोगाण साऊण ॥७०॥

(स्वो०)—आहारकद्विकस्याप्रमत्तः प्रमत्ताभिमुखो जघन्यानुभागं करोति। तिर्यञ्चो वा मनुष्या वा 'देवायोग्यानां' नारकसुरविकलसूक्ष्मत्रिकवैक्रियद्विकानां चतुर्दशानां 'स्वायुषां' मनुष्यतिर्यगायुषोरिति जघन्यानुभागं कुर्वन्ति, तद्योग्यसंक्लिष्टा इति गाथार्थः।

(मलय०)—तदेवमुक्तः शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनां च विशेषरूप उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी। सम्प्रति यथायोगं शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनां च जघन्यानुभागबन्धस्वामिनमाह—आहारकस्य—आहारकद्विकस्याप्रमत्तः प्रमत्तताभिमुखो जघन्यमनुभागबन्धं करोति, तस्य तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टत्वात्। तथा देवाऽयोग्यानां नरकत्रिकदेवत्रिकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणवैक्रियद्विकरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां नरा—मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तत्प्रायोग्यविशुद्धसंक्लिष्टाध्यवसानाः, स्वायुषोश्च—तिर्यङ्मनुष्यायुषोश्च जघन्यमनुभागं बध्नन्ति, जघन्यानुभागबन्धस्वामिन इत्यर्थः। तत्र नरकत्रिकस्य दशवर्षसहस्रप्रमाणमायुःस्थितिं निर्वर्त्तयन् तत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यानुभागबन्धस्वामी, सर्वविशुद्धस्य तद्बन्धासम्भवात्। शेषाणां त्रयाणामायुषां स्वां स्वां जघन्यस्थितिमुत्पादयंस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तो जघन्यानुभागबन्धविधाता, अतिसंक्लिष्टस्य तद्बन्धायोगात्। वैक्रियद्विकस्य नरकगतेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं विदधत

जघन्यानुभागवन्धकारी, तद्बन्धकेपु सर्वसंक्लिष्टत्वात् । देवद्विकस्योत्कृष्टां स्थितिमुत्पादयंस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तो जघन्यानुभागवन्धस्वामी, तद्बन्धकेपु तस्यातिसंक्लिष्टत्वात् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणानां तत्प्रायोग्यविशुद्धिस्थानोपेतो जघन्यानुभागवन्धकर्त्ता, सर्वविशुद्धस्य तद्बन्धासम्भवात्, एताश्च पोडशापि प्रकृतयो भवप्रत्ययादेव देवनारकाणां न वन्धमायान्तीति नरतिर्यग्ग्रहणम् ॥७०॥

ओरालियतिरियदुगे नीउज्जोयाण तमतमा छण्हं। मिच्छनरयाणभिमुहो सम्मद्दिट्ठी उ तित्थस्स ॥७१॥

(स्वो०)—औदारिकद्विके शुभानां शुभाः सहचरा इत्युद्योते च पृथग्विभक्तिनिर्देशादीशानान्ता देवास्तद्योग्यसंक्लिष्टा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति । तिर्यग्द्विकेऽशुभानामशुभाः सहचरा इति नीचैर्गोत्रे च तमस्तमानारकाः सम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकामाः, पूर्वोक्तत्रिकस्य चातिक्लिष्टा मिथ्यादृष्टयस्त एव पण्णां जघन्यानुभागं कुर्वन्ति । मिथ्यात्वनरकयोरभिमुखः सम्यग्दृष्टिस्तुशब्दादविरतः तीर्थकरस्य जघन्यानुभागं करोति, तद्बन्धकेपु तस्यातिसंक्लिष्टत्वादिति गाथार्थः ॥७१॥

(मलय०)—औदारिकस्य–औदारिकद्विकस्य 'शुभानां शुभाः सहचराः' इति न्यायात्, उद्योतस्य च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति वचनतः, देवा नैरयिका वा तिर्यग्गतेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति उत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमानास्तद्बन्धकेपु सर्वसंक्लिष्टाध्यवसानत्वाज्जघन्यानुभागवन्धस्वामिनः, तिर्यङ्मनुष्याणामतिसंक्लिष्टानां नरकगतिप्रायोग्यबन्धसम्भवतस्तद्बन्धासम्भवात् । औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य च देवा ईशानात्परे द्रष्टव्याः, ईशानान्तानामतिसंक्लिष्टानामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रसक्तितस्तद्बन्धायोगात् । तथा तिर्यग्द्विकस्य–तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपस्य 'अशुभानामशुभाः सहचराः' इति न्यायतः, नीचैर्गोत्रस्य च सप्तमपृथिव्यां वर्त्तमानो नैरयिक औपशमिकसम्यक्त्वमुत्पादयन् यथाप्रवृत्तादिकरणत्रयपुरस्सरमन्तरकरणमाधाय प्रथमस्थितिं विपाकतोऽनुभवन्

चरमसमये मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागबन्धं करोति, तद्बन्धकेषु तस्यातिविशुद्धत्वात्। उक्तं च शतकचूर्णौ—"तिरियगतितिरियाणुपुव्विनियागोयाण अहे सत्तमपुढविनेरइओ सम्मत्ताभिमुहो करणाइं करेत्तु चरमसमयमिच्छदिट्ठीभवपच्चएण ताओ तिन्नि बन्धइ, जाव मिच्छत्तभावो ताव तस्स सव्वजहन्नोणुभागो हवइ, तब्बन्धगेसु अच्चन्तविसुद्धोत्ति काउं" तत एवं सामान्यतः षण्णां प्रकृतीनां सूत्रोपात्तानां मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागबन्धस्वामी, तथा सम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिरविरतो मिथ्यात्वनरकयोरभिमुखस्तीर्थकरस्य—तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागबन्धस्वामी, तद्बन्धकेषु तस्य सर्वसंक्लिष्टत्वात् ॥७१॥

सुभधुवतसाइचउरो परघायपणिंदिसास चउगइया। उक्कडमिच्छा ते च्चिय थीअपुमाणं विसुज्झंता ॥७२॥

(स्वो०)—शुभाश्च ता ध्रुवाश्च शुभ ध्रुवाः शुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुतैजसकार्मणनिर्म्माणाख्याः, त्रसादिचतस्रः पराघातपञ्चेन्द्रियजात्युच्छ्वासानां पञ्चदशानां चतुर्गतिका अतिसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टयः जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। स्त्रीवेदनपुंसकयोस्त एव विशुद्धयमानपरिणामा अशुभयोरिति जघन्यानुभागं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥७२॥

(मलय०)—शुभाश्च ता ध्रुवाश्च शुभध्रुवाः, शुभध्रुवबन्धिन्य इत्यर्थः, ताश्चाष्टौ, तद्यथा—वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु तैजसं कार्मणं निर्माणमिति, त्रसादिचतस्रः—त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकरूपाः, पराघातं पञ्चेन्द्रियजातिरुच्छ्वासनाम सर्वसङ्ख्यया पञ्चदशानां प्रकृतीनां चतुर्गतिकाः संक्लिष्टा मिथ्यादृष्टयो जघन्यानुभागबन्धविधातारः। तथाहि—तिर्यङ्मनुष्या नरकगतेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तोऽतिसंक्लिष्टा एतासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकारिणः, 'सुभपगईण विसोहीए तिव्वं' इति वचनप्रामाण्यात्। तथा ईशानान्तवर्जा देवा नैरयिका वा तिर्यग्गतेः पञ्चेन्द्रियजातेश्चोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तः संक्लिष्टा उक्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकारिणः, ईशानान्तास्तु देवाः सर्व-

संक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामवर्जानां त्रयोदशानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकारकाः, तेषां सर्वसंक्लिष्टानामेकेन्द्रियजातिस्थावरनामबन्धप्रसक्तितः पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबन्धासम्भवात्। त एव चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो मनाग्विशुद्ध्यन्तो विशुद्धिपरिणामोपेताः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः, केवलं मनाक् शुध्यन्तो नपुंसकवेदस्य, ततो मनाग् विशुद्धतराः स्त्रीवेदस्य, सर्वविशुद्धास्तु पुरुषवेदमेव बध्नन्ति, ततो मनाग् विशुद्ध्यन्त इत्युक्तम् ॥७२॥

थिरसुभजससायाणं सपडिवक्खाण मिच्छ सम्मो वा। मज्झिमपरिणामो कुणइ थावरेगिंदिय मिच्छो ॥७३॥

(स्वो०)—'स्थिरशुभयशःसातानां सप्रतिपक्षाणामि'ति—अस्थिराशुभायशोऽसातानां च मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा जघन्यानुभागबन्धं करोति मध्यमपरिणामः, यतो विशुद्धयमानपरिणामः शुभानामविशुद्धयमानपरिणामोऽशुभानामुत्कृष्टानुभागं करोति, अतो मध्यमपरिणाम एवासामुभयत्र बन्धसद्भावान्न दोष इति। स्थावरैकेन्द्रिययोर्जघन्यानुभागं मिथ्यादृष्टिरेव तद्योग्यविशुद्धपरिणामः करोति, स्थावरैकेन्द्रिययोः सहचरितयोरपि पृथगुच्चारणादातपस्य तु स एव संक्लिष्ट इति गाथार्थः ॥७३॥

(मलय०)—स्थिरशुभयशःकीर्तिसातवेदनीयानां सप्रतिक्षाणां—अस्थिराशुभायशःकीर्त्यसातवेदनीयसहितानां सर्वसङ्ख्यया अष्टानां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो जघन्यानुभागबन्धं करोति। सर्वविशुद्धो हि शुभानां, सर्वसंक्लिष्टोऽशुभानामुत्कृष्टमनुभागं बध्नाति। ततो मध्यमपरिणामोपेत एवासां सप्रतिपक्षाणां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा परावृत्य परावृत्य बन्धं कुर्वन् जघन्यानुभागबन्धस्वामी भवति न शेषः। तथा स्थावरैकेन्द्रियजात्योर्नैरयिकवर्जः शेषस्त्रिगतिकोऽपि मिथ्यादृष्टिर्मध्यमपरिणामोपेतो जघन्यानुभागबन्धस्वामी, सर्वविशुद्धो हि पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्बन्धको भवति, सर्वसंक्लिष्टः स्थावरैकेन्द्रियजात्योरुत्कृष्टानुबन्धकारी, ततो मध्य-

मपरिणामोपेत एतयोर्जघन्यानुभागबन्धस्वाम्युक्तः। आतपनाम्नस्तु सर्वसंक्लिष्टा ईशानान्ता देवा मिथ्यादृष्टयो जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः, तद्बन्धकेषु तेषां सर्वसंक्लिष्टत्वात्। एतच्चानुक्तमपि गुरुमुखवचनतो ग्रन्थान्तराच्चावसीयत इति ॥७३॥

सुसुराइतिन्नि दुगुणा संठिइसंघयणमणुयविहजुयले। उच्चे चउगइमिच्छा अरईसोगाण उ पमत्तो ॥७४॥

(स्वो०)—सुस्वरसुभगादेयानां दुःस्वरानादेयदुर्भगानां च, संस्थानानां संहननानां च सम्पूर्णानां, मनुष्यगतिविहायोगतियुग्मयोरुच्चत्वस्य चैषां त्रयोविंशतीनां चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। तुशब्दाद्धास्यरत्योरपूर्वकरणः, पुरुषवेदस्य बादरकषायः क्षपक इति। सर्वत्र शुभपरावर्त्तमानानां मध्यमपरिणामोऽशुभप्रकृतिबन्धाभिमुखः, अशुभानां शुभप्रकृतिबन्धाभिमुखः अपरावर्त्तशुभानां संक्लिष्टोऽशुभानां विशुद्धः। रतिशोकयोः प्रमत्तो जघन्यानुभागबन्धं करोति, यतस्तद्बन्धकेषु सोऽतिविशुद्ध इति गाथार्थः॥

(मलय०)—सुस्वरादीनि त्रीणि द्विगुणानि षडित्यर्थः, किमुक्तं भवति? सुस्वरसुभगादेयदुर्भगदुःस्वरानादेयरूपाणि यानि षट् कर्माणि तेषां 'संठिइसङ्घयण'त्ति षण्णां संस्थानानां, षण्णां संहननानां, मनुष्ययुगलस्य—मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीरूपस्य, विहायोगतियुगलस्य—प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिरूपस्य, सूत्रे सप्तमी षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदमधिकृत्योक्ता वेदितव्या, तथोच्चैर्गोत्रस्य च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिकोऽपि मिथ्यादृष्टिर्मध्यमपरिणामोपेतो जघन्यानुभागबन्धमादधाति। ता हि प्रकृतयो यदा प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, तदा जघन्यानुभागबन्धः प्राप्यते, नच सम्यग्दृष्टीनाममूषां परावर्त्तनेन बन्ध उपपद्यते। कस्मात्? इति चेत्, उच्यते—इह देवो नैरयिको वा सम्यग्दृष्टिः मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननयोर्बन्धको भवति, स देवद्विकं न बध्नाति, तथाभवस्वाभाव्यात्। यस्तु सम्यग्दृष्टिस्तिर्यगादिः देवद्विकं बध्नाति, स मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचे न बध्नाति। समचतुर-

स्वसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगसुस्वरादेयोच्चैर्गोत्राणां प्रतिपक्षप्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां बन्धमेव नायान्ति, ततो मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम्। तथाऽरतिशोकयोः प्रमत्तः–प्रमत्तसंयतो जघन्यानुभागबन्धस्वामी, तद्बन्धकेषु तस्यातिविशुद्धत्वात्। तुशब्दस्यानेकार्थत्वाज्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां क्षपकः सूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्त्तमानः समयमेकं जघन्यानुभागबन्धस्वामी, तद्बन्धकेषु तस्य विशुद्धतमत्वात्। पुरुषवेदसञ्ज्वलनचतुष्टययोरनिवृत्तिबादरसम्परायः क्षपकः, स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये समयमेकं, तस्यापि तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात्। अप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयनिद्राप्रचलोपघातहास्यरतिभयजुगुप्सारूपाणामेकादशप्रकृतीनामपूर्वकरणः क्षपणार्हः स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये समयमेकं, तस्यापि तद्बन्धकेषु परमविशुद्धत्वात्। स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामष्टानां कर्मणां सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामो मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये जघन्यानुभागबन्धस्वामी, अप्रत्याख्यानावरणकषायाणामविरतसम्यग्दृष्टिः संयमं प्रतिपत्तुकामः, प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः सर्वविरतिं प्रतिपित्सुर्जघन्यानुभागबन्धं करोतीत्यनुक्तमपि द्रष्टव्यम्, ॥७४॥

एषामनुभागबन्धस्थानानां बन्धाध्यवसायप्रमाणमाह—

सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा। पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तो वि ॥७५॥
ठिइबंधज्झवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि। तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥७६॥

(स्वो०)— सप्तरज्जुप्रमाणस्य लोकाकाशस्यैकप्रादेशिकी पङ्क्तिः श्रेणिरभिधीयते। अस्या असङ्ख्येयभागमात्राणि योगस्थानानि, योगा

मनोवाक्कायास्तेषां स्थानविशेषाः अल्पबहुप्राणचेष्टा विकल्पा निकृष्टजीववीर्यसमुदायाः सङ्घाता इत्यर्थः, तेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणाः प्रकृतिभेदा एकैकप्रकृतेस्तीव्रमन्दत्वविशेषाः, तेभ्योऽपि प्रकृतीनां स्थितिविशेषा जघन्यस्थितेः समयवृद्ध्याऽसङ्ख्येयगुणा भवन्तीति गाथार्थः। तेभ्योऽपि प्रकृतिस्थितिबन्धाध्यवसायाः मोहनीयोदयविशेषाः तीव्रमन्दत्वविकल्पा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यनुभागबन्धस्थानान्यनुभागबन्धाश्रयाः सकषायोदया जीवस्य लेश्यापरिणामविशेषाः असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्येकाध्यवसायगृहीतकर्मपरमाणवोऽनन्तगुणा भवन्ति, तेभ्योऽप्येकपरिणामगृहीतस्य कर्मदलस्य निकृष्टरसविशेषा अनन्तगुणा भवन्तीति गाथार्थः ॥७९-७६॥

अनुभागबन्धः समाप्तः

(मलय०)—तदेवं कृता स्वामित्वप्ररूपणा। सम्प्रत्यनुभागबन्धाध्यवसायानामनुभागाविभागपरिच्छेदानां च प्रमाणनिरूपणार्थमल्पबहुत्वमाह—सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकाकाशस्य यैकप्रादेशिकी पङ्क्तिः सा श्रेणिरभिधीयते, अस्या असङ्ख्येयेंऽशे-असङ्ख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि योगस्थानानि, तेभ्योऽप्यसङ्ख्येयाः प्रकृतिभेदाः, एकैकस्याः प्रकृतेस्तीव्रमन्दत्वगता ये विशेषास्तदपेक्षयाऽसङ्ख्येयभेदभिन्नत्वात्। तथाहि-अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणप्रकृत्योरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा भेदाः, तद्विषयाणां क्षयोपशमविशेषाणामागमे तावत्प्रमाणतयाभिधानात्। चतुर्णामानुपूर्वीनामकर्मणां लोकासंख्येयभागगताकाशप्रदेशप्रमाणा भेदाः। उक्तं चान्यत्रापि-"ओहिनाणावरणओहिदंसणावरणपगईओ असंखेज्जलोगागासपएसमेत्ताओ, तेसिं खओवसमभेयावि तत्तिया चेव, चउण्हमाणुपुव्विनामाणं असंखेज्जाओ पगईओ लोगस्स असंखेज्जइभागे जत्तिया आगासपएसा तत्तियाओ" इति ॥ एवं शेषाणामपि प्रकृतीनां तत्तद्द्रव्यक्षेत्रस्वरूपादिसामग्रीवैचित्र्यमधिकृत्य यथागममसंख्येयभेदत्वं परिभावनीयम्। ततो भवन्ति प्रकृतिभेदा योग-

योगस्थानादीनामल्पबहुत्वं

स्थानेभ्योऽसंख्येयगुणा एकैकस्मिन् योगस्थाने सर्वेषामपि प्रकृतिभेदानां बन्धमधिकृत्य प्राप्यमाणत्वात् । उक्तं च–"जोगट्ठाणेहिंतो असंखेज्जगुणाओ पगईओ पक्केक्के जोगट्ठाणे वट्टमाणे पयाओ सव्वाओ वंधतत्ति काउं" । तेभ्योऽप्यसंख्येयाः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषाः । अथ के ते स्थितिविशेषाः ? उच्यते–जघन्यस्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिर्भवति तावद्यावन्तः समयास्तावन्तः स्थितिविशेषाः । तद्यथा–जघन्या स्थितिरेकं स्थितिस्थानं, सैव समयाधिका द्वितीयं स्थितिस्थानं, द्विसमयाधिका तृतीयं स्थितिस्थानं, एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमयः, एवंरूपाश्च ते स्थितिविशेषा असंख्येयाः, ते च पूर्वोक्तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणाः, प्रतिप्रकृतिभेदं तेषामसंख्येयतया प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्योप्यसंख्येयगुणाः स्थितिबन्धाध्यवसायाः, एकैकस्मिन् स्थितिस्थाने बध्यमाने तद्धेतूनामध्यवसायानां नानाजीवापेक्षयाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया केवलवेदसोपलब्धत्वात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणान्यनुभागबन्धस्थानानि, इह स्थानशब्द आश्रयवाची, यथेदं मे स्थानं, अयं ममाश्रय इत्यर्थः । ततोऽयमत्रार्थः–येऽनुभागबन्धाश्रयभूताः कषायोदयसम्मिश्रा जीवस्य लेश्यापरिणामविशेषा जघन्यत एकसमयभाविनः, उत्कर्षतोऽष्टसामयिकास्ते स्थितिबन्धाध्यवसायेभ्योऽसंख्येयगुणाः, एकैकस्मिन् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तीव्रमन्दत्वादिभेदरूपाणां कृष्णादिलेश्यापरिणामानामनुभागबन्धहेतूनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्योऽप्येकाध्यवसायगृहीतकर्मदलिकपरमाणवोऽनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्येकाध्यवसायगृहीतकर्मदलिकगतरसाविभागपरिच्छेदा अनन्तगुणाः, प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानां रसाविभागपरिच्छेदानामवाप्यमानत्वादिति ॥७५–७६॥

एगपएसोगाढे सव्वपएसेहिं कम्मणो जोग्गे । जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥७७॥

(स्वो०)—'एकप्रदेशावगाढानि' जीवावगाहमात्रक्षेत्रावस्थितानि सर्वैः प्रदेशैः प्रत्येकमात्मविभागैः 'कर्मण' इति औदारिकादिवर्ग-

णानां सम्बन्धीनि, 'योग्यानी'ति तत्कालहेतुढौकितानि, जीवः पुद्गलात्मकद्रव्याणि गृह्णाति। 'सादीनि अनादीनि वा' प्रवाहापेक्षया-ऽनादीनि प्रतिसमयं बन्धकत्वात्तीव्रमन्दत्वविवक्षया सादीनीति गाथार्थः ॥७७॥

(मलय०)—तदेवमुक्तोऽनुभागबन्धः। सम्प्रति प्रदेशबन्धो वक्तव्यः, तत्र च त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तद्यथा—भागविभागप्ररूपणा, साद्यादिप्ररूपणा, स्वामित्वप्ररूपणा च। तत्र भागविभागप्ररूपणां चिकीर्षुर्यत्रावगाढान् कर्मस्कन्धान् यथा वा गृह्णाति, तदेतत्प्रथमतो निरूपयति—इह पुद्गलद्रव्याणि द्विधा, तद्यथा—कर्मणो योग्यान्ययोग्यानि च। तत्र परमाणुद्विप्रदेशकस्कन्धप्रभृतीनि यावन्मनोवर्गणा-भ्यः परत उत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा तावत्सर्वाण्यप्ययोग्यानि, परतो योग्यानि, तानि च तावद्यावदुत्कृष्टा कर्मप्रायोग्या वर्गणा, परतः पुनरप्ययोग्यानि, यावच्चरमा महास्कन्धवर्गणा, तानि च कर्मयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि जीवो गृह्णाति। कथंभूतानीत्यत आह—एकप्रदेशा-वगाढानि, अत्रैकशब्दोऽभिन्नार्थवाची, यथा द्वयोरप्यावयोरेकं कुटुम्बमिति। ततोऽयमर्थः—येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढा जीवप्रदेशास्तेष्वेव यदि कर्मयोग्यान्यपि पुद्गलद्रव्याणि समवगाढानि भवेयुस्तदा तान्यभिन्नप्रदेशावगाढत्वाज्जीवो गृह्णीयात् नान्यथा, स्वदेशबहिर्व्यवस्थि-तानां ग्रहणतद्भावपरिणमनशक्त्यसम्भवात्। तथा चात्र किञ्चित्साम्यमात्रमधिकृत्य पूर्वमहर्षयो हुतवहदृष्टान्तमेवमुपवर्णयन्ति—यथा हुत-वहो दहनप्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याणि स्वविषयावगाढान्येव हुतवहरूपतया परिणमयति, न स्वविषयातिक्रान्तानि, तथा जीवोऽपि स्वप्रदे-शावगाढान्येव कर्मप्रायोग्यानि द्रव्याणि गृहीतुं कर्मरूपतया परिणमयितुं वा शक्नोति न स्वप्रदेशबहिर्व्यवस्थितानि, तेषां ग्रहणं तद्भा-वपरिणमनं च प्रति विषयभावातिक्रान्तत्वात्। उक्तंच—"जहा अग्गी तव्विसयट्ठिए तप्पाओग्गे दव्वे अग्गित्ताए परिणामेइ, नातव्विसय-गए। तथा जीवोऽपि सप्पएसट्ठिए गिण्हइ, न परओ इति"। तानि चैकप्रदेशावगाढानि कर्मणो योग्यानि पुद्गलद्रव्याणि जीवो गृह्णा-

ति । कथं? इत्याह–सर्वप्रदेशैः–सर्वैरात्मप्रदेशैः, इयमत्र भावना–इह जीवप्रदेशाः सर्वेऽपि शृंखलावयवा इव परस्परमनुगताः, तत एकस्मिन्नपि जीवप्रदेशे स्वप्रदेशावगाढकर्मप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणेऽपरेऽपि जीवप्रदेशास्तद्ग्रहणायानन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते, केवलं मन्दं मन्दतरं मन्दतमं वा, यथा घटादीनामुत्पाटनाय व्याप्रियमाणे कराग्रभागे मणिबन्धकूर्परांसादयः । एवं सर्वेष्वपि जीवप्रदेशेषु स्वस्वप्रदेशावगाढकर्मप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणेषु सर्वेऽप्यनंतरपरम्परतया साकल्येन व्याप्रियन्ते, शेषं सुगमम् । ततः सर्वप्रदेशैर्गृह्णातीत्युक्तं । तानि च कर्मप्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याणि जीवेन गृह्यमाणानि यदि प्रतिनियतदेशकालस्वरूपापेक्षया चिन्त्यन्ते तदा ग्रहणमधिकृत्य सादीनि, तेषां तथारूपाणां तदानीमेव गृह्यमाणत्वात् । अथ कर्मरूपतया परिणमनमात्रमधिकृत्य प्रवाहतश्चिन्त्यन्ते, तदाऽनादीनि, सदैव जीवेन कर्मपुद्गलानां गृह्यमाणत्वात् ॥७७॥

तस्यैकाध्यवसायगृहीतस्य दलस्य भागपरिकल्पनामाह—

कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो । तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्तं जओ णप्पे ॥७८॥

(स्वो०)—'क्रमशः' परिपाट्या, बृहत्स्थितीनां कर्मणां एकपरिणामगृहीतस्य दलस्य भागः सविशेषो भवति, बृहत्तर इत्यर्थः । एवं हि ज्येष्ठो मोहनीयस्य,शेषघातित्रयस्य यद्यपि मोहनीयादल्पतरस्तथापि स्वस्थाने तुल्यो,यद्यपि नामगोत्रयोः पूर्वोक्तेभ्यः स्वल्पतरस्तथापि स्वस्थाने तुल्यः तुल्यस्थितित्वात्, आयुषः सर्वलघुरिति । एतदपवदति–यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य भागः स 'सर्वज्येष्ठः' सर्वोत्कृष्टस्तस्य स्पष्टत्वं सुखदुःखानुभवनव्यक्तिर्यतो नाल्पे दले भवतीति गाथार्थः ॥७८॥

(मलय०)—तदेवं यत्रावगाढानि कर्मद्रव्याणि यथा वा गृह्णाति, तदेतत्प्रतिपादितं । साम्प्रत्येकाध्यवसायगृहीतस्य कर्मदलिकस्य

भागविभागप्ररूपणार्थमाह-दलिकस्य-कर्मपरमाणुसमूहरूपस्य एकाध्यवसायगृहीतस्य भागः क्रमशः-क्रमेण सविशेषो-बृहत्तरो भवति, केषामित्याह-बृहत् स्थितीनां कर्मणामिति शेषः । अत्रापि काकाक्षिगोलकन्यायेन क्रमश इति सम्बध्यते । ततोऽयमर्थः-क्रमशो बृहत्स्थितीनां कर्मणां क्रमशो भागः सविशेषो भवति । तत्रायुषो भागः सर्वस्तोकस्तस्य सर्वेभ्योऽप्यल्पस्थितिकत्वात्, तत्स्थितेरुत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । ततो नामगोत्रयोर्विशेषाधिकस्तत्स्थितेरुत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यः, समानस्थितिकत्वात् । आह च शतकचूर्णिकृत्-"आउस्स भागो सव्वत्थोवो, नामगोयाणं दोण्हवि तुल्लो आउगभागाओ विसेसाहिओ इति" । ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां बृहत्तमः, तेषां स्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीमानत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः, समानस्थितिकत्वात् । आह च-"नाणावरणदंसणावरणांतरायाणं भागो तिण्हवि तुल्लो, नामगोएहिंतो विसेसाहिओ" इति । ततोऽपि मोहनीयस्य बृहत्तमः, तस्य स्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । अत्रैवापवादमाह-'तइयस्स'इत्यादि' तृतीयं वेदनीयं, तच्च यद्यपि ज्ञानावरणीयादिभिः सह समानस्थितिकं, तथापि तस्य भागः सर्वज्येष्ठः-सर्वोत्कृष्टो भवति । किमत्र कारणं ? अत आह-'तस्स फुडत्तं जओ णप्पे' तस्य तृतीयस्य कर्मणो वेदनीयाख्यस्याल्पे भागे समागते सति स्फुटत्वं सुखदुःखानुभवनस्य व्यक्तिसम्पादकत्वं यतो यस्मात्कारणान्न भवति । तथाहि-यदि वेदनीयं प्रभूतदलिकं भवति, ततस्तत्स्वफलभूतं सुखं दुःखं वा व्यक्तमनुभावयितुमीशं नान्यथा, तस्य तथास्वभावत्वात् । ततः सर्वज्येष्ठस्तस्य भाग आभजति । इयं च भागविभागप्ररूपणा मूलप्रकृतीनामेकाध्यवसायगृहीतानामवसेया । स चैकोऽध्यवसायश्चित्रतागर्भोऽन्यथा कर्मवैचित्र्यानुपपत्तेः । तथाहि-यद्येकरूपोऽध्यवसायस्ततस्तद्वशादुपात्तं कर्माप्येकरूपं स्यात्, कारणभेदमन्तरेण कार्यभेदायोगात्, अन्यथा प्रतिनियतकार्यकरणभावानुपपत्तेः । अस्ति च

ज्ञानावरणीयादिभेदादनेकप्रकारं कर्म, ततः प्रतिपत्तव्या तन्निबन्धनभूतस्याध्यवसायस्यानेकस्वभावता। स चैकोऽध्यवसायश्चित्रतागर्भस्तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालादिसामग्रीमपेक्ष्य संक्लेशं विशोधिं वा प्राप्तः सन् कदाचिदष्टविधबन्धहेतुर्भवति, कदाचित्सप्तविधबन्धहेतुः, कदाचित् षड्विधबन्धहेतुः, कदाचिदेकविधबन्धहेतुः। उक्तं च–"कहं एगज्झवसायगहियं दलियं अट्ठविहादिबंधत्ताए परिणमइ? उच्यते–तस्स अज्झवसाणमेव तारिसं जेण अट्ठविहाइबंधत्ताए परिणमइ, जहा कुंभगारो मिट्टिपिंडेण सरावाईणि परिणामेइ, तस्स तारिसो परिणामो, एव सव्वन्नुदिट्ठो जो परिणामो, तेणं परिणामेणं संजुत्तस्स दलियं अट्ठविहाइबन्धत्ताए परिणमइ"इति। तत्र य एवाष्टविधबन्धे भागविभागविधिरुपदर्शितः, स एव सप्तविधबन्धे षड्विधबन्धे वानुसर्त्तव्यः ॥७८॥

जं समयं जावइयाइं बंधए ताण एरिसविहीए। पत्तेयं पत्तेयं भागे निव्वत्तए जीवो ॥७९॥

(स्वो०)—'यस्मिन् समये' यस्मिन्नवसरे यावन्ति कर्माणि बध्नाति तावतां कर्मणां ईदृग्विधिना पूर्वोक्तन्यायेन प्रत्येकं प्रत्येकं भागान्निर्वर्त्तयति जीवः, तेभ्यः प्रयच्छतीति गाथार्थः ॥७९॥

(मलय०)—यस्मिन् समये यावन्त्यष्टौ सप्त षट् कर्माणि तत्तदध्यवसाययोगतो बध्नाति, तस्मिन् समये तेषामष्टानां सप्तानां षण्णां वा कर्मणामीदृशेनोक्तस्वरूपेण विधिना प्रत्येकं प्रत्येकं भागान्निर्वर्त्तयति। तद्यथा–सर्वत्रापि वेदनीयस्य ज्येष्ठो भागः शेषाणां तु कर्मणां यथास्थितिवृद्धिसविशेषो भवति। तत्र यदाष्टविधबन्धनिबन्धनमध्यवसायः प्रवर्त्तते तदा तद्वशादुपात्तं कर्माष्टधा जीवा विभजंति। तत्र भागविभागप्ररूपणा प्रागेव कृता। यदा तु सप्तविधबंधहेतुरध्यवसाय उदयते तदा तद्वशादुपात्तं कर्म सप्तभागान् करोति। तत्र सर्वस्तोको नामगोत्रयोर्भागः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां सविशेषः, तेषां स्थितेर्बृहत्वात्,

स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततोऽपि मोहनीयस्य विशेषाधिकः, तस्य स्थितेर्बृहत्तमत्वात्। ततोऽपि वेदनीयस्य विशेषाधिकः, कारणमत्र प्रागेवोपदर्शितम्। यदा तु षड्विधबन्धहेतुरध्यवसायस्तदा तद्वशेन गृहीतदलिकं षड् भागान् करोति, तत्र च भागविभागः पूर्ववद्भावनीयः। यथा सर्वस्तोको नामगोत्रयोर्विभागः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां बृहत्तरः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततोऽपि वेदनीयस्य बृहत्तमः। यदा तु केवलमेकं वेदनीयं बध्नाति, तदा योगवशादुपात्तं यत्किमपि दलिकं तत्सकलमपि तस्यैवाभजति, न शेषस्य। एवं च सतीदमापतितं–यथा यथा स्तोकाः प्रकृतीर्बध्नाति, तथा तथा तासां बध्यमानानां प्रकृतीनां भागो बृहत्तरो बृहत्तरो भवति, यथा यथा बह्वीस्तथा तथा स्तोकः स्तोकतरः स्तोकतमः ॥७९॥

जह जह य अप्पगईण बंधगो तह तहत्ति उक्कोसं। कुव्वइ पएसबंधं जहन्नयं तस्स वच्चासा ॥८०॥

(स्वो०)—यथा यथा अल्पप्रकृतीनां मौलानामौत्तराणां च बन्धकः, तथातथोत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति विभागानामल्पत्वादिति। जघन्यं तु तद्व्यत्ययेन प्रभूतप्रकृतिबन्धविभागानां बाहुल्यादिति गाथार्थः ॥८०॥

(मलय०)—एतदेवाह–यथा यथा अल्पानां–स्तोकानां प्रकृतीनां–मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा बन्धको भवति, तथा तथा तासां बध्यमानानां प्रकृतीनामुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वात्। किमुक्तं भवति? यथा यथा स्तोकाः स्तोकतराः प्रकृतीर्बध्नाति, तथा तथा या याः प्रकृतीर्न बध्नाति, तत्तद्भागस्तासां तासां बध्यमानानामाभजति, ततो भवत्युत्कृष्टप्रदेशसम्भवः। 'जहन्नयं तस्स वच्चासा' इति तस्य पूर्वोक्तस्य व्यत्यासाद्वैपरीत्याज्जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति। तद्यथा–यथा यथा प्रभूतानां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा बन्धकस्तथा तथा जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, भागानां बाहुल्यसम्भवात् ॥८०॥

नाणंतराइयाणं परभागा आउगस्स नियगाओ। परमो पएसबंधो सेसाणं उभयओ होइ ॥८१॥

(स्वो०)—ज्ञानान्तराययोः 'परभागतः' परभागप्राप्तेः—मोहायुषोर्भागविभागप्राप्तेरुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति स्वकीयप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वादिति भावः। आयुषो निजभागादेवोत्कृष्टः प्रदेशबन्धो, यतः सर्वदैवायुषो बन्धेऽष्टमो विभागः, तद्बन्धे सर्वासां बन्धात्, अतो न परभागतः, स्वभागतश्च भवत्येव, यतश्चत्वारोऽपि भागा अन्यतरायुषो भवन्तीत्यविकल्पमेतत्। शेषाणां पञ्चानां कर्मणामुभयतो भवत्युत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, आयुष्कस्य बन्धाभावे परभागतो, मोहनीयस्य च स्वप्रकृतीनां विकलानां बन्धस्तद्भावे स्वभागतश्च 'परम' उत्कृष्टप्रदेशबन्ध उभयतोऽपि भवतीति गाथार्थः ॥८१॥

(मलय०)—तदेवमुक्त उत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भवो जघन्यप्रदेशबन्धसम्भवश्च। सम्प्रति यासां प्रकृतीनां स्वतो यासां परतो यासां चोभयत उत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भवस्तास्तथा प्रतिपादयति—ज्ञानावरणान्तराययोः—ज्ञानावरणप्रकृतीनामन्तरायप्रकृतीनां च परमः—उत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति परभागतः परभागप्रवेशतः, किमुक्तं भवति? यदायुर्मोहनीययोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति तदा मोहनीययोग्य आयुर्योग्यश्च भागः पृथग् भिन्नो न स्फेट्यत इति तद् भागप्रवेशतो ज्ञानावरणप्रकृतीनामन्तरायप्रकृतीनां च परमः प्रदेशबन्धः प्राप्यते। सजातीयप्रकृतिभागप्रवेशतस्त्वमूषामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो न भवति, प्रत्येकं ज्ञानावरणप्रकृतीनामन्तरायप्रकृतीनां च युगपद्बन्धव्यवच्छेदात्। आयुषस्तूत्कृष्टः प्रदेशबन्धो निजकात्—निजकसजातीयप्रकृतिलभ्यभागप्रवेशात्। तथाहि—यदायुर्बध्नाति तदाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां बन्धको भवति, ततः परभागप्रवेशतस्तस्योत्कृष्टः प्रदेशबन्धो न प्राप्यते, किंतु सजातीयप्रकृतिलभ्यभागप्रवेशात्। आयुषो ह्यवान्तरभेदाश्चत्वारः, एकदान्यतममेवायुर्बध्यते न शेषाणि त्रीण्यायूंषि, तथास्वाभाव्यात्, ततः शेषाणां त्रयाणामायुषां भागा अन्यतमस्मिन्नायुषि

बध्यमाने प्रविशन्तीति निजकसजातीयप्रकृतिलभ्यभागप्रवेशतस्तस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भवः। शेषाणां च दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयनामगोत्ररूपाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्ध उभयतः–परभागप्रवेशतो निजकसजातीयप्रकृतिभागप्रवेशतश्च भवति। तथाहि–मोहनीयप्रकृतीनां कियतीनामायुर्बन्धस्य व्यवच्छेदकाले तद्भागप्रवेशत उत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भवः, कियतीनां च सजातीयप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे तद्भागप्रवेशात्। एवं दर्शनावरणवेदनीयनामगोत्राणामपि यथागमं परिभावनीयम् ॥८१॥

उक्कोसमाइयाणं आउम्मि न संभवो विसेसाणं। एवमिणं किंतु इमो नेओ जोगट्ठिइविसेसा ॥८२॥

(स्वो०)—उत्कृष्टादीनामायुषि विशेषाणां सम्भवो नास्तीति पराभिप्रायो, यतः सर्वदैवाष्टमो मौलो भागश्चतुर्गुणः उत्तरप्रकृत्याश्रयो भागः। एवं हि सर्वदैव तुल्यता ? अत्रोच्यते–एवमेतदसन्दिग्धं, किन्त्वत्र योगस्थित्योर्विशेषेणविशेषः बलवता गृहीतं कर्मदलं प्रभूतं भवति, बृहद् स्थितौ बृहद् भागो भवति, एवं हि परमः प्रदेशबन्धः, तद्व्यत्यये जघन्य इति गाथार्थः ॥८२॥

(मलय०)—सम्प्रति पराभिप्रायं निराचिकीर्षुराविष्कुर्वन्नाह–उत्कृष्टादीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाणां विशेषाणामायुषि न सम्भवः, कुतः ? इति चेत्, उच्यते–इह सर्वदैवायुषि बध्यमाने मूलप्रकृत्यपेक्षयाष्टमो भाग आभजति, तस्मिन् बध्यमाने मूलप्रकृतीनामष्टानामपि बन्धनात्, ततः सर्वदैव तस्य तुल्यता न्यायतः प्राप्नोति, नोनाधिकतेति। कथमस्योत्कृष्टादिविशेषसम्भवः ? एवं परेणोक्ते सति सूरिरुत्तरमाह–'एवं' इत्यादि एवमिदं यदुक्तं त्वया यदुत मूलप्रकृत्यपेक्षया सर्वदैवायुषोऽष्टमो भाग इति न तदपेक्षयोत्कृष्टादिविशेषसम्भव इति, तदेवमेवाष्टमभागत्वमात्रमधिकृत्याऽस्माभिरपि सर्वदैव तस्य तुल्यतयाभिधानात्। किंत्वयमुत्कृष्टादिरूपो विशेषो ज्ञेयो, योगस्थित्योर्विशेषतो–योगस्थित्योर्भेदात्। तथाहि–यदा जीव उत्कृष्टे योगे वर्त्तते, तदोत्कृष्टप्रदेशग्रहणं करोति, मध्यमे मध्यमं,

जघन्ये जघन्यं, तत आयुषोऽपि तदनुसारेण भाग आभजमान उत्कृष्टादिरूपो भवति। तथा बृहत्यां स्थितौ बृहद् भागो भवति, जघन्यायां च जघन्य इत्यतोऽप्युत्कृष्टादिविशेषसम्भवः ॥८२॥

मोहाउयवज्जाणं अणुक्कोसो साइयाइओ होइ। साई अधुवा सेसा आउमोहाण सव्वेवि ॥८३॥

(स्वो०)—मोहनीयायुष्कवर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनां अनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिः चतुर्विधो भवति, शेषा जघन्याजघन्योत्कृष्टाः साद्यध्रुवा भवन्ति, आयुर्मोहनीययोः सर्व्वेऽपि—चत्वारोऽपि साद्यध्रुवा भवन्तीति गाथार्थः ॥८३॥

(मलय०)—कृता भागविभागप्ररूपणा। सम्प्रति साद्यादिप्ररूपणा कर्त्तव्या, सा च द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह—मोहायुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिको भवति, साद्यादिभेदाच्चतुष्प्रकारो भवतीत्यर्थः। तद्यथा—सादिरनादिः ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि—एतेषां षण्णां कर्मणां मोहनीयबन्धव्यवच्छेदे सूक्ष्मसम्परायस्य क्षपकस्योपशमकस्य वोत्कृष्टे योगे वर्त्तमानस्य समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति, ततोऽसौ सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चोत्कृष्टात्प्रदेशबन्धात्प्रच्यवमानस्य यदिवोपशान्तमोहगुणस्थानके बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा ततो भूयः प्रतिपततो मन्दयोगस्थानवर्त्तिनः प्रवर्त्तमानः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। 'साई अधुवा सेसा' इति एषामेव षण्णां कर्मणां शेषा उत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपा विकल्पाः साद्यध्रुवाः। तत्रोत्कृष्टः साद्यध्रुवोऽनन्तरमेव भावितः। जघन्यः सूक्ष्मनिगोदस्यापर्याप्तस्योत्पत्तिप्रथमसमये वर्त्तमानस्य सर्वाल्पवीर्यस्य सप्तविधबन्धकस्य समयमेकं लभ्यते, ततो द्वितीये समये तस्यैवाजघन्यः, ततो भूयोऽपि संख्येयकालातिक्रमेऽसंख्येयकालातिक्रमे वा सर्वाल्प-

वीर्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदभावं प्राप्तस्य प्रथमसमये जघन्यः, तदनन्तरसमये त्वजघन्यः, एवमनेकधा संसारिजीवानां जघन्येऽजघन्ये च परावर्त्तनाद् द्वावपि साद्यध्रुवौ । 'आउयमोहाण सव्वेवि'त्ति–आयुर्मोहनीययोः सर्वेऽपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा विकल्पाः साद्यध्रुवाः । तत्राध्रुवबन्धित्वादायुषश्चतुर्णामपि विकल्पानां साद्यध्रुवता परिस्फुटा । मोहनीयस्य पुनरुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः सप्तविधबन्धकस्योत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनः सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेर्वा समयमेकं द्वौ वा समयौ यावद्भवति, शेषकालं त्वनुत्कृष्टः, तत एतौ द्वावपि साद्यध्रुवौ । जघन्याजघन्ययोः साद्यध्रुवत्वभावना तु ज्ञानावरणान्तरायादीनामिव वेदितव्या ॥८३॥

छब्बंधगस्स उक्कस्स जोगिणो साइअधुवउक्कोसो । अणुक्कोस तच्चुयाओ अणाइअधुवाधुवा सुगमा ॥

(स्वो०—षड्बन्धकस्य सूक्ष्मसम्परायस्य आयुर्मोहनीययोर्बन्धापगमे उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानस्य क्षपकस्योत्कृष्टः प्रदेशबन्धः समयमेकं भवति, उपशमश्रेण्यां तस्मात् स्थानात् च्युतस्यानुत्कृष्ट एवं द्वावपि साद्यध्रुवौ, तत्स्थानमप्राप्तानामनादिरभव्यानां ध्रुवो भव्यानामध्रुवोऽनुत्कृष्ट इति गाथार्थः ॥८४॥

(मलय०)—एतामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय व्याचिख्यासुराह–षड्विधबन्धकस्य सूक्ष्मसम्परायस्योत्कृष्टयोगिनः क्षपकस्योपशमकस्य वा समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो मोहायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणां भवति, स च तदानीमेव भावात्सादिः, द्वितीये तृतीये वा समये व्यवच्छेदादध्रुवः । तथा तच्चुतात्–तस्मादुत्कृष्टप्रदेशबन्धाच्च्यवनादनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति, स च सादिः, यदि वोपशान्तमोहगुणस्थानके बन्धव्यवच्छेदं प्रतिपद्य ततः प्रतिपाते मन्दयोगस्थानवर्त्तिनोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्रवर्त्तमानः सादिः । अनादिध्रुवाध्रुवाः सुगमाः । तथाहि–बन्धव्यवच्छेदस्थानमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानं वाऽप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवात्वभव्यभव्यापेक्षया ॥८४॥

होइ जहन्नोऽपज्जत्तगस्स सुहुमगनिगोयजीवस्स । तस्समउप्पन्नगसत्तबंधगस्सप्पविरियस्स ॥८५॥
एक्कं समयं अजहन्नओ तओ साइअद्धुवा दोवि। मोहेवि इमे एवं आउम्मि य कारणं सुगमं ॥८६॥

(स्वो०)—आयुर्मोहनीयवर्ज्जानां शेषमूलप्रकृतीनां जघन्यः प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तकस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य साधारणस्येति तत्समयोत्पन्नस्य प्रबन्धकस्याल्पवीर्यस्येति गाथार्थः। स जघन्यः प्रदेशबन्ध एकं समयं भवति, तदूर्ध्वमजघन्योऽतः साद्यध्रुवौ द्वावपि भवतः, मोहनीयेऽप्येतौ जघन्याजघन्यौ एवमेव, आयुषि प्रयोजनं सुगमम्, अध्रुवबन्धित्वात् चत्वारोऽपि साद्यध्रुवाः, यद्यप्यायुषो बन्धाभावे तद्भागतः परमाणूनां बाहुल्यं भवति तथापि तत्समयोत्पन्नस्य मन्दबलत्वादणूनामतिस्तोकत्वं भाव्यत इति गाथार्थः ॥८६॥

(मलय०)—तदेवं मोहायुर्वर्जानां शेषाणां कर्मणां भावितावुत्कृष्टानुत्कृष्टौ। संप्रति जघन्याजघन्यौ भावयति—मोहायुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां कर्मणां जघन्यः प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य तत्समयोत्पन्नस्योत्पत्तिप्रथमसमये वर्त्तमानस्य सप्तविधबन्धकस्याल्पवीर्यस्य सामर्थ्यात्समयमेकं यावद् भवति ततस्तदनन्तरमजघन्यः, ततो भूयोऽपि कालान्तरेण जघन्योऽजघन्यश्चेति द्वावपीमौ साद्यध्रुवौ। मोहनीयस्याप्येतौ जघन्याजघन्यावेवमेव भावनीयौ। आयुषि चतुर्णामपि जघन्यादीनां विकल्पानां साद्यध्रुवबन्धित्वलक्षणं तत्सुगममेव ॥८५-८६॥

मोहस्स अइकिलिट्ठे उक्कोसो सत्तबंधए मिच्छे। एक्कं समयंणुक्कोसओ तओ साइअधुवाओ ॥८७॥

(स्वो०)—मोहनीयस्यातिक्लिष्टेऽत्रातिक्लेशग्रहणमतिबलख्यापकं, यतो हीनबलो न सप्तम्यादिषु गच्छति, सप्तबन्धके मिथ्यादृष्टा-

वुत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवति एकसमयम् , अनुत्कृष्टस्ततः साद्यध्रुवावतोऽनेन कारणेन द्वावपि भवत इति गाथार्थः ॥८७॥

(मलय०)—अधुना मोहनीयस्योत्कृष्टानुत्कृष्टौ साद्यध्रुवौ भावयति—सप्तविधबन्धके मिथ्यादृष्टौ, उपलक्षणमेतत् सम्यग्दृष्टौ वाति-संक्लिष्टे, अतिसंक्लेशग्रहणं बलवत्ताख्यापनार्थं तेनोत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमाने इत्यर्थः समयमेकं, उपलक्षणमेतत् , द्वौ वा समयौ यावन्मोहस्योत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति, तत ऊर्ध्वमनुत्कृष्टः, ततः पुनरपि कालान्तरे उत्कृष्टः, तदनन्तरं चानुत्कृष्ट इति द्वावपि साद्यध्रुवौ ॥

नाणंतरायनिद्दाअणवज्जकसायभयदुगंछाण । दंसणचउपयलाणं-चउवि(व्वि)गप्पो अणुक्कोसो ॥८८॥

(स्वो०)—ज्ञानान्तरायदशकं निद्रा अनन्तानुबन्धिवर्जा द्वादश कषाया भयजुगुप्सादर्शनचतुष्कप्रचलानां चासां त्रिंशतां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां साद्यादिचतुर्विधः प्रदेशबन्धो भवत्यनुत्कृष्टः, प्रचलाग्रहणान्निद्रापञ्चकं न ग्राह्यमिति गाथार्थः ॥८८॥

(मलय०)—तदेवं कृता मूलप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणा, संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां तां चिकीर्षुराह—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकनिद्राऽनन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकपायभयजुगुप्साचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपदर्शनावरणचतुष्कप्रचलारूपाणां त्रिंशत्संख्याकानां ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्पः चतुष्प्रकारस्तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां, चतसृणां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाणां दर्शनावरणप्रकृतीनां, सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्योपशमकस्य वोत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमानस्य समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते, उत्कृष्टयोगवशेन प्रभूतस्य दलिकस्य ग्रहणात् , आयुर्मोहनीययोर्बन्धव्यवच्छेदतस्तद्भागस्य प्रवेशात् , चतसृणां च दर्शनावरणप्रकृतीनां सजातीयबध्यमानप्रकृतिभागोपदर्शनाच्च, स च प्रतिनियतकालभावीति सादिरध्रुवश्च, ततः समयान्तरे तस्यैव मन्दयोगस्थाने वर्त्तमानस्यानुत्कृष्टः स च सादिः, यदिवोप-

शान्तमोहगुणस्थानके बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा ततः प्रतिपाते बन्धमारभमाणस्यानुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः स च सादिः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानं व्यवच्छेदस्थानं वाऽप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया, तथा निद्राप्रचलयोरविरतसम्यग्दृष्ट्यादेरपूर्वकरणपर्यन्तस्य सप्तविधबन्धकस्योत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमानस्य समयमेकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो, योगस्थानोत्कर्षसंभवतो दलिकस्य भूयिष्ठस्य ग्रहणात्, स्त्यानर्द्धित्रिकलभ्यभागप्रवेशाच्च, स च प्रतिनियतकालभावीति सादिरध्रुवश्च, ततः समयान्तरेऽनुत्कृष्ट इति सोऽपि सादिः, यदि वा बन्धव्यवच्छेदस्थानं गत्वा ततः प्रतिपाते मन्दयोगस्थानवर्त्तिनो बन्धमारभमाणस्यानुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्रवर्त्तत इति स सादिः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानं बन्धव्यवच्छेदस्थानं वाऽप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्याविरत-सम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टयोगवर्त्तिनः समयमेकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, उत्कृष्टयोगस्थानगमनतोऽतिप्रभूतस्य दलिकस्य ग्रहणात्, मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिलभ्यभागप्रवेशाच्च, तत उत्कृष्टात्प्रदेशबन्धात्प्रच्यवमानस्य, यदि वा बन्धव्यवच्छेदस्थानमुपगम्य ततः प्रतिपाते मन्दयोगस्थानवर्त्तिनो बन्धमारभमाणस्यानुत्कृष्टः, स च सादिः, उत्कृष्टं बन्धस्थानं व्यवच्छेदस्थानं वानुपगतस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवभावना प्राग्वत्। प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्य देशविरतस्य परमं योगस्थानमुपारूढस्य समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, योगोत्कर्षतो दलिकस्य प्रभूतस्य ग्रहणात्, मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानलभ्यप्रकृतिभागप्रवेशाच्च, स च सादिरध्रुवश्च, प्रतिनि-यतसमयभावित्वात्, तत उत्कृष्टप्रदेशबन्धाच्च्युतस्यानुत्कृष्टः, स च सादिः, यदि वा बन्धव्यवच्छेदस्थानं गत्वा ततः प्रतिपाते मन्द-योगस्थानवर्तिनो बन्धमारभमाणस्यानुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, स च सादिः, उत्कृष्टं बन्धस्थानं बन्धव्यवच्छेदस्थानं वाऽप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवगण्डिका प्राग्वत्। भयजुगुप्सयोरपूर्वकरणस्योत्कृष्टयोगिनः समयमेकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, प्रभूतस्य परमाणुस-

श्चयस्य योगोत्कर्षवशत उपादानात्, मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यादिसजातीयाबध्यमानप्रकृतिभागप्रवेशाच्च, स च सादिरध्रुवश्च, उत्कर्षतोऽपि समयद्वयं यावद् भवनात्, तत उत्कृष्टात्प्रच्यवनादनुत्कृष्ट स च सादिः, अथवा बन्धव्यवच्छेदस्थानमारुह्य ततः प्रच्युतस्याऽनुत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनो बन्धमारभमाणस्यानुत्कृष्ट इति स सादिः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानं बन्धव्यवच्छेदस्थानं वानुपागतस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवभावना प्राग्वत् । सञ्ज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरसम्परायस्योत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनश्चतुर्विधबन्धकस्य समयमेकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो, योगोत्कर्षवशतो दलिकस्य प्रभूतस्य ग्रहणात्, मिथ्यात्वादीनां पुरुषवेदस्य च भागस्य प्रवेशात्, तथा तस्यैवानिवृत्तिबादरस्योत्कृष्टयोगस्थानगतस्य त्रिविधबन्धकस्य समयमेकं द्वौ वा समयौ सञ्ज्वलनमानस्योत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, सञ्ज्वलनक्रोधस्यापि भागस्य प्रवेशात्, तस्यैवानिवृत्तिबादरस्योत्कृष्टयोगस्थानगतस्य द्विविधबन्धकस्योत्कर्षतः, समयद्वयं यावत् सञ्ज्वलनमायाया उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, सञ्ज्वलनमानस्यापि भागप्रवेशात्, तस्यैवानिवृत्तिबादरसम्परायस्य परमयोगस्थानवर्त्तिन एकविधबन्धकस्य समयमेकं द्वौ वा समयौ सञ्ज्वलनलोभस्योत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, स चैवं चतुर्णामपि सञ्ज्वलनानामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्रवर्त्तमानः प्रतिनियतकालभावित्वात्सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानात्प्रच्यवमानस्य, यदि वा बन्धव्यवच्छेदस्थानमारुह्य ततः प्रच्युतस्य मन्दयोगस्थानवर्त्तिनो बन्धमारभमाणस्य प्रवर्त्तमानः सादिः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्थानं बन्धाव्यवच्छेदस्थानं वाऽप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवभावना प्राग्वत् ॥८८॥

सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं। जाण जहिं बंधंतो उक्कोसो ताण तत्थेव ॥८९॥

(स्वो०)— शेषा जघन्याजघन्योत्कृष्टाः त्रयोऽपि साद्यध्रुवा भवन्ति। शेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां अध्रुवबन्धिनीनां च 'सर्वे' चत्वारोऽपि

जघन्याजघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टाः साद्यध्रुवा भवन्ति। स्वामित्वमाह–यासां प्रकृतीनां यत्र बन्धव्यवच्छेदो भवति तासां तत्रैवोत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवतीति। द्वितीयकषायाणामविरते आयुषः प्रविभागतो मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिप्रविभागतश्च, तृतीयकषायाणां देशविरते द्वितीयकषायप्रविभागतश्च, निद्राप्रचलयोरपूर्वकरणे आयुषः प्रविभागतः स्त्यानर्द्धित्रिकविभागतश्च, एवं भयजुगुप्सयोरप्यपूर्वकरणे, पुंसंज्वलनानां बादरकषाये क्रमेण (पञ्च) चतुस्त्रिद्व्येकबन्धकत्वेषु, सर्वेऽप्येते सप्तबन्धका उत्कृष्टयोगिनो मन्तव्याः। ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्काणां सूक्ष्मसम्पराये षड्बन्धके क्षपके सर्वोत्कृष्टयोगे समयमेकमुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति, तमेवैकं समयं सादिर्भूत्वाऽध्रुवो भवतीति गाथार्थः ॥८९॥

(मलय०)—पूर्वोक्तानां त्रिंशत्प्रकृतीनां शेषास्त्रयोऽपि जघन्याजघन्योत्कृष्टरूपा विकल्पाः साद्यध्रुवाः, तत्रोत्कृष्टः साद्यध्रुवतया अनन्तरमेव भावितः, जघन्यः सूक्ष्मनिगोदस्यापर्याप्तस्य सर्वाल्पवीर्यस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य भवति, ततो द्वितीये समये तस्यैवाजघन्यः, पुनरपि संख्येयकालातिक्रमेऽसंख्येयकालातिक्रमे वा पूर्वोक्तस्वरूपसूक्ष्मनिगोदावस्थाप्राप्तस्य जघन्य इति द्वावपि साद्यध्रुवौ। शेषाणां तु प्रकृतीनां सर्वासामपि मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिस्त्यानर्द्धित्रिकागुरुलघुतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयनिर्माणरूपाणां सप्तदशसंख्यानां ध्रुवबन्धिनीनां, सर्वासां चाध्रुवबन्धिनीनां सर्वे जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा विकल्पाः साद्यध्रुवाः। कथम्? इति चेत्, उच्यते–इह स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां मिथ्यादृष्टेः सप्तविधबन्धकस्योत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनः समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, एता हि स्त्यानर्द्धित्रिकादयोऽष्टौ प्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां बन्धमेव नायान्ति, ततो मिथ्यादृष्टेरित्युक्तं, उत्कृष्टाच्च प्रतिपतितस्यानुत्कृष्टः, ततो भूयोऽपि समयान्तरे उत्कृष्ट इति द्वावपि साद्यध्रुवौ। तैजसकार्मणागुरुलघूपघातवर्णादिचतुष्टयनिर्माणरूपाणां

नामध्रुवबन्धिनीनां नवानां प्रकृतीनां त्रयोविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनः समयमेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, अन्यस्यासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धासम्भवात्, तथा केवलवेदसोपलब्धेः। ततः समयान्तरेऽनुत्कृष्टो भूयोऽपि कालान्तरे उत्कृष्ट इति द्वावपि साद्यध्रुवौ, जघन्याजघन्यभावना तु प्रागिवानुसर्त्तव्या। अध्रुवबन्धिनीनां च प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवाः प्रत्येतव्याः।

तदेवं कृता साद्यादिप्ररूपणा। सम्प्रति स्वामित्वप्ररूपणा कर्त्तव्या, सा च द्विधा, उत्कृष्टप्रदेशबन्धविषया जघन्यप्रदेशबन्धविषया च। एकैकापि द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयमुत्तरप्रकृतिविषयं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वमाह–यासां प्रकृतीनां यत्र स्थाने बन्धान्तो–बन्धव्यवच्छेदो भवति तासां प्रायेण तत्रैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भावनीयः–किमुक्तं भवति? तासां प्रकृतीनां तत्स्थानं प्राप्ता उत्कृष्टयोगस्थानमुपारूढा उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनो जीवा वेदितव्याः। एतच्चातिसंक्षिप्तमुक्तमिति विशेषतो भाव्यते–तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वस्य भावना क्रियते। आयुषो मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयताख्याः पञ्चोत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिनः सन्त उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः, सर्वेषामप्येतेषामुत्कृष्टयोगस्थानस्यायुर्बन्धस्य च लभ्यमानत्वात्। सासादनः कस्मादुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी न भवति? इति चेत्, उच्यते–तस्योत्कृष्टयोगस्थानासम्भवात्। तथाहि–यदि सासादनस्याप्युत्कृष्टो योगो भवेत् तर्ह्यनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः सासादने लभ्येत, मिथ्यात्वभागस्य तत्र लभ्यमानत्वात्। तथा च सत्यनन्तानुबन्धिनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारतामापद्येत। तथाहि–उत्कृष्टप्रदेशबन्धः एषामुक्तनीत्या सासादने नान्यत्र, ततः सासादनगुणस्थानकाच्च्युतानां मिथ्यादृष्टीनां प्रवर्त्तमानोऽनु-

त्कृष्टः प्रदेशबन्धः सादिः, सासादनगुणस्थानकमप्राप्तानां पुनरनादिः अभव्यानां ध्रुवो, भव्यानामध्रुवो, न चैतदिष्टं, साद्यध्रुवतयाऽमीषामनु (ग्रन्थाग्रं ८०००) त्कृष्टप्रदेशबन्धस्य प्रागेवाभिधानात्। ततः सासादन उत्कृष्टयोगस्थानासंभवान्नायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी। सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्त्वायुषो बन्धमपि न विधत्त इति तत्प्रतिषेधः। तथा मोहनीयस्य सप्तविधबन्धका मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसम्परायरूपाः सप्तोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः, सर्वेषामप्येतेषामुत्कृष्टयोगस्थानस्य मोहनीयबन्धस्य च लभ्यमानत्वात्। आह च शिवशर्माचार्यः—'आउक्कस्स पदेसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि'। आह—सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टी कस्मान्मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनौ न भवतः? उच्यते—तयोरुत्कृष्टयोगासंभवात्। तत्र सासादनस्योत्कृष्टयोगाभावे युक्तिः प्रागेवोपदर्शिता। सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्तूत्कृष्टयोगस्थानहीनः पूर्वसूरिवचनप्रामाण्यादवसेयः, तच्च पूर्वसूरिवचनमिदं—'सासणसम्मामिच्छेसुक्कोसो जोगो न हवइ त्ति' ततः सप्तैवोक्तरूपा मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणामुत्कृष्टं योगस्थानमुपगतः सूक्ष्मसंपराय उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी, आयुर्मोहनीयभागयोरपि तत्र लभ्यमानत्वात्। तदेवं भावितं मूलप्रकृतिविषयमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम्। संप्रत्युत्तरप्रकृतिविषयं भाव्यते—तत्र ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी, मोहनीयायुर्भागयोरपि तत्र प्रवेशात्, चतसृणां च दर्शनावरणप्रकृतीनां सजातीयाबध्यमानप्रकृतिभागप्रवेशाच्च। संज्वलनक्रोधमानमायालोभानामनिवृत्तिबादरसम्पराय उत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमानो यथाक्रमं चतुस्त्रिद्व्येकबन्धकः सन् उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी, बन्धमधिकृत्य व्यवच्छिन्नानां प्रकृतीनां भागप्रवेशात्, निद्राद्विकस्याविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरपूर्वकरणपर्यन्तः सप्तविधबन्धे वर्त्तमान उत्कृष्टं योगं गतः

सन्नुत्कृष्टप्रदेशबन्धकर्त्ता, सर्वेष्वप्येतेपूत्कृष्टयोगस्थानस्य तद्बन्धस्य च संभवात्, स्त्यानर्द्धित्रिकायुर्भागप्रवेशाच्च । भयजुगुप्सयोरपूर्वकरणः प्रकृष्टयोगस्थानवर्त्ती, उत्कृष्टप्रदेशबन्धने तासां(इतरासां)मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणादीनामपि प्रकृतीनां भागस्य तत्र लभ्यमानत्वात् । अप्रत्याख्यानावरणकषायाणामविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टे योगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी, आयुर्भागस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां च भागस्य तत्र प्रवेशात् । प्रत्याख्यानावरणकषायाणां सप्तविधबन्धको देशविरत उत्कृष्टयोगस्थानमुपारूढ उत्कृष्टप्रदेशबन्धकर्त्ता, मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायायुषामपि भागस्य तत्र प्रवेशात् । तैजसकार्मणागुरुलघूपघातवर्णादिचतुष्टयनिर्माणरूपाणां नवानां प्रकृतीनां नामत्रयोविंशतिबन्धको मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमानः सप्तविधबन्धक एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी । मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिस्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामष्टानां ध्रुवबन्धिनीनां नामग्राहमध्रुवबन्धिनीनां च लघूपायदर्शनेनोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति ॥८९॥

निययअबंधचुयाणं णुक्कोसो साइणाइतमपत्ते । साई अधुवोऽधुवबंधियाणधुवबंधणादेव ॥९०॥

(स्वो०)—आसामेव त्रिंशत्प्रकृतीनामबन्धकत्वस्थानाद् भ्रष्टानां जीवानां या यत्र बन्धमायाति, तस्यास्तत्रैवानुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्रतिपतमानस्येति सादिः, अनादिः तत्स्थानमप्राप्तानां, सादिश्चावश्यमध्रुवः, अनादिश्चाभव्ये ध्रुवो, भव्येष्वध्रुव इति । अध्रुवबन्धिनीनां सर्वासां शुभानामशुभानां च साद्यध्रुवोऽसौ अध्रुवबन्धकत्वादेव, अनेनैव विधिना जघन्याजघन्योत्कृष्टा अपि द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥

(मलय०)—सम्प्रति प्रागुक्तानां त्रिंशत्प्रकृतीनां योऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकार उक्तस्तं, तथा उत्कृष्टादिभेदाच्चतुष्प्रकारमप्यध्रुवबन्धिनीनां प्रदेशबन्धं साद्यध्रुवं विभावयितुमाह—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कान्तरायपञ्चकानन्तानुबन्धिवर्ज-

द्वादशकपायभयजुगुप्सारूपाणां त्रिंशत्संख्याकानां ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां निजकादबन्धस्थानात् उपलक्षणमेतत् उत्कृष्टबन्धस्थानाद्वा च्युतानामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्रवर्त्तमानः सादिर्भवति। तदबन्धस्थानमुत्कृष्टबन्धस्थानं वा 'अपत्ते' इति प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययः, षष्ठीसप्तम्योश्चार्थं प्रत्यभेदः, इत्यप्राप्तानामनादिः, ध्रुवाध्रुवभावना सुगमत्वान्न कृता। अध्रुवबन्धिनीनां पुनः प्रकृतीनामुत्कृष्टादिको बन्धश्चतुष्प्रकारोऽपि अध्रुवबन्धनादेव—अध्रुवबन्धित्वादेव सादिरध्रुवश्च परिभावनीयः ॥९०॥

अध्रुवबन्धिनीनां स्वामित्वमाह—

अप्पतरपगइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपजत्तो। कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥९१॥

(स्वो०)—मौलानामौत्तराणां वाऽल्पतराणां प्रकृतीनां बन्धे सति पर्याप्तः संज्ञी यदोत्कृष्टयोगी भवति, तदाऽध्रुवबन्धिनीनां सम यमेकमुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, तुशब्दग्रहणं संज्ञिनोऽनेकगुणख्यापकम्। सातोच्चयशसां सूक्ष्मो, देवायुषोऽप्रमत्तः, शेषायुषां स्त्यानर्द्धि-त्रिकानन्तानुबन्धिस्त्रीनपुंसकमिथ्यात्वनीचैर्गोत्राणां मिथ्यादृष्टिः, तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिउरलहुण्ड (दुःस्वरवर्ज) स्थावरादिनवध्रुवनवानां प्रत्येकबादरयोश्चैकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशतिबन्धके, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियान्त्यसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गमनुष्यद्विकत्रसानामपर्याप्तकत्रसयो ग्यपञ्चविंशतिबन्धके, पराघातोच्छ्वासपर्याप्तकानामेकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धके, आतपोद्योतयोरेकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्धके, स्थिरा(स्थिरा)दिपञ्चसमचतुरस्रविहायोगतिद्विकवैक्रियषट्कदुःस्वराणां देवनारकयोग्याऽष्टाविंशतिबन्धके, मध्यमसंस्थानसंहननानां तिर्य-ग्मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धके, मिथ्यादृष्टावुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति, यतोऽस्मिन्नेवाल्पतरप्रकृतिबन्धो भवति। प्रथमसंहननतीर्थ-करयोरेकोनत्रिंशद्बन्धकेष्वविरतादिषु, आहारद्विकस्याप्रमत्त त्रिंशद्बन्धके, हास्यरत्योश्चारतिशोकासातानामविरते परमः प्रदेशबन्धो

भवति, समयमेकमिति । एतद्व्यत्यासे जघन्यो भवति । स चासंज्ञिनि हीनबले वैक्रियषट्कस्य, देवनारकायुषोः स्वबन्धाद्यसमये
भवति । तुशब्दात्तीर्थकराहारकाणामप्रमत्तो देवप्रायोग्यैकत्रिंशत् बन्धकः करोति । शेषाणामसंज्ञीतिसाधारणापर्याप्तकः प्रथमसमयो-
त्पन्नो हीनबलस्तिर्यक्प्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धकः, तत्रासम्भविनामेकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकः समयमेकं जघन्यं प्रदेशबन्धं
करोतीति गाथार्थः ॥९१॥

उत्कृष्ट जघन्य प्रदेशबन्ध स्वामित्वं

(मलय०)—सम्प्रत्यध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वपरिज्ञानाय लघुमुपायमाह—मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां चाल्पतराणां बन्धे
सति पर्याप्तः संज्ञी यदोत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तते तदा समयमेकं द्वौ वा समयावध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, उत्कृष्टप्रदेशबन्ध-
स्वामी भवतीत्यर्थः । तद्यथा—सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तीनां षड्विधबन्धक उत्कृष्टयोगस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी,
आयुर्मोहनीयभागस्य यशःकीर्त्तौ सजातीयाबध्यमानप्रकृतीनां च भागस्य प्रवेशात् । पुरुषवेदस्यानिवृत्तिबादरसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्त्त-
मान उत्कृष्टप्रदेशबन्धकर्त्ता, मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यादीनामपि भागस्य प्रवेशात् । तीर्थंकरनाम्नो देवगतिप्रायोग्यां तीर्थंकरनामसहिता-
मेकोनत्रिंशतं बध्नन्नविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरुत्कृष्टे योगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धविधायी । आहारकद्विकस्याप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा परं योग-
स्थानमुपगतो देवगतिप्रायोग्यामाहारकद्विकसहितां त्रिंशतं बध्नन्नुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी । उक्तञ्च—"आहारमप्पमत्तोति । आहारगस्स
अप्पमत्तोति, अप्पमत्ता अपुव्वकरणा य दोवि गहिया, तेसिं उक्कोसजोगीणं देवगइपाउग्गं आहारगदुगसहियं तीसं बन्धमाणाणं उक्को-
सपएसबन्धो हवइ, पकतीसे न लब्भइ, बहुगा भागा भवन्तित्ति काउं"। हास्यरत्यरतिशोकानामविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टयोगस्थानवर्त्ती
परमप्रदेशबन्धस्वामी । तिर्यग्द्विकासातवेदनीयनीचैर्गोत्रस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धकः । हुण्डसंस्थानस्थावरायशः-

कीर्त्यौदारिकप्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियजात्यपर्याप्तकानामेकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशतिबन्धको, द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातिसेवार्त्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गमनुष्यद्विकत्रसनाम्नामपर्याप्तकप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकः, पराघातोच्छ्वासपर्याप्तकनाम्नामेकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धकः, आतपोद्योतयोरेकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्धकः, स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिदेवद्विकवैक्रियद्विकदुर्भगानादेयाशुभास्थिराणां पञ्चदशप्रकृतीनां देवयोग्याष्टाविंशतिबन्धको, नरकद्विकाप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नां नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धको, मध्यमसंस्थानसंहननानां तिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धको, वज्रर्षभनाराचसंहननस्य मनुष्यगतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धको, मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टे योगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी। देवायुषोऽप्रमत्त उत्कृष्टयोगस्थानमुपारूढ उत्कृष्टप्रदेशबन्धकर्त्ता, शेषाणां त्रयाणामायुषां मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टयोगस्थानगत उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी। तदेवमुक्तं मूलप्रकृतिविषयमुत्तरप्रकृतिविषयं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम्।

सम्प्रति जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं वक्तव्यं, तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयमुच्यते—आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां लब्ध्यपर्याप्तकः सूक्ष्मनिगोद उत्पत्तिप्रथमसमयभावी सर्वाल्पवीर्यो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। द्वितीयसमयभावी कस्मान्न भवति? इति चेत्, उच्यते—द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणेन योगस्थानेन प्रवर्द्धमानत्वात्। सर्वो ह्यपर्याप्तः प्रतिसमयमसंख्येयगुणेन योगस्थानेन वर्द्धते, ततो द्वितीये समये जघन्यः प्रदेशबन्धो न लभ्यते। आह च शतकचूर्णिकृत्—"अप्पज्जत्तगा सव्वेवि असंखिज्जगुणेणं जोगेणं समए समए वड्ढंतित्ति बिइयसमयाइसु जहन्नगो पएसबन्धो न लब्भइ' इति। आयुषोऽपि स एव सूक्ष्मनिगोदो लब्ध्यपर्याप्तकः सूक्ष्मनिगोदापेक्षया सर्वमन्दयोगस्थानवर्त्ती स्वायुःशेषत्रिभागस्य प्रथमसमये वर्त्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धकर्त्ता, द्वितीये समयेऽपर्याप्तकत्वादसंख्येयगुणेन योग-

स्थानेन वर्द्धते, ततस्तत्र जघन्यप्रदेशबन्धो न प्राप्यते, इति स्वायुः शेषत्रिभागप्रथमसमये इत्युक्तम्। आह च शिवशर्मसूरिः–"सुहुमनिगोयापज्जत्तगो उ पढमे जहन्नगे जोगे। सत्तण्हंपि जहन्न आउगबंधंमि आउस्स ॥१॥"। अभिहितं मूलप्रकृतिविषयं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं, सम्प्रत्युत्तरप्रकृतिविषयं तद्विवक्षुराह–उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वविषये यदुक्तं, तस्य व्यत्यासे विपर्यासे–जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भावनीयं, तथाहि–उत्कृष्टप्रदेशबन्धं नाम स करोति यो मनोलब्धिसम्पन्न उत्कृष्टयोगी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां चाल्पतराणां बन्धकः। कस्मादेवं? इति चेत्, उच्यते–इह यो मनोलब्धिसम्पन्नो भवति तस्य शेषजीवापेक्षया बलवती चेष्टा समुल्लसति, प्रबलचेष्टायुक्तश्च प्रभूतान् पुद्गलानादत्ते, ततो मनोलब्धिसम्पन्न इत्युक्तं, मनोलब्धिसम्पन्नोऽपि स्वभूमिकानुसारेण मन्दमन्दतरयोगस्थानवर्त्ती भवति, ततस्तद्व्युदासार्थमुत्कृष्टयोगीत्यभिहितम्, इहापर्याप्तस्यापि संज्ञिनः स्वभूमिकानुसारेणोत्कृष्टो योगो विद्यते, न च तेन प्रयोजनं ततस्तदपनोदार्थं सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्युक्तम्, एवंविधविशेषणविशिष्टोऽपि यदा प्रभूतानां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा बन्धको भवति, तदा विवक्षितप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यते, दलिकस्य बहुभागसम्भवात्, ततो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां चाल्पतराणां बन्धक इत्यवाचि। एतच्चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वचिन्तायां सर्वत्राव्यभिचारि सामान्यं लक्षणं, यस्तु विशेषः स प्रागेव दर्शितः। तत एतद्विपर्यासो, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वचिन्तायां प्रायो लक्षणं प्रतिपत्तव्यम्। तद्यथा–मनोलब्धिहीनो जघन्ययोगस्थानवर्त्ती लब्ध्या सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तः प्रभूतानां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च बन्धको जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। उक्तञ्च–"सन्नी उक्कडजोगी पज्जत्तो पयडिबन्धमप्पयरो। कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं जाण विवरीयं ॥१॥" इति। एतच्चातिसंक्षिप्तमुक्तमिति मन्दमतिविनेयजनानुग्रहाय विशेषतो भाव्यते। तत्र नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्देवायूरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनाम-

संज्ञिपञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो जघन्ये योगस्थाने वर्त्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। इहासंज्ञिपर्याप्तजघन्ययोगात्संज्ञिपर्याप्तकजघन्ययोगोऽसंख्येयगुणः। उक्तञ्च—"असन्निपज्जत्तगजहन्नजोगाओ सन्निपज्जत्तगजहन्नजोगोऽसंखेज्जगुणो इति" ततः संज्ञिनो जघन्यः प्रदेशबन्धो न लभ्यते, इत्यसंज्ञिग्रहणम्। अपर्याप्तकस्य चासंज्ञिनो विवक्षितप्रकृतिचतुष्टयबन्धो न सम्भवतीति सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्युक्तम्। आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयतोऽष्टविधबन्धको देवगतिप्रायोग्यनामैकत्रिंशद्बन्धको जघन्ये योगस्थाने वर्त्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। देवद्विकवैक्रियद्विकतीर्थकररूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिर्भवप्रथमसमये वर्त्तमानो जघन्ययोगो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। तत्र देवो नैरयिको वा तीर्थकरनामबन्धको यथासंख्यं देवभवान्नारकभवाच्च च्युतो मनुष्यभवे समुत्पद्यमान उत्पत्तिप्रथमसमये वर्त्तमानो देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितामेकोनत्रिंशतं बध्नन् जघन्ययोगस्थानवर्त्ती देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धकर्त्ता। असंज्ञिषु मध्ये सर्वजघन्यः प्रदेशबन्धः कस्मान्न प्राप्यते? इति चेत्, उच्यते—इहासंज्ञी द्विविधस्तद्यथा—पर्याप्तोऽपर्याप्तश्च, तत्रापर्याप्तस्य देवगतिप्रायोग्यं नरकगतिप्रायोग्यं वा बन्धमेव नायाति। अपर्याप्तकसंज्ञिसत्काद्योगस्थानादसंज्ञिपर्याप्तकयोगोऽसंख्येयगुणः, आह च शतकचूर्णिकृत्—"सन्निअपज्जत्तजोगाओ असन्निपज्जत्तजोगो असंखेज्जगुणो" इति। ततोऽसंज्ञिषु जघन्यः प्रदेशबन्धो न लभ्यते, इति भवादिसमये वर्त्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिरित्युक्तम्। एतेन यदुच्यते कैश्चिदसंज्ञिनि हीनबले वैक्रियषट्कस्य जघन्यः प्रदेशबन्धो भवतीति तदपास्तं द्रष्टव्यम्। तीर्थकरनामकर्मणः पुनर्मनुष्यस्तीर्थकरनामकर्मबन्धकः कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नः तत्र प्रथमसमये वर्त्तमानो मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नन् सर्वजघन्ययोगो जघन्यप्रदेशबन्धकर्त्ता, अन्यत्र जघन्यप्रदेशबन्धाप्राप्तेः, तथा पूर्वसूरिप्रतिपादनात्। उक्तञ्च शतकचूर्णौ—"तित्थगरनामस्स मणुस्सो तित्थयरनामबन्धगो कालं काउं देवेसु

उववन्नो तस्स पढमसमए मणुयगइपाउग्गं तित्थयरनामसहियं तीसं बन्धमाणस्स सव्वजहन्नजोगिस्स सव्वजहन्नो पदेसबन्धो, अन्नत्थ न लब्भइ" इति। शेषाणां तु मनुष्यायुस्तिर्यगायुर्वर्जितानां नवोत्तरशतसङ्ख्यानां प्रकृतीनां सूक्ष्मनिगोदो लब्ध्यपर्याप्तः सर्वाल्पवीर्य उत्पत्तिप्रथमसमये वर्त्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। नवरमपर्याप्तकसूक्ष्मसाधारणनाम्नां पञ्चविंशतिबन्धकः, एकेन्द्रियातपस्थावराणां षड्विंशतिबन्धको, मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकः, शेषाणां तु नामप्रकृतीनां त्रिंशद्बन्धकः, उक्तविशेषणः सूक्ष्मनिगोदो जघन्यप्रदेशबन्धकर्त्ता। मनुष्यतिर्यगायुषोः स एव सूक्ष्मनिगोदः स्वायुःशेषत्रिभागप्रथमसमये वर्त्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी। स्वायुःशेषत्रिभागद्वितीयादिसमयेषु जघन्यप्रदेशबन्धाभावे कारणं प्रागुक्तमनुसरणीयम् ॥९१॥

सत्तविहबन्धमिच्छे परमो अणमिच्छथीणगिद्धीणं। उक्कोससंकिलिट्ठे जहन्नओ नामधुवियाणं ॥९२॥

(स्वो०)—सप्तविधबन्धके मिथ्यादृष्टौ क्लिष्टे बलवति प्रथमकषायमिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाणां परमः प्रदेशबन्धो भवति। आसां सास्वादने बन्धव्युपरमः तत्र वाऽनन्तानुबन्धिनां साद्यादिश्चतुर्विधो बन्धो मिथ्यात्वप्रतिभागप्राप्तेः प्राप्नोति तन्निषेधार्थं मिथ्यादृष्टौ। बलप्रकर्षख्यापनार्थमिदमाह—नामध्रुवाणां नवानां जघन्योऽत्र बलार्थसंक्लेशभणनेनैतद् ज्ञापयति—आसां साधारणेऽपर्याप्तके हीनबले [एकोन] त्रिंशद्बन्धके जघन्यप्रदेशबन्धो भवतीति गाथार्थः ॥९२॥

प्रदेशबन्धः समाप्तः

(मलय०)—संप्रति मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिस्त्यानर्द्धित्रिकाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं, तैजसादीनां च नामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनं सामान्यतः प्रागुक्तमपि मन्दमतीनां स्पष्टावबोधाय विशेषतः कथयति—सप्तविधबन्धके मिथ्यादृष्टौ

उत्कृष्ट जघन्य प्रदेशबन्ध स्वामित्वं

उत्कृष्टसंक्लिष्टे, संक्लेशग्रहणं बलवत्ताख्यापनार्थं, तेनेदमुक्तं भवति—सर्वोत्कृष्टे योगस्थाने वर्त्तमान इति परमः—उत्कृष्टोऽनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाणां प्रदेशबन्धः, किमुक्तं भवति ? संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वोत्कृष्टयोगस्थानवर्त्ती सप्तविधबन्धक उक्तरूपाणामनन्तानुबन्ध्यादीनामष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी । नामध्रुवबन्धिनीनां तैजसकार्मणागुरुलघूपघातवर्णादिचतुष्टयनिर्माणरूपाणां नवानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धको 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न हि सन्देहादलक्षणता' इति न्यायात्, सूक्ष्मनिगोदोऽपर्याप्तः सर्वजघन्ययोगस्थानवर्त्ती, [1]त्रिंशद्बन्धको जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी ॥९२॥

समयादसंखकालं तिरिदुगनीयाणि जाव बज्झंति । वेउव्वियदेवदुगं पल्लतिगं आउ अंतमुहू ॥९३॥

(स्वो०)—तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणि जघन्यतः एकं समयं बध्यन्ते, द्वितीयसमये यतः परावृत्य तद्विपक्षभूतानि बध्नाति उत्कृष्टतोऽसंख्येयकालं असंख्येयलोकाकाशप्रदेशमानं बध्यन्ते, यतस्तेजोवायुकायिकेषु गतस्यैतान्येव बन्धमुपगच्छन्ति, न विपक्षकर्माणीति । वैक्रियदेवद्विके जघन्यतः समयं, परावर्त्तमानत्वात्, उत्कृष्टतः पल्योपमत्रिकं, यतोऽसंख्येयवर्षायुपस्तिर्यग्मनुष्या जन्मत आरभ्य ता एव प्रकृतीर्बध्नन्ति । आयूंषि यावदन्तर्मुहूर्त्तं तावच्चत्वार्यपि बध्यन्ते, नात्र जघन्यत समयसम्भव एतदुत्तरत्रापवदिष्यतीति गाथार्थः ॥९३॥

(मलय०)—कृता स्वामित्वप्ररूपणा, तत्करणाच्चोक्तः प्रदेशबन्धः । सम्प्रति काः प्रकृतयो जघन्यत उत्कर्षतो वा कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं बध्यन्ते ? इत्येतन्निरूपणार्थमाह—तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रे—तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीनीचैर्गोत्राणि जघन्यतः समयमेकं यावद्बध्यन्ते, द्वितीये समये तथाविधसामग्रीवशतः परावृत्य तद्विपक्षप्रकृतीनां बन्धारम्भसम्भवात् । उत्कर्षतस्त्वसंख्येयं—असंख्येयलोकाकाश-

---

१ प्रत्यन्तरे 'एकोनत्रिंशद्बन्धकः' इत्यपि पाठः

प्रदेशपरिमितसमयप्रमाणं कालं बध्यन्ते, यतस्तेजोवायुकायिकमध्ये गतस्य जन्तोरेता एव प्रकृतयो बन्धमायान्ति, न विपक्षप्रकृतयः, तथाभवस्वाभाव्यात् । तेजोवायुकायिककायस्थितिश्चैतावत्प्रमाणा । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां–"तेउक्काइएणं भन्ते तेउक्काइयत्ताए कालओ, किच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा, एव वाउक्काइयावि" । तथा वैक्रियद्विकं देवद्विकं च जघन्यत एकं समयं यावद्बध्यते परावर्त्तमानत्वात् , उत्कर्षतस्तु पल्यत्रिकं–पल्योपमत्रयं यावत् । असंख्येयवर्षायुषो हि तिर्यङ्मनुष्या जन्मत आरभ्यामरणमेता एव प्रकृतीर्बध्नन्ति, ते चोत्कर्षतः पल्योपमत्रयायुःप्रमाणाः । तथा आयुः सर्वमप्युत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तकालं यावद्बध्यते, न परतोऽपि, तस्य तथास्वाभाव्यात् ॥९३॥

देसूणपुव्वकोडी सायं अस्संखपोग्गला उरलं । परघायसासतसचउपणिंदि पणसीय अयरसयं ॥९४॥

(स्वो०)—सातं जघन्यतः समयमेकं बध्यते, सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिं यावत् , यतः सयोगिकेवलिनो नासातस्य बन्धका इति । औदारिकशरीरं जघन्यतः समयमेकं बध्यते सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः । कथं ? यतो व्यावहारिकसत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगताः कायस्थित्या इयन्तं कालं तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रियाहारकयोः तद्विपक्षयोः बन्धोऽस्ति । पराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकपञ्चेन्द्रियप्रकृतयः जघन्यतः समयमेकं बध्यन्ते, अध्रुवबन्धित्वात् सविपक्षत्वाच्च, उत्कृष्टतः सागरोपमाणां पञ्चाशीतं शतम् । कथं ? षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिः द्वाविंशतिसागरोपमाणि तत्र चासां विपक्षबन्धासम्भवः, असावपि नारको भवान्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येष्वागच्छति, तत्र तथाविधमनुष्ठानं कृत्वा ग्रैवेयकेष्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो भवति, स च जन्मोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयी भवति, च्यवनकाले सम्यक्त्वं गत्वा षट्षष्टिसागरोपमाणि अच्युते वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्या-

काः प्रकृतयः कियन्तं कालं बध्यन्ते तासां प्ररूपणा

त्वं अनुभूय भूयोऽपि सम्यक्त्वं गच्छति, विजयादिषु वारद्वयेन षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति, एतेषु च स्थानेषु गुणभवप्रत्ययादेव न तद्विपक्षाणां बन्धोऽस्तीति गाथार्थः ॥९४॥

(मलय०)—सातवेदनीयं जघन्यतः समयमात्रं बध्यते, परावर्त्तमानप्रकृतितया द्वितीये समये तथाविधसामग्रीवशतः परावृत्त्य तद्विपक्षप्रकृतिबन्धात्, एतदुत्तरत्रापि परावर्त्तमानप्रकृतीनां समयमात्रबन्धकालनैयत्ये कारणमनुसरणीयम् । उत्कर्षतः पुनर्देशोनां पूर्वकोटीं यावत्, सयोगिकेवली ह्येतावन्तं कालं लभ्यते, स च सातस्यैव बन्धको नासातस्येति । तथौदारिकशरीरं जघन्यतः समयमेकं यावद् बन्धमायाति, उत्कर्षतोऽसंख्येयान् पुद्गलपरावर्तान् । स्थावरकायमुपागता हि जन्तव औदारिकमेव शरीरं बध्नन्ति, न वैक्रियं, भवप्रत्ययतस्तद्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानासम्भवात् । स्थावरकायमुपागताश्च व्यावहारिकसत्त्वा उत्कर्षत एतावन्तं कालं यावदवतिष्ठन्ते । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां—"एगिंदिए णं भंते एगिंदियत्ति कालओ केच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तमुक्कोसेण अणंताओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो" इति । तथा पराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकरूपत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिरूपाः सप्त प्रकृतयो जघन्यतः समयमेकं बन्धमायान्ति, उत्कर्षतः सागरोपमाणां पञ्चाशीतं शतं,कथम् ? इति चेत्,उच्यते—इह षष्ठ्यां पृथिव्यामुत्कर्षतो नारकाणां स्थितिर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि न च तत्रोक्तविपक्षभूताः प्रकृतयो बन्धमायान्ति, तथाभवस्वाभाव्यात् । योऽपि च नारको भवान्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येष्वागच्छति तस्यापि तत्र सम्यक्त्वप्रत्ययतो विवक्षितप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतयो न बन्धमागच्छन्ति । ततः स मनुष्योऽनुत्तरं संयममनुपाल्य ग्रैवेयकेष्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः, स च तथाविधाध्यवसायपरिणतिवशेन जन्मानन्तरं मिथ्यात्वमासादितवान् । च्यवनकाले

च भूयः सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यमध्ये समागत्य पट्षष्टिसागरोपमप्रमाणं सम्यक्त्वकालमच्युते वारत्रयगमनेन पूरयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवति, ततः पुनरपि सम्यक्त्वं विजयादिषु वारद्वयगमनेन पट्षष्टिसागरोपमाण्यनुभवति, न चैतेषु स्थानेषु भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा विवक्षितप्रकृतीनां विपक्षभूताः प्रकृतयो बन्धमायान्ति, ततो विवक्षितप्रकृतीनां पराघातादीनां पञ्चाशीतं शतं सागरोपमाणामुत्कर्षतो बन्धकालः ॥९४॥

चउरंसउच्चसुभखगइपुरिससुस्सरतिगाण छावट्ठी। बिउणा मणुदुगउरलंगरिसहतित्थाण तेत्तीसा ॥९५॥

(स्वो०)—समचतुरस्रसंस्थानोच्चैर्गोत्रशुभविहायोगतिपुरुषवेदसुस्वरसुभगादेयानां जघन्यतः समयमेकं बन्धो भवति, सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतः [त्रिपल्योपमाधिका] सागरोपमाणां पट्षष्टिर्द्विगुणिता सन्ततो बन्धः। कथं ? [त्रिपल्योपमायुः तिर्यङ्] मनुष्यो वा भवान्ते सम्यक्त्वमासाद्य प्राग्वत् द्वे पट्षष्टी सागरोपमाणां संसारे भ्रमतीति। मनुष्यद्विकौदारिकापाङ्गोपाङ्गप्रथमसंहनननानां जघन्यतः समयमेकं बन्धो भवति, सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तीर्थकरस्य च। यतः पञ्चानुत्तरविमानेष्वियत्कालं स्थितिर्देवानामिति गाथार्थः ॥९५॥

(मलय०)—समचतुरस्रसंस्थानोच्चैर्गोत्रशुभविहायोगतिपुरुषवेदसुस्वरसुभगादेयानां जघन्यतः समयमेकं बन्धः, परावर्तमानप्रकृतित्वात्। उत्कर्षतो द्विगुणितानि पट्षष्टिसागरोपमाणि—द्वात्रिंशतं शतं सागरोपमाणामित्यर्थः। एता हि प्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा नियमतो बन्धमायान्ति, तद्विपक्षप्रकृतीनां सासादनगुणस्थानके एव बन्धव्यवच्छेदात्। सम्यक्त्वकालश्चापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितो द्वात्रिंशदधिकशतसागरोपमप्रमाणः पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्यते, तत एतासामुत्कर्षतो द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणां

काः प्रकृतयः कियन्तं कालं बध्यन्ते तासां प्ररूपणा

बन्धकाल । तथा मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहनननानां जघन्यतः समयमात्रं, तीर्थकरनाम्नोऽन्तर्मुहूर्त्तं बन्धः उत्कर्षतः पञ्चानामपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तथाहि—अनुत्तरसुरेषु मध्ये समुत्पन्नो जीव एताः प्रकृतीस्तीर्थकरवर्जा नियमतो बध्नाति, कश्चित्पुनर्भावितीर्थकरस्तीर्थकरनामापि । तत एतासामुक्तरूप उत्कर्षतो बन्धकालः, केवलं तीर्थकरनाम्नो देशोनपूर्वकोटीद्वयाभ्यधिको वेदितव्यः ॥

सेसाणंतमुहुत्तं समया तित्थाउगाण अंतमुहू । बन्धो जहन्नओवि हु भंगतिगं निच्चबंधीणं ॥९६॥

(स्वो०)—उक्तशेषाणामध्रुवबन्धिनीनां एकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सन्ततो बन्धो भवति, उत्तरकाले त्वध्रुवबन्धित्वादवश्यं परावर्त्तते, जघन्यतः समयेनैवेति । कास्ताः ? मध्यमसंस्थानसंहननजातिचतुष्काणि स्थावरादयो दश नरकाहारकहास्यरतिद्विकानि, आतपोद्योते स्त्रीनपुंसकवेदौ स्थिरशुभयशांसि हुण्डसंस्थानान्त्यसंहननासाताप्रशस्तविहायोगतय इति । तीर्थकरायुषां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव उत्कृष्टतो यद् भवति तदुक्तमेव, अतस्तीर्थकरबन्धको यद्युपशमश्रेणिमारोहति, ततोऽबन्धको भवति नान्यथेत्यन्तर्मुहूर्त्तम् । हुरवधारणे, नैवमाहारकस्य, तद्धेतुसम्भवेऽपि अन्तर्मुहूर्त्तमेव बन्धः । ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रितयं—अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः, सादिसान्तः मिथ्यादृष्टिकाल इवावगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥९६॥

(मलय०)—उक्तशेषाणामध्रुवबन्धिनीनां प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरदशकहास्यरत्यरतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकातपोद्योतस्त्रीवेदनपुंसकवेदस्थिरशुभयशःकीर्त्त्यसातवेदनीयाप्रशस्तविहायोगतिरूपाणामेकचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्ध्वं बन्धमधिकृत्य नियमत एताः परावर्त्तन्ते, अध्रुवबन्धित्वात् ।

तीर्थकरायुषां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावत्सततं बन्धो भवति, तथास्वाभाव्यात्। यावत्पुनरुत्कर्षतो बन्धकालमानं तावत्प्रागेवोक्तम्। तथा नित्यबन्धिनीनां प्रकृतीनां बन्धकालमधिकृत्य भङ्गत्रितयमवसेयम्। तद्यथा—अनाद्यनन्तोऽनादिसान्तः सादिसान्त इति। तत्राभव्यानामनाद्यनन्तः कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्, भव्यानामनादिसान्तः व्यवच्छेदस्थानं प्राप्तानां तेषां बन्धासम्भवात्, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितानां सादिसान्तः ॥९६॥

उक्तो बन्धविधिरुदयविधिमाह—

होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो धुवोदयाणुदओ। साइसपज्जवसाणो अधुवाणं तह य मिच्छस्स ॥९७॥

(स्वो०)—भवत्यनाद्यपर्यवसानोऽनादिसान्तो ध्रुवोदयानामष्टचत्वारिंशतां प्रकृतीनां, वर्णादिविंशतिः तैजसकार्मणसप्तकं अगुरुलघुनिर्माणस्थिरास्थिरशुभाशुभज्ञानावरणान्तरायदशकदर्शनचतुष्कमिथ्यात्वानां विपाकोदय इति अभव्यभव्यानाश्रित्य, अध्रुवोदयानां पुनः सादिः सपर्यवसानो भवत्युदयोऽध्रुवोदयित्वादेव, तथा च मिथ्यात्वस्यापि प्रतिपतितसम्यग्दृष्टिमाश्रित्य भवतीति गाथार्थः ॥९७॥

(मलय०)—तदेवमुक्तो बन्धविधिः, साम्प्रतमुदयविधिमाह—इह प्रकृतयो द्विधा, तद्यथा—ध्रुवोदया अध्रुवोदयाश्च। तत्र कर्मप्रकृतिकार उदयचिन्तायामप्यष्टापञ्चाशदधिकं प्रकृतीनां शतं मन्यते, अत ऊर्ध्वं चाऽऽकरणाष्टकपरिसमाप्तेः कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण वक्ष्यते। ततो ध्रुवोदयाः प्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशत्संख्या वेदितव्याः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकम्, अन्तरायपञ्चकम्, दर्शनावरणचतुष्टयं, मिथ्यात्वं, वर्णादिविंशतिः, तैजसकार्मणसप्तकं, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, अगुरुलघु, निर्माणम्, इति। एतासामष्टाचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनामुदयो द्विधा, तद्यथा—अनाद्यनन्तोऽनादिसपर्यवसानश्च। तत्र अभव्यानाश्रित्यानाद्यनन्तः कदाचिदपि व्यवच्छेदाऽसम्भवात्।

भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, तेषां मोक्षं प्रति प्रस्थितानामवश्यमुदयव्यवच्छेदसंभवात् । अध्रुवाणाम्–अध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुक्तव्यतिरिक्तानां दशोत्तरशतसंख्यानामुदयः सादिसपर्यवसानः, अध्रुवोदयतया परावृत्य परावृत्य तासामुदयभावात् । न केवलमध्रुवोदयानामुदयः सादिपर्यवसानः किन्तु मिथ्यात्वस्य च । तथाहि–सम्यक्त्वात्प्रतिपतितमधिकृत्य मिथ्यात्वस्योदयः सादिः, पुनरपि सम्यक्त्वलाभे व्यवच्छेदादध्रुवः, तदेवं मिथ्यात्वस्योदयस्त्रिविध आवेदितस्तद्यथा–अनाद्यनन्तोऽनादिसपर्यवसानः एतौ च द्वावपि भङ्गौ ध्रुवोदयत्वात्तद्ग्रहणेन गृहीतौ, तृतीयस्तु भेदः सादिसपर्यवसानलक्षणः 'तह य मिच्छस्स' इत्यनेनावयवेन साक्षादुक्त इति ॥९७॥

पयडीठिइमाईया भेया पुव्वुत्तया इहं नेया । उद्दीरणउदयाणं जन्नाणत्तं तयं वोच्छं ॥९८॥

(स्वो०)—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाः पूर्वोक्ता बन्धवदत्राप्युदये द्रष्टव्याः । उदीरणोदययोर्नानात्वं–योऽत्र भेदो विशेपस्तकं वक्ष्य इति गाथार्थः ।९८॥

(मलय०)—यथा किल पूर्वं बन्धविधौ प्रकृतिस्थित्यादयो भेदा उक्तास्तद्यथा–प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्च, तथा इहाप्युदयाधिकारे ज्ञेयास्तद्यथा–प्रकृत्युदयः स्थित्युदयोऽनुभागोदयः प्रदेशोदयश्च । तत्राचार्यः स्वयमेवाग्रे सप्रपञ्चमुदीरणाकरणं वक्ष्यति, उदयोदीरणयोश्च प्रायः स्वामित्वं प्रत्यविशेपः सहभावित्वात्, तथाहि–यत्रोदयस्तत्रोदीरणा यत्रोदीरणा तत्रोदयः, ततो यथा प्रकृत्यादयो भेदा उदीरणाधिकारे वक्ष्यन्ते यच्च स्वामित्वप्ररूपणादिकं, तदेतत्सर्वमन्यूनातिरिक्तमत्रापि भावनीयम् । यत्पुनर्नानात्वं तदभिधित्सुराह–'उद्दीरण' इत्यादि–उदीरणोदययोः प्रकृत्यादिभेदविषये यन्नानात्वं तदहं वक्ष्ये, शेषं तुदीरणावद् द्रष्टव्यमिति भावः॥

चरिमोदयमुच्चाणं अजोगिकालं उदीरणाविरहे । देसूणपुव्वकोडी मणुयाउय सायसायाणं ॥९९॥

तइयच्चियपज्जत्ती जा ता निद्दाण होइ पंचण्हं । उदओ आवलिअंते तेवीसाए उ सेसाणं ॥१००॥

(स्वो०)—त्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशोमनुजगतितीर्थंकरपञ्चेन्द्रियजात्युच्चैर्गोत्राणां अयोगिकालं उदीरणया विनाप्युदयो भवति, तदन्यत्र नास्तीति विशेषः । सातासातमनुजायुषां अप्रमत्तादिगुणेषु वर्त्तमानस्य देशोनपूर्वकोटिकालं यावदुदय एव शुद्धो भवति, अन्यत्रोदीरणा उदयस्य सहचरेति गाथार्थः । यावदाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तयस्तावन्निद्राणामुदयः, एतदूर्ध्वं उदीरणासहचरो भवत्युदयः । शेषाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां आवलिकामात्रं कालमुदय एव शुद्धः केवलो भवति । कथं ? ज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्काणां क्षीणकषायान्तावलिकायामुदय एव भवति, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसम्परायान्तावलिकायामुदय एव भवति, नारकतिर्यग्देवायुषां स्वान्तावलिकामुदयेनैवानुभवति, मिथ्यात्वस्त्रीपुंनपुंसकवेदानां अन्तरकरणे कृते प्रथमस्थित्यामावलिकाशेषायामुदय एव शुद्धो भवति, सम्यक्त्वस्यैतच्छेपावलिकामुदयेनैवानुभवति शेषकाले उदयान्नास्ति विशेषः । शेषप्रकृतीनां च नास्ति विशेष इति गाथार्थः ॥९९-१००॥

(मलय०)—तत्र प्रकृतिभेदविषये नानात्वं दिदर्शयिषुर्गाथाद्वितयमाह—चरमोदयानां—चरमे अयोगिकेवलिचरमसमये उदयो यासां नामप्रकृतीनां ताश्चरमोदयाः, ताश्चेमा नव, तद्यथा—मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम सुभगनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम तीर्थकृतां भगवतामयोगिकेवलीनां तीर्थकरनाम च, एतासां नवानां प्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य च अयोगिकालस्तावन्तं कालं यावदुदीरणाविरहे—उदीरणाया अलाभेऽप्युदय एव केवलः प्रवर्त्तते । तथा मनुष्यायुः सातवेदनीयमसातवेदनीयं चेत्येवंरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परतः शेषेषु गुणस्थानकेषु वर्तमानानामुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं यावदुदीरणामन्तरेण केवल उदयो भवति, स चोत्कर्षत इयत्कालः सयोगिकेवलिगुणस्थानके द्रष्टव्यः, शेषस्य गुणस्थानकस्य सर्वस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् । अथ कस्मा-

त्सातासातवेदनीयमनुष्यायुषां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परत उदीरणा न प्रवर्तते ? उच्यते—अमीषां ह्युदीरणा संक्लिष्टाध्यवसायवशतः प्रवर्त्तते, तथास्वाभाव्यात् , विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायवर्तिनश्चाप्रमत्तसंयतादयः ततस्तेषां वेदनीयद्विकमनुष्यायुषोरुदीरणाया अभावः। तथा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां सतां शरीरपर्याप्तिपर्याप्तानन्तरसमयादारभ्य यावत्तृतीया पर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः परिसमाप्तिमुपैति तावत्पञ्चानामपि निद्राणां, तथास्वाभाव्यान्नोदीरणा प्रवर्त्तते किंतूदय एव केवलः। तथा शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसञ्ज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वनारकायुस्तिर्यगायुर्देवायूरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामावलिकान्ते अन्तभूतायामावलिकायामुदय एव केवलो नोदीरणा। तथाहि—पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनामन्तरायप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपस्य दर्शनावरणचतुष्टयस्य क्षीणकपायस्य पर्यंतावलिकायां वर्त्तमानस्यावलिकायां प्रविष्टत्वान्नोदीरणेत्युदय एव केवलः। एवमेव संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तावलिकायां, मिथ्यात्वस्त्रीपुंनपुंसकवेदानामन्तरकरणे कृते प्रथमस्थित्यामावलिकाशेषायां, नारकायुस्तिर्यगायुर्देवायुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव केवलो नोदीरणा, आवलिकान्तर्गतस्य कर्मणः सर्वस्याप्युदीरणाऽनर्हत्वात्। इह मनुष्यायुष उदीरणाविरहेऽप्युदयकालः प्रागेव देशोनपूर्वकोटीप्रमाण उक्तः, ततो मनुष्यायुषो मिथ्यादृष्ट्यादीनां पर्यन्तावलिकायामुदीरणाविरहेऽपि य उदयकाल आवलिकामात्रः स तदन्तर्गत एव वेदितव्य इति पृथग् नोक्तः। पूर्वकोट्यभिधाने ह्यावलिकामात्रं तदेकदेशलवभूतं सामर्थ्यादुक्तमवसेयम्। शेषाणां तु प्रकृतीनां यावदुदयस्तावदुदीरणा यावदुदीरणा तावदुदय इति ॥९९–१००॥

मोहे चउहा तिविहोवसेससत्तण्ह मूलपगईणं। मिच्छत्तुदओ चउहा अधुवधुवाणं दुविहतिविहो ॥१०१॥

(स्वो०)—मोहनीये चतुर्विधः साद्यनादिध्रुवाध्रुवभेदेन भवत्युदयः। कथं ? उपशान्तगुणस्थानात्पतमानस्य सादिस्तत्स्थानमप्राप्त-

स्यानादिरभव्यस्य ध्रुवो भव्यस्याध्रुव इति। त्रिधाऽवशेषाणां सप्तानां, कथं? ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षीणकषायान्तसमये, वेदनीयनामगोत्रायुषामयोग्यन्तसमयेऽध्रुवो भवत्युदयः, सादिर्नास्ति तयोरप्रतिपातात्, अनादिर्ध्रुवोऽभव्यानाम्। उत्तरप्रकृतीनामाह–मिथ्यात्वस्य चतुर्धा। कथं? प्राप्तसास्वादनभावस्य (सम्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य मिथ्यादृष्टेर्भवन्)सादिरभव्यस्यानादिर्ध्रुवो, भव्यस्याध्रुव इति। अध्रुवोदयानां द्विविधः–सादिरध्रुवः अध्रुवोदयित्वादेव भावितः। ध्रुवोदयानां त्रिधा, कथं? घातिध्रुवोदयानां क्षीणकषायान्ते, नामध्रुवोदयानामयोग्यन्ते भवत्यध्रुवो, ध्रुवस्त्वभव्यानामनादिश्चेति गाथार्थः ॥१०१॥

(मलय०)—तदेवं दर्शितः प्रकृत्युदये उदीरणातो विशेषः। सम्प्रत्यत्रैव साद्यादीप्ररूपणा कर्तव्या, सा च द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च, तां द्विविधामपि चिकीर्षुराह–मोहे–मोहनीयस्य कर्मण उदयश्चतुर्धा–चतुष्प्रकारः, तद्यथा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि–उपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपाततो भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। अवशेषाणां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुदयस्त्रिविधः–त्रिप्रकारस्तद्यथा–अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि–ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुदयः क्षीणमोहान्तसमयं यावत्, वेदनीयनामगोत्रायुषां सयोग्यन्तसमयं, नच क्षीणो भूयः प्रादुर्भवति, तत एतासां सप्तानामप्युदयोऽनादिः, भव्यानामध्रुवः, क्षपकश्रेण्यारोहे यथोक्तकाले तेषामुदयव्यवच्छेदभावात्, अभव्यानां ध्रुवः, कदाचिदपि व्यवच्छेदाऽसम्भवात्। कृता मूलप्रकृतिषु साद्यादिप्ररूपणा। साम्प्रतमुत्तरप्रकृतिषु तां करोति–'मिच्छत्तुदओ' इत्यादि मिथ्यात्वस्योदयश्चतुष्प्रकारस्तद्यथा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तत्र सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्य भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। तथाऽध्रुवाणां–अध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुदयो द्विविधो–द्विप्रकारस्तद्यथा–सादिरध्रुवश्च। सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवोदयत्वाद्भावनीया। तथा

ध्रुवाणां- ध्रुवोदयानां प्रकृतीनां प्रागुक्तस्वरूपाणां मिथ्यात्ववर्जशेषसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदयस्त्रिविधः-त्रिप्रकारस्तद्यथा-अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-घातिध्रुवोदयानां प्रकृतीनां क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमयं यावदुदयो, नामध्रुवोदयानामयोग्यन्तसमयं, ततस्तत्स्थानमप्राप्तानां सर्वेषामपि संसारिजीवानामुदयो ध्रुवोदयानामनादिः, ध्रुवाध्रुवौ प्राग्वत् ॥१०१॥

उक्तः प्रकृत्युदयः, स्थित्युदय उच्यते—

उदओ ठिइक्खएणं संपत्तीए सभावतो पढमो। सति तम्मि भवे बीओ पओगओदीरणा उदओ ॥१०२॥

(स्वो०)—स्थितिरबाधाकालस्तत् क्षयेण सम्प्राप्तौ वा द्रव्यादिहेतूनां य उदयः स विपाकोदयः स्वभावोदयः प्रथम इति। सति-विद्यमानेऽस्मिन् द्वितीयो भवति प्रयोगोदयः, अध्यवसायप्रयोगेणोदयावलिकारहितानां स्थितीनां यद्दलमुदयस्थितौ प्रक्षिप्यानुभवति, स उदीरणोदयो भण्यत इति गाथार्थः ॥१०२॥

(मलय०)—उक्तः प्रकृत्युदयः। सम्प्रति स्थित्युदयमाह-इहोदयो द्विधा, तद्यथा-स्थितिक्षयेण प्रयोगेण च। तत्र स्थितिः-अबाधाकालरूपा तस्याः क्षयेण-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपाणामुदयहेतूनां प्राप्तौ सत्यां यः स्वभावत उदयः स स्थितिक्षयेणोदय उच्यते। यः पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्त्तमाने सति प्रयोगतः-उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति स द्वितीय उदीरणोदयाभिधान उच्यते। स चोदयः सामान्यतो द्विधा, तद्यथा-जघन्य उत्कृष्टश्च ॥१०२॥

उद्दीरणजोग्गाणं अब्भहियठिईए उदयजोग्गाओ। हस्सुदओ एगठिईणं निद्दुणाएगियालाए ॥१०३॥

(स्वो०)—उदीरणायोग्यानां उत्कृष्टस्थितीनां अभ्यधिका उदययोग्याः स्थितय एकचत्वारिंशतां प्रकृतीनाम्। ताश्च प्रकृत्युदयेऽभिहिताः। शेषं साद्यनादिध्रुवाध्रुवादि सर्वं उदीरणातुल्यम्। जघन्योदयस्तासामेकचत्वारिंशतां निद्रापञ्चकरहितानां षट्त्रिंशतामेकस्थित्युदयो भवत्यन्ते चरमस्थितिरित्यर्थः। निद्रासु पुनः परावर्त्तनाकाले प्रभूतस्थितीनामन्यत्र क्षेपादेकस्थितिर्न भवति, षट्त्रिंशतां क्रमानुभवनाद् भवति। शेषं स्थित्युदीरणावद् द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥१०३॥

(मलय०)—तत्रोत्कृष्टस्थित्युदीरणात् उत्कृष्टस्थित्युदय उदयस्थित्याऽभ्यधिकस्तथा चाह-उदीरणायोग्यानां-उत्कृष्टस्थितीनां प्रकृतीनां उदीरणायोग्याभ्यः स्थितिभ्य उदययोग्याः स्थितय एकया उदययोग्यया स्थित्या अभ्यधिका वेदितव्याः। तथाहि-उत्कृष्टायां स्थितौ बध्यमानायामबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकमस्तीति कृत्वा बन्धावलिकायामतीतायामनन्तरस्थितौ विपाकोदयेन वर्त्तमान उदयावलिकात उपरिवर्त्तिनीः सर्वा अपि स्थितीरुदीरयति उदीर्य च वेदयते, ततो बन्धावलिकोदयावलिकाहीनायाः शेषायाः सर्वस्या अपि स्थितेरुदयोदीरणे तुल्ये, वेद्यमानायां च स्थितावुदीरणा न प्रवर्त्तते किन्तूदय एव केवलः, ततो वेद्यमानया समयमात्रस्थित्याऽभ्यधिकः उत्कृष्टस्थित्युदीरणादुत्कृष्टस्थित्युदयः, बन्धावलिकोदयावलिकाहीनश्चोत्कृष्टस्थित्युदय उदयोत्कृष्टबन्धानां प्रकृतीनां वेदितव्यः। शेषाणां तु यथायोगं, तत्राप्युक्तनीत्या उदयस्थित्याऽभ्यधिकोऽवगन्तव्यः। सम्प्रति जघन्यस्थित्युदये विशेषमाह-प्रागुक्तानां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्त्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयसातासातवेदनीयनिद्रापञ्चकज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चक दर्शनावरणचतुष्टयसञ्ज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वरूपाणामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्याकानां प्रकृतीनां निद्रापञ्चकोनानां सतीनां षट्त्रिंशत्सङ्ख्याकानां ह्रस्वो-जघन्यः स्थित्युदय एकस्थितीनां-एकैकसमयस्थितीनां समयमात्राणां वेदितव्यः, किमुक्तं भवति?

उक्तरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः स्थित्युदयः समयमात्रैकस्थित्युदयप्रमाणो वेदितव्यः इति, समयमात्रा चैका स्थितिश्चरमा स्थितिरवसेया। निद्रापञ्चकस्य तूदीरणाया अभावेऽपि शरीरपर्याप्त्यनन्तरं विपाकोदयकालेऽपवर्त्तनापि प्रवर्त्तते, तत एका स्थितिर्न प्राप्यते, इति तद्वर्जनम्। शेषं तु सर्वमपि साद्यादिप्ररूपणादिकं स्थित्युदीरणायामिव निरवशेषमवगन्तव्यम्॥१०३॥

भणितः स्थित्युदयः, अनुभागोदयो विधीयते—

अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो जहन्नयं नवरं। आवलिगंते सम्मत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१०४॥

(स्वो०)—अनुभागोदयोऽप्युदीरणातुल्यो, मूलोत्तरप्रकृतिप्रत्ययस्थानशुभाशुभस्वामित्वानि तुल्यानि, यथाऽनुभागोदीरणायां तथाऽनुभागोदयेऽपि। नवरमयं विशेषः—उदयावलिकान्तसमये जघन्यानुभागोदयो वक्तव्यः, सम्यक्त्ववेदत्रयज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्कसञ्ज्वलनलोभानाम्। शेषप्रकृतीनामुदीरणातुल्यं सर्वमिति गाथार्थः ॥१०४॥

(मलय०)—उक्तः स्थित्युदयः। सम्प्रत्यनुभागोदयमाह—अनुभागोदयोऽप्युदीरणायास्तुल्यो, यथानुभागोदीरणा सप्रपञ्चमग्रे वक्ष्यते तथानुभागोऽपि वक्तव्य इति भावः, किं सर्वथा साम्यम्? इति चेत्, अत आह—नवरमयं विशेषो, जघन्यमनुभागोदयं सम्यक्त्ववेदानां क्षीणान्तानां—क्षीणमोहगुणस्थानकपर्यवसानानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां सञ्ज्वलनलोभस्य च आवलिकान्ते जानीयात्। इयमत्र भावना—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदत्रयसञ्ज्वलनलोभसम्यक्त्वरूपाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां स्वस्वपर्यवसानसमये उदीरणाया व्यवच्छेदे सति परत आवलिकां गत्वा आवलिकाचरमसमये जघन्यानुभागोदयस्य प्राप्यमाणत्वादिति ॥१०४॥

उक्तोऽनुभागोदयः, प्रदेशोदयमाह—

अजहन्नोऽणुक्कोसो चउह तिहा छण्ह चउविहो मोहे। आउस्स साइ अधुवा सेसविअप्पा य सव्वेसिं ॥१०५॥

(स्वो०)—अजघन्यः प्रदेशोदयश्चतुर्द्धा भवति, मोहायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणां, कथं ? क्षपितकर्मांशस्य देवस्य संक्लिष्टस्य उत्कृष्टस्थितिबन्धं बध्नतः प्रभूतानुभागत्वान्न ते परिशटन्ति, तस्य प्रभूतं प्रदेशाग्रमुद्वर्त्तितं भवति, ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषूत्पन्नस्य प्रथमसमये जघन्यः प्रदेशोदयः, स चैकसामयिकः सादिरध्रुवश्च, तस्माद् द्वितीयसमये अजघन्यः, स च सादिः, तत्स्थानमप्राप्तानां अनादिः, भव्याभव्ययोरध्रुवध्रुवाविति। तेषामेव षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिविधो भवति, कथं? गुणितकर्मांशमाश्रित्य स्वोदयान्ते गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति, स चैकसामयिकः सादिरध्रुवश्च, तदन्योऽनुत्कृष्टः, स च सादिर्न सम्भवति, उत्कृष्टोदयस्यान्ते उदयस्यैवाभावात् , अनादिध्रुवावभव्यानां भव्यानामध्रुव इति। चतुर्विधो मोहनीयेऽजघन्योऽनुत्कृष्टश्च, कथं? क्षपितकर्मांशे कृते त्वन्तरकरणे उदीरणोदये निवृत्ते उदयावलिकान्तसमये मोहनीयस्य जघन्यः प्रदेशोदयः, स च सादिरध्रुवः, सामयिकश्च, तस्मात् द्वितीयसमयेऽजघन्यः प्रदेशोदयः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। अनुत्कृष्टोऽपि चतुर्द्धा, कथं ? उत्कृष्टप्रदेशोदयो गुणितकर्म्मांशमधिकृत्य वक्तव्यः, स च सूक्ष्मकषायान्तसमये सामयिकः सादिरध्रुवश्च भवति, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतमानस्यानुत्कृष्टो मोहनीयस्य प्रदेशोदयः, स च सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। आयुषश्चत्वारोऽपि भेदाः साद्यध्रुवाः, उत्तमाधममध्यमस्थितिसम्भवादध्रुवोदयत्वाच्च सुगमाः। शेषकर्मणां जघन्योत्कृष्टाः कथिता एवेति गाथार्थः ॥१०५॥

(मलय०)—तदेवमुक्तोऽनुभागोदयः। सम्प्रति प्रदेशोदयो वक्तव्यः, तत्र चेमावर्थाधिकारौ, तद्यथा साद्यादिप्ररूपणा, स्वामित्व-

प्ररूपणा च। तत्र साद्यादिप्ररूपणा द्विधा, तद्यथा—मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयसाद्यादिप्ररूपणार्थमाह—मोहायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामजघन्यः प्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि—कश्चित्क्षपितकर्मांशो देवलोके देवो जातः, स च तत्र संक्लिष्टो भूत्वोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशाग्रमुद्वर्त्तयति, ततो बन्धावसाने कालं कृत्वैकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां षण्णां कर्मणां जघन्यः प्रदेशोदयः, स चैकसामयिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि तस्य द्वितीयसमये भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, अध्रुवध्रुवौ प्राग्वत्। तथा तेषामेव षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिधा—त्रिप्रकारः, तद्यथा—अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, तथाहि—अमीषां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टः प्रदेशोदयो वक्ष्यमाणस्वरूपस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयपर्यवसाने गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानस्य प्राप्यते, स चैकसमयमात्रभावीति सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चानादिः सदैव भावात्, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा मोहे—मोहनीयस्य कर्मणोऽजघन्योऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधः, तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, तथाहि—क्षपितकर्मांशस्यान्तरकरणे कृतेऽन्तरकरणपर्यन्तभाविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये मोहनीयस्य जघन्यः प्रदेशोदयः, स चैकसामयिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, सोऽपि ततो द्वितीयसमये भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा गुणितकर्मांशस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयः, स च समयमात्रभावीति सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चोपशमश्रेणीप्रतिपाततो भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। तथा आयुषश्चत्वारोऽपि भेदा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः साद्यध्रुवाः, चतुर्णामपि भेदानां यथायोगं नियतकालं भावात्। तथा सर्वेषां कर्मणां—प्रागुक्तानां षण्णां मोहनीयस्य च उक्तशेषौ विकल्पौ

उत्कृष्टजघन्यरूपौ साद्यध्रुवौ, तौ च प्रागेव भावितौ ॥१०५॥

अजहन्नोऽणुक्कोसो धुवोदयाणं चउत्तिहा चउहा । मिच्छत्ते सेसासिं दुविहा सव्वे य सेसाणं ॥१०६॥

(स्वो०)—मिथ्यात्वरहितानां सप्तचत्वारिंशतां ध्रुवोदयप्रकृतीनां अजघन्यः प्रदेशोदयश्चतुर्विधो भवति, कथं ? क्षपितकर्मांशो देवः संक्लिष्ट उत्कृष्टस्थितिं बध्नानः प्रभूतप्रदेशाग्रमुद्वर्त्तयति, बन्धावसाने कृतकालः एकेन्द्रियेषूपपन्नस्तस्य प्रथमसमये जघन्यः प्रदेशोदयः सामान्यतः । अवधिज्ञानदर्शनावरणयोः देवस्य बन्धावलिकान्त्यसमये जघन्यः प्रदेशोदयः सामयिकः सादिरध्रुवश्च, द्वितीयसमयेऽजघन्योऽसावपि सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । अस्या एव सप्तचत्वारिंशतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिधा भवति, कथं ? गुणितकर्मांशमाश्रित्योत्कृष्टप्रदेशोदयः स्वोदयान्तसमये भवति, स च सामयिकः सादिरध्रुवश्च, तदभावे उदयस्यैवाभावादनुत्कृष्टः सादिर्न सम्भवति, शेषकाले अनुत्कृष्टः प्रदेशोदयोऽनादिर्ध्रुवश्चाभव्यानां भव्यानामध्रुवो भवति । मिथ्यात्वप्रदेशोदयश्चतुर्विधः अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च, कथं ? क्षपितकर्मांशस्य प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः, कृतान्तरकरणस्य औपशमिकसम्यक्त्वात्मिथ्यात्वं गतस्य उदीरणान्ते वर्त्तमानस्य जघन्यः प्रदेशोदयः, स च सादिरध्रुवः, तस्यैव द्वितीयसमये मिथ्यात्वमनुभवतोऽजघन्यः प्रदेशोदयः सादिः, वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतमानस्य सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । मिथ्यात्वस्यानुत्कृष्टोऽपि प्रदेशोदयश्चतुर्द्धा, कथं ? गुणितकर्मांशः देशविरतगुणश्रेणिमनुभवमानः सर्वसंयमगुणश्रेणीं च कृत्वा द्वयोरपि गुणश्रेण्योर्मस्तकं यदैकत्र भवति, तदा मिथ्यात्वमनुभवमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति, स च सामयिकः सादिरध्रुवश्च, द्वितीयसमयेऽनुत्कृष्टः, सम्यक्त्वाद्वा मिथ्यात्वं गतस्यानुत्कृष्टः, स च सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । भणितशेषाः जघन्योत्कृष्टाः प्रदेशोदयाः साद्यध्रुवाः सम्भाविता

एव आसां ध्रुवोदयानाम् । "सर्वे" चत्वारोऽपि उक्तशेषाणामध्रुवोदयानां साद्यध्रुवा भवन्ति, अध्रुवोदयत्वादेव सुगमा इति गाथार्थः ॥

(मलय०)—कृता मूलप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणा। संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां तां चिकीर्षुराह—मिथ्यात्वरहितानां शेषाणां सप्तचत्वारिंशत्संख्याकानां ध्रुवोदयानां तैजसकार्मणसप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुनिर्माणज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां प्रकृतीनामजघन्यः प्रदेशोदयश्चतुर्विधः, तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, तथाहि—कश्चित्क्षपितकर्मांशो देव उत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमान उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टं प्रदेशाग्रमुद्वर्त्तयति ततो बन्धावसाने कालं कृत्वैकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पद्यते तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः प्रदेशोदयः, केवलमवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्बन्धावलिकाचरमसमये देवस्य जघन्यः प्रदेशोदयो वेदितव्यः, स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च । ततोन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स च द्वितीये समये भवन् सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवता प्रागिव । तथा अमूषामेव सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिप्रकारः, तद्यथा—अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, तथाहि—गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयपर्यवसाने गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः, स च समयमात्रभावीति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, स चानादिः सदैव भावात्, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्याजघन्योऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधः, तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, तथाहि—क्षपितकर्मांशस्य प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयतः कृतान्तरकरणस्यौपशमिकसम्यक्त्वात्प्रच्युतस्य मिथ्यात्वं गतस्यान्तरकरणपर्यन्तभाविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये वर्त्तमानस्य जघन्यः प्रदेशोदयः, स चैकसामयिक इति सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, सोऽपि ततो द्वितीये समये भवन् सादिः, वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपततः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा कश्चिद्गुणितकर्मांशो यदा देशविरतगुणश्रेण्यां वर्त्त-

मानः सर्वविरतिं प्रतिपद्यते, ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोति कृत्वा च तावद्गतो यावद् द्वयोरपि गुणश्रेण्योर्मस्तके, तदानीं च कश्चिन्मिथ्यात्वं गच्छति, ततस्तस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः, स चैकसामयिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च, ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः, सोऽपि द्वितीये समये भवन् सादिः, वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतितः सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। एतासां चानन्तरोक्तस्वरूपाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वस्य चोक्तशेषौ विकल्पौ जघन्योत्कृष्टरूपौ द्विधा—द्विप्रकारौ तद्यथा—सादी अध्रुवौ च तौ च प्रागेव भावितौ। शेषाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वे विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा द्विविधा—द्विप्रकारा ज्ञातव्याः, तद्यथा—सादयोऽध्रुवाश्च, सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवोदयत्वादवसेया ॥१०६॥

उक्ता साद्यनादिप्ररूपणा, साम्प्रतं स्वामित्वविभावनाय गुणश्रेणीप्ररूपणायाह—

संमत्तदेससंपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे । दंसणखवणे मोहस्स समणेउवसंतखवगे य ॥१०७॥

खीणाइतिगे असंखगुणियगुणसेढिदलिय जहक्कमसो । सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखंसो ॥१०८॥

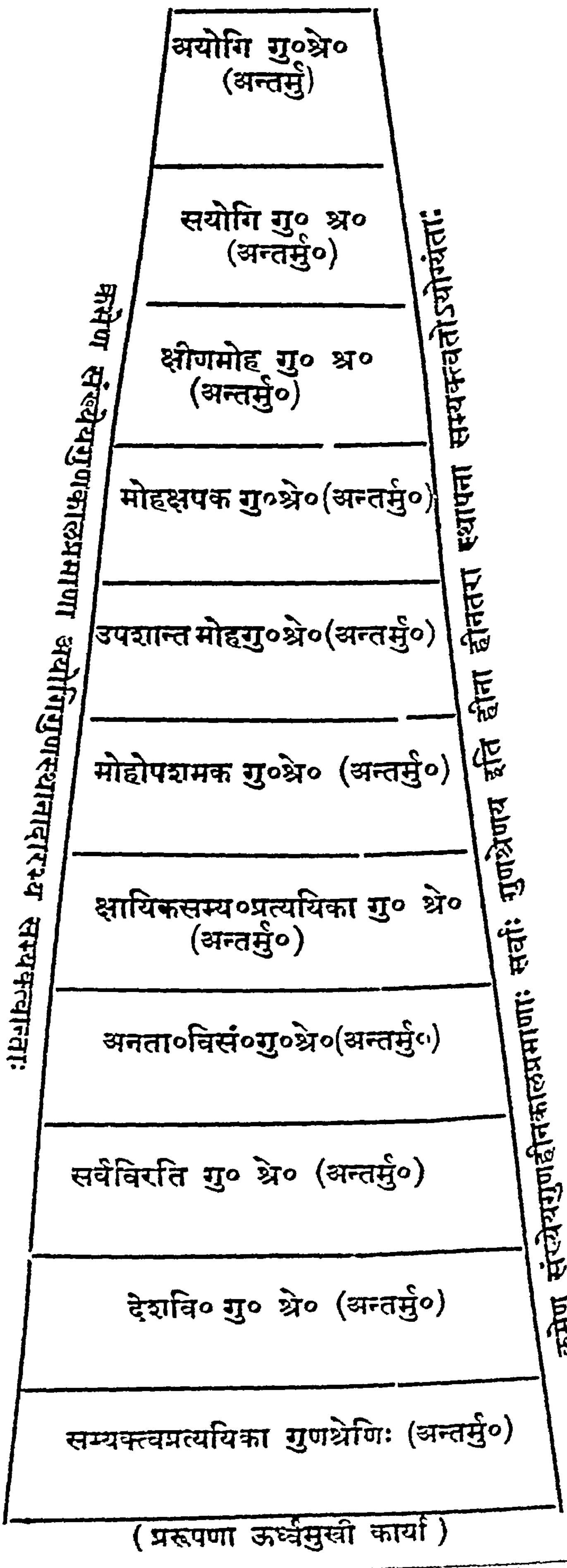
भणिया साइणाइ परूवणा। इयाणिं गुणसेणीपरूवणं वुच्चंति—

(स्वो०)—सम्यक्त्वोत्पत्तौ प्रथमा गुणश्रेणी, देशविरतौ द्वितीया, सर्वविरतौ तृतीया, अनन्तानुबन्धिविसंयोजने चतुर्थी, दर्शनत्रिकक्षपणे पञ्चमी, मोहनीयोपशमने षष्ठी, मोहनीयोपशान्ते सप्तमी, मोहनीयक्षपकेऽष्टमी, मोहनीयक्षीणे नवमी, सयोगिनि दशमी, अयोगिनि एकादशी भवती। चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥ क्षीणकषायसयोग्ययोगिनां या गुणश्रेण्यस्ताः कथिताः। एवमेता एकादश

यथोत्तरास्वसंख्येयगुणं दलं विशुद्धाध्यवसायत्वात् । कालस्तु संख्येयभागमात्रो यथोत्तरं भवति, अतः यथोत्तरं पृथुलतरा ह्रस्वाश्च भवन्ति । सम्यक्त्वगुणश्रेणिदलाद्देशविरतिगुणश्रेणीदलमसंख्येयगुणं, कालस्तु संख्येयभागमात्रः । एवं यथोत्तरास्वपि वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥१०७–१०८॥

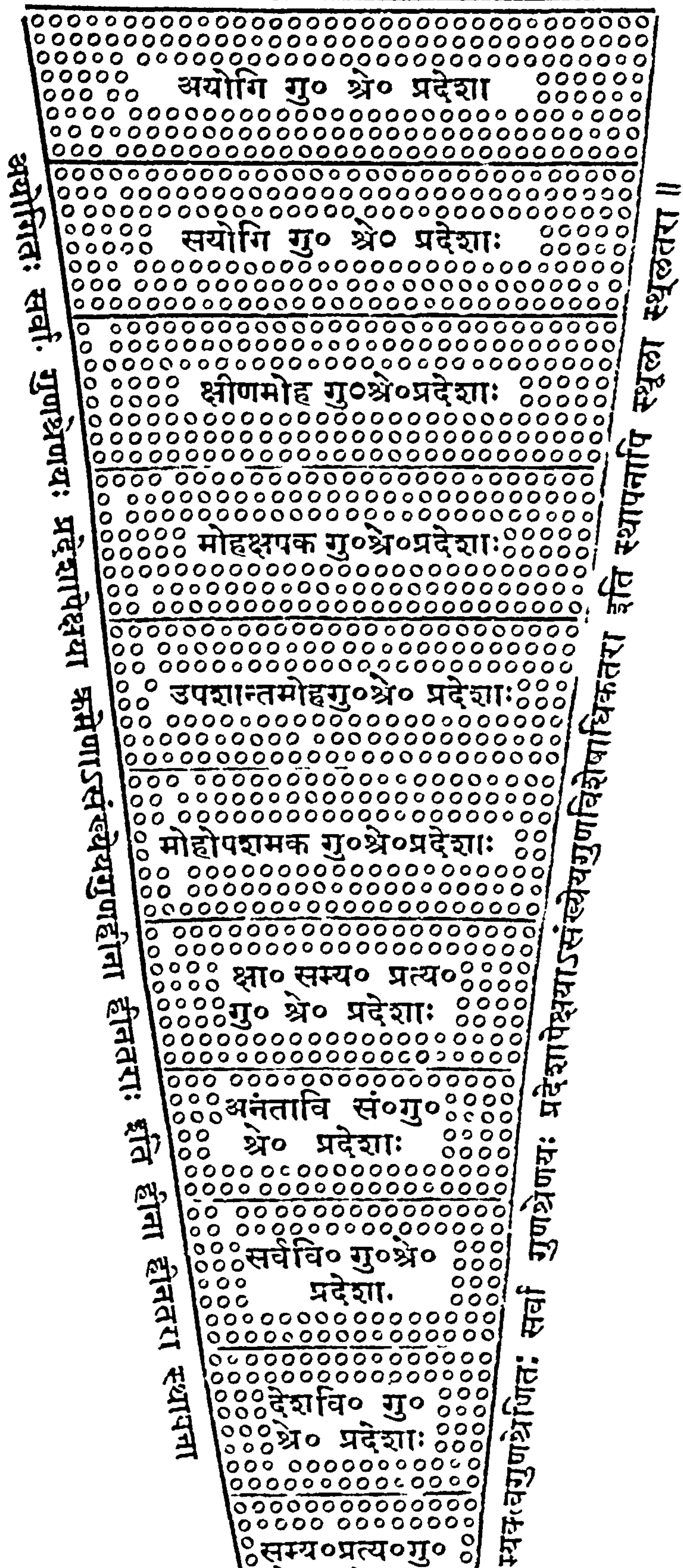
(मलय०)—कृता माद्यादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं प्ररूपयितव्यम् , तच्च द्विधा, उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वं जघन्यप्रदेशोदय स्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वप्रतिपादनार्थं संभवन्तीर्गुणश्रेणीः सर्वा अपि प्ररूपयति–इहैकादश गुणश्रेणयः, तद्यथा–प्रथमा सम्यक्त्वोत्पत्तौ, द्वितीया देशविरत्युत्पत्तौ, तृतीया संपूर्णविरत्युत्पत्तौ प्रमत्ते अप्रमत्ते चेत्यर्थः, चतुर्थ्यनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने, पञ्चमी दर्शनक्षपणे–दर्शनमोहनीयत्रयक्षपणे, षष्ठी मोहस्य मोहनीयस्य शमने–उपशमके, सप्तम्युशान्तमोहनीये, अष्टमी मोहनीयक्षपके । 'खीणाइतिगे' इति नवमी क्षीणमोहनीये, दशमी सयोगिकेवलिनि, अयोगिकेवलिनि त्वेकादशीति । एतासां च सम्यक्त्वादिसंबन्धिनीनामेकादशानां गुणश्रेणीनां दलिकं यथाक्रमशो यथाक्रमेणासंख्यातगुणितमवगन्तव्यम् ,तद्यथा–सर्वस्तोकं सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेण्याम्, असंख्येयगुणं देशविरतिगुणश्रेण्याम् , ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेण्यामसंख्येयगुणम् , एवं तावद्वाच्यं यावदयोगिकेवलिगुणश्रेण्यां दलिकमसंख्येयगुणम् । तस्मात्प्रदेशोदयमप्याश्रित्यैतासां च गुणश्रेणीनां कालो यथाक्रमशो यथाक्रमेण संख्येयांशो वक्तव्यः संख्येयगुणहीनो वक्तव्यः । तद्यथा–सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिकालः सर्वप्रभूतः, ततो देशविरतिगुणश्रेणिकालः संख्येयभागमात्रः, ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेणिकालः संख्येयभागमात्रः, एवं तावद्वाच्यं यावदयोगिगुणश्रेणिकालः सयोगिगुणश्रेणिकालापेक्षया संख्येयभागमात्रः । स्थापना–एषा सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिः, शेषाः पुनर्यथोत्तरमसंख्येयगुणदलिकाः, कालतश्च संख्येयगुणहीनाः, उपरिष्टाच्च पृथुत्वेन यथोत्तरं विशाला

॥ ११ गुणश्रेणीनां चित्रं कालापेक्षया ॥



(प्ररूपणा ऊर्ध्वमुखी कार्या)

प्रदेशापेक्षया ११ गुणश्रेणीनां चित्रम्



(प्ररूपणा ऊर्ध्वमुखीकार्या)

उच्यते-सम्यक्त्वं ह्युत्पादयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति, ततस्तस्य स्तोकं
क्लिशालतराः। अथोच्येत कथं दलिकं यथोत्तरमसंख्येयगुणं प्राप्यते? उच्यते–सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणेर्विशुद्धत्वात्।
गुणश्रेणिदलिकम्, सम्यक्त्वोत्पत्तौ सत्यां पुनः प्राक्तनगुणश्रेण्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणदलिका, सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणेर्विशुद्धत्वात्।
ततोऽपि देशविरतस्य गुणश्रेणिरसंख्येयगुणदलिका, सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया देशविरतस्याऽतिविशुद्धत्वात्। ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेणिरसं-
ख्येयगुणदलिका, देशविरतात्सर्वविरतस्यातिविशुद्धतरत्वात्। ततोऽपि संयतस्यानन्तानुबन्धिविसंयोजने गुणश्रेणिरसंख्येयगुणदलिका,
तस्यातिविशुद्धतमत्वात्। एवमुत्तरोत्तरविशुद्धिप्रकर्षवशाद्यथोत्तरमसंख्येयगुणदलिका भावनीया ॥१०७-१०८॥

उक्ता गुणश्रेणीप्ररूपणा, उत्कृष्टस्वामित्वमाह—

झत्ति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयंमि आइमा तिन्नि। लब्भंति न सेसाओ जं झीणासुं असुभमरणं ॥१०९॥

(स्वो०)—झटिति सर्वविरतिगुणात्पतिते मिथ्यात्वं गतेऽप्याद्यास्तिस्रो गुणश्रेण्यो लभ्यन्ते उदयमाश्रित्य, यतः सर्वासु गतिषु एताः सम्भवन्ति, नाष्टौ शेषाः, यतस्तासु यदि भवत्यशुभमरणं न विद्यमानास्विति गाथार्थः ॥१०९॥

(मलय०)—संप्रति का गुणश्रेणिः कस्यां गतौ प्राप्यते? इत्येतन्निरूपणार्थमाह–झटिति शीघ्रं–गुणश्रेणिकरणादनन्तरमित्यर्थः, गुणात् सम्यक्त्वादिरूपात्पतिते–मिथ्यात्वं गते जन्तौ झटित्येव चाप्रशस्तेन मरणेन मृते सति नारकादिरूपे परभवे कञ्चित्कालमुदयमाश्रित्याद्यास्तिस्रो गुणश्रेणयः सम्यक्त्वोत्पाददेशविरतिसर्वविरतिनिमित्ताः प्राप्यन्ते न शेषाः। नारकादिभवो ह्यप्रशस्तेन मरणेन प्राप्यते, न च शेषासु गुणश्रेणीषु सतीष्वप्रशस्तं मरणं भवति, किन्तु क्षीणासु, तत आद्या एव तिस्रो गुणश्रेणयो नारकादिभवे प्राप्यन्ते, न शेषा इति ॥१०९॥

उक्कोसपएसुदयं गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो । सव्वासु कुणइ ओहेण खवियकम्मो पुण जहन्नं ॥११०॥

(स्वो०)—उत्कृष्टप्रदेशोदयं गुणश्रेणीशिरसि गतो गुणितकर्मांशः सर्वासु प्रकृतिषु करोत्योघतो-बाहुल्येन, तदर्थमिह प्ररूपणा, क्षपितकर्मांशस्तु जघन्यप्रदेशोदयं सर्वत्र करोतीति गाथार्थः ॥११०॥

(मलय०)—तदेवमुक्ता गुणश्रेणयः । सम्प्रति क उत्कृष्टप्रदेशोदयं करोति, कश्च जघन्यमित्येतन्निरूपयति–सर्वासु प्रकृतिषु षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् सर्वासां प्रकृतीनामोघेन–सामान्येन बाहुल्येनेत्यर्थः, उत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोति, गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानो गुणितकर्मांशो वक्ष्यमाणस्वरूपः । जघन्यं पुनः प्रदेशोदयं प्रायेण सर्वासामपि प्रकृतीनां क्षपितकर्मांशः सोऽपि वक्ष्यमाणस्वरूप इति ॥

सम्मत्तवेयसंजलणयाण खीणंतदुजिणअंताणं । लहु खवणाए अंते अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो ॥१११॥

(स्वो०)—सम्यक्त्ववेदसंज्वलनप्रकृतीनामष्टानां क्षपकस्य गुणितकर्मांशस्यात्मीयात्मीयोदयान्तसमये वर्त्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति । ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्कचतुर्दशानां क्षीणकषायान्तसमये गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः, औदारिकसप्तककार्म्मणसप्तक-संस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशत्यगुरुलघूपघातपराघातविहायोगतिद्विकप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणप्रकृतीनां द्वापञ्चाशतां गुणितकर्मांशस्य सयोग्यन्तसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयः । सुस्वरदुस्वरयोः स एव स्वरनिरोधकाले, उच्छ्वासस्य स एव तन्निरोधकाले उत्कृष्ट-प्रदेशोदयं करोति । (अन्यतर) वेदनीय[द्विक]मनुजगति(मनुजायुः)पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशस्तीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्वादशानां गुणितकर्मांशस्यायोग्यन्तसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति । 'लघुक्षपणा' शीघ्रक्षपणा, तयाऽभ्युस्थितस्येति । कोऽर्थो ? अष्टवार्षिकः संयमं प्रतिपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तेन क्षपकश्रेणीमुपस्थितो गुणितकर्मांशः तीव्रपरिणामो यस्तस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः, चिरक्षपणया

तु कर्मपुद्गलाः परिशटितशेषाः स्तोका भवन्ति । अवधिद्विकस्य तदुपलम्भवर्जितस्य, यतस्तदुत्पत्तौ प्रभूताः पुद्गलाः परिशटन्तीति गाथार्थः ॥१११॥

(मलय०)—साम्प्रतमुत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामिनं सर्वासां प्रकृतीनां वैविक्त्येनोपदिदर्शयिषुराह--सम्यक्त्ववेदत्रयसंज्वलनचतुष्टयरूपाणामष्टानां प्रकृतीनां लघुक्षपणया–शीघ्रक्षपणया क्षपणार्थमभ्युद्यतस्य, द्विविधा हि क्षपणा–लघुक्षपणा चिरक्षपणा च, तत्र योऽष्टवार्षिक एव सप्तमासाभ्यधिकः संयमं प्रतिपन्नः तत्प्रतिपत्त्यनन्तरं चान्तर्मुहूर्त्तेन क्षपणश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा लघुक्षपणा, यस्तु प्रभूतेन कालेन संयमं प्रतिपद्यते संयमप्रतिपत्तेश्चोर्ध्वं प्रभूतेन कालेन क्षपकश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा चिरक्षपणा, तया च प्रभूताः पुद्गलाः परिशटन्ति स्तोका एव शेषा अवतिष्ठन्ते, ततो न तयोत्कृष्टः प्रदेशोदयो लभ्यते, तत उच्यते लघुक्षपणया क्षपणार्थमभ्युद्यतस्येति, तस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयचरमसमय उत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति । तथा क्षीणे क्षीणमोहगुणस्थानकेऽन्तो यासां ताः क्षीणान्ता ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाश्चतुर्दश प्रकृतयस्तासां लघुक्षपणया क्षपणार्थमभ्युद्यतस्य क्षपकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमये गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः, नवरमवधिज्ञानावरणस्यावधिदर्शनावरणस्य चोत्कृष्टः प्रदेशोदयोऽनवधिकस्य–अवधिलब्धिरहितस्य वक्तव्यः, अवधिज्ञानं ह्युत्पादयतो बहवः पुद्गलाः परिक्षीयन्ते, ततो नावधियुक्तस्योत्कृष्टप्रदेशोदयलाभ इत्यनवधिलब्धिकस्येत्युक्तम् । तथा द्वयोर्जिनयोः–सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिरूपयोरन्तो यासां तास्तथा तासां औदारिकसप्तकतैजसकार्मणसप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशतिपराघातोपघातागुरुलघुप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणरूपाणां सयोगिकेवल्यन्तानां द्विपञ्चाशत्प्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्य सयोगिकेवलिनः सयोगिकेवलिगुणस्थानचरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः,

सुस्वरदुःस्वरयोस्तन्निरोधकाले, उच्छ्वासनाम्न उच्छ्वासनिरोधकाले, तथान्यतरवेदनीयमनुष्यगतिमनुष्यायुःपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वादशानां प्रकृतीनामयोगिकेवल्यन्तानामयोगिकेवलिनो गुणितकर्मांशस्य चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः ॥१११॥

पढमगुणसेढिसीसे निद्दापयलाण कुणइ उवसंतो । देवत्तं झत्ति गओ वेउव्वियसुरदुग स एव ॥११२॥

(स्वो०)—प्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानो निद्राप्रचलयोः करोत्युपशान्त उत्कृष्टप्रदेशोदयम् । स एव देवत्वं झटिति प्राप्तः स्वगुणश्रेणीमस्तकदलमनुभवमानो देवद्विकवैक्रियसप्तकानामुत्कृष्टप्रदेशोदयं करोतीति गाथार्थः ॥११२॥

(मलय०)—उपशान्त-उपशान्तकषाय आत्मीयप्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानो गुणितकर्मांशो निद्राप्रचलयोरुत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोति । तथा स एवोपशान्तमोहनीयो गुणितकर्मांश आत्मीयप्रथमगुणश्रेणीशीर्षकोदयं समनन्तरसमये प्राप्स्यतीति तस्मिन् पाश्चात्ये समये झटिति देवत्वं गतः-प्रातः सन् वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्य प्रकृतिनवकस्योत्कृष्टप्रदेशोदयं विदधातीति ॥११२॥

तिरिएगंतुदयाणं मिच्छत्तणमीसथीणगिद्धीणं । अप्पज्जस्स य जोगे दुतिगुणसेढीण सीसाणं ॥११३॥

(स्वो०)—तिर्यगेकान्तोदया एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः स्थावरसूक्ष्मसाधारणप्रकृतयस्ताश्चैकान्तेनैव तिरश्चां योग्या उदयमाश्रित्य, मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिसम्यग्मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाणामपर्याप्तकस्य चासां सप्तदशानां प्रकृतीनां योगे-मेलापके, द्वितीय(तृतीय)गुणश्रेणीमस्तकयोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति । एतदेव भावयति-देशविरतिगुणश्रेणीसद्भावे, स एव सर्वविरतिगुणश्रेणीं तदुपरि निवेशयति,

द्वयोरपि गुणश्रेण्योः मस्तकयोगो यदा भवति, तदा प्रभूतं कर्मदलं, तत्र मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः। सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवतस्तस्यैवोत्कृष्टः, स्त्यानर्द्धित्रिकस्योदये तासामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः, स च तद्गुणाश्रेऽपि भवति, तासां प्रमत्तेऽनुभवसम्भवात्, तिर्यग्योग्यापर्याप्तकानां मिथ्यात्वप्राप्तौ तद्भवप्राप्तौ चोत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवतीति गाथार्थः ॥११३॥

(मलय०)—तिर्यक्ष्वेवोदय एकान्तेन यासां तास्तिर्यगेकान्तोदयाः—एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणाख्याः प्रकृतयस्तासां, मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिमिश्रस्त्यानर्द्धित्रिकाणामपर्याप्तकनाम्नश्च, सर्वसंख्यया सप्तदशप्रकृतीनां द्वितीयतृतीयगुणश्रेणीशिरसोर्योगे वर्त्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये उत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति। इयमत्र भावना—इह केनचिद्देशविरतेन सता देशविरतिप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता, ततः संयमं प्रतिपन्नः, ततः संयमप्रत्ययापि गुणश्रेणिः कृता, ततः सम्यक्त्वादिगुणेभ्यः प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतोऽप्रशस्तेन च मरणेन मृत्वा तिर्यक्षु समुत्पन्नः, ततो यस्मिन् काले द्वयोरपि गुणश्रेण्योः शिरस्येकत्र मिलितः तस्मिन् काले तस्य वर्त्तमानस्य गुणितकर्मांशस्य तिर्यगेकान्तोदयानां प्रागुक्तानां प्रकृतीनामपर्याप्तकनाम्नश्च यथायोगमुदये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः। मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिविषये पुनर्मरणं कृत्वापि यदा देशविरतगुणश्रेणिसर्वविरतगुणश्रेण्योः शिरसि एकत्र मिलितः तस्मिन् काले वर्त्तमाने गुणितकर्मांशो यदि कोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदा तस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः, यदि पुनः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तर्हि सम्यग्मिथ्यात्वस्य, स्त्यानर्द्धित्रिकस्य पुनर्मिथ्यात्वं गतस्यागतस्य वोत्कृष्टः प्रदेशोदयो वाच्यः, यतः स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रमत्तसंयतेऽप्युदयः प्राप्यत इति ॥११३॥

से कालेंतरकरणं होही अमरो य अंतमुहुपरओ। उक्कोसपएसुदओ हासाइसु मज्झिमडण्हं ॥११४॥

(स्वो०)—'से' अथ, यस्मिन् काले उपशमश्रेणीगतस्यान्तरकरणं भविष्यति तस्मिन् काले मृत्वाऽमरगतौ गते, तत्राऽप्यन्तर्मुहूर्ते व्यतीते, यतः तस्यातिक्रमे गुणश्रेणीमस्तकं प्राप्नोति तत्रोत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति हास्यादिषट्कस्य, मध्यमकषायाणां चाष्टानामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाभिधानानां स्वान्तरकरणकालमृतस्य स्वोदये इति गाथार्थः ॥११४॥

(मलय०)—इह कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नः 'से' तस्य काले–अनन्तरसमयेऽन्तरकरणं भविष्यतीति तस्मिन् पाश्चात्ये समयेऽमरो–देवो जातः, तस्यामरस्योत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तात्परतो गुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमानस्य इहान्तर्मुहूर्त्तात्परतो गुणश्रेणीशिरः प्राप्यते ततो 'अंतमुहुपरओ' इत्युक्तम्। तस्य हास्यादीनां–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानाम्, मध्यमानां चाष्टानां कषायाणामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञितानां सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः ॥११४॥

हस्सठिई बंधित्ता अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं। उक्कोसपए पढमोदयम्मि सुरनारगाऊणं ॥११५॥

(स्वो०)—'हस्वां' जघन्यां, स्थितिं बध्वा 'अद्धे' ति बन्धकालो 'योगा' इति, मनोवाक्कायाः, प्रथमस्थितावाद्यसमये 'निषेको' दलनिक्षेपः, अद्धायोगप्रथमस्थितिनिषेकाणां उत्कृष्टपदे सति मृतस्य प्रथमस्थित्युदये सुरनारकायुषोः प्रदेशोदयो भवत्युत्कृष्ट इति गाथार्थः ॥११५॥

(मलय०)—अद्धा–बन्धकालो, योगो–मनोवाक्कायनिमित्तं वीर्यम्, आदिस्थितिः–प्रथमा स्थितिस्तस्यां दलिकनिषेकः–आदिस्थितिनिषेकः, एतेषामुत्कृष्टपदे सति, किमुक्तं भवति? उत्कृष्टेन बन्धकालेनोत्कृष्टे योगे वर्त्तमानो ह्रस्वां–जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा प्रथमस्थितौ च दलिकनिक्षेपमुत्कृष्टं कृत्वा मृतः सन् देवो नारको वा जातः, तस्य प्रथमस्थित्युदये वर्त्तमानस्य देवस्य देवायुषो नारकस्य

नारकायुष उत्कृष्टप्रदेशोदयः ॥११५॥

अद्धा जोगुक्कोसे बंधित्ता भोगभूमिगेसु लहुं। सव्वप्पजीवियं वज्जइत्तु ओवट्टिया दोण्हं ॥११६॥

(स्वो०)—दीर्घबन्धकाद्धया उत्कृष्टेन योगेन बध्वा भोगभूमिषु तिर्यग्मनुष्येष्वायुष्कं, 'लघु' शीघ्रं, मृत्वोत्पन्नः त्रिपल्योपमायुष्केषु 'सर्वाल्पजीवित्वं' अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, वर्जयित्वा—अपवर्त्तयित्वाऽपवर्त्तयति, ततः प्रथमसमये द्वयोस्तिर्यङ्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवतीति गाथार्थः ॥११६॥

(मलय०)—उत्कृष्टे बन्धकाले उत्कृष्टे च योगे वर्त्तमानेन भोगभूमिगेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु वा विषये कश्चित्तिर्यगायुः कश्चिन्मनुष्यायुरुत्कृष्टं त्रिपल्योपमस्थितिकं बद्ध्वा मृत्वा च त्रिपल्योपमायुष्केष्वेकस्तिर्यक्ष्वपरो मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च लघु–शीघ्रं सर्वाल्पजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं वर्जयित्वाऽन्तर्मुहूर्त्तमेकं धृत्वेत्यर्थः, शेषमशेषमपि स्वस्वायुरपवर्त्तनाकरणेनापवर्त्य ततोऽपवर्त्तनानन्तरं प्रथमसमये वर्त्तमानयोरनयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्यथासंख्यं द्वयोस्तिर्यङ्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति ॥११६॥

नारयतिरियदुगदुभगाइनीयमणुयाणुपुव्विगाणं तु। दंसणमोहक्खवगो तइयगसेढीउ पडिभग्गो ॥११७॥

(स्वो०)—नारकद्विकतिर्यग्द्विकदुर्भगानादेयायशोनीचैर्गोत्रमनुष्यानुपूर्विकाणां नवानां प्रकृतीनां दर्शनमोहनीयक्षपणायोत्थितो यस्ततो या तृतीया गुणश्रेणिः तस्याः प्रतिभग्नः उत्कृष्टप्रदेशोदयं करोति। कथं? दर्शनक्षपकगुणश्रेणीं कृत्वा पश्चाद्देशविरतिं प्रतिपन्नः, तद्गुणश्रेणीं कृत्वा भूयः सर्वविरतिं प्रतिपद्यते, स एव पश्चाद्दर्शनत्रिके क्षपितशेषे भूयोऽप्यविरतत्वं प्रतिपद्यते, तथापि श्रेणीत्रयमस्यास्ति, ततस्तासां मस्तकसमागमे वर्त्तमानो दुर्भगानादेयायशोनीचैर्गोत्राणां अत्रैवोत्कृष्टप्रदेशोदयं करोति। अथवा बद्धायुष्को नारकत्वेनोत्पन्नः

सनरकद्विकानां पूर्वोक्तानां करोत्युत्कृष्टं प्रदेशोदयम्। अथवा तिर्यग्द्विकसहितानां स एव तासां तिर्यक्षूपपन्नः करोत्यकृष्टप्रदेशोदयम्। मनुजेपूपपन्नः समनुजानुपूर्विकाणां तासां दुर्भगादीनां तथैव त्रिगुणश्रेणीमस्तकगतो गुणितकर्मांशः करोत्युत्कृष्टं प्रदेशोदयमिति गाथार्थः।

(मलय०)—इहाविरतसम्यग्दृष्टिर्दर्शनमोहनीयत्रितयं क्षपयितुमभ्युद्यतो गुणश्रेणिं करोति, ततः स एव देशविरतिं प्रतिपन्नः ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोति, ततः स एव सर्वविरतिमभ्युपगतवांस्ततः सर्वविरतिनिमित्तां गुणश्रेणिं करोति, ततः करणपरिसमाप्तौ सत्यां पुनरप्यविरतो जातः, तस्य क्षीणदर्शनमोहनीयत्रितयस्य तृतीयस्यां गुणश्रेण्यां कृतायां प्रतिभग्नस्य प्रतिपतितस्य तिसृणामपि गुणश्रेणीनां शिरस्सु वर्त्तमानस्य तस्मिन्नेव भवे स्थितस्य दुर्भगादीनां—दुर्भगानादेयायशःकीर्तीनां नीचैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति, अथ नरके वद्धायुष्कत्वान्नारको जातस्तर्हि तस्य पूर्वोक्तानां चतसृणां प्रकृतीनां नरकद्विकसहितानामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः, अथ तिर्यक्षूत्पन्नस्तर्हि तिर्यग्द्विकसहितानामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः, अथ मनुष्यो जातस्तर्हि मनुष्यानुपूर्वीसहितानामिति ॥११७॥

संघयणपंचगस्स उ बिइयादितिगुणसेढिसीसम्मि। आहारुज्जोवाणं अपमत्तो आइगुणसीसे ॥११८॥

(स्वो०)—वज्रऋषभनाराचरहितस्य संहननपञ्चकस्य द्वितीयादिगुणश्रेणीमस्तके वर्त्तमान उत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोति, कथं ? द्वितीयां देशविरतगुणश्रेणीं, ततः स एव विशुद्धाध्यवसायः सर्वविरतिगुणश्रेणीं करोति, भूयो विशुद्ध्यमानोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजनागुणश्रेणीं निर्वर्त्तयति, ततस्तासां तिसृणामपि यदा मस्तके वर्त्तमानः तत्संहननमनुभवति, तदोत्कृष्टप्रदेशोदयः। आहारकसप्तकोद्योतानां अप्रमत्तस्तदनुभवनकाले प्रथमगुणश्रेणीमस्तके वर्त्तमानः उत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोतीति गाथार्थः॥११८॥

(मलय०)—प्रथमसंहननवर्जस्य शेषस्य संहननपञ्चकस्य द्वितीयादिगुणश्रेणीत्रिकशिरसि वर्त्तमान उत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोति।

इयमत्र भावना—इह कश्चिन्मनुष्यो देशविरतिं प्रतिपन्नः ततः स देशविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति, ततः स एव विशुद्धिप्रकर्षवशतः सर्वविरतिं प्रपन्नः सन् सर्वविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति, ततः स एव तथाविधविशुद्धिवशादनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनायोत्थितस्ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोति, एवं द्वितीयादयस्तिस्रो गुणश्रेणयो भवन्ति। ताश्च कृत्वा तासां मस्तकेषु वर्त्तमानस्य प्रथमसंहननवर्जानां पञ्चानां संहननानां यथायोगमुदयप्राप्तानामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः। तथाऽप्रमत्तोऽप्रमत्तसंयत आहारकशरीरे वर्त्तमान आहारकसप्तकोद्योतयोरनुभवकाले प्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्त्तमान उत्कृष्टं प्रदेशोदयं करोति ॥११८॥

गुणसेढीए भग्गो पत्तो बेइंदिपुढविकायत्तं। आयावस्स उ तव्वेइ पढमसमयंमि वट्टंतो ॥११९॥

(स्वो०)—प्रथमगुणश्रेणीतो 'भग्नः' परिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं प्राप्त इत्यर्थः, गुणितकर्मांशः पञ्चेन्द्रियः पश्चात्प्राप्तो द्वीन्द्रियत्वं ततो दीर्घस्थितिकं कर्म्म स्वस्थित्या स्थापयित्वा पृथिवीकायित्वं प्राप्तः, द्वीन्द्रियग्रहणं यतस्तस्य स्थितिः स्वस्थितिरूपेण झटिति करोति, त्रीन्द्रियादीनां दीर्घकालेनातो न तद्ग्रहणं मतम्, आतपस्यानुभवनप्रथमसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयं करोति, 'तव्वेइ' आतपानुभवक इति गाथार्थः ॥११९॥ उत्तं उक्किट्ठसामित्तं। जहन्नसामित्तं वुच्चति ॥

(मलय०)—गुणितकर्मांशः कोऽपि पञ्चेन्द्रियो जीवः सम्यग्दृष्टिर्जातः, ततः सम्यक्त्वनिमित्तां गुणश्रेणिं कृतवान्, ततस्तस्या गुणश्रेणीतो भग्नः प्रतिपतितो मिथ्यात्वं गत इत्यर्थः, गत्वा च मिथ्यात्वं द्वीन्द्रियमध्ये समुत्पन्नः, तत्र च द्वीन्द्रियप्रायोग्यां स्थितिं मुक्त्वा शेषां सर्वामप्यपवर्त्तयति, ततस्ततोऽपि मृत्वा पृथिवीकायत्वं खरबादरपृथिवीकायत्वं प्राप्तः शीघ्रमेव च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तः स तद्वेदी—आतपवेदी खरबादरपृथ्वीकायिकः शरीरपर्याप्त्यनन्तरं प्रथमसमये आतपनामकर्म वेदयनाम आतपनाम्न उत्कृष्टप्रदेशोदयं

करोति । एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्थितिं झटित्येव स्वयोग्यां करोति, न त्रीन्द्रियादिस्थितिमिति द्वीन्द्रियग्रहणम् ॥११९॥

उक्तं उत्कृष्टस्वामित्वम्। जघन्यस्वामित्वमाह–

देवो जहन्नयाऊ दीहुव्वट्टित्तु मिच्छ अन्तम्मि । चउनाणदंसणतिगे एगिंदिगए जहन्नुदयं ॥१२०॥

(स्वो०)—क्षपितकर्मांशो जघन्यस्थित्या दशवर्षसहस्रप्रमाणया देवो जातः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते,अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे मिथ्यात्वं (गतः तं) दीर्घोद्वर्त्तनया उद्वर्त्तयति, अतिसंक्लिष्टत्वाद् दीर्घस्थितिं च बध्नाति, ततः संक्लिष्ट एव मृत्वा एकेन्द्रियेषूपपन्नः स प्रथमसमये मतिश्रुतमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणानां चक्षुरचक्षुकेवलदर्शनावरणानां च मन्दं प्रदेशोदयं करोति, तीव्रानुभागोदयत्वात् स्निग्धाः पुद्गला न बहवः क्षरन्तीति गाथार्थः ॥१२०॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वम्। सम्प्रति जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वमाह–इह जघन्यप्रदेशोदयाधिकारे सर्वत्रापि क्षपितकर्मांशो द्रष्टव्यः, एतच्च प्रागेवोक्तम्। कश्चित्क्षपितकर्मांशो देवो जघन्यायुर्दशवर्षसहस्रप्रमाणायुरुत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्ते गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तच्च सम्यक्त्वं दशवर्षसहस्राणि देशोनानि यावत्परिपाल्यान्तर्मुहूर्त्तावशेषे जीविते मिथ्यात्वं गतः, स चातिसंक्लिष्टपरिणामः प्रस्तुतानां मतिज्ञानावरणीयादीनां कर्मणां दीर्घामुत्कृष्टां स्थितिं बद्धुमारभते, प्रभूतं च दलिकं तदानीमुद्वर्त्तयति तावद् यावदन्तर्मुहूर्त्तम्, ततः संक्लिष्टपरिणाम एव कालं कृत्वैकेन्द्रियो जातः, स प्रथमसमये चतुर्णां ज्ञानावरणानां मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणरूपाणां, दर्शनावरणत्रिकस्य चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणकेवलदर्शनावरणलक्षणस्य सर्वसंख्यया सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यं प्रदेशोदयं करोति । इह हि प्रायेण सर्वं दलिकमुद्वर्त्तितमिति कृत्वा प्रथमसमये स्तोकं प्राप्यते ।

अन्यच्चोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तस्य प्रदेशोदीरणा स्तोका भवति, यतस्तस्यानुभागोदीरणा बह्वी प्रवर्त्तते, यत्र चानुभागोदीरणा बह्वी तत्र स्तोका प्रदेशोदीरणा, ततो मिथ्यात्वं गतोऽतिसंक्लिष्टपरिणाम इत्याद्युक्तम् ॥१२०॥

कुव्वइ ओहिदुगस्स उ देवत्तं संजमाउ संपत्तो । मिच्छुक्कोसुक्कट्टिय आवलिगंते पएसुदयं ॥१२१॥

(स्वो०)—करोति प्रदेशोदयमवधिज्ञानदर्शनयोः क्षपितकर्मांशः संयमं कृत्वाऽप्रतिपतितावधिज्ञानदर्शनो देवेषूपपन्नः, तत्रान्तर्मुहूर्त्तेन मिथ्यात्वं गतः, ततःउत्कृष्टस्थितिबन्धको बन्धावलिकायां गतायामतिसंक्लिष्टो दीर्घाक(र्षोत्क)र्षको[1] मन्दावधिज्ञानदर्शनो मन्दप्रदेशोदयं करोतीति गाथार्थः ॥१२१॥

(मलय०)—क्षपितकर्मांशः कोऽपि जीवः संयमं प्रतिपन्नः समुत्पन्नावधिज्ञानदर्शनोऽप्रतिपतितावधिज्ञानदर्शन एव संयमवशादेवत्वं प्राप्तः, तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते गते सति मिथ्यात्वं प्रतिपन्नः, ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेनोत्कृष्टां स्थितिं बद्धुमारभते, प्रभूतं च दलिकमुत्कर्षयत्युद्वर्त्तयतीत्यर्थः, तत आवलिकान्ते बन्धावलिकाया अन्तसमयेऽवधिद्विकस्यावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणरूपस्य जघन्यं प्रदेशोदयं करोति ॥१२१॥

वेयणियउच्चसोयंतराय अरईण होइ ओहिसमो । निद्दादुगस्स उदओ उक्कोसठिईउ पडियस्स ॥१२२॥

(स्वो०)—सातासातोच्चैर्गोत्रशोकान्तरायपञ्चकारतीनां दशानामपि प्रकृतीनां अवधिज्ञानावरणतुल्यो मन्दः प्रदेशोदयो वक्तव्यः। निद्राद्विकस्य उदये तदुत्कृष्टस्थितिबन्धात्प्रतिपतितस्य, यतोऽतिसंक्लिष्टस्य निद्रोदयो न भवत्ययं विशेषः, शेषमवधिज्ञानावरणसममिति

१ दीर्घोद्वर्त्तनाकारकः

गाथार्थः ॥१२२॥

(मलय०)—द्वयोर्वेदनीययोः-सातासातरूपयोः, उच्चैर्गोत्रस्य, शोकमोहनीयस्य, पञ्चानामन्तरायाणामरतिमोहनीयस्य च, सर्वसंख्यया दशानां प्रकृतीनामवधिसमो-अवधिज्ञानावरणसमो जघन्यप्रदेशोदयो वेदितव्यः, यथावधिज्ञानावरणस्य प्राग् जघन्यप्रदेशोदयभावना कृता तथाभूतामपि दशानां प्रकृतीनां कर्त्तव्येति भावः। निद्राप्रचलयोरपि तथैव, केवलमुत्कृष्टस्थितिबन्धात्पतितस्य-प्रतिनिवृत्तस्य निद्राप्रचलयोरुदये वर्त्तमानस्येति द्रष्टव्यम्। उत्कृष्टस्थितिबन्धो ह्यतिशयेन संक्लिष्टस्य भवति, न चातिसंक्लेशे वर्त्तमानस्य निद्रोदयसम्भवः, तत उत्कृष्टस्थितिबन्धात्पतितस्येत्युक्तम् ॥१२२॥

मइसरिसं वरिसवरं तिरियगई थावरं च नीयं च। इंदियपज्जत्तीए पढमे समयंमि गिद्धितिगे ॥१२३॥

(स्वो०)—मतिज्ञानावरणतुल्यं 'वरिसवरं'ति नपुंसकवेदं तिर्यग्गतिं स्थावरं च नीचैर्गोत्रम्। स्त्यानर्द्धित्रिकं चकारस्य व्यवहितसम्बन्धात् इन्द्रियपर्याप्तिप्रथमसमये यावत्युदीरणा भवति, तावन्मन्दोदय इति। देवलोके स्त्यानर्द्धित्रिकस्योदयाभावान्न भवतीति गाथार्थः ॥१२३॥

(मलय०)—मतिसदृशं-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्, मतिज्ञानावरणसदृशं वर्षवरं-नपुंसकवेदं, तिर्यग्गतिं, स्थावरं-स्थावरनामकर्म, नीचैर्गोत्रं च जघन्यप्रदेशोदये जानीहि, किमुक्तं भवति? मतिज्ञानावरणस्येव नपुंसकवेदतिर्यग्गतिस्थावरनामनीचैर्गोत्ररूपाणां चतुर्णां कर्मणां जघन्यः प्रदेशोदयो भावनीयः। 'गिद्धितिग'त्ति-निद्रानिद्रादीनामपि तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयो मतिज्ञानावरणस्येव भावनीयः, केवलमिन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तस्य प्रथमसमये इति द्रष्टव्यं, ततोऽनन्तरसमये उदीरणायाः सम्भवेन जघन्यप्रदे-

शोदयासम्भवात् ॥१२३॥

अपुमित्थिसोगपढमिल्लअरइरहियाण मोहपगईणं । अंतकरणाउ गए सुरेसु उदयावलीअंते ॥१२४॥

(स्वो०)—नपुंसकस्त्रीशोकानन्तानुबन्ध्यरतिरहितानां मोहनीयप्रकृतीनां विंशतेः दर्शनत्रिकोपरितनद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्य-रतिपुरुषवेदाभिधानानाम्, उपशमसम्यक्त्वाद्धायां वर्त्तमानस्य पुञ्जत्रयान्यतमस्योदयावलिकान्तसमये कर्मदलमनुभवमानस्य मन्दः प्रदे-शोदयः, एवं शेषाणामपि, कृतोपशमश्रेण्यामन्तरकरणे कृते तत्रायुषः समाप्त्या देवलोके गते द्वितीयस्थित्युदयावलिकान्तसमये मन्दः प्रदेशोदयः, यतः प्रथमसमये प्रभूतं दलं द्वितीयादिषु विशेषहीनं विशेषहीनं भवतीति गाथार्थः ॥१२४॥

(मलय०)—नपुंसकवेदस्त्रीवेदशोकमोहनीयानन्तानुबन्ध्यरतिमोहनीयरहितानां शेषाणां मोहनीयप्रकृतीनां—दर्शनमोहनीयत्रितया-नन्तानुबन्धिवर्जशेषद्वादशकषायपुरुषवेदहास्यरतिभयजुगुप्सारूपाणां विंशतिसंख्यानामन्तरकरणे—अन्तरकरणात् सुरेषु गते चोदयाव-लिकान्ते जघन्यः प्रदेशोदयो वाच्यः । इयमत्र भावना—क्षपितकर्मांशस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यक्त्वात्प्रच्यवमानस्यान्तरकरणे स्थितेन द्वितीयस्थितेः सकाशात्सम्यक्त्वादीनां दलिकानि समाकृष्य यानि अन्तरकरणे चरमे आवलिकाभागमात्रे भागे गोपुच्छाकार-संस्थानेन रचितानि, तद्यथा—प्रथमसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं, तृतीयसमये विशेषहीनं, एवं यावच्चरमसमये विशेषहीनं, तेषामुदये आवलिकामात्रे गत्वा आवलिकायाश्चरमसमये सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वानां स्वस्वोदययुक्तस्य जघन्यः प्रदेशोदयः, शेषाणां तु सप्तदशानां प्रकृतीनामुपशमश्रेण्यामन्तरकरणं कृत्वा देवलोकं गतः सन् प्रथमसमये एव द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्योदयादारभ्य गोपुच्छाकारेण यद्विरचयति, तद्यथा—प्रथमसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं, तृतीयसमये विशेषहीनं, एवं यावदावलिकाचरमसमयः,

एवं विरचिते दलिके आवलिकायाश्चरमसमये वर्त्तमानो जघन्यं प्रदेशोदयं करोति ॥१२४॥

उवसंतो कालगओ सव्वट्ठे जाइ भगवई सिद्धं। तत्थ न एयाणुदओ असुभुदए होइ मिच्छस्स ॥१२५॥

(स्वो०)—उपशान्तकषायः कश्चिदुपशामको वा मृत्वा सर्वार्थसिद्धौ व्रजति यदि बद्धायुष्को भवति, एतद् भगवत्यां सिद्धं–कथितम्, तत्र चासां नपुंसकस्त्रीशोकानन्तानुबन्ध्यरतीनामुदयो नास्ति, अतो निषेधः कृतः। अशुभमरणमृतस्य प्रतिपतितस्य वा भवत्युदयो मिथ्यात्वस्यामृतस्य (एवं सम्यक्त्वमिश्रयोरपि) वाऽतः सप्तदशानामेव देवलोकगमनमिष्टमिति गाथार्थः ॥१२५॥

(मलय०)—साम्प्रतमुक्तनपुंसकादिप्रकृतिप्रतिषेधे सप्तदशप्रकृतीनां देवलोकगमनेन जघन्यप्रदेशोदयभावनाकारणमाह–उपशान्तकषायो यद्वा कश्चिदुपशमकः कालगतो–मृतः सन् सर्वार्थसिद्धे महाविमाने याति–गच्छति, एतच्च भगवत्यां–व्याख्याप्रज्ञप्तौ सिद्धं–प्रतीतं, नात्र विसंवादः, ततस्तत्र सर्वार्थसिद्धे महाविमाने आसां–नपुंसकवेदस्त्रीवेदशोकमोहनीयानन्तानुबन्ध्यरतिमोहनीयरूपाणां प्रकृतीनामुदयो नास्ति, तेन प्रतिषेधः कृतः। तथाऽशुभमरणमृतस्य वा भवत्युदयो मिथ्यात्वस्यामृतस्य वा, ततः सम्यक्त्वमिश्रयोरप्यमृतस्यापि जघन्यः प्रदेशोदयो लभ्यते यथोक्तः प्राक्, ततः सप्तदशानामेव देवलोकगमनेन जघन्यप्रदेशोदयभावना कृता ॥१२५॥

उवसामइत्तु चउहा अन्तमुहू बंधिऊण बहुकालं। पालिय सम्मं पढमाण आवलीअंतमिच्छगए ॥१२६॥

(स्वो०)—उपशामयित्वा मोहनीयं तदन्यस्य उपशमस्याभावात्, 'चतुर्धा' चतस्रो वारा, यतः उपशमं कुर्वतः प्रभूताः पुद्गलाः झटन्ति, ततो बध्यमानासु स्वल्पाः संक्रामन्ति, पञ्चमवारायां उपशम एव न सम्भवति, तेन चतुर्णां ग्रहणम्। ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेनानन्तानु-

वन्धिनो बध्वा ततः प्रभूतकालं सागरोपमाणां षट्षष्टिद्विकमात्रं अनुपाल्य सम्यक्त्वं, यतस्तत्कालेन प्रभूता पुद्गलाः प्रदेशोदयेन झटिता भवन्ति, ततः 'प्रथमानाम्' अनन्तानुबन्धिनां उदयावलिकान्तसमये मिथ्यात्वं गतः क्षपितकर्मांशो जीवः मन्दप्रदेशोदयं करोतीति गाथार्थः ॥१२६॥

(मलय०)—चतुर्धा-चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य पश्चादन्तर्मुहूर्त्ते गते सति मिथ्यात्वं गतः, ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेनान्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स प्रथमान् कपायाननन्तानुवन्धिनो बध्नाति, ततः सम्यक्त्वं गतः, तच्च सम्यक्त्वं बहुकालं द्वात्रिंशत्सागरोपमाणां शतं यावत् पालयित्वा-परिपाल्य सम्यक्त्वप्रभावतः प्रभूतान् पुद्गलाननन्तानुबन्धिनां सम्बन्धिनः प्रदेशसङ्क्रमतः परिशाट्य पुनरपि मिथ्यात्वं गतः, ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, तत्र आवलिकान्ते-बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धानां प्रथमानां कपायाणामनन्तानुवन्धिसंज्ञानां जघन्यं प्रदेशोदयं करोति। आवलिकाया अनन्तरसमये हि प्रथमसमयबद्धान्यदलिकस्योदीरणात उदयो भवति ततो जघन्यः प्रदेशोदयो न लभ्यते इति कृत्वा आवलिकाया अन्ते इत्युक्तम्। संसारे चैकजीवस्य चतुष्कृत्व एव मोहनीयस्योपशमो भवति न पञ्चकृत्व इति चतुर्धा ग्रहणम्। मोहोपशमेन किं प्रयोजनम्? इति चेत्, उच्यते, इह मोहोपशमं कुर्वन् प्रत्याख्यानादिकपायाणां दलिकमन्यत्र गुणसङ्क्रमेण प्रभूतं सङ्क्रमयति ततः क्षीणप्रायाणां तेषामनन्तानुबन्धिपु बन्धकाले स्तोकमेव सङ्क्रामति ततो मोहोपशमग्रहणम् ॥१२६॥

इत्थीए संजमभवे सव्वनिरुद्धंमि गंतु मिच्छंत्तं। देवी लहु जिट्ठठिई उव्वट्टिय आवलीअंते ॥१२७॥

(स्वो०)—'इत्थीए'ति स्त्रीवेदस्य संयमोपलक्षितो भवः संयमभवो देशोनपूर्वकोटिं संयमं कृत्वा सर्वनिरुद्धे सर्वजघन्येऽन्तर्मुहूर्त्ते

शेषे गत्वा मिथ्यात्वं देवी समुत्पन्ना 'लहुं'त्ति-शीघ्रं पर्याप्ता संक्लिष्टा च स्त्रीवेदस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, तामपि पूर्वबद्धां उद्वर्त्तयित्वा दीर्घां करोति, उदयावलिकान्तसमये क्षपितकर्मांशस्य जीवस्य मन्दः प्रदेशोदय इति गाथार्थः ॥१२७॥

(मलय०)—संयमेनोपलक्षितो भवः संयमभवः तस्मिन् सर्वनिरुद्धे-अन्तर्मुहूर्त्तावशेषे स्त्रियो मिथ्यात्वं गतायाः, ततोऽनन्तरभवे देवीभूतायाः, शीघ्रमेव च पर्याप्तायाः ज्येष्ठाम्-उत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा प्रभूतं च दलिकमुद्वर्त्य आवलिकान्ते-बन्धावलिकायाश्चरमसमये स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयः। इयमत्र भावना-क्षपितकर्मांशा काचिद् देशोनां पूर्वकोटिं यावत् संयममनुपाल्यान्तर्मुहूर्त्ते आयुषोऽवशेषे मिथ्यात्वं गत्वा अनन्तरभवे देवी समुत्पन्ना, शीघ्रमेव च पर्याप्ता, तत उत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमाना स्त्रीवेदस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, पूर्वबद्धां चोद्वर्त्तयति, तत उत्कृष्टबन्धारम्भात्परत आवलिकायाश्चरमसमये तस्याः स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयो भवति ॥१२७॥

अप्पद्धाजोगसमज्जियाण आऊण जिट्ठठिइअंते। उवरिं थोवनिसेगे चिर तिव्वासायवेईणं ॥१२८॥

(स्वो०)—अल्पया बन्धकाद्धया स्वल्पेन योगेन 'समर्जितानां' बद्धानां, चतुर्णामप्यायुषां आत्मीयोत्कृष्टस्थितिकानां 'अंते'ति-सर्वपश्चिमायां स्थितौ, यत्रोपरिमासु स्थितिषु 'स्तोको' जघन्यो, 'निषको' दलक्षेपः, क्षपितकर्मांशानां तीव्रासातेन प्रभूतं कालं पीडितानां यतो दुःखितानामायुषः पुद्गला झटन्ति, तत्तदायुष्कमनुभवमानानां चरमस्थितौ वर्त्तमानानां मन्दः प्रदेशोदयो भवतीति गाथार्थः ॥१२८॥

(मलय०)—अल्पया बन्धाद्धया अल्पेन च योगेन समर्जितानां-बद्धानां चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठस्थितीनां-उत्कृष्टस्थितीनां अन्ते-अन्तिमे उपरि-सर्वोपरितने समये सर्वस्तोकदलिकनिक्षेपे चिरकालं प्रभूतं कालं तीव्रासातवेदिनां-तीव्रासातवेदनाभिभूतानां क्षपित-

कर्मांशानां तत्तदायुर्वेदिनां जघन्यः प्रदेशोदयः, तीव्रासातवेदनीयाभिभूतानां बहवः पुद्गलाः परिशटन्तीति कृत्वा तीव्रासातवेदिग्रहणम् ॥१२८॥

संजोयणा विजोजिय जहन्नदेवत्तमंतिममुहुत्ते। बंधिय उक्कोस्सठिइं गंतूणेगिंदियासन्नी ॥१२९॥

सव्वलहुं नरयगए नरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते। अणुपुव्विसगइतुल्ला ता पुण नेया भवाइम्मि॥१३०॥

(स्वो०)—अनन्तानुबन्धिनो वियोज्य, यतस्तद्वियोजने कर्मणां प्रभूताः पुद्गला झटन्ति, जघन्यस्थितिकदेवत्वपश्चिमेऽन्तर्मुहूर्त्ते प्रतिपन्नमिथ्यात्व उत्कृष्टां स्थितिं बध्वा सर्वसंक्लिष्टः एकेन्द्रियेषूपपन्नः, तत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा असंज्ञिषु गतो यतो देवो मृत्वा नासंज्ञिषु व्रजति, अतः एकेन्द्रियग्रहणमिति गाथार्थः। ततोऽपि 'लघु' शीघ्रं, नरके गतः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः तस्य नरकगतेः जघन्यः प्रदेशोदयः, यतः पर्याप्तस्य प्रभूताः प्रकृतयो विपाकोदयं यान्ति, उदयगताश्चोदयगतासु स्तिबुकसंक्रमेण न संक्रामन्ति, अतः पर्याप्तग्रहणम्। चतस्रोऽप्यानुपूर्विकाः स्वगतितुल्या ज्ञेयाः, किन्तु भवादिसमये तासां जघन्यः प्रदेशोदयः, तृतीयसमये यत आवलिकातीतं दलमुदयमागच्छति, अतः प्रथमसमयग्रहणमिति गाथार्थः ॥१२९-१३०॥

(मलय०)—संयोजनान्-अनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य, तद्विसंयोजने शेषाणामपि कर्मणां भूयांसः पुद्गलाः परिशटन्तीति तदुपादानं, ततो जघन्यं देवत्वं प्राप्तः, तत्र अन्त्यमुहूर्त्ते प्रतिपन्नमिथ्यात्व एकेन्द्रियप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा सर्वसंक्लिष्ट एकेन्द्रियेपूत्पन्नः, तत्र चान्तर्मुहुर्त्तं स्थित्वाऽसंज्ञिषु मध्ये समायातः, देवो हि मृत्वा नासंज्ञिषु मध्ये गच्छतीति कृत्वा एकेन्द्रियग्रहणं,

ततोऽसंज्ञिभवात् शेषाऽसंज्ञिसर्वजीवेभ्यो लघु शीघ्रं मृत्वा नारको जातः, सर्वपर्याप्तिभिश्च शीघ्रं पर्याप्तः, तस्मिन् सर्वपर्याप्तिपर्याप्ते नारके नरकगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयः। पर्याप्तस्य प्रभूताः प्रकृतयो विपाकोदयमायान्ति, उदयगताश्च स्तिबुकसंक्रमेण न संक्रामन्ति तेन प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमाभावाज्जघन्यः प्रदेशोदयः प्राप्यते, इति 'सव्वपज्जत्ते'इत्युक्तं। आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽपि स्वगतितुल्याः स्वस्वगतिसमाना ज्ञेयाः, यथा गतीनां जघन्यप्रदेशोदयभावना कृता तथाऽऽनुपूर्वीणामपि तत्तद्गतिसम्बन्धिनीनां कर्त्तव्या, केवलं ता जघन्यप्रदेशोदययुक्ता ज्ञेया भवादौ भवप्रथमसमये, तृतीये हि समयेऽन्या अपि बन्धावलिकातीताः कर्मलता उदयमागच्छन्ति, ततो भवप्रथमसमयग्रहणम् ॥१२९-१३०॥

देवगई ओहिसमा नवरं उज्जोयवेयगो जाहे। चिरसंजमिणो अंते आहारे तस्स उदयम्मि ॥१३१॥

(स्वो०)—देवगतिरवधिज्ञानावरणसमा, किन्तु यदोद्योतोदयो भवति तदा जघन्यः प्रदेशोदयः, स च पर्याप्तस्य भवति, अयं विशेषः, उद्योतं स्वरूपेणानुभवमानो न देवगतौ स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामयति। चिरसंयमिनो देशोनपूर्वकोटिसंयमिनोऽन्ते आहारकस्य उद्योतोदये सति जघन्यः प्रदेशोदयः, चिरसंयमे स्थितिक्षयेण प्रभूताः पुद्गला व्यपेता भवन्तीति गाथार्थः ॥१३१॥

(मलय०)—देवगतिरवधिसमा—अवधिज्ञानावरणसमा, अवधिज्ञानावरणस्येव देवगतेरपि जघन्यतः प्रदेशोदयो भावनीय इत्यर्थः, नवरं यदा उद्योतवेदको भवति तदा देवगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयो द्रष्टव्यः। किं कारणम्? इति चेत्, उच्यते—यावदुद्योतस्योदयो न भवति तावद्देवगतौ स्तिबुकसंक्रमे तत् संक्रमयति ततो जघन्यः प्रदेशोदयो न लभ्यते, उदयप्राप्तस्य पुनरुद्योतस्य स्तिबुकसंक्रमो न भवति, तत उद्योतवेदकग्रहणं, उद्योतवेदकत्वं च पर्याप्तस्य भवति नापर्याप्तस्य, इति पर्याप्तावस्थायां देवगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयः। तथा चिरकालं

संयमिनो देशोनपूर्वकोटिं यावत्पालितसंयमस्यान्तिमे काले आहारकशरीरीभूत्वा तस्याहारकसप्तकस्योद्योतस्य विपाकोदये वर्त्तमानस्य आहारे-आहारकसप्तकविषयो जघन्यः प्रदेशोदयः। चिरकालसंयमपरिपालने हि भूयांसः पुद्गलाः परिशटिता भवन्ति, ततश्चिरकालं संयमिन इत्युक्तं, उद्योतग्रहणे च कारणं प्रागुक्तमेवानुसर्त्तव्यम् ॥१३१॥

सेसाणं चक्खुसमं तंमिव अन्नंमि वा भवे अचिरा। तज्जोगा बहुयाओ ता ताओ वेयमाणस्स ॥१३२॥

(स्वो०)—सप्तानां (शेषाणां) कर्मणां जघन्यः प्रदेशोदयः स्वतः सूत्रकारेणैवोक्तः, नाम्नोऽपि स्थावराहारकसप्तकानुपूर्वीचतुष्कदेवनरकतिर्यग्गतीनां पञ्चदशप्रकृतीनाम्। उक्तशेषा नाम्नोऽष्टाशीतिः तासां चक्षुर्दर्शनावरणसमं, तस्मिन् एकेन्द्रियभवे यासामुदयः सम्भवति तासां तत्रैव जघन्यः प्रदेशोदयः, यासां तत्रोदयो न सम्भवति तासामन्यत्राचिराद् गत्वा तद्भवयोग्या बह्वीरनुभवतो जघन्यः प्रदेशोदयः। प्रभूतग्रहणं स्तिबुकसंक्रमपरिहारार्थं, सर्वत्र क्षपितकर्मांशो वक्तव्यः। तीर्थंकरनाम्नः प्रथमोदयसमये जघन्यः प्रदेशोदयः, उपरितनेषु गुणश्रेणीदलानुभवनान्न जघन्यो भवतीति गाथार्थः ॥१३२॥

उदयाहिगारो सम्मत्तो। इयाणि उत्तरपगईणं सत्तासरूवमाह—

(मलय०)—उक्तशेषाणां प्रकृतीनां चक्षुःसमं-चक्षुर्दर्शनावरणसमं वक्तव्यं तावत् यावदेकेन्द्रियो जातः, ततो येषां कर्मणां तस्मिन्नेव-एकेन्द्रियभवे उदयो विद्यते तेषां तत्रैव चिरादुदये जघन्यः प्रदेशोदयो वाच्यः, येषां तु कर्मणां मनुजगतिद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्टयप्रथमसंस्थानपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कविहायोगतिद्विकत्रससुभगसुस्वरदुःस्वरादेयरूपाणां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां न तत्रोदयसम्भवः तेषामेकेन्द्रियभवादुद्धृत्य तत्तदुदययोग्येषु भवेषूत्पन्नस्य तास्तास्तद्भवयोग्या बह्वीः प्रकृतीर्वेदयमानस्य, तत्तद्भवयो-

ग्यबहुप्रकृतिवेदनं च पर्याप्तस्योपपद्यते नापर्याप्तस्य, ततः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य जघन्यः प्रदेशोदयः। पर्याप्तस्य प्रभूताः प्रकृतय उदयमागच्छन्ति, उदयप्राप्तानां च प्रकृतीनां स्तिबुकसंक्रमो न भवति, तथा च सति विवक्षितप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयो लभ्यते, इति सामर्थ्यवशात्पर्याप्तस्येति विवृतं। तीर्थकरनाम्नस्तु क्षपितकर्मांशस्य उदयप्रथमसमये जघन्यः प्रदेशोदयो ज्ञेयः, परतो गुणश्रेणीदलिकं प्रभूतमवाप्यत इति स न भवति ॥१३२॥

भणितः प्रदेशोदयः, तद्भणनादुदयाधिकारः समाप्तः। इदानीं सत्कर्मप्ररूपणामाह–सा च मूलप्रकृतिगता उत्तरप्रकृतिगता च, मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा–सा त्रिविधा, अष्टानामपि अनादिर्बीजाङ्कुरवत्, अभव्यानां ध्रुवा भव्यानामध्रुवेति, उत्तरप्रकृतीनामाह–

पढमकसाया चउहा तिहा धुवं साइ अध्धुवं संतं। दुचरिमखीणभवन्ता निद्दादुगचोद्दसाऊणि ॥१३३॥

(स्वो०)—'प्रथमकपाया' अनन्तानुबन्धिनस्ते चतुर्विधाः साद्यनादिध्रुवाध्रुवाः भवन्ति, कथं ? उद्वलिताः सन्तो भूयोऽपि बध्नानस्य (बध्नतः) सादिः (दयः) तद्गुणमप्राप्तस्यानादिः (दयः) ध्रुवाध्रुवे (वाः) पूर्ववत्। ध्रुवसत्कर्म त्रिधा भवति, कथं ? आदेरभावात् अनादि बीजाङ्कुरवत्, अभव्यानां ध्रुवं, भव्यानामध्रुवमिति। अध्रुवसत्कर्म्म साद्यध्रुवं भवति, कथं ? आहारकसप्तकतीर्थङ्करसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वानां विशिष्टगुणकृतः संभवः, स च सादिः, सादिना त्वध्रुवेण भाव्यम्। वैक्रियसप्तकोच्चैर्गोत्रदेवद्विकमनुजद्विकनरकद्विकानां सतामपि वाय्वग्निगतस्य जीवस्य स्थितिक्षयेण असत्ता भवति, तत्र तासां बन्धाभावात्, भूयः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वागतस्य तासां सादिसत्कर्म्मता भवति, सादि चाध्रुवम्। आयुषां तद्भवानुभवनात् साद्यध्रुवत्वं भावितमेव। अष्टाविंशतिप्रकृतयोऽध्रुवाः, शेषं त्रिंशदधिकं शतं ध्रुवसदिति।

इदानीं स्वामित्वमाह यथासंख्येन–द्विचरमसमयं यावन्निद्राद्विकं, क्षीणकषायान्तसमयं यावच्चतुर्दश ज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्काख्याः सम्भवन्ति, स्वभवान्तं यावदायूंषीति गाथार्थः ॥१३३॥

(मलय०)—उक्तः प्रदेशोदयः, तदभिधानाच्च समाप्त उदयाधिकारः, सम्प्रति सत्कर्माभिधानावसरः, सत्कर्म चतुर्धा, तद्यथा–प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म, प्रदेशसत्कर्म च। प्रकृतिसत्कर्मणि च द्वे अनुयोगद्वारे, तद्यथा–साद्यादिप्ररूपणा स्वामित्वं च, तत्र साद्यादिप्ररूपणा द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च, तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषया क्रियते–मूलप्रकृतीनामपि सत्कर्म त्रिविधं, तद्यथा–अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तत्रानादित्वं सदैव भावात्, ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया। कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यादिप्ररूपणा, साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणार्थमाह—प्रथमकषाया–अनन्तानुबन्धिनः, ते सत्कर्मापेक्षया चतुर्धा–चतुष्प्रकारास्तद्यथा—सादयोऽनादयो ध्रुवा अध्रुवाश्च, तथाहि–ते सम्यग्दृष्टिना प्रथमत उद्वलिताः, ततो मिथ्यात्वं गतेन यदा भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन बध्यन्ते तदा सादयः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादयः, ध्रुवाध्रुवाः प्राग्वत्। तथा ध्रुवं–ध्रुवसत्कर्म षड्विंशतिसहितशतसङ्ख्याकं त्रिधा–त्रिप्रकारं, तद्यथा–अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तत्रानादिता ध्रुवसत्कर्मतया सदैव भावात्, ध्रुवाध्रुवता अभव्यभव्यापेक्षया। तथा शेषं अध्रुवसत्कर्म द्विधा, तद्यथा–सादि अध्रुवं च, सा च साद्यध्रुवता अध्रुवसत्कर्मत्वादवसेया। अध्रुवसत्कर्मणश्च प्रकृतय इमास्तद्यथा—सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे, मनुष्यद्विकं, देवद्विकं, नरकद्विकं, वैक्रियसप्तकं, आहारकसप्तकं, तीर्थकरनाम, उच्चैर्गोत्रं, चत्वार्यायूंषि, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिप्रकृतयः।

तदेवं कृता साद्यादिप्ररूपणा, सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यं, तच्च द्विधा, एकैकप्रकृतिविषयं प्रभूतप्रकृतिस्थानविषयं च, तत्रैकैकप्रक-

तिविपयं स्वामित्वमभिधित्सुराह–अत्र यथासङ्ख्येन पदयोजना, क्षीणकपायस्य द्विचरमसमयं यावद् निद्राद्विकं सत् परतोऽसत्, तेन मिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणमोहपर्यन्ता निद्राद्विकस्य स्वामिनो वेदितव्याः, एवमुत्तरत्रापि स्वामित्वभावना भावनीया, तथा क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमयं यावज्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाश्चतुर्दशप्रकृतयः सत्यः परतोऽसत्यः, आयूंषि चत्वार्यपि भवान्तानि–स्वस्वभवपर्यन्तसमयं यावत् सन्ति, न परतः ॥१३३॥

तिसु मिच्छत्तं नियमा अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं। सासायणंमि नियमा सम्मं भज्जं दससु संतं ॥१३४॥

(स्वो०)—मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिषु त्रिषु त्रिषु गुणेषु मिथ्यात्वेन तावदवश्यं भाव्यम् , अविरतेन सप्तके क्षपिते तदाद्येष्वष्टसु न भवति, उपशामकेषु तु भवत्यतो भाज्यमिति। सास्वादने सम्यक्त्वं अवश्यं भवति, यतः उपशमाद्धास्थितोऽवश्यं त्रिपुञ्जीकरोति, सम्यक्त्वं मिथ्यादृष्टौ स्थितिक्षयेण तदुद्वलनाद्वा सदप्यसद्भवत्यतो भाज्यम् , सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं तस्मिन्नुद्वलितेऽपि भवत्यतः सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भाज्यम् , अविरतादिषु तत्क्षपणोपशमनसम्भवात् सत्ता भाज्या इति गाथार्थः ॥१३४॥

(मलय०)—त्रिपु–गुणस्थानकेपु–मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु नियमात्–अवश्यन्तया मिथ्यात्वं सद्–विद्यमानं, शेपेपु पुनरष्टसु–गुणस्थानकेपूपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेषु भाज्यं, तथाहि–अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपितं चेन्न भवति, उपशान्तं चेद् भवति, क्षीणमोहादिपु पुनस्तस्यावश्यमभावः। तथा सम्यक्त्वं सासादने नियमादस्ति, दशसु पुनर्गुणस्थानकेपु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेपु भाज्यं, कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवतीत्यर्थः, तथाहि–मिथ्यादृष्टावभव्ये न भवति, भव्येऽपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति, तथा सम्यग्मिथ्यात्वं कियत्कालं सम्यक्त्वे उद्वलितेऽपिद् भवति, ततस्त्रापि त भाज्यम् ॥१३४॥

सासणमीसे मीसं सन्तं नियमेण नवसु भइयव्वं । सासायणंत नियमा पंचसु भज्जा अओ पढमा ॥१३५॥

(स्वो०)—सास्वादनमिश्रयोर्नियमेन-निश्चयेन सम्यग्मिथ्यात्वमस्ति, सास्वादनोऽवश्यं यतोऽष्टाविंशतिसत्कर्मा, इतरस्तु तद्बाह्यः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव न भवति, अनादिमिथ्यादृष्टौ न भवति प्राप्तसम्यक्त्वे भवत्यतो भाज्यम् , अविरतादिषु क्षपणोपशमनाद् भाज्यमिति । मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोः 'नियमात्' निश्चयेन सन्त्यनन्तानुबन्धिनः, तेषां तयोरेव बन्धसद्भावात् तदुपरितनेषु पञ्चसु गुणेषु भाज्या यतस्तेषामन्यतमोऽवश्यं करोत्युद्वलनमिति गाथार्थः ॥१३५॥

(मलय०)—सम्यग्मिथ्यात्वं सासादने मिश्रे च नियमादस्ति, ततः सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च सम्यग्मिथ्यात्वं विना नोपपद्यते, ततः सासादने सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च नियमात्सम्यग्मिथ्यात्वमस्तीति प्रतिपत्तव्यं, नवसु पुनर्गुणस्थानकेषु-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकादिषूपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यन्तेषु भक्तव्यं-भजनीयं विकल्पनीयं, कदाचिद्भवति कदाचिन्न, भावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयमेव कर्त्तव्या, सुगमत्वात् । तथा प्रथमा-अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सासादनान्ता नियमात्सन्ति, मिथ्यादृष्टयः सासादनाश्च यस्मादवश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नन्ति, ततस्तेषु ते नियमात्सन्ति, अतः सासादनात्पुरतः पुनः पञ्चसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु भाज्याः-विकल्पनीयाः, यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति, इतरथा तु सन्तीति भावः ॥१३५॥

मज्झिल्लट्ठकसाया ता जा अणियट्टिखवगसंखेया । भागा ता संखेया ठिइखंडा जाव गिद्धितिगं ॥१३६॥

(स्वो०)—मध्यमा अष्टौ कषाया अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाभिधानाः तावत्सन्तो भवन्ति, यावदनिवृत्तिक्षपकगुणकालस्य संख्येयभागाः, उपशमश्रेणीमधिकृत्य यावदुपशान्तकषायं तावत्सन्ति। तस्मात् स्थानात् संख्येयानि यावत्स्थितिखण्डानि तावत्स्त्यानद्धित्रिकं सद्भवति स्थावरादित्रयोदशकं च, उपशमश्रेणीमधिकृत्योपशान्तकषायं यावद् सत् भवतीति गाथार्थः ॥१३६॥

(मलय०)—मध्यमा अष्टौ कषायाः-अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञास्तावत्सन्तो भवन्ति यावत्क्षपकस्य अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धायाः सङ्ख्येया भागाः, परतो न विद्यन्ते क्षीणत्वात् , उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्सन्तो वेदितव्याः। यस्मिंश्च स्थाने क्षपकस्यानिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायामष्टौ कषायाः क्षीणाः, तस्मात्स्थानाद् यावत्संख्येयानि स्थितिखण्डानि तावत्स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपं स्थावरादित्रयोदशकं च वक्ष्यमाणस्वरूपं सद्भवति, परतोऽसत्। इदमुक्तं भवति-कषायाष्टकक्षयस्योपरि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिकस्थावरादित्रयोदशकरूपाः षोडश प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति, यावन्न यान्ति तावत्सत्यः, उपशमश्रेण्यां पुनरेताः षोडशापि प्रकृतय उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्सत्यो वेदितव्याः ॥१३६॥

तदेव स्थावरादित्रयोदशकमाह—

थावरतिरिगइदोदो आयावेगिंदिविगलसाहारं। नरयदुगुज्जोयाणि य दसाइमेगंततिरिजोग्गा ॥१३७॥

(स्वो०)—स्थावरद्विकं तिर्यग्द्विकमातपमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः साधारणं नरकद्विकं उद्योतं, आसामाद्या दश तिरश्चामेवोदयं प्रति योग्या इति गाथार्थः ॥१३७॥

(मलय०)—सम्प्रति तदेव स्थावरादित्रयोदशकमाह-स्थावरद्विकं-स्थावरसूक्ष्मरूपं तिर्यग्गतिद्विकं-तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपमातप

नाम एकेन्द्रियजातिः, 'विगल'त्ति–द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः, साधारणं, नरकद्विकं–नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणमुद्योतमिति स्थावरादित्रयोदशकम्। अत्र चादिमा दशप्रकृतय एकान्ततिर्यग्योग्याः–तिरश्चामेवैकान्तेनोदयं प्रति योग्याः, तेन यत्र क्वापि तिर्यगेकान्तयोग्यप्रकृतिग्रहणं भवति, तत्रेमा वेदितव्याः ॥१३७॥

एवं नपुंसगित्थी संतं छक्कं च बार पुरिसुदए। समऊणाओ दोन्निउ आवलियाओ तओ पुरिसं ॥१३८॥

(स्वो०)—एवं प्राग्वत्संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु नपुंसकवेदः क्षीयते। भूयः संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु स्त्रीवेदः क्षीयते। भूयः संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु हास्यादिषट्कं 'बारे' त्ति अनिवृत्तिबादरस्य क्षीयते। ततः समयोने आवलिकाद्विके गते पुंवेदः क्षीयते, पुंवेदोदयेन क्षपकश्रेणीमुपस्थितस्य। उपशमश्रेण्यां तु यावदुपशान्तकषायस्तावदेताः सद्भवन्तीति गाथार्थः ॥१३८॥

(मलय०)—एवं–प्रागुक्तेन प्रकारेण प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेष्वित्यर्थः, नपुंसकवेदः क्षीयते, यावच्च न क्षीयते तावत्सन्, ततो नपुंसकवेदक्षयानन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु स्त्रीवेदः परिक्षयमुपयाति, सोऽपि यावन्न क्षयमुपयाति, तावत्सम्, एवं स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यं, नपुंसकवेदेन प्रतिपन्नस्य तु स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत्क्षयमुपगच्छतः, यावच्च न क्षयमुपगच्छतस्तावत्सन्तौ, उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्सन्तौ, ततः स्त्रीवेदक्षयानन्तरं सङ्ख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु हास्यादिषट्कं युगपत्क्षयमुपगच्छति, 'बार'त्ति–अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धायां वर्त्तमानस्य पुरुषोदये–पुरुषवेदोदये, ततो हास्यादिषट्कक्षयानन्तरं समयोने द्वे आवलिके अतिक्रम्य पुरुषं–पुरुषवेदं क्षपयति, एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य प्रतिपादितम् ॥१३८॥

इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा। अपुमोदयंमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥१३९॥

(स्वो०)—स्त्रीवेदोदयेनोपस्थितस्य प्रथमं नपुंसकवेदः क्षीयते, पुनः स्त्रीवेदः, पुनः पुरुषवेदः सहास्यादिषट्कः क्षीयते तावत्सद् भवति। नपुंसकवेदोदयेनोपस्थितस्य नपुंसकस्त्रीवेदौ युगपत् क्षीयेते भूयः सप्तकमिति गाथार्थः ॥१३९॥

(मलय०)—सम्प्रति स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य विधिमाह—स्त्रीवेदस्योदयेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः प्रथमतो नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः स्त्रीवेदं, स्त्रीवेदक्षयानन्तरं पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपं प्रकृतिसप्तकं युगपत्क्षपयति, 'कमा' इति अनेन क्रमेण स्त्रीवेदोदयारूढो नपुंसकवेदादीन् क्षपयति। अपुमोदये—नपुंसकोदये वर्त्तमानः पुनर्युगपत्स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ क्षपयति, ततः पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपाः सप्तप्रकृतीर्युगपत् (क्षपयति) ॥१३९॥

संखेज्जा ठिइखंडा पुणोवि कोहाइलोभसुहुमत्ते। आसज्ज खवगसेढी सव्वा इयराइ जा संतो ॥१४०॥

(स्वो०)—ततः संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु संज्वलनक्रोधोऽसद् भवति, एवं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु मानो, भूयो माया, पुनरपि लोभः, किन्तु सूक्ष्मलोभखण्डानि सूक्ष्मसम्परायान्तसमये असद् भवन्ति। क्षपकश्रेणीमाश्रित्यैतदुक्तम्। इतरायां—उपशमश्रेण्यां सर्वाः प्रकृतयो यावदुपशान्तकषायं तावत्सद्भवन्तीति गाथार्थः ॥१४०॥

(मलय०)—ततः किमित्याह—ततः पुरुषवेदक्षयानन्तरं पुनरपि संख्येयानि स्थितिखण्डान्यतिक्रम्य संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेष्वित्यर्थः सञ्ज्वलनक्रोधं क्षपयति, ततः पुनरपि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सञ्ज्वलनमानं, ततो भूयोऽपि संख्येयेषु स्थिति

खण्डेषु गतेषु सञ्ज्वलनमायां, लोभश्च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये क्षयमुपपद्यते, एताश्च मध्यमकषायाष्टकप्रमुखाः सर्वा अपि यथाक्रमं क्षयं प्रतिपद्यमाना उक्ताः क्षपकश्रेणिमधिकृत्य, इतरस्यां पुनरुपशमश्रेण्यां यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावत्सत्यो वेदितव्याः ॥१४०॥

सव्वाणवि आहारं सासणमीसेयराण पुण तित्थं। उभये संति न मिच्छो तित्थगरे अंतरमुहुत्तं ॥१४१॥

(स्वो०)—सर्वेषां अपि गुणस्थानजीवानां आहारकसप्तकं भाज्यम्। सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिरहितानां द्वादशानां तीर्थकरं भाज्यम्, यतस्तयोर्न भवत्येव, आहारकतीर्थंकरयोरुभयोः सतोर्मिथ्यादृष्टिरेव न भवति, तीर्थङ्करे सति केवले यदि भवति अन्तर्मुहूर्त्तमिति गाथार्थः ॥१४१॥

(मलय०)—सम्प्रत्याहारकतीर्थंकरयोर्गुणस्थानकेषु सम्भवमाह—आहारकनामकर्म सर्वेषामपि मिथ्यादृष्ट्यादीनामयोगिकेवलिपर्यन्तानां सत्तामधिकृत्य भाज्यं, कदाचिद्भवति कदाचिन्न। तीर्थं—तीर्थङ्करनामकर्म पुनः सासादनमिश्रेतरेषां—सासादनमिश्ररहितानां शेषाणां जीवानां सर्वेषामपि भाज्यं, सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योः पुनर्नियमान्न विद्यते, स्वभावत एव तीर्थकरनामसत्कर्मणः सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिरूपे गुणस्थानकद्विके गमनासम्भवात्। तथोभयस्मिन्—आहारकतीर्थकरनामरूपे कर्मद्वये सति न मिथ्यादृष्टिः—मिथ्यादृष्टिर्नैव भवतीत्यर्थः। तथा तीर्थकरनामकर्मणि सति केवलं यदि भवति मिथ्यादृष्टिस्तर्ह्यन्तर्मुहूर्त्तमात्रमेव कालं नाधिकं, एतच्चाग्रे सप्ततिकाधिकारे सप्रपञ्चं भावयिष्यते ॥१४१॥

अन्नयरवेयणीयं उच्चं नामस्स चरमउदयाओ। मणुयाउ अजोगंता सेसा उ दुचरिमसमयंता ॥१४२॥

(स्वो०)—अन्यतरवेदनीयं, उच्चैर्गोत्रं, मनुजगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसादिसुभगादितिस्रः, तीर्थङ्करं, मनुजायुष्कं, एता द्वादश योग्यन्तसमयं यावत्सत् भवन्ति। शेषा नाम्न त्रयोदश नव वर्जिता एकाशीतिरन्यतरवेदनीयनीचैर्गोत्रयुक्ता त्र्यशीतिस्तस्यैवायोगिनः उपान्त्यसमये क्षीयन्ते, तदारतः सद्भवन्तीति गाथार्थः। प्रकृतिसत्स्थानप्ररूपणां उत्तरत्र तावद् भणिष्यति 'दो संतट्ठाणाइं' इत्यादिना ग्रन्थेन, नात्राभिधीयते। भणितं प्रकृतिसत्कर्म्म इति ॥१४२॥

(मलय०)—अन्यतरत्सातमसातं वा वेदनीयं, उच्चैर्गोत्रं, तथा या नाम्नो–नामकर्मणश्चरमोदया नव प्रकृतयस्तद्यथा–मनुजगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिः, तीर्थकरनामेति, तथा मनुष्यायुः, एता द्वादश प्रकृतयोऽयोग्यन्ता–अयोगिचरमसमयपर्यवसानाः, यावदयोगिचरमसमयस्तावत्सत्य इत्यर्थः। शेषाः पुनरन्यतरवेदनीयदेवद्विकौदारिकसप्तकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतैजसकार्मणसप्तकप्रत्येकसंस्थानषट्कसंहननषट्कवर्णादिविंशतिविहायोगतिद्विकागुरुलघुपराघातोपघातोच्छ्वासस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिमनुष्यानुपूर्वीनिर्माणापर्याप्तकनीचैर्गोत्ररूपात्र्यशीतिसंख्या अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयान्ता–अयोगिकेवलिनो द्विचरमसमये क्षयमुपयान्तीत्यर्थः ॥१४२॥

मूलठिई अजहन्ना तिहा चउद्धा उ पढमयाण भवे। धुवसंतीणंपि तिहा सेसविगप्पाऽधुवा दुविहा ॥१४३॥

(स्वो०)—साद्यनादिप्ररूपणा द्विविधा मूलप्रकृतीनां उत्तरप्रकृतीनां च। तत्र मूलप्रकृतीनां अजघन्यं स्थितिसत्कर्म त्रिविधं, तुशब्दाज्जघन्यमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं द्विविधम्। कथं? अष्टानामपि कर्मणां स्वक्षयान्तसमये जघन्यं स्थितिसत्कर्म, तच्च साद्यध्रुवं, तस्मादारतोऽजघन्यं, तच्च सादि न भवति, भूयः स्थितेरेवाभावात्। यद्यप्यायुषो विवक्षितस्यान्तसमये एका स्थितिर्भवति, तथापि सा न गृह्यते

अन्यस्यायुपः सद्भावात्, परमार्थतस्तन्न क्षीणम्। उत्कृष्टमनुत्कृष्टं सत्कर्म साद्यध्रुवं सुगममुत्कृष्टस्य कादाचित्कसम्भवात्। प्रथमकषायाणामजघन्यस्थितिसत्कर्म चतुर्विधं, कथं? तेषां वियोजनकाले उदयावलिकारहितं यदापवर्त्तितं भवति, उदयावलिकापि परविपाकेन समयेनोनानुभविता भवति, तदा तेषां जघन्यं स्थितिसत्कर्म, तच्च साद्यध्रुवं, तस्यैव मिथ्यात्वोदये बंधमानस्याजघन्यस्थितिसत्कर्म सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिरहितानामजघन्यं स्थितिसत्कर्म्म त्रिविधं, कथं? ध्रुवोदयवतीनां स्वक्षयान्तसमये, ध्रुवानुदयवतीनां स्वक्षयोपान्त्यसमये जघन्यस्थितिसत्कर्म्म भवति, यतस्तद्दलं तस्मिन् समयेऽन्यत्र संक्रामति, तच्च साद्यध्रुवं, तदारतोऽजघन्यं जघन्यं भूत्वा न भवति, अतः सादि न सम्भवति, अनादि ध्रुवमभव्येषु, भव्येष्वध्रुवमिति। उत्कृष्टं उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां साद्यध्रुवं अनुत्कृष्टमपि परिणामविशुद्धितः, तेषामेव अध्रुवसतीनां प्रकृतीनां त्रयोविंशत्युद्वलनतीर्थङ्करायुषां चत्वारोऽपि भेदा साद्यध्रुवा, अध्रुवत्वादेव भाविता इति गाथार्थः ॥१४३॥ उत्ता सादिणादिपरूवणा ॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमेकैकप्रकृतिसत्कर्मविपयं स्वामित्वं, सम्प्रतिप्रकृतिसत्कर्मस्थानगतं वक्तव्यं, प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि चाग्रेऽवश्यं वक्तव्यानि, ततस्त्रैव 'दोसन्तट्ठाणाइं' इत्यादिना ग्रन्थेनाभिधास्यन्ते, नात्र ग्रन्थगौरवभयात्, ततस्तान्यवधार्येह स्वामित्वं वक्तव्यमिति, उक्तं प्रकृतिसत्कर्म। सम्प्रति स्थितिसत्कर्म वक्तव्यं, तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे, तद्यथा—साद्यादिप्ररूपणा स्वामित्वं च, साद्यादिप्ररूपणापि द्विधा, मूलप्रकृतिविपया उत्तरप्रकृतिविपया च, तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषया साद्यादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—मूलप्रकृतीनामजघन्या स्थितिस्त्रिधा—त्रिप्रकारा, तद्यथा—अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च, तथाहि—मूलप्रकृतीनां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने समयमात्रैकस्थित्यवशेपे भवति, तच्च साद्यध्रुवं, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं स्थितिसत्कर्म, तच्चानादि सदैवभावात्, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्, उत्कृष्टानुत्कृष्टे

तु स्थितिसत्कर्मणी साद्यध्रुवे, सा च साद्यध्रुवता द्वयोरपि पर्यायेणानेकशो भवनादवसेया।

कृता मूलप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणा, साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां चिकीर्षुराह–प्रथमानां–प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनामजघन्यस्थितिसत्कर्म चतुर्धा–चतुष्प्रकारं, तद्यथा–साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च, तथाहि–अमीषां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वक्षयोपान्त्यसमये स्वरूपापेक्षया समयमात्रैकस्थितिरूपं, अन्यथा तद् द्विसमयमानं, तच्च साद्यध्रुवं, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं, तदपि चोद्वलितानां भूयो बन्धे सादि, तत्स्थानमप्राप्तानां पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। तथा ध्रुवसत्ताकानां प्रागुक्तस्वरूपाणां षड्विंशत्यधिकशतसंख्याकानामजघन्यं स्थितिसत्कर्म त्रिधा–त्रिप्रकारं, तद्यथा–अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तथाहि–तासां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने उदयवतीनां समयमात्रैकस्थितिरूपं, अनुदयवतीनां स्वरूपतः समयमात्रैकस्थितिकं, अन्यथा तु द्विसमयमात्रं, तच्च साद्यध्रुवं, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं, तच्चानादि सदैवभावात्, ध्रुवाध्रुवता प्रागिव, तथा प्रथमकषायाणां ध्रुवसत्ताकानां च प्रकृतीनां शेषा–उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा विकल्पाः सर्वेऽपि द्विविधा–द्विप्रकारास्तद्यथा–सादयोऽध्रुवाश्च, तत्र जघन्यं साद्यध्रुवतया प्रागेव भावितं, उत्कृष्टमनुत्कृष्टं च स्थितिसत्कर्म पर्यायेणानेकशो भवति, ततो द्वितयमपि तत्साद्यध्रुवं, तथा या अध्रुवा–अध्रुवसत्ताका देवनरकद्विकोच्चैर्गोत्रसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्ववैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुष्यद्विकरूपत्रयोविंशतिसंख्योद्वलनयोग्यायुश्चतुष्टयतीर्थकरनामरूपा अष्टाविंशतिप्रकृतयः, ता द्विविधाः, किमुक्तं भवति? तासां सर्वेऽपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा विकल्पा द्विप्रकारास्तद्यथा–सादयोऽध्रुवाश्च, सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवसत्ताकत्वादेवावसेया॥

उक्ता साद्यनादिप्ररूपणा। उत्कृष्टस्वामित्वमाह–

बंधुदउक्कोसाणं उक्कोसठिई उ संतमुक्कोसं। तं पुण समयेणूणं अणुदयउक्कोसबंधाणं ॥१४४॥

(स्वो०)—बन्धेन उदये सति यासां उत्कृष्टा स्थितिः भवति तासां ता एवोत्कृष्टस्थितिसत्कर्म्मकाः, ता ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनचतुष्कं असातं मिथ्यात्वं पोडश कषायाः वैक्रियसप्तकं तैजससप्तकं हुण्डसंस्थानं वर्णादिविंशतिरगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासोद्योताप्रशस्तविहायोगत्यस्थिरादिषट्कत्रसचतुष्कनिर्माणपञ्चेन्द्रियजातिनीचैर्गोत्राणि, एतासां षडशीतिप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धेन तुल्यं उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मेति, यतः–उत्कृष्टस्थितिबन्धकस्य यदबाधागतं दलं तदनुभूयते प्राग्बद्धमिति कृत्वा विद्यमानतया तदस्त्येव। तदेवोत्कृष्टस्थितिमानं समयेनैकेनोनमनुदयबन्धोत्कृष्टानां उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भवति। काः ताः–नारकद्विकं तिर्यग्द्विकं औदारिकसप्तकं चरमसंहननं एकेन्द्रियजातिस्थावरातपनिद्रापञ्चकानां विंशतिप्रकृतीनां य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः स समयोनः उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म्म, यत उत्कृष्टस्थितिबन्धकस्य अबाधास्थितयः सन्ति, किन्तूदयस्थितिः स्तिबुकसंक्रमेणोदयगतासु संक्रामति, अत उदयावलिका समयोना, यतस्तासामनुदये बन्धः। कथं? निद्रोदये तत्परिणामाभावात्, नरकद्विकस्य तिर्यङ्मनुष्या बन्धकास्ते तु तन्नानुभवन्ति, शेषाणां देवा उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः, तेषु तासामुदयो न भवतीति गाथार्थः ॥१४४॥

(मलय०)—कृता साद्यादिप्ररूपणा, सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यं, तच्च द्विधा, उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं च, तत्र प्रथमत उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह–बन्धत उदये सत्युत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता बन्धोदयोत्कृष्टाः, ताश्चेमास्तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपं दर्शनावरणचतुष्टयं, असातवेदनीयं, मिथ्यात्वं, षोडशकषायाः, पञ्चेन्द्रियजातिः, तैजससप्तकं, हुण्डसंस्थानं, वर्णादिविंशतिः, अगुरुलघु पराघातमुपघातमुच्छ्वासनामाप्रशस्तविहायोगतिरुद्योतनाम त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तयो, निर्माणं, नीचैर्गोत्रं, पञ्चविधमन्तरायं, तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य वैक्रियसप्तकं च।

एतासां बन्धोदयोत्कृष्टानां षडशीतिप्रकृतीनां उत्कृष्टा स्थितिः, सैवोत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म,उत्कृष्टस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मेत्यर्थः। तासां ह्युत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भेऽबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकं प्राप्यते, न च तासां प्रथमा स्थितिरन्यत्र स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति, उदयवतीत्वात् , ततस्तासामुत्कृष्टस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टस्थितिसत्कर्म । तथाऽनुदये–उदयाभावे उत्कृष्टस्थितिरूपो बन्धो यासां तास्तथा, ताश्च विंशतिसंख्याः, तद्यथा–निद्रापञ्चकं, नरकद्विकं, तिर्यग्द्विकं, औदारिकसप्तकमेकेन्द्रियजातिः, सेवार्त्तसंहननमातपं स्थावरं च । अथोच्येत कथमेतासामनुदये सति बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते ? उच्यते–उत्कृष्टो हि स्थितिबन्ध उत्कृष्टे संक्लेशे भवति, न चोत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमानस्य निद्रापञ्चकोदयसंभवः, नरकद्विकस्य तिर्यञ्चो मनुष्या वा उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः, न च तेषां नरकद्विकमुदयमायाति, शेषकर्मणां तु देवा नारका यथायोगमुत्कृष्टस्थितिनिर्वर्त्तकाः, न च तेषु तेषामुदयः, तत एता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः । एतासामनुदयबन्धोत्कृष्टानां विंशतिसंख्यानां प्रकृतीनां यदुत्कृष्टस्थितिमानं, तदेतावत्प्रमाणमेव समयेनैकेनोनमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म वेदितव्यम्। तथाहि –एतासामुत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे यद्यप्यबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकमस्ति, तथापि प्रथमस्थितिं तासामुदयवतीषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति, तेन तया प्रथमस्थित्या समयमात्रया ऊना उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म ॥१४४॥

उदसंकमउक्कोसाण आगमो सालिगो भवे जेट्ठो । संतं अणुदयसंकमउक्कोसाणं तु समऊणो ॥१४५॥

(स्वो०)—उदयसंक्रमोत्कृष्टानां आगमः, स्वोदयावलिकासहितः उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म्म,कास्ताः–मनुजगतिः सातं सम्यक्त्वं स्थिरादिहास्यादिषट्कं त्रयो वेदाः शुभविहायोगतिः पञ्चाद्यसंहननानि पञ्चाद्यसंस्थानानि उच्चैर्गोत्रमासां त्रिंशतां प्रकृतीनां उदये सति संक्रमतः उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भवति, स चागमो बन्धोदयावलिकाद्विकरहितः परमस्थितिमानः, उदयावलिकाया उपरि संक्रामति ।

मिथ्यात्वोत्कृष्टां स्थितिं बध्वा तत्रैवान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा ततः सम्यक्त्वं गच्छति, अतस्तदूना स्थितिरुत्कृष्टस्तस्यागमः स स्वोदयावलिकाभ्यधिक उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म। अनुदयसंक्रमोत्कृष्टानां मनुजानुपूर्वीसम्यग्मिथ्यात्वाहारकसप्तकदेवद्विकविकलजातिसूक्ष्मत्रिकतीर्थङ्कराणामष्टादशानां प्रकृतीनां आगमः समयोनावलिकाभ्यधिक उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म, कथं? यतो बध्यमानासु उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु सङ्क्रामति,अत आवलिकाभ्यधिक आगमः, तस्या उदयावलिकाया एका स्थितिः स्तिबुकसंक्रमेणोदयवत्यां गच्छति अतः समयोनावलिकाभ्यधिक आगमः उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म्म। सम्यग्मिथ्यात्वस्य त्वन्तर्मुहूर्त्तोनोत्कृष्टस्थितिरागमो, यत उत्कृष्टस्थितिं बध्वा मिथ्यात्वमेवान्तर्मुहूर्त्तमनुभवति, ततो द्वितीयं सम्यक्त्वमनुभवन् सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्थित्योस्तां संक्रमयतीति गाथार्थः ॥१४५॥ उक्किट्ठसामित्तं उत्तम्॥

(मलय०)—उदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः, ताश्चेमास्तद्यथा—मनुजगतिः, सातवेदनीयं सम्यक्त्वं, स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तयो, नवनोकषायाः, प्रशस्ता विहायोगतिः, प्रथमसंहननपञ्चकं, प्रथमसंस्थानपञ्चकं, नी(उ)च्चैर्गोत्रमिति, एतासामुदये सति संक्रमवशतो लब्धोत्कृष्टस्थितीनां य आगमः—संक्रमेणावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमः, स आवलिकया सहोत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म। एतदुक्तं भवति—सातं वेदयमानः कश्चिदसातमुत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति, तच्च बद्धा सातं बद्धुं लग्नः, असातं च बन्धावलिकातीतं सदावलिकात उपरितनं सकलमपि आवलिकाद्विकहीनं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं सत्कर्म तस्मिन् वेदनीये वेद्यमाने बध्यमाने चोदयावलिकाया उपरिष्टात्संक्रमयति, ततस्तया उदयावलिकया सहितः संक्रमेणावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमः सातवेदनीयस्योत्कृष्टं सत्कर्म, एवं शेषाणामपि सम्यक्त्वरहितानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामावलिकाद्विकहीनः स्वस्वसजातीयोत्कृष्टस्थितिस-

मागम उदयावलिकया सहित उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म भावनीयं, सम्यक्त्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्त्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहित उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म, तथाहि–मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा तत्रैव च मिथ्यात्वे अन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा ततः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्मिंश्च प्रतिपन्ने सति मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिमावलिकात उपरितनीं, तथापि संख्यया अन्तर्मुहूर्त्तोनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां सकलामपि सम्यक्त्वे उदयावलिकात उपरि संक्रमयति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तोन एवोत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहितः सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म। अनुदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः,ताश्चेमास्तद्यथा–देवगतिर्देवानुपूर्वी सम्यग्मिथ्यात्वमाहारकसप्तकं मनुजानुपूर्वी द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः सूक्ष्मं साधारणमपर्याप्तं तीर्थकरनामेति, एतासामनुदयसंक्रमोत्कृष्टानामष्टादशानां प्रकृतीनामावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकया सहितः समयोन उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म, तथाहि–कश्चिन्मनुष्य उत्कृष्टसंक्लेशवशादुत्कृष्टां नरकगतिस्थितिं बद्ध्वा परिणामपरावर्त्तनेन देवगतिं बद्धुमारभते, तस्यां च देवगतौ बध्यमानायां आवलिकाया उपरि नरकगतिस्थितिं बन्धावलिकातीतामुदयावलिकाया उपरितनीं सकलामपि विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां संक्रमयति, प्रथमा च स्थितिः समयमात्रा देवगतेः सत्का मनुजगतौ वेद्यमानायां स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति, ततस्तया समयमात्रस्थित्योन आवलिकयाभ्यधिक आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमो देवगतेरुत्कृष्टस्थितिसत्कर्म, एवं देवानुपूर्व्यादीनामपि षोडशप्रकृतीनां भावनीयं, सम्यग्मिथ्यात्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्त्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकयाभ्यधिकः समयोन उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म वाच्यं, तच्च प्रागुक्तसम्यक्त्वभावनानुसारेण भावनीयं, यश्च यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, यश्च यासूत्कृष्टां स्थितिं संक्रमयति, स तासामुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामी ॥१४५॥

उक्तमुत्कृष्टस्वामित्वम् , जघन्यस्वामित्वमाह–

उदयवईणेगठिइ अणुदयवइयाण दुसमया एगा। होइ जहन्नं सत्तं दसण्ह पुण संकमो चरिमो ॥१४६॥

(स्वो०)—उदयवतीनामेका स्थितिः जघन्यं स्थितिसत्कर्म, ज्ञानावरणान्तरायायुर्वेदनीयदर्शनचतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदकसम्यक्त्वोच्चैर्गोत्रसञ्ज्वलनलोभमनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातितीर्थङ्करत्रसादित्रिकसुभगादित्रिकाणां चतुस्त्रिंशतां प्रकृतीनां स्वक्षयावसानस्थितिरेका जघन्यं स्थितिसत्कर्म। अनुदयवतीनां भण्यमानदशवर्जितानां चतुर्दशोत्तरशतमानानां पञ्चनिद्रानीचैर्गोत्रसर्वघातिकषायनवकरहितनामचतुर्नवतिमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वानां एका स्थितिः जघन्यस्थितिसत्कर्म, कालं पुनराश्रित्य द्वौ समयौ, कथं? यतः–स्वक्षपकस्योपान्त्यसमये उदयवतीषूदयगतं दलं संक्रामति, चरमसमये दलं उदयवतीषु सद्भवति, न स्वस्थाने, तस्माद् द्विसामयिका एका स्थितिः जघन्यं सत्कर्म। दशानां पुनर्य एव चरमसंक्रमः स एव जघन्यस्थितिसत्कर्म्म, कथं? यदासां प्रथमस्थितिक्षयादन्तरकरणे स्थित उपरितनीं स्थितिमपवर्त्तयित्वाऽन्यासु संक्रामयति तदा जघन्यं स्थितिसत्कर्मेति गाथार्थः ॥१४६॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं, सम्प्रति जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह–उदयवतीनां–ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकवेदकसम्यक्त्वसंज्वलनलोभायुश्चतुष्टयनपुंसकवेदस्त्रीवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्त्तितीर्थकररूपाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्वक्षयपर्यवसानसमये या एका समयमात्रा स्थितिः सा जघन्यस्थितिसत्कर्म। अनुदयवतीनां पुनर्वक्ष्यमाणप्रकृतिदशकवर्जितानां चतुर्दशोत्तरशतसंख्यानां स्वस्वक्षयोपान्त्यसमये या स्वरूपापेक्षया समयमात्रस्थितिः, अन्यथा द्विसमयमात्रकाला, सा जघन्यस्थितिसत्कर्म। अनुदयवतीनां हि दलिकं चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयव-

तीषु प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति, तत्स्वरूपेण चानुभवति, तेन चरमसमये तासां दलिकं स्वरूपेण न प्राप्यते किन्तु पररूपेण, तत उक्तं स्थितिर्द्विसमयमात्रेति। दशानां पुनर्हास्यादिप्रकृतीनां य एव चरमसंक्रमः स एव जघन्यं स्थितिसत्कर्म, ता हि बन्धे उदये व्यवच्छिन्ने सति अन्यत्र संक्रमेण क्षयं नीयन्ते, तत य एव चरमसंक्रमः स एव तासां जघन्यं स्थितिसत्कर्म ॥१४६॥

ता एव दश वक्तुकाम आह—

हासाइ पुरिसकोहाइ तिन्नि संजलण जेण बंधुदए। वोछिन्ने संकामइ तेण इहं संकमो चरिमो ॥१४७॥

(स्वो०)—हास्यादिषट्कपुरुषवेदसञ्ज्वलनक्रोधमानमायाप्रकृतयो येन कारणेन बन्धे उदये च व्यतीते संक्रामयति यथोत्तरं, तेन कारणेन जघन्यस्थितिसत्कर्म चरमसंक्रमोऽभिहितो न समयादिस्थितिगतमिति। यद्यप्योघत उक्तः, तथापि विशेषेणोच्यते—सप्तकस्याविरताद्यप्रमत्तान्तानां अन्यतमः स्वामी, नरकतिर्यग्देवायुषां त एव स्वान्तसमये, मध्यमकषायस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकनोकषायनवकसंज्वलनत्रिकाणां षट्त्रिंशतां प्रकृतीनां बादरः स्वामी, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मकषायः, ज्ञानान्तरायदर्शनषट्कानां क्षीणकषायः स्वामी, शेषप्रकृतीनामयोगी जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामीति गाथार्थः ॥१४७॥ उत्तं जहन्नसामित्तं ॥

(मलय०)—तथा चाह–सुगमा। संप्रति सर्वकर्मप्रकृतीनां सामान्येन जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी प्रतिपाद्यते—अनन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च अविरतादिरप्रमत्तपर्यन्तो यथासम्भवं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी, नारकतिर्यग्देवायुषां नारकतिर्यग्देवाः स्वस्वभवचरमसमये वर्त्तमानाः, कषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकनवनोकषायसंज्वलनत्रिकरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसंपरायः, संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायः, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कान्तरायपञ्चकानां क्षीणकषायः, शेषाणां पञ्चनवतिसंख्यानाम-

योगिकेवली जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी ॥१४७॥

'उक्तं जघन्यस्वामित्वम्,' इदानीं स्थितिविकल्पविभावनायोच्यते—

जावेगिंदिजहन्ना नियगुक्कोसा हि ताव ठिइठाणा। नेरंतरेण हेट्ठा खवणाइसु संतराइंपि ॥१४८॥

(स्वो०)—स्वोत्कृष्टाभ्यः स्थितिभ्य आरतो यावदेकेन्द्रियजघन्यस्थितिबन्धं तावन्नैरन्तर्येण–अव्यवच्छिन्नानि, समयादिहान्या स्थितिस्थानानि भवन्ति, एकेन्द्रियजघन्यस्थितेरारतः। तदधः क्षपणे आदिशब्दादुद्वलने वा सान्तराणि निरन्तराण्यपि सम्भवन्ति स्थितिस्थानानि, यत एकेन्द्रियस्थितेरपि पल्योपम(मा)संख्येयभागमात्राणि स्थितिस्थानानि खण्डयति अतः सान्तराणि, उदयावलिकागतं प्रथमस्थितिगतं वा यथोत्तरं समयक्रमेणानुभवति अतो निरन्तराणीति गाथार्थः ॥१४८॥ उत्ता ठितिसत्ता ॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वम्। संप्रति स्थितिभेदविभावनार्थमाह–सर्वेषामपि कर्मणां स्वकीयादुत्कृष्टात् स्थितिस्थानादारभ्याधस्तात्तावदवतरीतव्यं यावदेकेन्द्रियप्रायोग्या जघन्या स्थितिः, एतावति स्थितिखण्डके यावन्तः समयास्तावन्ति स्थितिस्थानानि नानाजीवापेक्षया नैरन्तर्येण लभ्यन्ते। तद्यथा–उत्कृष्टा स्थितिरेकं स्थितिस्थानं, समयोनोत्कृष्टा स्थितिर्द्वितीयं स्थितिस्थानं, द्विसमयोनोत्कृष्टा स्थितिस्तृतीयं स्थितिस्थानं, एवं तावद्वाच्यं यावदेकेन्द्रियप्रायोग्या जघन्या स्थितिः, एकेन्द्रियप्रायोग्यायाश्च जघन्यायाः स्थितेरधस्तात् क्षपणादिषु–क्षपणे, आदिशब्दादुद्वलने च सान्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते, अपि शब्दान्निरन्तराणि च। कथम्? इति चेत्, उच्यते–एकेन्द्रियप्रायोग्याया जघन्यस्थितेरुपरितनाग्रिमभागात्पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयितुमारभते, खण्डनारम्भप्रथमसमयादारभ्य च समये समयेऽधस्तादुदयवतीनामनुभवेनानुदयवतीनां स्तिबुकसंक्रमेण समयमात्रा समयमात्रा स्थितिः क्षीयते,

ततः प्रतिसमयं स्थितिविशेषा लभ्यन्ते, तद्यथा–सैकेन्द्रियप्रायोग्या जघन्या स्थितिः प्रथमसमयेऽतिक्रान्ते समयहीना, द्वितीयसमयेऽतिक्रान्ते द्विसमयहीना, तृतीये समयेऽतिक्रान्ते त्रिसमयहीना, इत्याद्यन्तर्मुहूर्त्तेन च कालेन तत्स्थितिखण्डं खण्डयति, तत एतावती स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति कृत्वा अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि न लभ्यन्ते, ततः पुनरपि द्वितीयं पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण खण्डयति, तत्रापि प्रतिसमयमधः समयमात्रसमयमात्रस्थितिक्षयापेक्षया निरन्तराणि स्थितिस्थानानि पूर्वप्रकारेण लभ्यन्ते, द्वितीये च स्थितिखण्डे खण्डिते सति पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति न भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तादुर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते, एवं तावद्वाच्यं यावदावलिका शेषा भवति, सापि चावलिकोदयवतीनामनुभवेन, अनुदयवतीनां स्तिवुकसंक्रमेण समये समये क्षयमुपयाति तावत् , यावदेका स्थितिः, ततोऽमून्यावलिकामात्रसमयप्रमाणानि स्थितिस्थानानि निरन्तराणि लभ्यन्ते ॥१४८॥

भणितं स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्मोच्यते—

संकमतुल्लं अणुभागसंतयं नवरि देसघाईणं। हासाईरहियाणं जहन्नयं एगठाणं तु ॥१४९॥

(स्वो०)—अनुभागसंक्रमतुल्यं सममनुभागसत्कर्म, कथं ? स्थानप्रत्ययविपाकशुभाशुभसाद्यनादिउत्कृष्टस्वामित्वानि तुल्यानि अनुभागसंक्रमेण तेन नेहोच्यन्ते। नवरमयं विशेषो–देशघातिनीनां हास्यादिषट्करहितानां मतिश्रुतावधिज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्कवेदत्रिकान्तरायपञ्चकाख्यानां अष्टादशानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागसत्कर्म स्थानमाश्रित्यैकस्थानिकं, तुशब्दाद् देशघात्येव भवतीति गाथार्थः ॥१४९॥

(मलय०)—तदेवं स्थितिस्थानभेदोपदर्शनमपि कृतम् । साम्प्रतमनुभागसत्कर्मप्ररूपणार्थमाह—वक्ष्यमाणेनानुभागसंक्रमेण तुल्यं समानमनुभागसत्कर्म द्रष्टव्यं, किमुक्तं भवति? यथानुभागसंक्रमे स्थानघात्यघातित्वसाद्यादित्वस्वामित्वानि वक्ष्यन्ते, तथैवात्राप्यनुभागसत्कर्मणि वक्तव्यानि, नवरमयं विशेषः—यदुत देशघातिनीनां हास्यादिरहितानां हास्यादिषट्कवर्जितानां मतिश्रुतावधिज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयवेदत्रिकान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशानां प्रकृतीनां जघन्यमनुभागसत्कर्म स्थानमधिकृत्यैकस्थानकं तुशब्दाद् घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति प्रतिपत्तव्यम् ॥१४९॥

मणनाणे दुट्ठाणं देसघाई य सामिणो खवगा । अंतिमसमये सम्मत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१५०॥

(स्वो०)—मनःपर्यायज्ञानावरणे स्थानमाश्रित्य द्विस्थानिकं देशघाति च जघन्यमनुभागसत्कर्म भवति । अनुभागसंक्रमवदुत्कृष्टानुभागसत्कर्मस्वामिनः । जघन्यानुभागस्वामिनां विशेषमाह—क्षपकाः स्वान्तसमये वर्त्तमानाः जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनः । किं सर्वासां? न, इत्याह—सम्यक्त्वस्य वेदत्रिकस्य 'खीणंत'त्ति—ज्ञानान्तरायदशकदर्शनषट्कानां संज्वलनलोभसहितानामेकविंशतिप्रकृतीनां स्वोदयान्तसमये स्वक्षपकानां जघन्यमनुभागसत्कर्म भवतीति गाथार्थः ॥१५०॥

(मलय०)—मनःपर्यायज्ञानावरणे पुनर्जघन्यमनुभागसत्कर्मस्थानसंज्ञामधिकृत्य द्विस्थानं, घातिसंज्ञामाश्रित्य देशघाति वेदितव्यं, इहोत्कृष्टानुभागसत्कर्मस्वामिन उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामिन एव प्रतिपत्तव्याः, जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनोऽपि कासाञ्चित्प्रकृतीनां जघन्यानुभागसंक्रमस्वामिनः प्रत्येयाः, कासां पुनरस्ति विशेष इति तं विशेषमाह—'सामिणो' इत्यादि—स्वामिनो जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनः सम्यक्त्वस्य त्रयाणां वेदानां क्षीणान्तानां क्षीणमोहपर्यवसानानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणषट्करूपाणां षोड-

अनुभाग सत्कर्म तत्स्वामित्वं च

शप्रकृतीनां लोभस्य च सर्वसंख्ययैकविंशतिप्रकृतीनां क्षपकाः स्वान्तिमसमये वेदितव्याः ॥१५०॥

एतदेव विशेषयति—

मइसुयचक्खुअचक्खुण सुयसम्मत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स। परमोहिस्सोहिदुगे मणनाणे विपुलनाणिस्स॥१५१॥

(स्वो०)—मतिश्रुतज्ञानावरणानां चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणानां चतसृणां प्रकृतीनां समाप्तश्रुतस्य चतुर्दशपूर्वधरस्योत्कृष्टलब्धियुक्तस्य स्वक्षयान्तसमये जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामित्वम्। अवधिज्ञानदर्शनयोः परमावधिप्राप्तस्य, मनःपर्यायज्ञानावरणे विपुलमतेः जघन्यानुभागस्वामित्वम्, यतः परिशटितप्रभूतानुभागस्यैव विशिष्टा ज्ञानादर्शनलब्धयो भवन्ति। शेषाणां प्रकृतीनां जघन्यसत्कर्मस्वामित्वं अनुभागसंक्रमवद् द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥१५१॥

(मलय०)—अत्रैव विशेषमाह–मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां श्रुतसमाप्तस्य सकलश्रुतपारगामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्येत्यर्थः, ज्येष्ठलब्धिकस्योत्कृष्टायां श्रुतार्थलब्धौ वर्त्तमानस्य जघन्यमनुभागसत्कर्म। इदमत्र तात्पर्यं–मतिज्ञानावरणादीनां चतसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टश्रुतार्थलब्धिसंपन्नश्चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामी। तथा परमावधेः–परमावधियुक्तस्यावधिद्विके–अवधिद्विकविषयमवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणविषयमित्यर्थः जघन्यानुभागसत्कर्म भवति, एतदुक्तं भवति–अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामी परमावधिलब्धिसंपन्नो वेदितव्यः। तथा मनोज्ञाने–मनःपर्यायज्ञानावरणविषयं जघन्यमनुभागसत्कर्म विपुलज्ञानिनोऽवगन्तव्यम्। स्वामित्वभावनाऽवधिज्ञानावरणस्येव कर्त्तव्या, लब्धिसहितस्य हि प्रभूतोऽनुभागः प्रलयमुपयातीति 'परमोहिस्सेत्याद्युक्तम् ॥१५१॥

त्रिविधान्यनुभागस्थानानि भवन्ति तन्निरूपणायाह—

अणुभागट्ठाणाइं तिहा कमा ताणऽसंखगुणियाणि। बंधा उव्वट्टोवट्टणाउ अणुभागघायाओ ॥१५२॥

(स्वो०)—अनुभागस्थानानि त्रिविधानि भवन्ति, तानि च क्रमादसंख्येयगुणानि। 'बन्धा' इति, बन्धादेकानि सम्भवन्ति, तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तद्धेतूनामपि तत्प्रमाणत्वात्। बद्धानि उद्वर्त्तनतो बृहत्करणात् अपवर्त्तनतो ह्रस्वीकरणाद्वा अन्यथा भवन्ति, तानि तु बन्धानुभागस्थानानामसंख्येयगुणानि, यत एकैकमसंख्येयासु व्यक्तिषु निष्पादयति। तान्यपि स्थित्यनुभागघातप्रयोगेणान्यथा करोति, स्वस्थानादसंख्येयगुणानि संक्लेशविशुद्धीनां प्रतिसमयमन्यथाभावात्। उदयोदीरणशेषं अनुभागसत्कर्म भवति, तच्च बन्धाद्वाऽपवर्त्तनोद्वर्त्तनाद्वा स्थित्यनुभागघाताद्वा सद्भवति। प्रथमानि बन्धोत्पत्तिकानि, द्वितीयानि हतोत्पत्तिकानि, तृतीयानि हतहतोत्पत्तिकानीति गाथार्थः ॥१५२॥

(मलय०)—सम्प्रत्यनुभागसत्कर्मस्थानभेदप्ररूपणार्थमाह—इहानुभागसत्कर्मस्थानानि त्रिधा—त्रिप्रकाराणि भवन्ति, तद्यथा—बन्धात्, उद्वर्त्तनापवर्त्तनात्, अनुभागघाताच्च। तत्र येषां बन्धादुत्पत्तिस्तानि शास्त्रान्तरे बन्धोत्पत्तिकानीति प्रसिद्धानि, तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तद्धेतूनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। यानि पुनरुद्वर्त्तनापवर्त्तनारूपकरणद्वयवशतो जातानि तानि हतोत्पत्तिकानीति व्यवह्रियन्ते, हताद् घातादुद्वर्त्तनापवर्त्तनारूपकरणद्वयवशतो वृद्धिहानिभ्यां पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानीति व्युत्पत्तेः। तानि 'कमा ताणसङ्खगुणियाणिति' वचनतः पूर्वेऽभ्योऽसंख्येयगुणानि, एकैकस्मिन् बन्धोत्पत्तिके स्थाने नानाजीवापेक्षयोद्वर्त्तनापवर्त्तनाभ्यामसंख्येयभेदकरणात्, यानि पुनरनुभागघाताद् रसघातेनान्यथाभावादनुभागस्थानानि जायन्ते,

तानि शास्त्रान्तरे हतहतोत्पत्तिकानीत्युच्यन्ते, हते उद्वर्त्तनापवर्त्तनाभ्यां घाते सति भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि, तान्युद्वर्त्तनापवर्त्तनाजन्येभ्योऽसंख्येयगुणानि, एकैकस्मिन्नुद्वर्त्तनापवर्त्तनाजन्येऽनुभागस्थाने नानाजीवापेक्षया स्थितिघातानुभागघाताभ्यामसंख्येयगुणनात् ॥१५२॥

उक्तमनुभागसत्कर्म इति। इदानीं प्रदेशसत्कर्म उच्यते–तस्मिन्नादौ साद्यनादिप्ररूपणा, सा द्विविधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदतः अतो मूलप्रकृतिसाद्यनादिप्ररूपणायाह—

सत्तण्हं अजहन्नं तिविहं सेसा दुहा पएसंमि। मूलपगईसु आउस्स साइ अधुवाय सव्वेवि ॥१५३॥

(स्वो०)—सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशसत्कर्म त्रिधा भवति, कथं? क्षपितकर्मांशस्य स्वक्षयान्तस्थितौ वर्त्तमानस्य जघन्यप्रदेशसत्कर्म भवति, तच्च साद्यध्रुवं, शेषमजघन्यं तस्य तु सादि न सम्भवति, अतोऽनादि, ध्रुवाध्रुवे प्राग्वत्। शेषभेदा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यभेदा द्विविधाः–साद्यध्रुवाः प्रदेशसत्कर्म्मणि। जघन्यं भावितमेव, उत्कृष्टानुत्कृष्टं गुणितकर्मांशे मिथ्यादृष्टौ सप्तमपृथिव्यां भवति, तच्च साद्यध्रुवम्। आयुषश्चत्वारोऽपि भेदाः साद्यध्रुवाः अध्रुवत्वादेव सुगमा इति गाथार्थः ॥१५३॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमनुभागसत्कर्म, साम्प्रतं प्रदेशसत्कर्म वक्तव्यं, तत्र द्वावर्थाधिकारौ, तद्यथा–साद्यादिप्ररूपणा स्वामित्वं च, साद्यादिप्ररूपणा द्विधा, मूलप्रकृतिविषयोत्तरप्रकृतिविषया च, तत्र मूलप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह–आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रदेशे–प्रदेशविषयं सत्कर्माऽजघन्यं त्रिविधं–त्रिप्रकारं, तद्यथा–अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तत्र क्षपितकर्मांशस्य आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां

१. पयडीण इति प्रत्यन्तरे।

स्वस्वक्षयावसरे चरमस्थितौ वर्त्तमानस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्च साद्यध्रुवं समयमात्रभावित्वात्, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं तच्चानादि, सदैवभावात्, ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया। 'सेसा दुह'त्ति–शेषा विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा द्विधा–द्विप्रकारास्तद्यथा–सादयोऽध्रुवाश्च, तत्रोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म गुणितकर्मांशस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य मिथ्यादृष्टेः सप्तमपृथिव्यां वर्त्तमानस्य प्राप्यते, शेषकालं तु तस्याप्यनुत्कृष्टं, ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे, जघन्यं तु भावितमेव। तथा आयुषः सर्वेऽपि विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्च, सा च साद्यध्रुवता अध्रुवसत्ताकत्वादवसेया ॥१५३॥

उत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणायाह—

सुभधुवबंधितसाई पणिंदिचउरंसरिसभसायाणं। संजलणुस्सासुभखगइपुंपराघायणुक्कोसं ॥१५४॥

चउहा धुवसंतीणं अणजससंजलणलोभवज्जाणं। तिविहमजहण्ण चउहा इमाण छण्हं दुहाणुत्तं ॥१५५॥

(स्वो०)—शुभाश्च ता ध्रुवबन्धिन्यश्च शुभध्रुवबन्धिन्यः विंशतिः अगुरुलघुनिर्माणवर्णाद्येकादशतैजसकार्मणसप्तकमिति, त्रसादिदशकं सुज्ञानमेव, पञ्चेन्द्रियजातिचतुरस्रसंस्थानप्रथमसंहननसातवेदनीयसंज्वलनचतुष्कोच्छ्वासशुभविहायोगतिपुंवेदपराघातानां अनुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म्म चतुर्द्धा, इत्युत्तरगाथायाम्, कथं? प्रथमसंहननवर्जितानामेकचत्वारिंशतां क्षपकश्रेण्यां स्वकीये स्वकीये बन्धान्तसमये गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवत्येकं समयं साद्यध्रुवं, उपशमात् प्रतिपततोऽनुत्कृष्टं सादि[1], तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि, ध्रुवाध्रुवं पूर्ववत्।

१ ततो द्वितीये समये अनुत्कृष्टं सादि इति प्रत्यन्तरे।

प्रथमसंहननस्य तु सप्तमपृथिव्यां सम्यग्दृष्टिनारकस्य मिथ्यात्वं गन्तुकामस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति साद्यध्रुवं, द्वितीयसमयेऽनुत्कृष्टं सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि, ध्रुवाध्रुवं पूर्ववदिति गाथार्थः। चतुर्द्धा शब्दो व्याख्यातः, ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां प्रथमकपाययशःकीर्त्तिसंज्वलनलोभवर्जितानां चतुर्विंशत्यधिकशतप्रमाणानामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिधा भवति, कथं ? क्षपितकर्मांशमधिकृत्य स्वकीयक्षयान्तसमये समयमेकं जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति साद्यध्रुवं, शेषमजघन्यं, तच्च सादि न सम्भवति, अतोऽनादि, ध्रुवाध्रुवं प्राग्वत्। चतुर्द्धा–चतुष्प्रकारमजघन्यं प्रदेशसत्कर्मासां षण्णां प्रथमकपाययशःसंज्वलनलोभप्रकृतीनां भवति, कथं ? प्रथमकपायाणां क्षपितकर्मांशस्योद्वलकस्यैकस्थितिशेषस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म्म भवति, समयमेकं साद्यध्रुवं, तस्यैव प्रतिपततः तद्बन्धकस्याजघन्यं प्रदेशसत्कर्म सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि, ध्रुवाध्रुवं पूर्ववत्। यशःकीर्त्तिसंज्वलनलोभयोः क्षपितकर्मांशस्य क्षपणायोत्थितस्य यथाप्रवृत्तकरणस्यान्ते जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति, तच्च साद्यध्रुवं, ततो द्वितीयसमयेऽपूर्वकरणप्रवृत्तौ गुणसंक्रमतस्तयोरजघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति, तच्च सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्यानादि ध्रुवाध्रुवं पूर्ववत्। 'दुहाणुत्तं' द्विधा अनुक्तं, द्विचत्वारिंशतो जघन्योत्कृष्टौ, ध्रुवसत्कर्मणः शेषाष्टाशीतेः उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याः, अध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां अष्टाविंशतीनां चत्वारोऽपि भेदाः, ते च साद्यध्रुवा भवन्ति, स्वामित्वमवलोक्य स्वबुद्ध्या भावनीया इति गाथार्थः ॥१५४–१५५॥ भणिया साइणाइपरूवणा ॥

(मलय०)—साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य साद्यादिप्ररूपणां करोति–शुभाश्च ता ध्रुवबन्धिन्यश्च शुभध्रुवबन्धिन्यः–निर्माणाऽगुरुलघुवर्णाद्येकादशतैजसकार्मणसप्तकरूपा विंशतिप्रकृतयः तासां, त्रसादिदशकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननसातवेदनीयसंज्वलनचतुष्टयोच्छ्वासशुभविहायोगतिपुरुषवेदपराघातानां च सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म चतुर्धा–

चतुष्प्रकारं, तद्यथा—साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च, तथाहि—वज्रर्षभनाराचसंहननवर्जानां शेषाणामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां क्षपकश्रेण्यां स्वस्वबन्धान्तसमये गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवं, ततोऽन्यत्सर्वमनुत्कृष्टं, तदपि च द्वितीये समये भवत् सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु सप्तमपृथिव्यां सम्यग्दृष्टेर्नारकस्य गुणितकर्मांशस्य मिथ्यात्वं गन्तुकामस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, तच्च साद्यध्रुवम्, ततोऽन्यदनुत्कृष्टम्, तदपि च द्वितीये समये भवत्सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता प्रागिव। तथा अनन्तानुबन्धियशःकीर्तिसंज्वलनलोभवर्जानां चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्याकानां ध्रुवसत्ताकानां प्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिविधं—त्रिप्रकारम्, तद्यथा—अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तथाहि—एतासां क्षपितकर्मांशस्य स्वस्वक्षयचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साद्यध्रुवं च, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम्, तच्चानादि सदैव भावात्, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। आसां पुनः प्राक्प्रतिषिद्धानां षण्णां प्रकृतीनामनन्तानुबन्धिचतुष्टययशःकीर्तिसंज्वलनलोभरूपाणामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म चतुर्धा—चतुष्प्रकारम्, तद्यथा—सादि अनादि ध्रुवमध्रुवं च, तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुद्वलके क्षपितकर्मांशे यदा शेषीभूता एका स्थितिर्भवति, तदा जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्चैकसामयिकमिति साद्यध्रुवं च, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम्, तच्च उद्वलितानां मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽपि बध्यमानानां सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। संज्वलनलोभयशःकीर्त्योः पुनः क्षपितकर्मांशस्य क्षपणायोद्यतस्य यथाप्रवृत्तकरणस्यान्तिमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्चैकसमयमात्रभावित्वात्सादि अध्रुवं च, ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं, तदपि चापूर्वकरणगुणस्थानप्रथमसमये गुणसंक्रमेण प्रभूतदलिकस्य प्राप्यमाणत्वात् अजघन्यं भवत्सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत्। 'दुहाणुत्तं' ति—अनुक्तम्—अभाषितं सर्वासामपि प्रकृतीनां द्विविधं—द्विप्रकारमवसेयम्, तद्यथा—सादि अध्रुवं च,

तत्र शुभध्रुवबन्धित्रसादिदशकादीनां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुक्तं जघन्यमजघन्यमुत्कृष्टं च, तत्रोत्कृष्टं द्विप्रकारं भावितमेव; जघन्यमजघन्यं च वक्ष्यमाणं स्वामित्वमवलोक्य स्वयमेव भावनीयम् । ध्रुवसत्ताकानां चतुर्विंशतिशतसंख्याकानां जघन्यमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं च, तत्र जघन्यं भावितमेव, उत्कृष्टानुत्कृष्टे तु प्रागुक्तद्विचत्वारिंशत्प्रकृतिवर्जानां मिथ्यादृष्टौ गुणितकर्मांशे प्राप्येते, ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे; एवमनन्तानुबन्धिसंज्वलनलोभयशःकीर्त्तीनामप्युत्कृष्टानुत्कृष्टे भावनीये, जघन्यं तु भावितमेव, शेषाणां तु अध्रुवसत्ताकानां प्रकृतीनां चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवा अवसेयाः, अध्रुवसत्ताकत्वात् ॥१५४-५५॥

उक्ता साद्यनादिप्ररूपणा, उत्कृष्टस्वामित्वमाह–

संपुण्णगुणियकम्मो पएसउक्कस्ससंतसामीओ । तस्सेव सत्तमा निग्गयस्स काणं विसेसो वि ॥१५६॥

(स्वो०)—सम्पूर्णगुणितकर्मांशः प्रदेशोत्कृष्टसत्कर्मस्वामी सर्वकर्मणां नारकभवान्तसमये भवत्योघतः, तस्यैव नारकस्य सप्तमपृथिव्या निर्गतस्य कासाञ्चित् प्रकृतीनां विशेषोऽप्यस्तीति गाथार्थः ॥१५६॥

(मलय०)—कृता साद्यादिप्ररूपणा, सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम्, तच्च द्विधा, उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम्, जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं च, तत्र प्रथमत उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह–उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी सम्पूर्णगुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्यां नारकश्चरमसमये वर्त्तमानः प्रायः सर्वासामपि प्रकृतीनां वेदितव्यः,कासांचित्पुनः प्रकृतीनां तस्यैव संपूर्णगुणितकर्मांशस्य सप्तमपृथिव्या विनिर्गतस्य विशेषोऽप्यस्ति, ततस्ते वक्ष्ये इति शेषः ॥१५६॥

यद्यप्योघतोऽभिहितं स्वामित्वं तथापि विशेषतोऽभिधीयते—

मिच्छमीसेहिं कमसो संपक्खित्तेहिं मीससम्मेसु। [1]परमं पएससंतं कुणई नपुंसस्स ईसाणी ॥१५७॥

(स्वो०)—स प्रागभिहितः सप्तमनारकः तस्या उद्वर्त्य तिर्यक्षूपपन्नः तत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा मनुजेषूपपन्नः, तत्र सम्यक्त्वं लब्ध्वा लघु सप्तकस्य क्षपणायोत्थितो यस्मिन् समये मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे सर्वसंक्रमेण प्रक्षिपति तस्मिन् समये तस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। तदपि सम्यग्मिथ्यात्वं यस्मिन् समये सर्वसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति तस्मिन् समये सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। स एव नारकः तिर्यग्भूत्वा यदेशानदेवो भवति तत्रापि संक्लिष्टो भूयो भूयो नपुंसकवेदं बध्नाति, तदा तस्य भवान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म नपुंसकस्य। ईशानग्रहणं प्रभूतस्थितिग्रहणार्थमिति गाथार्थः ॥१५७॥

(मलय०)—प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—स प्रागभिहितस्वरूपो गुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्या उद्वृत्य तिर्यक्षूत्पन्नः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र सम्यक्त्वं प्राप्य सप्तकक्षपणाय शीघ्रमभ्युद्यतः, ततो यस्मिन् समये मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे सर्वसंक्रमेण प्रक्षिपति, तस्मिन् समये सम्यग्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, तदपि सम्यग्मिथ्यात्वं यस्मिन् समये सर्वसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति, तस्मिन् समये सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। अक्षरयोजना त्वियं—मिथ्यात्वमिश्राभ्यां क्रमशः क्रमेण मिश्रसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्ताभ्यां तयोर्मिश्रसम्यक्त्वयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, तथा स एव गुणितकर्मांशो नारकस्तिर्यग्भूत्वा कश्चिदीशाने देवो जातः, सोऽपि च तत्रातिसंक्लिष्टो भूत्वा भूयो नपुंसकवेदं बध्नाति, तदानीं च तस्य स्वभवान्तसमये वर्त्तमानस्य वर्षधरस्य—

१ 'वरिसधरस्स उ ईसाणस्स चरिमम्मि समयम्मि' इति श्रीमलयगिर्यभिप्रायः।

नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म ॥१५७॥

ईसाणे पूरित्ता नपुंसगं तो असंखवासीसु । पल्लासंखियभागेण पुरए इत्थीवेयस्स ॥१५८॥

(स्वो०)—ईशाने देवलोके कथितप्रयोगेण नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसञ्चयं कृत्वाऽऽपूर्य नपुंसकमित्यर्थः, ततः संख्येयवर्षायुषि स्थित्वाऽसंख्येयवर्षायुषि गतः, तत्र पल्योपमासंख्येयभागेन कालेन तं नपुंसकवेदं स्त्रीवेदे संक्रामयति संक्लिष्टः, तस्मिन्नपुंसकस्य बन्धाभावात्, नपुंसकदले संक्रान्ते स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवतीति गाथार्थः ॥१५८॥

(मलय०)—ईशानदेवलोके उक्तप्रकारेण नपुंसकवेदमापूर्य, नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसञ्चयं कृत्वा ततः संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये स्थित्वा, असंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च तेन संक्लिष्टेन भूत्वा पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन पूरिते, बन्धेन नपुंसकवेददलिकसंक्रमेण च प्रभूतमापूरिते स्त्रीवेदे सति तदानीं तस्य स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म सम्भवति ॥१५८॥

जो सव्वसंकमेणं इत्थीपुरिसम्मि छुहइ सो सामी । पुरिसस्स कमा संजलणयाण सो चेव संछोभे ॥१५९॥

(स्वो०)—यो गुणितकर्मांशः क्षपकः स्त्रीवेदं सर्वसंक्रमेण पुरुषवेदे संक्रमयति, स पुरुषस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । पुंवेदस्य संक्रमकाले संज्वलनक्रोधस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, क्रोधसर्वसंक्रमे मानस्य, मानसर्वसंक्रमे मायायाः, मायासर्वसंक्रमे लोभस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवतीति गाथार्थः ॥१५९॥

(मलय०)—यो गुणितकर्मांशः क्षपकः स्त्रीवेदं पुरुषवेदे संक्रमयति, स पुरुषवेदस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी, ततः स एव क्रमा

त्पुरुषवेदादिसञ्छोभे सञ्ज्वलनानामुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। इयमत्र भावना-स एव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी यदा पुरुषवेदं सर्वसंक्रमेण सञ्ज्वलनक्रोधे संक्रमयति तदा सञ्ज्वलनक्रोधोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। स एव यदा सञ्ज्वलनक्रोधं सर्वसंक्रमेण सञ्ज्वलनमाने संक्रमयति तदा सञ्ज्वलनमानोत्कृष्टस्वामी। स एव यदा सञ्ज्वलनमानं सर्वसंक्रमेण संज्वलनमायायां संक्रमयति तदा संज्वलनमायोत्कृष्टस्वामी, स एव यदा संज्वलनमायां सर्वसंक्रमेण सञ्ज्वलनलोभे संक्रमयति तदा सञ्ज्वलनलोभोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी ॥१५९॥

उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म स्वामित्वं

चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुमखवगंते। जं असुभपगइदलियस्स संकमो होइ एयासु ॥१६०॥

(स्वो०)—स गुणितकर्मांशश्चत्वारो वारा मोहनीयमुपशमय्य शीघ्रं क्षपणायोत्थितः, यत उभयश्रेणीगतस्याशुभाः स्वजातीयप्रकृतयः सातोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तिषु गुणसंक्रमेण संक्रामन्त्यतः सूक्ष्मसम्परायान्तसमये सातोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तीनां उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मणः स्वामीति गाथार्थः ॥१६०॥

(मलय०)—चतुरो वारान् मोह मोहनीयमुपशमय्य गुणितकर्मांशः शीघ्रं क्षपणायोत्थितः, तस्य क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायस्य सतः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानस्य यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रसातवेदनीयानामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, यस्मादेतासु प्रकृतिषु श्रेण्यारूढः सन् गुणसंक्रमेण प्रभूतान्यशुभप्रकृतिदलिकानि संक्रमयति, ततः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये एतासामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते ॥१६०॥

अद्धाजोगुक्कोसेहिं देवनिरयाउगाण परमाए। परमं पएस संतं जा पढमो उदयसमओ सो ॥१६१॥

(स्वो०)—'अद्ध'त्ति–बन्धकाद्धायोगैर्मनोवाक्कायलक्षणैस्तैरुत्कृष्टैर्देवनरकायुषोः 'परमाए' त्ति–उत्कृष्टायां स्थितौ परममुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति यावत्प्रथमस्तयोरुदयसमयस्तिष्ठतीति गाथार्थः ॥१६१॥

(मलय०)—उत्कृष्टया बन्धाद्धयोत्कृष्टेन च योगेन देवनारकायुषोः परमायाम्–उत्कृष्टायां स्थितौ बद्धायां तावदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते, यावत्तयोः प्रथम उदयसमयो भवति, किमुक्तं भवति ? बन्धादारभ्योदयप्रथमसमयं यावद्देवनारकायुषोरुक्तप्रकारेण बद्धयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ॥१६१॥

सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगंतु पुव्वकोडीए। सायबहुलस्स अचिरा बंधंते जाव नो वट्टे ॥१६२॥

(स्वो०)—'शेषायुषोः' तिर्यग्मनुष्यायुषोः, स्वगतिभवेषु चशब्दादुत्कृष्टबन्धकाद्धायोगैरेव बध्वा पूर्वकोट्यायुष्केषु समुत्पन्नः, तत्रापि सुखी, यतः सुखितस्य न बहवः पुद्गलाः शटन्ति, ततः सोऽन्तर्मुहूर्त्तेनैव तत्र मर्त्तुकामो जातः, भूयोऽपि परमबन्धकाद्धायोगैरन्यत् स्वजातीयमायुष्कं बध्नाति, बन्धकाद्धान्तसमये यावत् वेद्यमानमायुष्कं नापवर्त्तयति, तावन्मनुष्यायुषः तिर्यगायुषो वा उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, यतो देशोनमुभयायुष्कं तदा भवतीति गाथार्थः ॥१६२॥

(मलय०)—शेषायुषी–तिर्यङ्मनुष्यायुषी 'पुव्वकोडीए' त्ति–पूर्वकोट्युपलक्षिते–पूर्वकोटिप्रमाणे उत्कृष्टया बन्धाद्धया उत्कृष्टेन च योगेन बद्धे बद्ध्वा च निजकेषु भवेषु–निजनिजभवे समागत्य सातबहुलः सन् ते आयुषी यथायोगमनुभवति, सुखितस्य न भूयांस आयुष्पुद्गलाः परिशटन्तीति कृत्वा सातग्रहणं कृतं, ततः 'अचिराद् बन्धान्ते' इत्युत्पत्तिसमयादूर्ध्वं अन्तर्मुहूर्त्तमात्रमेव स्थित्वा मर्त्तुकामो जातः सन्नुत्कृष्टया बन्धाद्धयोत्कृष्टैश्च योगैरन्यत्पारभविकं समानजातीयं मनुष्यो मनुष्यायुः तिर्यङ् तिर्यगायुर्बध्नाति, ततो बन्धा-

न्तसमये यावन्नाद्याप्यपवर्त्तयति तावत्तस्य सातबहुलस्य मनुष्यस्य सतो मनुष्यायुषः तिरश्चः सतस्तिर्यगायुष उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्म भवति, यतस्तस्य तदानीं स्वभवायुः किञ्चिदूनं परभवायुश्च समानजातीयं परिपूर्णदलिकमस्तीति कृत्वा, बन्धानन्तरं चायुर्वेद्यमानं द्वितीये समये ऽपवर्त्तयिष्यति तत उक्तं बन्धान्त इति ॥१६२॥

पूरित्तु पुव्वकोडीपुहुत्तनारयदुगस्स बंधंते। एवं पलियतिगंते सुरदुगवेउव्वियदुगाणं ॥१६३॥

(स्वो०)—'पूर्वकोटीपृथक्त्वमि'ति–पूर्वकोटीसप्तकं 'पूरित्तु' त्ति–संक्लिष्टाध्यवसायो भूयो भूयो बन्धकत्वेन निचितं कृत्वा नरकाभिमुखो बन्धान्तसमये नरकद्विकस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म करोति। एवमनेनैव क्रमेण पूर्वकोटिसप्तकं विशुद्धाध्यवसायतो बध्वा भोगभूमिषु पल्योपमत्रिकं च तदन्तसमये देवद्विकवैक्रियसप्तकानामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म करोतीति गाथार्थः ॥१६३॥

(मलय०)—पूर्वकोटिपृथक्त्वं–पूर्वकोटिसप्तकं यावत् संक्लिष्टाध्यवसायवशेन नरकद्विकं–नरकगतिनरकानुपूर्वीरूपं भूयो भूय आपूर्य बन्धेन निचितं कृत्वा, नरकाभिमुखो बन्धान्तसमये तस्य नरकद्विकस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी। तथैवम्–अनेनैव प्रकारेण पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावद् भोगभूमिषु मध्ये पल्योपमत्रयं च यावद् विशुद्धाध्यवसायवशेन देवद्विकं वैक्रियद्विकं च बन्धेनापूर्य देवत्वाभिमुखः तयोर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी ॥१६३॥

तमतमगो अइखिप्पं सम्मत्तं लभिय तंमि बहुगद्धं। मणुयदुगस्सुक्कोसं सवज्जरिसभस्स बंधंते ॥१६४॥

(स्वो०)—'तमतमगो' त्ति–सप्तमपृथिवी नारकोऽतिक्षिप्रं जन्मत आरभ्यान्तर्मुहूर्त्ते गते सम्यक्त्वं लब्ध्वा, तत्र प्रभूताद्धा अन्तर्मु-

उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म स्वामित्वं

हूर्त्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, गुणहेतोर्वद्धस्य प्रथमसंहननस्य मनुजद्विकस्य मिथ्यात्वगमनसमये स्वबन्धान्ते उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्म भवतीति गाथार्थः ॥१६४॥

(मलय०)—तमस्तमगः–सप्तमपृथिवीनारकोऽतिक्षिप्रम्–अतिशयेन शीघ्रं जन्मानन्तरमन्तर्मुहूर्त्ते गते सतीत्यर्थः, सम्यक्त्वं लब्ध्वा, तस्मिन् सम्यक्त्वे स्थितस्य प्रभूताद्धां–प्रभूतकालं यावत्, अन्तर्मुहूर्त्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदित्यर्थः, मनुजद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननं च बध्नतो बन्धान्ते, यतोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वं यास्यति, तस्मिन् बन्धाद्धाचरमभूते समये तस्य मनुष्यद्विकस्य वज्रर्षभनाराचसंहननस्य चोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ॥१६४॥

वेछावट्ठिचियाणं मोहस्सुवसामगस्स चउक्खुत्तो । सम्मधुवबारसण्हं खवगंमि सबंधअंतम्मि ॥१६५॥

(स्वो०)—द्वे षट्षष्टी चितानां–बद्धानां, चारित्रमोहनीयस्य चतुष्कृत्व उपशामके 'सम्मधुवबारसण्हं'ति–सम्यक्त्वे सति यासां द्वादशानां प्रकृतीनां बन्धोऽवश्यं भवति, ताः सम्यक्त्वध्रुवाः, कास्ताः ? त्रसादिचतस्रः सुस्वरादितिस्रः पराघातोच्छ्वासो[च्चैर्गोत्र](समचतुरस्र) शुभविहायोगतिपञ्चेन्द्रियजातयस्तासां क्षपणायाभ्युत्थितस्य स्वबन्धान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म्म भवति, श्रेणीग्रहणं तासु गुणसंक्रमेण प्रभूतं दलं संक्रान्तं लभ्यते इति गाथार्थः ॥१६५॥

(मलय०)—द्वे सागरोपमाणां षट्षष्टी यावच्चितानाम्–उपचयं नीतानां, सम्यक्त्वे सत्यवश्यं बन्धो यासां ता बन्धमधिकृत्य सम्यक्त्वध्रुवाः, ताश्च द्वादश, तद्यथा–पञ्चेन्द्रियजातिः, समचतुरस्रसंस्थानं, पराघातं, उच्छ्वासनाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकसुस्वरसुभगादेयानि च, एतासां द्वादशानां मोहस्य चतुष्कृत्व उपशमके क्षपके, किमुक्तं भवति ? चतुरो वारान् मोहनीयमुपश-

मस्य क्षपणाय समुद्यते बन्धान्ते–निजनिजबन्धव्यवच्छेदकाले उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, इह मोहनीयमुपशमयन् अशुभप्रकृतीनां प्रभू-
तानि दलिकानि गुणसंक्रमेण तासु संक्रमयतीति कृत्वा चतुष्कृत्वो मोहोपशमग्रहणम् ॥१६५॥

सुभथिरसुभधुवियाणं एवं चिय होइ संतमुक्कोसं। तित्थयराहाराणं नियनियगुक्कोसबंधंते ॥१६६॥

(स्वो०)— शुभस्थिरशुभध्रुवबन्धिनीनां तैजससप्तकवर्णाद्येकादशनिर्माणागुरुलघूनां द्वाविंशतिप्रकृतीनां प्राक्तनं द्वादशोक्तं प्रकृति-
क्रमेण तद्वदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं स्वबन्धान्तसमये भवति। तीर्थकराहारकसप्तकानां स्वकस्वकोत्कृष्टबन्धकालान्तसमये उत्कृष्टं प्रदे-
शसत्कर्म भवति। तीर्थङ्करं देशोनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि बध्यते, आहारकं देशोनपूर्वकोटिं भूयो भूयो बध्यते,
तत्परिणामसंभवात् गुणितकर्मांशः क्षपणायोत्थित इति वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥१६६॥

(मलय०)—शुभस्थिरयोः शुभध्रुवबन्धिनीनां च तैजसकार्मणसप्तकशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुनिर्माणरूपाणां विंशतिप्रकृतीनां,
सर्वसंख्यया द्वाविंशतिप्रकृतीनां एवमेव–पूर्वोक्तेनैव प्रकारेणोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भावनीयम्, नवरं चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमनानन्तरं
शीघ्रतरं क्षपणायोद्यतस्येति वक्तव्यम्, शेषं तथैव। तथा तीर्थकराहारकसप्तकयोर्निजनिजोत्कृष्टबन्धान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म
भवति, इयमत्र भावना–तीर्थकरनामकर्म यदा गुणितकर्मांशेन सता देशोनपूर्वकोटिद्विकाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्बन्धे-
नापूरितं भवति तदा तस्य स्वबन्धान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। यस्याहारकसप्तकमपि यदि देशोनपूर्वकोटिं यावद् भूयो भूयो बन्धे-
नोपचितं भवति ततस्तस्य स्वबन्धव्यवच्छेदसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म ॥१६६॥

तुल्ला नपुंसगेणं एगिंदिय थावरायवुज्जोया। सुहुमतिगं विगलावि य तिरियणुयचिरच्चिया नवरिं ॥१६७॥

(स्वो०)—एकेन्द्रियजातिस्थावरोद्योतातपाः नपुंसकवेदेन तुल्याः, ईशानदेवसंक्लिष्टस्वान्तसमयादिक्रमेणो (ईशानदेवाः संक्लिष्टाः स्वान्तसमये उ)त्कृष्टप्रदेशसत्कर्माणो भवन्ति। विकलेन्द्रियसूक्ष्मत्रिकेऽपि तिर्यग्भिर्मनुष्यैर्वा 'चिरं'ति पूर्वकोटिसप्तकं यदा चिते भूयो भूयो बद्धे तदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मणी भवत इति। शेषाणां तमतमानारकस्य गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं कथितमेवेति गाथार्थः ॥१६७॥ भणियं उक्किट्ठसामित्तं ॥

(मलय०)—नपुंसकवेदेन तुल्यानि एकेन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतानि वेदितव्यानि, किमुक्तं भवति? यथा नपुंसकवेदस्य ईशानदेवभवचरमसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मोक्तम्, तथैतेषामपि द्रष्टव्यमिति। तथा सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपं, विकला अपि च–द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयोऽपि च यदा तिर्यग्भिर्मनुष्यैर्वा चिरं चिताः–पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावदुपचिता भवन्ति तदा तासां षण्णामपि प्रकृतीनां स्वबन्धान्तसमये तेषां तिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ॥१६७॥

ओहेण खवियकम्मे पएससंतं जहन्नयं होइ। नियसंकमस्स विरमे तस्सेव विसेसियं मुणसु ॥१६८॥

(स्वो०)—'ओघतो' बाहुल्येन क्षपितकर्मांशे जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति स्वकीयसंक्रमस्य 'विरामे' अवसाने, तस्यैव क्षपितकर्मांशस्य विशेषितं विशेषेणाभिहितं 'मुणसु'त्ति–जानीहि त्वमिति गाथार्थः ॥१६८॥

(मलय०)—तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम्। सम्प्रति जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह–ओघेन–बाहुल्येन क्षपितकर्मणि–क्षपितकर्मांशे वक्ष्यमाणस्वरूपे जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति, तस्यैव क्षपितकर्मांशस्य स्वकीयसंक्रमस्यावसाने विशेषितं–विशेषयुक्तं मुणसु–जानीहि ॥१६८॥

उत्कृष्टप्रदेशस्वामित्वविशेषोऽभिहितः । जघन्यप्रदेशस्वामित्वविशेषमाह—

उव्वलमाणीणेगाठिई उव्वलए जया दुसामइगा । थोवद्धमज्जियाणं चिरकालं पालिया अंते ॥१६९॥

(स्वो०)—उद्वलनप्रकृतीनामाहारकसप्तकवैक्रियसप्तकदेवनरकमनुजद्विकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्रानन्तानुबन्धिनां सप्तविंश-
तिप्रकृतीनां स्वोद्वलनायां यदैका स्थितिर्द्विसामयिका भवति तासां 'स्तोकाद्धार्जितानाम्' अल्पकालोपचितानां, तदा जघन्यं प्रदेशस-
त्कर्म भवति । विशेषोऽत्राप्युच्यते—क्षपितकर्मांशेनानन्तानुबन्धिनो वियोज्य भूयोऽन्तर्मुहूर्त्तं बध्वा भूयः सम्यक्त्वं द्वे षट्षष्टीसागरोप-
माणामनुपाल्य क्षपणायोत्थितः, तस्य द्विसामयिकस्थितिशेषस्य जघन्यं तेषां प्रदेशसत्कर्म भवति । सम्यक्त्वमिश्रे द्वे षट्षष्टीसागरोपमा-
णामनुपाल्य मिथ्यात्वं प्राप्तः, चिरोद्वलनया मन्दोद्वलनया स्वोदयावलिकोपरिगतस्थितिखण्डं संक्रामयति, तत उदयावलिका स्तिबु-
कसंक्रमेण मिथ्यात्वे संक्रामयति, तस्यां द्विसामयिकस्थितिशेषायां जघन्यं प्रदेशसत्कर्मेति । देवद्विकनरकद्विकवैक्रियसप्तकानां पूर्वो-
द्वलितानां क्षपितकर्मांशेनान्तर्मुहूर्त्तबद्धानां अप्रतिष्ठानानुभूतानां भूयस्तिर्यक्षु भवेऽप्यबद्धानां एकेन्द्रियत्वे चिरोद्वलितानां द्विसामयिक-
स्थितिशेषाणां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राणामपि पूर्वोद्वलितानामन्तर्मुहूर्त्तबद्धानां वाय्वग्निकाये चिरोद्वलितानां
द्विसामायिकस्थितिशेषाणां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म्म भवतीति गाथार्थः ॥१६९॥

(मलय०)—तदेव विशेषितं भावयति—उद्वलनप्रकृतीनां—आहारकसप्तकवैक्रियसप्तकदेवद्विकमनुजद्विकनरकद्विकसम्यक्त्वसम्यग्मि-
थ्यात्वोच्चैर्गोत्रानन्तानुबन्धिरूपाणां सप्तविंशतिसंख्यानां स्तोकाद्धामर्जितानां—स्तोककालमुपचितानां स्वस्वोद्वलनायां यदैकास्थितिर्द्वि-
सामयिकी स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना तदा तासां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। एतदपि सामान्येनोक्तम्, अतोऽत्रैव विशेषमाह—'चिरकालं

पालिया अंते' चिरकालं सम्यक्त्वं परिपाल्यान्ते अनन्तानुबन्धिनां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म वक्तव्यं, इयमत्र भावना-इह क्षपितकर्मांशेन
सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः, ततः पुनरपि मिथ्यात्वं गतेनान्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदनन्तानुबन्धिनो बद्धाः, ततो
भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, तच्च सम्यक्त्वं द्वे षट्षष्टीसागरोपमाणां यावदनुपाल्य क्षपणार्थमभ्युद्यतः, तस्यानन्तानुबन्धिनः, क्षपयतो
यदा स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना, कर्मत्वसामान्यमात्रापेक्षया तु द्विसमयावस्थाना स्थितिरेका शेषीभवति, तदा तत्तेषां जघन्यं
प्रदेशसत्कर्म॥ तथा द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमाणां शतं यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्य पश्चान्मिथ्यात्वं गतो मन्दोद्वलनया च पल्योपमासं-
ख्येयभागप्रमाणया सम्यक्त्वमिश्रे उद्वलयितुमारभते, उद्वलयंश्च तद्दलिकं मिथ्यात्वे संक्रमयति, सर्वसंक्रमेण चावलिकाया उपरितनं
सकलमपि दलिकं संक्रमितं, आवलिकागतं तु दलिकं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति, संक्रमयतश्च यदैकास्थितिः स्वरूपापेक्षया समय-
मात्रावस्थाना, कर्मत्वमात्रमधिकृत्य द्विसमयावस्थाना तदा तयोः सम्यक्त्वमिश्रयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। तथा नरकद्विकदेवद्विकवैक्रिय-
सप्तकरूपं प्रकृत्येकादशकं पूर्वं क्षपितकर्मांशेन सतोद्वलितं, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्बद्धं, ततोऽप्रतिष्ठाने नरके त्रयस्त्रिंशत्सा-
गरोपमाणि यावद्विपाकतः संक्रमतश्च यथायोगमनुभूतं, ततो नरकादुद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पद्य, तत्र च तथाविधाध्यवसा-
याभावतः प्रस्तुतस्य प्रकृत्येकादशकस्य बन्धमकृत्वैकेन्द्रियो जातः, एकेन्द्रियेण च सता तत्प्रकृत्येकादशकं चिरोद्वलनयोद्वलयितुमारब्धं,
उद्वलयतश्च यदैकास्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना भवति, अन्यथा तु द्विसमयावस्थाना, तदा तस्य प्रकृत्येकादशकस्य प्रस्तुतस्य
जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। तथा क्षपितकर्मांशेन सूक्ष्मत्रसेन पूर्वं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं चोद्वलितं, ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियेण पृथिव्यादिना सता
अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद् भूयोऽपि बद्धं, ततस्तेजोवायुषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च चिरोद्वलनयोद्वलयितुं लग्नः, उद्वलयतश्च यदैका स्थि-

तिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति,तदा तयोर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । आहारकसप्तकगतं तु विशेषमनन्तरं वक्ष्यति ॥

अंतिमलोभजसाणं असेढिगाहापवत्तअन्तंमि । मिच्छत्तगए आहारगस्स सेसाणि नियगंते ॥१७०॥

(स्वो०)—सञ्ज्वलनलोभयशःकीर्त्योरश्रेणीगते–उभयश्रेणीवर्जिते, क्षपितकर्मांशे यथाप्रवृत्तकरणान्तसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म्म भवति। श्रेणीगतस्य गुणसंक्रमेण प्रभूतदलता भवति, सा च नेष्यते, जघन्येनाधिकार इति कृत्वा । आहारकसप्तकस्य स्वल्पाद्धायोगैर्बद्धस्य मिथ्यादृष्टिना मन्दोद्वलनया उद्वलितस्य द्विसामयिकस्थितिशेषस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति, शेषाणां स्वान्तसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवति। अन्ये तु ऊचुः–तीर्थकरस्य स्वल्पयोगेन प्रथमसमयबद्धस्य या लता सा जघन्यं प्रदेशसत्कर्म भवतीति गाथार्थः ॥१७०॥

॥ उत्तं जहण्णसामित्तं ॥

(मलय०)—अन्तिमलोभः–संज्वलनलोभस्तस्य, यशःकीर्त्तेश्चाश्रेणिगे–उपशमश्रेणिरहिते येन पूर्वमुपशमश्रेणिर्न कृता तस्मिन्, क्षपितकर्मांश इत्यर्थः, यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, मोहोपशमे हि क्रियमाणे प्रभूतं गुणसंक्रमेण दलिकमवाप्यते, न च तेन प्रयोजनं, अतोऽश्रेणिगे इत्युक्तम् । तथा आहारकसप्तकस्य मिथ्यात्वं गते जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, इयमत्र भावना–यदा कोऽपि स्तोककालमाहारकसप्तकं बद्ध्वा मिथ्यात्वं गच्छति, मिथ्यात्वं गतश्च चिरोद्वलनयोद्वलयति, तदा तस्य पर्यन्तसमये यैका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति, सा तस्याहारकसप्तकस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म। शेषाणां तु प्रकृतीनां क्षपितकर्मांशस्य स्वस्वक्षयसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म द्रष्टव्यम् ॥१७०॥

उक्तं जघन्यप्रदेशस्वामित्वमिति । इदानीं प्रदेशसत्स्थानविकल्पप्ररूपणायाह—

चरमावलिप्पविट्ठा गुणसेढी जासि अत्थि न य उदओ। आवलिगा समयसमा तासिं खलु फड्डगाइं तु ॥

(स्वो०)—'चरमावलिका' कर्मस्थित्यन्तावलिका, तस्यां प्रविष्टा गुणश्रेणी यासां प्रकृतीनां अस्ति, न चोदयोऽस्ति, तासामावलिका समयसमा—आवलिकासमयसमानि—तुल्यानि, खलु शब्दोऽलङ्कारे, फड्डकानि भवन्ति, तुशब्द एवकारार्थः, आवलिकातुल्यान्येवेति गाथार्थः ॥१७१॥

(मलय०)—तदेवमुक्तं जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम्। अथ प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्द्धकप्ररूपणामाह—चरमा—सर्वान्तिमा या क्षपणकाले आवलिस्तां प्रविष्टा गुणश्रेणिर्यासां प्रकृतीनामस्ति, न चोदयः, तासां स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वद्वादशकषायनरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपाणामेकोनत्रिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनामावलिकायां यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्द्धकानि भवन्ति। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, तुरेवकारार्थः, आवलिकासमयसमान्येवेत्यर्थः। इयमत्र भावना—अभव्यप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मयुक्तस्त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च सर्वविरतिं देशविरतिं चानेकशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य भूयोऽप्येकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च पल्योपमासंख्येयभागमात्रं कालं यावत्स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च क्षपणाय शीघ्रमभ्युद्यतः, तस्य चरमे स्थितिखण्डके अपगते सति चरमावलिकायां स्तिबुकसंक्रमेण क्षीयमाणायां यदैका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति, तदा सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं सत्कर्मप्रदेशस्थानम्। तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सत्यन्यद् द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति, ततो द्वयोः परमाण्वोः प्रक्षिप्तयोरन्यत्तृतीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, त्रिषु परमाणुषु प्रक्षिप्तेष्वन्यत्, एवमेकैकपरमाणुप्रक्षेपेण प्रदेशसत्कर्मस्थानानि नानाजीवापेक्षयानन्तानि तावद्वाच्यानि, यावत्तस्मिन्नेव चरमे स्थितिविशेषे गुणितकर्मांशस्यो-

त्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति, अत ऊर्ध्वमन्यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं न प्राप्यते, इदमेकं स्पर्द्धकं, इदं तु चरमस्थितिमधिकृत्योक्तम्। एवं द्वयोश्चरमस्थित्योर्द्वितीयं स्पर्द्धकं वक्तव्यं, तिसृषु च स्थितिषु तृतीयं, एवं तावद्वाच्यं यावत्समयोनावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानि भवन्ति। तथा चरमस्य स्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादिं कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि तावद्वक्तव्यानि, यावदात्मीयमात्मीयमुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म। तत एतावदेतदपि सकलस्थितिगतं यथासंभवमेकं स्पर्द्धकं विवक्ष्यते, तत एतेन स्पर्द्धकेन सहावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानि भवन्ति ॥१७१॥

स्पर्द्धकप्ररूपणायाह—

सव्वजहन्नपएसे पएसवुड्ढीएणंतया भेया। ठिइठाणे ठिइठाणे विन्नेया खवियकम्माओ ॥१७२॥

(स्वो०)—सर्वजघन्याः 'प्रदेशाः' परमाणवो यस्मिन् स्थाने तत्तथा, तस्मिन् सर्वजघन्यप्रदेशस्थाने प्रदेशवृद्ध्या, निरन्तराणि अनन्तस्थानानि भवन्ति, तस्मिन् जघन्ये एकपरमाणुप्रक्षेपादेको भेदो, द्विप्रक्षेपात् द्वौ, त्रिभिस्त्रय, एवमनन्ताः स्थानभेदाः, अस्यागेवैकस्थितौ कालत्रिभागे भवन्ति। एवं स्थितौ स्थितौ समये समये 'विज्ञेया' मन्तव्याः। क्षपितकर्मांशादारभ्य स एव निरूप्यते—ग्रन्थिकसत्त्वप्रायोग्यजघन्यकर्मा त्रसेषूपपन्नः, तत्र देशविरतिं सर्वविरतिं च बहुधा कृत्वा चत्वारो वारा मोहनीयमुपशमय्य स्थावरत्वं पल्योपमासंख्येयभागमनुभूय, भूयः त्रसेष्वागतस्तत्र क्षपणायोत्थितः स क्षपितकर्मांशः, तस्यान्तकण्डके गते आवलिकायामपि द्विसामयिकस्थितिशेषायां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म्म भवति, एतस्यामेव स्थितौ प्रदेशोत्तराणि अनन्तानि प्रदेशस्थानानि लभ्यन्ते, यावद् गुणितकर्मांशप्रायोग्यमुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानमेतान्येकं स्पर्द्धकमिति। एवं द्वाभ्यां स्थितिभ्यां द्वे, तिसृभिस्त्रीणि, चतसृभिः चत्वारि स्पर्द्धकानि,

प्रदेशसत्कर्म स्थानप्ररूपणार्थं स्पर्द्धक प्ररूपणा

यावत्समयोनावलिकाप्रमाणानि भवन्तीति गाथार्थः ॥१७२॥

(मलय०)—एतदेव स्पर्द्धकलक्षणं दर्शयति–स्थितिस्थाने स्थितिस्थाने एकसामयिके, द्विसामयिके, त्रिसामयिके, यावत्समयोनावलिकासमयप्रमाणात्मके, किमुक्तं भवति? एतेषु सर्वेष्वपि स्थितिस्थानेषु प्रत्येकं क्षपितकर्मणः क्षपितकर्मांशाद् यल्लभ्यते सर्वजघन्यप्रदेशं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तस्मिन् प्रदेशवृद्ध्या–एकैकपरमाणुवृद्ध्या अनन्ता भेदा विज्ञेयाः, नानाजीवापेक्षयाऽनन्तानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि लभ्यन्त इत्यर्थः, तद्यथा–क्षपितकर्मांशस्य यत्सर्वजघन्यप्रदेशं प्रदेशसत्कर्मस्थानं तत्प्रथमं, तत एकपरमाण्वधिकं द्वितीयं, द्विपरमाण्वधिकं तृतीयं, एवं तावद्वाच्यं यावद्गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टप्रदेशं सर्वान्तिमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । तदेवमेकैकस्मिन् स्थितिस्थाने अनन्तानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि प्राप्यन्ते, ततो यावन्त्येकसामयिकादीनि स्थितिस्थानानि तावन्ति स्पर्द्धकानि भवन्ति ॥१७२॥

एगट्ठिइयं एगाए फड्डुगं दोसु होइ दोट्ठिइगं । तिगमाईसुवि एवं नेयं जावंति जासिं तु ॥१७३॥

(स्वो०)—एकस्यां स्थितौ यत्स्पर्द्धकं तदेकस्थितिकं द्वयोर्द्विस्थितिकं त्र्यादिष्वपि एवं ज्ञेयम् । यासां प्रकृतीनां यावन्त्यः स्थितयः तावत् स्थितिकं स्पर्द्धकम् । अथवैकमुत्कृष्टमुच्यत इति गाथार्थः ॥१७३॥

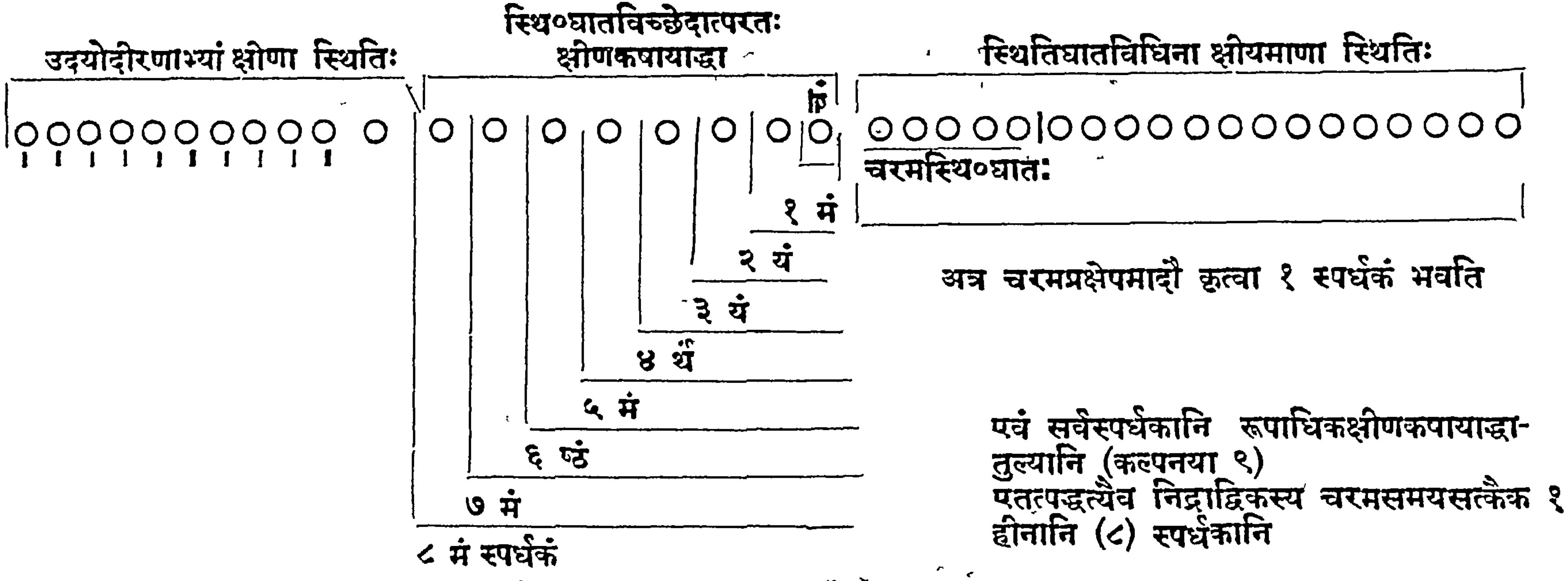
(मलय०)—एतदेवाह–एकस्यां स्थितौ क्षयसमये शेषीभूतायां नानाजीवापेक्षयाऽनन्तानि प्रदेशसत्कर्मस्थानान्युक्तप्रकारेण यतो लभ्यन्ते ततस्तदात्मकं, तत एकस्थितिकं नाम स्पर्द्धकं, द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोर्द्विकस्थितिकं भवति, एवमुक्तं भवति–एवमुक्तप्रकारेण यासां प्रकृतीनां यावन्ति स्पर्द्धकानि सम्भवन्ति, तासां त्र्यादिषु स्थितिषु तावन्ति स्पर्धकानि वाच्यानि ॥१७३॥

आवलिमेत्तुक्कोसं फड्डुगमोहस्स सव्वघाईणं । तेरसनामतिनिद्दाण जाव नो आवली गलइ ॥१७४॥

(स्वो०)—आवलिकासमयमात्रस्पर्द्धकमुत्कृष्टं मोहनीयस्य सर्वजघन्यादारभ्य द्वादशाद्यकषायमिथ्यात्वनामत्रयोदशस्त्यानर्द्धित्रिकाणां एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपणसमये उदयो नास्ति, यावन्नावलिका गलति–न क्षीयते, नान्यत्र प्रक्षिप्यते तावत्समयमानं स्पर्द्धकं भवतीति गाथार्थः ॥१७४॥

(मलयस)—उक्तं स्पर्द्धकलक्षणम् । सम्प्रति यदुक्तं प्राक् 'आवलिकासमयसमा तासिं खलु फड्डगाइं तु' त्ति–तदेतत्साक्षात्प्रकृतिनिर्देशपुरस्सरं विभावयिपुरुत्कृष्टं स्पर्द्धकमाह–मोहस्य–मोहनीयस्य सत्कानां सर्वघातिनीनां–मिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायरूपाणां त्रयोदशानां प्रकृतीनां, त्रयोदशानां च नरकद्विकतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणाख्यानां नामप्रकृतीनां, तिसृणां निद्राणां–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपाणां सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां यावदावलिका–चरमावलिका, न गलति–नान्यत्र प्रक्षेपवशतो हीयते, तावदावलिकामात्रं समयोनावलिकाप्रमाणमुत्कृष्टस्पर्द्धकं प्राप्यते, एकस्यां तु स्थितौ शेषीभूतायां सर्वजघन्यं, द्वित्रादिकासु शेषीभूतासु मध्यममिति । यथा च मोहनीयसर्वघातिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकाणामावलिकासमयसमानि स्पर्द्धकानि, तथा क्षीणकपायान्तानामुदयवतीनां प्रकृतीनां क्षीणकषायाद्धासंख्येयभागवर्त्तिसमयप्रमाणान्येकस्पर्द्धकाधिकानि, निद्राप्रचलयोस्त्वेकस्पर्द्धकहीनानि भवन्ति, तथाहि–क्षीणकषायगुणस्थानके च वर्त्तमानः क्षपितकर्मांशः क्षीणकषायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् संख्येयतमे भागेऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽवतिष्ठमाने ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्त्तनयापवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, निद्राप्रचलयोस्त्वेकसमयहीनं, यतस्तयोश्चरमसमये स्वस्वरूपेण दलिकं न प्राप्यते, किन्तु परप्रकृतिरूपेण, तेन तयोः स्थितिसत्कर्मैकसमयहीनं क्रियते, तदानीं च स्थितिघातादयो निवृत्ताः, यदपि

ज्ञानावरणादि १४ प्रकृतीनां प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम् (निद्राद्विकस्याऽपि)



प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्धकप्ररूपणा

च क्षीणकषायाद्धासमं स्थितिसत्कर्म कृतं, तदपि क्रमेण यथासम्भवमुदयोदीरणाभ्यां क्षयमुपगच्छत्तावद्वक्तव्यं यावदेका स्थितिः शेषीभवति, तस्यां च क्षपितकर्मांशस्य यत्सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, इदमेकं स्पर्द्धकं। द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोरुक्तप्रकारेण द्वितीयं स्पर्द्धकं, तिसृषु स्थितिषु शेषीभूतासु तृतीयं स्पर्द्धकं, एवं क्षीणकषायाद्धासमीकृते स्थितिसत्कर्मणि यावन्तः स्थितिविशेषास्तावन्ति स्पर्द्धकानि भवन्ति, चरमस्य च स्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि तावद्वाच्यानि, यावदात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, तत एतदपि सकलस्थितिगतमेकं स्पर्द्धकं द्रष्टव्यम् , तत एकेन स्पर्द्धकेनाधिकानि ज्ञानावरणपञ्चकादीनामुदयवतीनां प्रकृतीनां क्षीणकषायाद्धासंख्येयभागसमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानि। निद्राप्रचलयोस्तु द्विचरमस्थितिमधिकृत्य स्पर्द्धकानि भावनीयानि, चरमसमये तद्दलिकस्याप्राप्यमाणत्वात् , तत एकेन चरमस्थितिगतेन स्पर्द्धकेन हीनानि तयोः स्पर्द्धकानि भवन्ति ॥१७४॥

खीणद्धासंखंसं खीणंताणं तु फड्डगुक्कोसं। उदयवईणेगहियं निद्दाणं एगहीणं तं ॥१७५॥

(स्वो०)—क्षीणकषायाद्धायाः संख्येयभागतुल्यं क्षीणकषायान्तानां उत्कृष्टं स्पर्द्धकम् , असंख्येयस्पर्द्धकात्मकत्वात्। जघन्यं प्राग्वत् , जघन्यदलैकस्थित्यात्मकमवसेयम्। उदयवतीनां एकस्थित्याऽभ्यधिकं ज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्काणां चतुर्दशानां क्षीणकषायशेषकालसमं, निद्राप्रचलयोस्तदपेक्षया एकस्थित्या हीनं, तयोस्तदाऽनुदयमिति कृत्वा, जघन्यं द्विसामयिका एका स्थितिरिति गाथार्थः ॥१७५॥

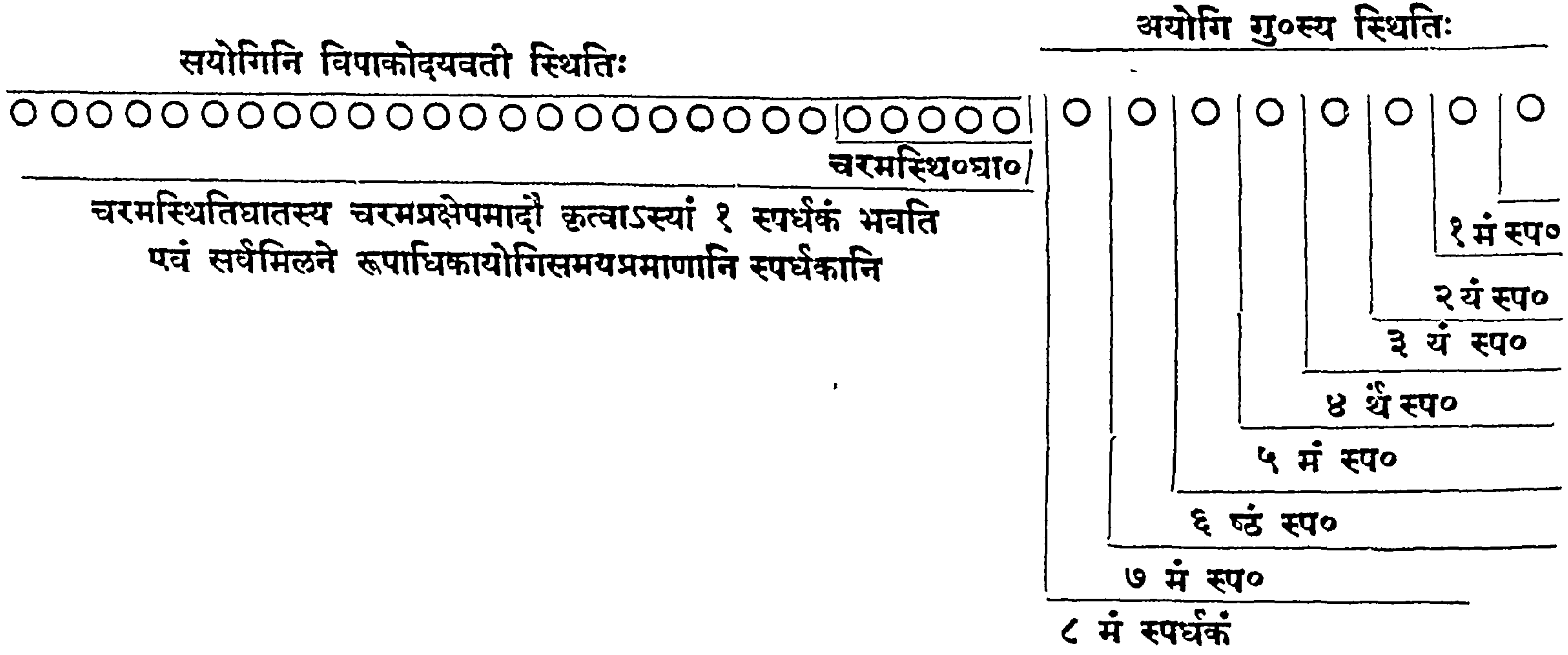
(मलय०)—तथा चाह—क्षीणान्तानां—क्षीणकषायान्तानां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां स्पर्द्धकोत्कर्षः क्षीणाद्धासंख्येयांशः, सामस्त्येन सर्वाणि स्पर्द्धकानि क्षीणकषायाद्धासंख्येयभागवर्त्तिसमयप्रमाणानि, सूत्रे च नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्। कथम्भूतः स एवंरूपः स्पर्द्धकोत्कर्षः? इत्याह—'एगहियं'ति—एकेन स्पर्द्धकेनाधिकः, किमुक्तं भवति? चरमस्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादौ कृत्वा, यदुक्तं प्रागेकं स्पर्द्धकं, तेनाधिकानि क्षीणकषायाद्धासंख्येयभागवर्त्तिसमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानीति, द्वयोर्निद्रयोः—निद्राप्रचलारूपयोः, स एव स्पर्द्धकोत्कर्ष एकहीन एकस्पर्द्धकहीनः, चरमसमये तद्दलिकस्याप्राप्यमाणतया तद्गतस्पर्द्धकेन हीनत्वात् ॥१७५॥

अज्जोगिसंतिगाणं उदयवईणं तु तस्स कालेणं। एगाहिगेण तुल्लं इयराणं एगहीणं तं ॥१७६॥

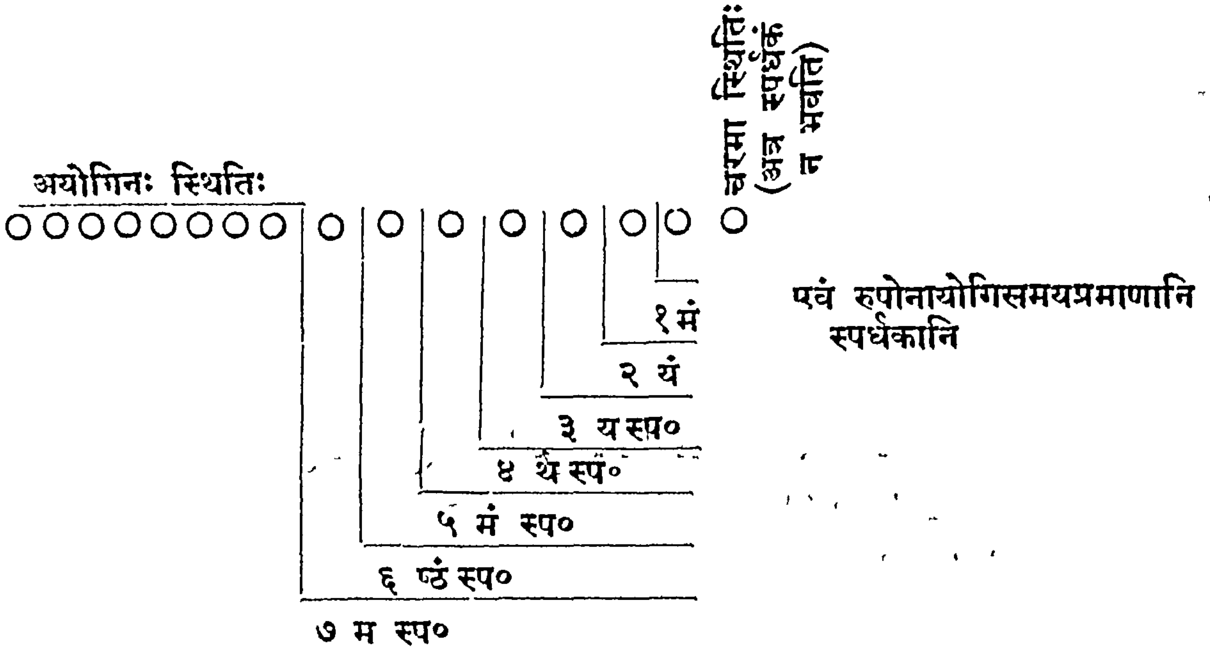
(स्वो०)—अयोगिनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्प्रकृतयः, तासां अयोगिकालं तत्समयप्रमाणं उत्कृष्टं स्पर्द्धकं, जघन्यप्रदेशैकस्थित्यात्मकं जघन्यं, उदयवतीनां [यशोवर्जितानां] नामनवप्रकृतीनां (मनुष्यायुष उच्चैर्गोत्रस्य) सातासातान्यतरस्य च। अनुदयवतीनां तु नवत्रयोदशोद्वलनविंशतिवर्जितानां नामैकषष्टिनीचर्गोत्राणां तदेवोत्कृष्टमेकस्थितिहीनं, तासां तत्रानुदयत्वात्, एका स्थितिः स्तिवुकसंक्रमेण उदयवतीषु संक्रामयतीति गाथार्थः ॥१७६॥

(मलय०)—अयोगिकेवलिनि सत्ता यासां ता अयोगिकेवलिसत्ताकाः तासामुदयवतीनां—मनुष्यगतिमनुष्यायुष्पञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेयपर्याप्तबादरतीर्थकरयशःकीर्त्तिसातासातान्यतरवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वादशसंख्याकानां प्रकृतीनां स्पर्द्धकोत्कर्षस्तस्यायोगिकेवलिनः कालेन तुल्य एकेन स्पर्द्धकेनाधिकः, एतदुक्तं भवति—अयोगिकाले यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्द्धकान्येकेन स्पर्द्धकेनाधिकानि

अयोगिन्युदयवतीनां प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम्



अयोगिन्यनुदयवतीनां प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम्



भवन्ति, कथम्? इति चेत्, उच्यते–अयोगिकेवलिनः क्षपितकर्मांशस्य चरमसमये यत्सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, एवं नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तराणि तावत्प्रदेशसत्कर्मस्थानानि द्रष्टव्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, इदमेकं स्पर्द्धकम्। तत एवमेव द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोर्द्वितीयस्पर्द्धकं, तिसृषु स्थितिषु शेषीभूतासु तृतीयस्पर्द्धकं, एवं निरन्तरं तावदवगन्तव्यं यावदयोगिप्रथमसमयः।

तथा सयोगिकेवलिचरमसमये चरमस्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादिं कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि निरन्तरं यथोत्तरवृद्ध्या तावद्वक्तव्यानि यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, तत एतदपि सकलस्थितिगतं यथासंभवमेकं स्पर्द्धकं तेनाधिकान्ययोगिसमयप्रमाणान्युदयवतीनां स्पर्द्धकानि। इतरासां त्वनुदयवतीनामयोगिसत्ताकानां त्र्यशीतिसंख्याकानां प्रकृतीनां स एव स्पर्द्धकोत्कर्ष एकहीन-एकस्पर्द्धकहीनो वक्तव्यः, किमुक्तं भवति? यावन्त्युदयवतीनामयोगिसत्ताकानां प्रकृतीनां स्पर्द्धकानि तान्येवानुदयवतीनामपि, केवलमेकेन चरमस्थितिगतेन स्पर्द्धकेन हीनानि, चरमसमये तासां दलिकस्याप्राप्यमाणत्वात् ॥१७६॥

ठिइखंडाणइखुड्डं खीणसजोगीण होइ जं चरिमं। तं उइयवईणहियं अन्नगए तूणमियराणं ॥१७७॥

(स्वो०)—स्थितिखण्डघाते क्रियमाणे खण्डानां यच्चरमं स्थितिखण्डं तदतिक्षुद्रं जघन्यं भवति, क्षीणकषायसयोगिनां तदुदयवतीनामेकस्थित्याभ्यधिकम्, अनुदयवतीनां तु संक्रान्तस्थित्या हीनं इति गाथार्थः ॥१७७॥

(मलय०)—यदुक्तमुदयवतीनां क्षीणकषायान्तानामयोगिसत्ताकानां च यथोक्तप्रमाणानि स्पर्द्धकान्येकेन स्पर्द्धकेनाधिकानि, अनुदयवतीनां त्वेकेन स्पर्द्धकेन हीनानीति तद्विभावयिषुराह-ज्ञानावरणपञ्चकादीनां प्रकृतीनां क्षीणकषायस्य, अयोगिसत्ताकानां तु प्रकृतीनां सयोगिकेवलिनः स्थितिघातादि कुर्वतश्चरमे स्थितिखण्डक उत्कीर्यमाणे यानि स्थितिखण्डानि-प्रकृत्यन्तरेषु दलिकप्रक्षेपास्तेषां मध्ये यदतिक्षुल्लं चरमखण्डं-योऽतिस्तोकश्चरमः प्रक्षेपस्तमादौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या यानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि लभ्यते, यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, एतदात्मकं यदेकमन्यत्स्पर्द्धकं लभ्यते, तदुदयवतीनां क्षीणकषायान्तानामयोगिसत्ताकानां चाधिकमवगन्तव्यम्, इतरासां-त्वनुदयवतीनां चरमसमये यदन्यत्रोदयवतीषु स्तिबुकसंक्रमेण गतं दलिकं, तदात्मकेन स्पर्द्धकेन हीनं

स्पर्द्धकजातं द्रष्टव्यम् ॥१७७॥

जं समयं उदयवई खिज्जइ दुच्चरिमयन्तु ठिइठाणं । अणुदयवइए तम्मी चरिमं चरिमंमि जं कमइ ॥

(स्वो०)—यस्मिन्नवसरे उदयवत्या 'क्षीयते' अनुभूयते, 'द्विचरमम्' उपान्त्यस्थितिस्थानम् , अनुदयवतीनां तस्मिन् काले चरमं स्थितिस्थानं चरमे उदयवतीनां स्थितिस्थाने 'यतो यस्मात् 'क्रामति' संक्रमत्यतोऽनुदयवत्यः एकया स्थित्या हीना भवन्तीति गाथार्थः ॥१७८॥

(मलय०)—एतदेव स्पष्टं भावयति–यस्मिन् समय उदयवत्याः प्रकृतेर्द्विचरमं स्थितिस्थानं क्षीयते–क्षयमुपगच्छति तस्मिन् समयेऽनुदयवत्याश्चरमं स्थितिस्थानं क्षयमुपयाति, कस्मात्? इति चेत्, अत आह–यद्–यस्मात्कारणाच्चरमे समयेऽनुदयवतीनां प्रकृतीनां दलिकमुदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति, तत उदयवतीनां द्विचरमसमय एवानुदयवत्यः क्षयमुपनीयन्ते, तदितश्चरमसमयेऽनुदयवतीनां दलिकं न प्राप्यते, तेन तद्गतेन स्पर्द्धकेन हीनं तासां स्पर्द्धकजातमिति ॥१७८॥

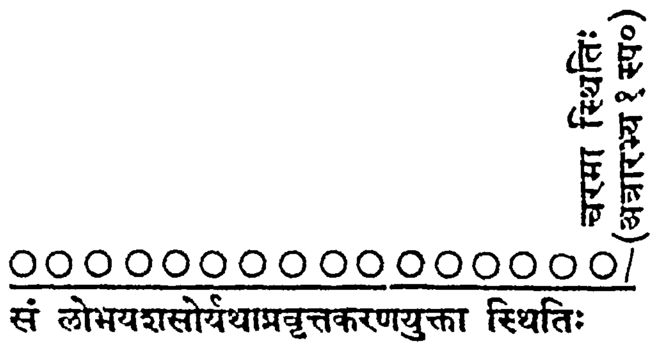
जावइयाउ ठिईओ जसंतलोभाणहापवत्तंते । तं इगिफड्डं संते जहन्नयं अकयसेढिस्स ॥१७९॥

(स्वो०)—यावन्त्यः स्थितयो यशःसंज्वलनलोभयोर्यथाप्रवृत्तकरणान्तसमये क्षपितकर्मांशस्य तदेकं स्पर्द्धकं (स्थानं) जघन्यं प्रदेशसत्कर्मणो भवन्ति, तच्चाकृतश्रेणीजीवस्य, श्रेण्यां गुणसंक्रमसद्भावाज्जघन्यं न भवति, ततः प्रदेशोत्तराणि अनन्तानि प्रदेशसत्स्थानानि भवन्ति यावद् गुणितकर्मांशयोग्यमिति गाथार्थः ॥१७९॥

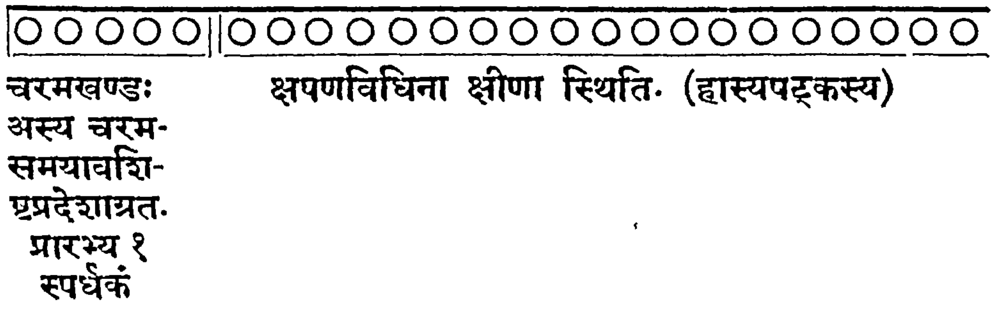
(मलय०)—संज्वलनलोभयशःकीर्त्योरन्यथाप्येकं स्पर्द्धकं लभ्यते इति तद्दर्शयति–कश्चिदभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु

मध्ये समुत्पन्नः, तत्र चतुष्कृत्वो मोहोपशममन्तरेण शेषाभिः क्षपितकर्मांशक्रियाभिः कर्मदलिकं प्रभूतं क्षपयित्वा, चिरकालं संयममनुपाल्य क्षपणायोत्थितः, तस्य यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये यावत्यः स्थितयः 'संते' इति भावप्रधानो निर्देशः, सत्तायां वर्तन्ते, तत्सर्वं जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, ततस्तस्मादारभ्य नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि, तस्मिन्नेव यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये तावद्वाच्यानि, यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं संज्वलनलोभयशःकीर्त्योरेकं स्पर्द्धकं लभ्यते, अकृतश्रेणिकस्येति त्रसभवेष्वकृतोपशमश्रेणीकस्य, उपशमश्रेणिकरणे हि प्रभूतानां प्रकृत्यन्तरदलिकानां गुणसंक्रमेणागमः संभवति, ततो जघन्यं प्रदेशसत्कर्म न प्राप्यते, इत्यकृतश्रेणिकस्येत्युक्तम् ॥१७९॥

सं० लोभयशसोः प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम्



हास्यषट्कस्य प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम्



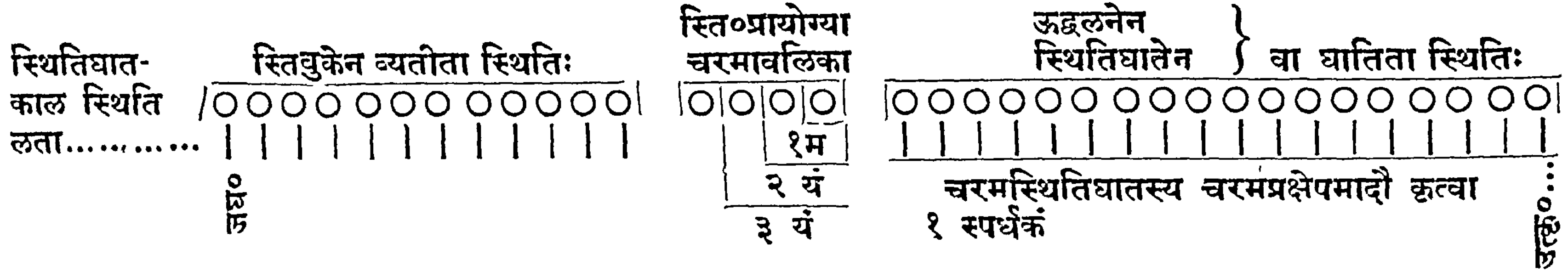
प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्द्धकप्ररूपणा

अणुदयतुल्लं उव्वलणिगाण जाणिज्ज दीहउव्वलणे। हासाईणं एगं संछोभे फड्डुगं चरमं ॥१८०॥

(स्वो०)—अनुदयतुल्यमुद्वलनप्रकृतीनां जघन्यं स्पर्द्धकं, कथं? सूक्ष्मनिगोदेषु कर्मस्थितिमनुपाल्य त्रसत्वे सम्यक्त्वं देशविरतिं च सर्वविरतिं च बहुधाऽनुपाल्य चत्वारो वारा मोहनीयमुपशमय्य द्वे षट्षष्ठीसागरोपमाणां सम्यक्त्वमनुपाल्य मिथ्यात्वं गतः, ततः दीर्घोद्वलनया उद्वलमानस्य चरमखण्डकावसाने उदयावलिकायाः परिगलमानायाः द्विसामयिकी एका स्थितिरवशेषा यावज्जघन्यं स्पर्द्धकं, ततः प्रदेशवृद्ध्या अनन्तानि सत्स्थानानि यावदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म सम्यक्त्वस्य भवति, एवं सम्यग्मिथ्यात्वस्यापि। शेषोद्वलनानां सम्यक्त्वकालं विहाय शेषं तथैव वक्तव्यम्। हास्यादिषट्कस्य यश्चरमसंछोभः क्षपितकर्मांशस्य जघन्यं स्पर्द्धकमिति ततः प्रदेशवृद्ध्याऽनन्तानि प्रदेशसत्स्थानानि यावदुत्कृष्टं प्रदेशस्पर्द्धकमिति गाथार्थः ॥१८०॥

(मलय०)—तथा–उद्वलनप्रकृतीनां त्रयोविंशतिसंख्याकानां दीर्घोद्वलने–चिरोद्वलने क्रियमाणे स्पर्द्धकजातम् अनुदयतुल्यम्–अनुदयप्रकृतितुल्यं जानीहि, किमुक्तं भवति? यथा प्रागनुदयवतीनां प्रकृतीनामावलिकासमयसमानि स्पर्द्धकान्युक्तानि, तथोद्वलनप्रकृतीनामपि भावनीयानि, तत्र सम्यक्त्वस्य भावना क्रियते–अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकवारान् लब्ध्वा चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमाणां शतं सम्यक्त्वमनुपाल्य मिथ्यात्वं गतः, ततश्चिरोद्वलनया सम्यक्त्वमुद्वलयतो यदा चरमखण्डं संक्रान्तमेकावशेषीभूतावलिका तिष्ठति, तामपि च स्तिबुकसंक्रमेण मिथ्यात्वे संक्रमयतो यैका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभूताऽवतिष्ठते सा सम्यक्त्वस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, ततो नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्तस्मिन्नेव चरमस्थितिस्थाने गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं

२९ अनुदयवतीनाम्
२३ उद्वलनयोग्यानां च } प्रदेशसत्तास्पर्धकस्य चित्रम्



अत्र आवलिका ४ समयात्मिका
० व्यतीता स्थितिः
| स्थितिसंग्राहिका रेखा

एवं चरमावलिकायामेकोनावलिकाप्रमाणानि स्पर्धकानि यथा–३, चरमप्रक्षेपमादौ कृत्वा स्पर्धकमेकं च मिलने संपूर्णावलिका प्रमाणानि (४) स्पर्धकानि जातानि

प्रदेशसत्कर्मस्थानं, इदमेकं स्पर्द्धकं, द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोर्द्वितीयं स्पर्द्धकं, एवं तावद्वाच्यानि यावत्समयोनावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानि, एकं स्पर्द्धकं चरमस्य स्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादौ कृत्वा प्रागुक्तप्रकारेण प्राप्यते, तेनावलिकासमयप्रमाणानि सम्यक्त्व-स्पर्द्धकानि भवन्ति, एवं सम्यग्मिथ्यात्वस्यापि वाच्यानि। एवमेव शेषाणामपि वैक्रियैकादशकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणा-

मेकविंशतिप्रकृतीनामुद्वलनायोग्यानां, नवरं तासां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतकालो मूलत एव न वक्तव्यः, यत्पुनरुक्तं कर्मप्रकृतावेकस्पर्द्धकमुद्वलनप्रकृतीनामिति तदुपलक्षणपरं द्रष्टव्यम्, न शेषस्पर्द्धकप्रतिषेधपरमिति ॥ हस्यादीनां षण्णां प्रकृतीनां संछोभे–क्षेपे एकं स्पर्द्धकं भवति, तच्चैवं–अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य, स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ च भूयो बन्धेन हास्यादिदलिकसंक्रमेण च प्रभूतमापूर्य मनुष्यो जातः, तत्र च चिरकालं संयममनुपाल्य क्षपणायोत्थितः तस्य चरमसमये यद् विद्यमानं प्रत्येकं हास्यादिप्रकृतीनां प्रदेशसत्कर्म तत्सर्वजघन्यं, ततस्तस्मादारभ्य नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म, एवमेकैकं हास्यादिप्रकृतीनां प्रत्येकं स्पर्द्धकं भवति॥१८०॥

बन्धावलियाईयं आवलिकालेण बीइठिइहिंतो । लयठाण लयठाणं नासेई संकमेणं तु ॥१८१॥
संजलणातिगे दुसमयहीणा दो आवलीण उक्कोसं । फड्डं बिईय ठिइए पढमाए अणुदयावलिया ॥
आवलियदुसमऊणामेत्तं फड्डं तु पढमठिइविरमे । वेयाण वि बे फड्डा ठिइदुगं जेण तिण्हं हि ॥१८३॥

(स्वो०)—बद्धस्य कर्मणः 'आवलिका' बन्धावलिका, सा 'व्यतीता' अतिक्रान्ता यस्य तत्कर्म बन्धावलिकातीतं, तच्चान्येनावलिकामात्रेण कालेन द्वितीयस्थितिस्थानेभ्यः लतास्थानं लतास्थानं नाशयति, क्रोधान्माने प्रक्षिपति संक्रामयतीत्यर्थः, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ? प्रथमस्थित्यां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितिखण्डकोदयोदीरणाबन्धाश्चत्वारोऽपि भवन्ति, आवलिकाशेषायां न

सम्भवन्तीति गाथार्थः। 'संज्वलनत्रिके' क्रोधमानमायाख्ये, यदा प्रथमस्थित्यां (समयोन) उदयावलिका शेषा तदा द्वितीयस्थित्यां
द्विसमयोनावलिकाद्विकलता उत्कृष्टस्पर्द्धकसंज्ञा च। सा च प्रथमस्थित्युदयावलिका विपाके न गच्छति, एतदेव भावयति–प्रथमसमय-
क्रोधवेदकेन यद्बद्धं तद् बन्धावलिकातीतं द्वितीयावलिकया संक्रामयति, परप्रकृतिस्वभावेन स्थापयति, द्विचरमसमये क्रोधवेदकेन सर्व-
जघन्ययोगस्थानवर्त्तिना यद्बद्धं कर्म तदपि बन्धावलिकायां गतायां अन्यत्र संक्रामयति, अन्येनावलिकाकालेन संक्रम्यमाणं संक्रम्यमाणं
संक्रामयति, एवं त्रिचरमसमये क्रोधवेदकेन यद्बद्धं तद्बन्धावलिकायां गतायां द्वितीयावलिकया संक्रामयति, एवं यद् यस्मिन् समये
बद्धं तत्तस्मात् समयात् द्व्यावलिकाकालेनाकर्मी भवति, तस्माद् बन्धोदयसमयेन उदयावलिकावर्त्तमानसमयेन च हीनं आवलिकाद्विकं
द्वितीयस्थितौ भवति, प्रथमस्थित्यामा (समयोना) वलिकाशेषायामिति गाथार्थः। द्विसमयहीनावलिकामात्रं स्पर्द्धकं द्वितीयस्थितौ भवति,
प्रथमस्थितिविरमे–तदवसाने, यतः उदयावलिकामात्रेण कालेनावलिकां संक्रामयति, द्विसमयोनावलिका तिष्ठति सा लता जघन्यं स्पर्द्धकं,
तच्च तदवस्थमेव माने संक्रामयति, मानादपि मायायां, मायाया अपि लोभे, एवं तत्प्रदेशवृद्ध्या अनन्तभेदं भवति यावद् गुणितकर्मां-
शोत्कृष्टम्। अथवा योगस्थानद्विकादिसंयोगगुणमसंख्येयभेदं जघन्यमपि भवति। वेदानामपि द्वे स्पर्द्धके प्रथमस्थित्यभिधानं द्वितीय-
स्थित्यभिधानं च, एवं संज्वलनत्रिकवेदत्रिकयोरपि षण्णामपि प्रकृतीनां भवतीति गाथार्थः ॥१८१–८२–८३॥

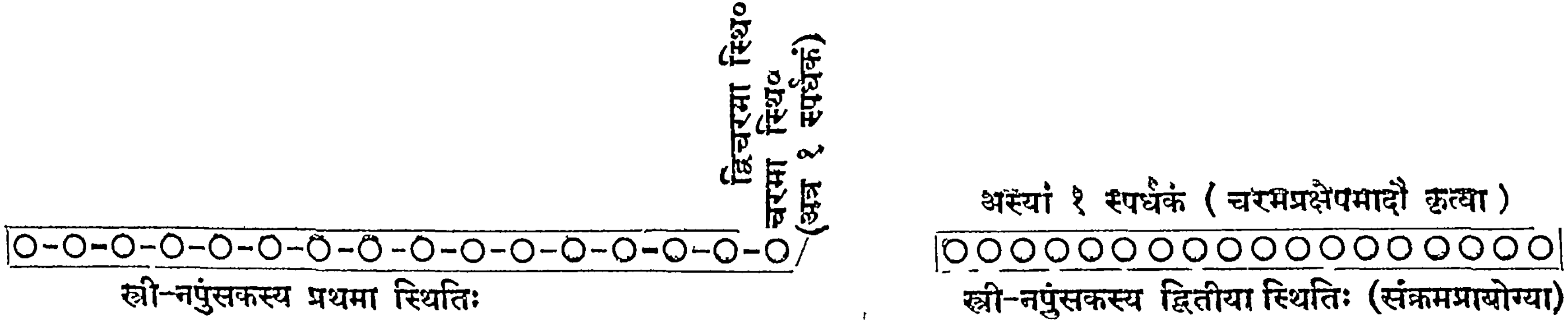
(मलय०)—सम्प्रति संज्वलनत्रिकस्य स्पर्द्धकप्रतिपादनार्थमाह–संज्वलनत्रिकस्य–क्रोधमानमायारूपस्य प्रथमा स्थितिर्यावदावलि-
काशेषा न भवति तावत्स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाः प्रवर्त्तन्ते, आवलिकाशेषायां तु प्रथमस्थितौ व्यवच्छिद्यन्ते, ततोऽनन्तरस-
मये समयोनावलिकागतं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति, अन्यत्सर्वं क्षीणं, तत्र प्रथमस्थितिगतस्य समयोनावलिका-

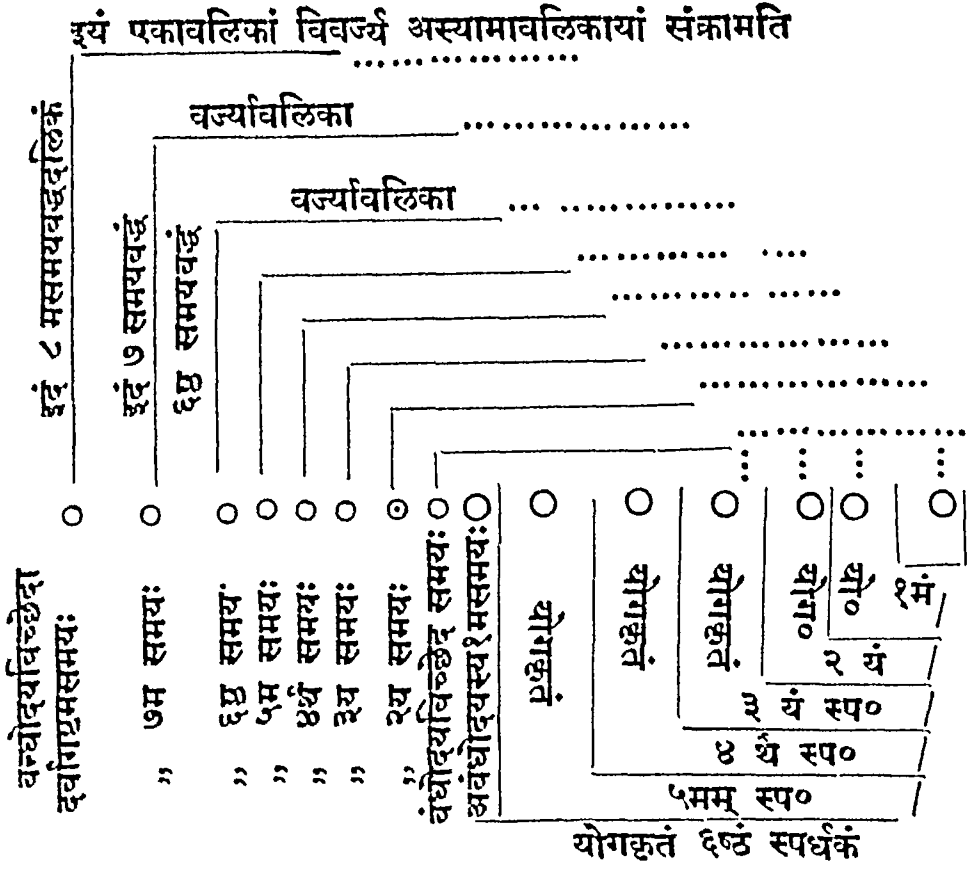
प्रमाणस्य दलिकस्य स्पर्द्धकभावना यथा प्राक् कृता तथा कर्त्तव्या, यच्च समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं सदस्ति, तस्यान्यथा स्पर्द्धकभावना क्रियते, पूर्वप्रकारेणात्र स्पर्द्धकस्याप्राप्यमाणत्वात्, अथोच्येत—कथं स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सदस्ति, न शेषमिति ज्ञायते ? उच्यते—'बन्धावलिय'इत्यादि—इह यदेकेन समयेन बद्धं कर्म तल्लतास्थानमुच्यते, लतास्थानं लतास्थानं बन्धावलिकातीतं सदावलिकामात्रेण कालेन द्वितीयस्थितिभ्यः सकाशात् संज्वलनत्रिके—संज्वलनत्रिकस्य सम्बन्धि संक्रमेण—प्रकृत्यन्तरस्वभावनयनरूपेण नाशयति, तथाहि—चरमसमये क्रोधादिवेदकेन यद् बद्धं दलिकं तद्बन्धावलिकातीतं सदावलिकामात्रेण कालेन संक्रम्यमाणमावलिकाचरमसमये स्वरूपापेक्षयाऽकर्मीभवति, द्विचरमसमये क्रोधादिवेदकेन यद्बद्धं तदपि बन्धावलिकायामतीतायामन्येनावलिकामात्रेण कालेन संक्रम्यमाणमावलिकाचरमसमये स्वरूपमधिकृत्याऽकर्मीभवति, एवं यत्कर्म यस्मिन् समये बद्धं तत्तस्मात्समयादारभ्य द्वितीयावलिकाचरमसमये अकर्मीभवतीति सिद्धम्, तथा च सति बन्धाद्यभावप्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत्, न शेषं, एतदेव मन्दमतिविबोधनार्थमसत्कल्पनया किञ्चिद्भाव्यते—इह तत्त्वतोऽसंख्यातसमयात्मिकाप्यावलिकाऽसत्कल्पनया चतुःसमयात्मिका कल्प्यते, ततो बन्धादिव्यवच्छेदसमयादर्वागष्टमे समये यद्बद्धं, तद् बन्धावलिकायां चतुःसमयात्मिकायामतीतायामन्यया चतुःसमयात्मिकयावलिकयान्यत्र संक्रम्यमाणं चरमसमये बन्धादिव्यवच्छेदरूपे सर्वथा स्वरूपेण न प्राप्यते, अन्यत्र सर्वात्मना संक्रमितत्वात्, सप्तमसमये यद् बद्धं तच्चतुःसमयात्मिकायामावलिकायामतिक्रान्तायामन्यया चतुःसमयात्मिकयावलिकयान्यत्र संक्रम्यमाणं बन्धादिव्यवच्छेदानन्तरसमये स्वरूपेण न प्राप्यते, अन्यत्र सर्वात्मना संक्रमितत्वात्, शेषषष्ठादिसमयबद्धं तु प्राप्यते, ततो बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सत्यनन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत्प्राप्यते, न शेषं, तत्र

बन्धादिव्यवच्छेदसमये जघन्ययोगिना सता यद्बद्धं, तस्य बन्धावलिकायामतीतायामन्ययावलिकयान्यत्र संक्रम्यमाणस्य चरमसमये यत्संक्रमयिष्यति [न तावत्संक्रमयति,] तत्संज्वलनक्रोधस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं द्वितीययोगवर्त्तिना बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्यापि चरमसमये यद्दलिकं तद्द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टयोगस्थानवर्त्तिना सता बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्य दलिकं चरमसमये सर्वोत्कृष्टमन्तिमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं जघन्यं योगस्थानमादिं कृत्वा यावन्ति योगस्थानानि भवन्ति, तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानान्यपि चरमे समये प्राप्यते, इदमेकं स्पर्द्धकम्। एवं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमये जघन्ययोगादिना यद्बध्यते, तत्रापि द्वितीयावलिकाचरमसमये प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भावनीयानि, केवलं स्थितिद्वयभावीनि प्रतिपत्तव्यानि, बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमयबद्धस्यापि दलिकस्य तदानीं द्विसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात्, इदं द्वितीयं स्पर्द्धकम्। एवं बन्धादिव्यवच्छेदत्रिचरमसमये जघन्ययोगादिना यद् बध्यते, तत्रापि द्वितीयावलिकाचरमसमये प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भवन्ति, नवरं स्थितित्रयभावीनि तानि भावनीयानि, तदानीं बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमयबद्धसत्कस्यापि दलिकस्य त्रिसमयस्थितिकस्य, द्विचरमसमयबद्धसत्कस्यापि दलिकस्य द्विसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात्, इदं तृतीयं स्पर्द्धकम्, एवं समयद्वयोनावलिकाद्विके यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्द्धकानि भवन्ति। एवं संज्वलनमानमाययोरपि तावन्ति स्पर्द्धकानि प्रत्येकं वाच्यानि, तत्र यावत्प्रथमायां स्थितौ अनुदयावलिका शेषीभूता वर्त्तते तावद् द्वितीयस्थितौ संज्वलनत्रिकस्य प्रत्येकं द्विसमयहीनद्व्यावलिकाप्रमाणमुत्कृष्टं स्पर्द्धकमस्ति, यदा तु प्रथमस्थितावुदयरहितावलिका प्रकृत्यन्तरेषु संक्रम्यमाणा निःशेषा व्यवच्छिन्ना भवति, तदा परतोऽपि द्वितीयस्थितिगतावलिकान्यत्र संक्रमेण व्यवच्छिद्यमाना त्रुट्यति, ततः प्रथमस्थितिविरमे द्विसमयोनावलियाद्विकस-

मयप्रमाणमुत्कृष्टस्पर्द्धकं प्राप्यते, नाधिकमिति। वेदानामपि-स्त्रीपुंनपुंसकरूपाणां द्वे स्पर्द्धके वक्ष्यमाणस्वरूपे भवतः, कस्मात्त्रयाणामपि प्रत्येकं द्वे भवत इत्याह-स्थितिद्विकं-प्रथमस्थितिद्वितीयस्थितिरूपं, येन कारणेन त्रयाणामपि वेदानां प्राप्यते, तेन कारणेन प्रत्येकं द्वे द्वे स्पर्द्धके भवतः ॥१८१-८२-८३॥

स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोः प्रदेशसत्तास्पर्धकौ २-२





संज्वलनक्रोधमानमायानां चरमक्षपणाविधेः प्रदेशसत्ता-स्पर्धकानां च चित्रम्

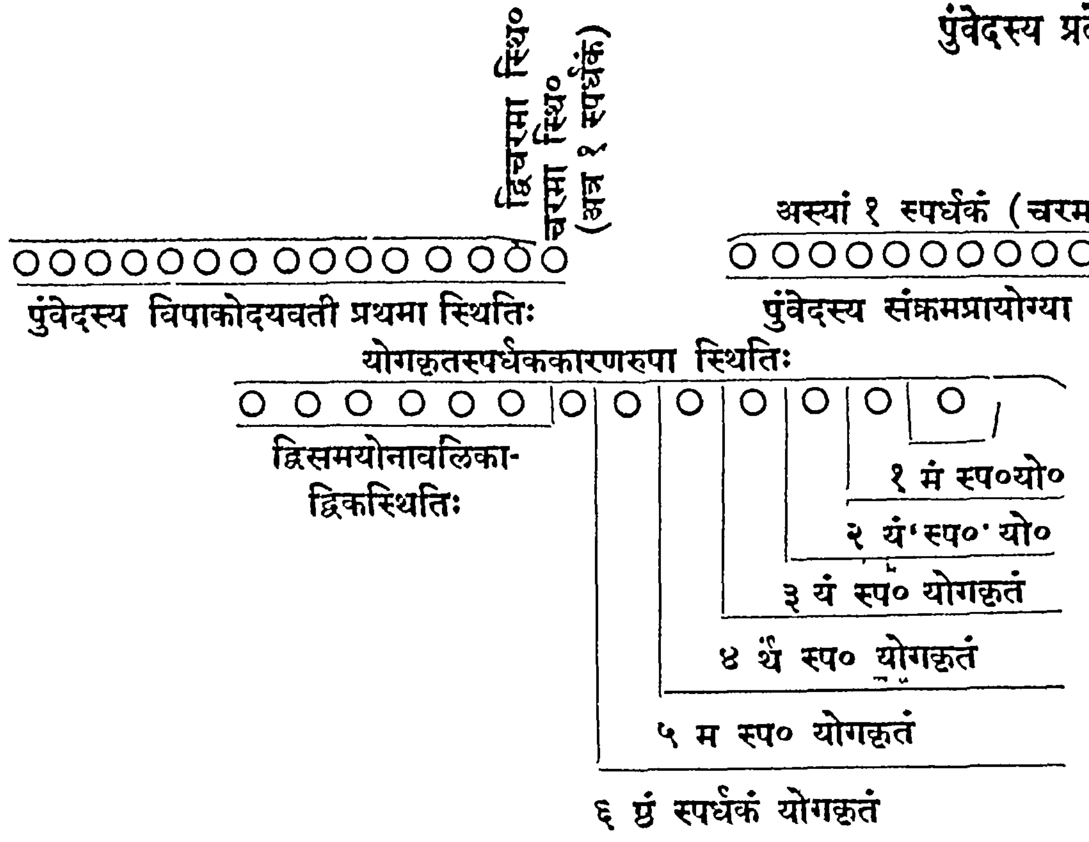
○ = वंध समयः

⁝ आवलिकायां दलिकसंक्रान्तिदर्शिकेयं बिंदुपंक्तिः

| दलिकं निःसृत्यावलिकोर्ध्वगमनं करोति

अत्र स्पर्धकानि ६ (=समयद्वयोनाव०द्धिक प्रमाणानि) (अत्र चरमोदयावलिकासत्कस्पर्ध-कान्यन्तर्गतान्येव)

पुंवेदस्य प्रदेशसत्तास्पर्धकचित्रम्



स्थितिभेदनिरुपणायाश्चित्रम्

प्रथमस्थितिकंडकेन सह क्रमेण स्तिवुकेन त्रुटिताः स्थितयः	द्वि० स्थि०कडकेन सह क्रमेण स्तिवुकेन त्रुटिताः स्थितयः	तृ० स्थि० कंडकेन सह क्रमेण स्तिवुकेन त्रुटिताः स्थितयः	अन्त्यकंडकेन सह क्रमेण स्तिवुकेन त्रुटिताः स्थितयः		अन्त्यस्थितिकंडकं युगपत् त्रुटितं भवति (अन्तर्मुहूर्त्तेन)	तृतीयस्थितिकंडकं युगपत् त्रुट्यति (अन्तर्मुहूर्त्तेन)
○○○○	○○○○	○○○○	○○○○	○○○	○○○○○○○○○○○	○○○○○○○○○○
अन्तर्मु०	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०	चरमोदयावलिका अत्र स्थितिर्नैरंतर्येण प्राप्यते	पल्याऽसं० भा०	प० असं० भा०

तदेव स्पर्द्धकद्विकं भावयति—

पढमठिईचरमुदये बिइयठिईए व चरमसंछोभे। दो फड्डा वेयाणं दो इगि संतंहवा एए ॥१८४॥

(स्वो०)—प्रथमस्थितेश्चरमो–अन्तिम उदयो, द्वितीयस्थितेश्चरमोऽन्तिमः संछोभः एते द्वे स्पर्द्धके वेदानाम्। अथवा प्रथमद्वितीयस्थितिसद्भावे प्रथमं स्पर्द्धकं, प्रथमस्थित्यभावे द्वितीयस्थितिसंछोभस्य सद्भावे द्वितीयं स्पर्द्धकं भवतीति गाथार्थः ॥१८४॥

(मलय०)—एते च द्वे स्पर्द्धके दर्शयति–प्रथमस्थितिचरमोदये एकं स्पर्द्धकं, द्वितीयस्थितिचरमसंछोभे द्वितीयं, वा शब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये, एवं वेदानां द्वे स्पर्द्धके भवतः, एतद्भाव्यते–कश्चिज्जन्तुरभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र देशविरतिं सर्वविरतिं च बहुशो लब्ध्वा, चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं च सागरोपमाणां शतं यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढः, ततो नपुंसकवेदस्य प्रथमस्थितौ द्विचरमसमये वर्त्तमानेनोपरितनस्थितिखण्डमन्यत्र संक्रामितं, तथासत्युपरितनी स्थितिः सर्वात्मना निर्लेपीकृता, ततः प्रथमस्थितौ चरमसमये सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्, परमाणुद्वये च प्रक्षिप्ते तृतीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एवं नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि अनंतानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम्, इदमेकं स्पर्द्धकम्। तथा द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे चरमसमये पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तदादिं कृत्वा, नानाजीवापेक्षया यथासम्भवमुत्तरोत्तरवृद्ध्या निरन्तरप्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं, तानि द्वितीयं स्पर्द्धकम्। एवं स्त्रीवेदस्यापि स्पर्द्धकद्वयं भावनीयम्। पुरुषवेदे पुनः स्पर्द्धकद्वयमेवं

भावनीयं–उदयचरमसमये सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्माऽऽदिं कृत्वा नानाजीवापेक्षयैकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तरप्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्थानम्। एतानि सर्वाण्यप्येकं स्पर्द्धकम्। उदयचरमसमये च द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानमादिं कृत्वा प्रागिव द्वितीयं स्पर्द्धकं भणनीयम्। प्रकारान्तरेण स्पर्द्धकद्वयं प्ररूपयति–'दो इगि संतहवा एए' अथवा एते द्वे स्पर्द्धके द्रष्टव्ये–यावत्प्रथमा स्थितिर्द्वितीया च स्थितिर्विद्यते तावदेकं स्पर्द्धकं, प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ वाऽपरस्थितिक्षये शेषीभूतायां द्वितीयं स्पर्द्धकम्। तत्र स्त्रीवेदस्य नपुंसकवेदस्य तु द्वितीयस्थितिसत्कचरमदलिकप्रक्षेपे एका स्थितिः प्रथमस्थितेः शेषीभूता तिष्ठति, पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितावुदयेन क्षीणायां समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धप्रमाणा द्वितीया स्थितिः शेषीभूता भवति ॥१८४॥

विशेषमाह—

चरमसंछोभसमए एगा ठिई होइत्थीनपुंसाणं। पढमठिईए तदंते पुरिसे दोआलिदुसमूणं॥१८५॥

(स्वो०)—भव्यः सर्वजघन्यसत्कर्मा प्रभूतदेशविरतिसर्वविरतिपालकः सागरोपमपद्षष्टिद्विकानुपालितसम्यक्त्वो नपुंसकवेदोदयेन क्षपकश्रेणीमभ्युत्थितस्तस्य चरमसंछोभकाले एका स्थितिर्भवति नपुंसकवेदस्य, एवं स्त्रीवेदस्य च। पुरुषवेदे तु प्रथमस्थितिक्षये आवलिकाद्विकं द्विसमयोनं तिष्ठति, स च चरमसंछोभ इति गाथार्थः ॥१८५॥

॥ इति श्रीचन्द्रर्षिविरचितायां श्रीपञ्चसंग्रहस्वोपज्ञटीकायां पञ्चमं वन्धविधिद्वारं समाप्तं ॥

प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्धकप्ररूपणा

(मलय०)—एतदेवाह–स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्द्वितीयस्थितिसत्कचरमसंछोभसमये प्रथमस्थितेः सत्कैका स्थितिः शेषीभवति, पुरुषे तु–पुरुषवेदे तु तदन्ते–प्रथमस्थित्यन्ते प्रथमस्थितौ क्षीणायां 'द्व्यावलिकाद्विसमयोनं' इति द्विसमयोनावलिकाद्विकबद्धप्रमाणं शेषं तिष्ठति, तस्मिंश्च समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धसत्कर्मण्यवेदकस्य सतः संज्वलनत्रिकोक्तप्रकारेण समयद्वयोनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि स्पर्द्धकानि भावनीयानि ॥१८५॥

इति श्रीमलयगिरिविरचितायां श्रीपञ्चसंग्रहटीकायां बन्धविधयः समाप्ताः।

समाप्तः टीकाद्वयोपेतः पञ्चसंग्रहस्य

प्रथमो विभागः

पञ्चसंग्रह–प्रथमो विभागः

જાહેર સૂચના.

પૂ પા પરમ ગુરૂવર્ય્ય **ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રીજંબૂવિજયજી ગણિવર**ના પ્રશિષ્યરત્ન મુનિમહારાજ **શ્રી વર્દ્ધમાનવિજયજી**એ તથા ડભોઈવાળા સાધ્વીજી મહારાજ **શ્રીકલ્યાણશ્રીજી**એ સંપૂર્ણ કરેલા વર્ષિતપ નિમિત્તે સુકૃતાભિલાષી સુશ્રાદ્ધરત્ન **શાહ મૂલચંદ ત્રિભોવનદાસ**ના માતુશ્રી **સંતોક-બાઈ**એ કર્મ સાહિત્યના આ એક અત્યુત્તમ ગ્રન્થરત્નનો લાભ સર્વને અલ્પ કીમતે મળી શકે તે હેતુથી રૂા. ૭૦૦) સાતસોની દ્રવ્ય સહાય્ય અર્પણ કરી છે તેથી આ પુસ્તકની બાકી રહેલી નકલો હવેથી રૂા ૧–૮–૦ ની કીંમતે મળી શકશે.

સંવત ૧૯૯૫ ના પ્રથમ શ્રાવણ શુદ ૧૧ ને ગુરૂવાર **પ્રકાશક.**